कालीघाट-कालिकाग्रन्थमाला ।

क्रमिक संख्या ३

सनत्सुजातीयमध्यात्मशास्त्रम्

शाङ्करभाष्योपेतम् ।

कालीघट्टस्थितश्रीश्रीकालिकामहादेवीसेवाभृत्कुलोद्भव-

श्रीगुरुपदशर्म्महालदारप्रणीत-

कालिकाकालिकाभासाख्यटीकाद्वयसमेतम् ।

विविधस्वर्णपदकप्राप्तेन एम ए, वि एल, विरुदवता

श्रीकेशरिकान्तशर्म्मणा हिन्दीभाषायामनूदितम् ।

कलिकातानगर्य्यां कालीघट्टीय-हालदारपाड़ाख्यवर्त्मं स्थितसप्तचत्वा-

रिंशत्संख्यकभवनात्, एम ए, वि एल, विरुदवता

श्रीभारतीविकाशशर्म्म हालदारेण

प्रकाशितम् ।

प्रथमः खण्डः ।

६ नं भवानी दत्त लेन वङ्गवासी इलेक्ट्रो मेसिन यन्त्रे

श्रीनटवरचक्रवर्त्तिना मुद्रितम् ।

कालीघाट-कालिकाग्रन्थमाला ।

क्रमिक संख्या ३

सनत्सुजातीयमध्यात्मशास्त्रम्

शाङ्करभाष्योपेतम् ।

कालीघट्टस्थितश्रीश्रीकालिकामहादेवीसेवाभृत्कुलोद्भव-

श्रीगुरुपदशर्म्महालदारप्रणीत-

कालिकाकालिकाभामाख्यटीकाद्वयसमेतम् ।

विविधस्वर्णपदकप्राप्तेन एम ए, वि एल, विरुदवता

श्रीकेशरिकान्तशर्म्मणा हिन्दीभाषायामनूदितम् ।

कलिकातानगर्य्यां कालीघट्टीय-हालदारपाड़ाख्यवर्त्म स्थितसप्तचत्वा-

रिंशत्संख्यकभवनात्, एम ए, वि एल, विरुदवता

श्रीभारतीविकाशशर्म्म हालदारेण

प्रकाशितम् ।

प्रथमः खण्डः ।

६ नं भवानी दत्त लेन बङ्गवासी इलेक्ट्रो मेशिन यन्त्रे

श्रीनटवरचक्रवर्त्तिना मुद्रितम् ।

वक्तव्य।

—"ऋषियोंका उच्छिष्ट हमारी सारी वाणी।
जानू उसका भेद भलामैं क्या अज्ञानी!"—

मानसविकाशके सर्व्वोच्च शिखरासीन प्रपञ्चषड्दर्शनकी सर्व्व-श्रेष्ठता अथच उसकी दुरूहता संसारके किसी भी शिक्षित व्यक्तिके अज्ञात नहीं है। प्रकृत वेदान्तियोंकी तो उच्च घोषणा है:—"तावद् गर्ज्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा। न गर्ज्जति महाशक्तियांवद् वेदान्तकेशरी॥" पुनः दर्शनके जटिल एवं दुर्गम पथसे अध्यात्मवाद एवं ब्रह्मवाद की वार्त्ता तो ठीक "तप्तकटाहा-दनले" की लोकोक्तिको चरितार्थ करती है। नानाशास्त्र-पारंगत बड़े बड़े विद्याधुरीण एवं भगवती भारतीके अनन्य उपासकके लिये भी एकान्त दुर्घट अध्यात्मवादमें मेरा प्रयास—"प्रांशु लभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः" नहीं तो और क्या है। दर्शन अथवा अध्यात्मवाद की बू भी नहीं! निस्सीम शास्त्रमहार्णवके एक बूंदनेसे भी वञ्चित!! अनन्त नियमोंसे जकड़बन्द हिन्दी भाषा सार-शून्य!!!—फिर मेरा प्रयास बालचापल्य नहीं तो और क्या? किन्तु पवित्रमूर्त्ति प्रियवर श्रीमान् अजितकुमार जीका अनिर्व्वचनीय प्रेम, महामहनीय पूज्यपाद गुरुवर श्रीमान् गुरुपद बाबूका अलंघ्य आदेश अथच अज्ञानान्धकारविनाशिनी जगद्धात्री भगवती भारतीकी उत्कृष्ट सेवाके लिये अन्तर्हृदय की पवित्र प्रेरणा एवं आन्तरिक उल्लासके वशीभूत हो इस अनुवाद कार्यके दुर्वह भारके उठानेका दुःसाहस करना पड़ा। अनुवाद प्रयास न तो अध्यात्मवादी ब्रह्म-मर्म्मज्ञोंके पथप्रदर्शनके लिये है और न संस्कृत महार्णवलब्धतीर्थ-विद्याधुरीणोंके लिये। मेरे जैसे अल्पज्ञोंके लिये भी शायद हो

पर्य्याप्त हो। अनुवाद कैसा हुआ है—यह न तो मैं जानता हूं और न जानना ही चाहता हूं और न पूछता ही हूं, क्योंकि अपनी अज्ञतासे मैं पूर्णतया परिचित हूं, अथच इस दुस्साहसके लिये एकान्त लज्जित हूं। किन्तु शायद यदि घुणाक्षरन्यायसे भी इसमें किञ्चित् मात्र ग्राह्य विषय समाविष्ट हो गये हों तो बद्धाञ्जलि प्रार्थना है कि :—

"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।
आवृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधाः॥"

किम्बहुना—

करमा—जोरी कुमारीबाग।	}	विनीत श्रीकेशरीकान्त शर्म्मा।

श्रीगणेशाय नमः ।

सनत्सुजातीयमध्यात्मशास्त्रम् ।

उपक्रमणिका ।

महाभारतके सनत्सुजातीय पर्व्वाध्यायमें शोकदुःखादि की अवश्यम्भावितामें दृढ़निश्चय महाराज धृतराष्ट्रको आचार्य्य शिरोमणि सनत्कुमारने वेदवेदान्तोंकी जो सब बातें कही थी वे ही सनत्सुजातीय अध्यात्मशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध हैं। आचार्य की ज्ञानामृतवर्षिणी बातें इतनी सुमधुर हैं कि यदि महाभारतके इस अंश को भी गीता ही कहें तो विशेष अत्युक्ति नहीं होगी। गीताके साथ इसका यही सादृश्य है कि जिस प्रकार भगवानने अर्ज्जुनको उपलक्ष्य करके दिव्य दयाके वशीभूत हो, तीनों लोककी भलाईके लिये काण्डत्रयोंका उपदेश किया था, आचार्य-शिरोमणि सनत्कुमारने भी ठीक उसी तरह राजा धृतराष्ट्रको उपलक्ष्य करके अधिकारी विशेषके निमित्त प्रधानरूपसे केवल ज्ञान तथा योगके साथ साथ अमृतस्यन्दिनी ब्रह्मविद्याका विकाश किया है। भगवद्गीतासे इसमें विभिन्नता यही है कि कर्म्मनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा तीनों ही उसमें तुल्यरूपसे संकीर्त्तित होनेके कारण भगवद्गीताने सभी आश्रमोंके लिए आदर पाया है, और चित्तनाशके उपायस्वरूप ज्ञान तथा योगको अवलम्बन करते हुए मुख्यतया ब्रह्मविद्या ही का उपदेश एवं उदाहरण रहनेसे यह सनत्सुजातीय ग्रन्थ केवल तृतीय एवं चतुर्थ आश्रमोंमें ही अधिक प्रतिष्ठा पाया है। विविदिषु सन्न्यासियों तथा युञ्जानयोगियोंका विशेष हितकर होनेके कारण सुदूरदक्षिणापथस्थ कन्याकुमारीसे लेकर अनन्ततुषाराच्छादित उत्तरापथके शक्रकुमारीतक समस्त उपासक सम्प्रदायोंके निकट यह ग्रन्थ सुपरिचित एवं लब्धप्रतिष्ठ हुआ है।

धर्म्मादि चतुर्वर्गोंमें मोक्ष ही परमपुरुषार्थ है, यह बात सर्ववादिसम्मत है। उक्त मोक्षके स्वरूपके विषयमें मतभेद रहने पर

भी वेदान्तप्रतिपादित मोक्षको ही तात्विक मोक्ष कहना होगा। क्योंकि श्रुतियोंके तात्पर्य्यानुसार उनका स्वरूपनिर्णय इसी शास्त्रमें मुख्यभावसे बतलाया गया है। यही तात्विक मोक्ष ब्रह्मात्मैक्य-मूलक है, एवं यह ब्रह्मात्मैक्य निश्चय ही वृत्तिनिरोधात्मक योगके द्वारा अथवा विचारणात्मक ज्ञानके द्वारा निष्पन्न होता है, इस सिद्धान्तमें भी अध्यात्मवेत्ताओंका कोई मतभेद नहीं है। योगके द्वारा अथवा ज्ञानके द्वारा ब्रह्मात्मैक्यमूलक मोक्ष अधिगत होता है—यह कथन किसी का भी स्वेच्छाकल्पित नहीं। श्रुतियां विश्वप्रपञ्चमें ब्रह्मका अध्यारोपण कर योग द्वारा विश्वप्रपञ्चका लोप करनेको उपदेश देती है, इसीसे योगी लोग समाधिके द्वारा सभी वस्तुओंका लोप करके विश्वके सारभूत एकमात्र ब्रह्मके साथ जीवात्माका एकत्व सम्पादन करते हैं एवं मोक्षभागी बनते हैं। इसी कारण कहा गया है—

> "अध्यारोपपवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।
> शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः॥"

दूसरी जगह पुनः श्रुतियां मूर्त्तामूर्त्तभेदसे ब्रह्मके दो प्रकारके स्वरूपका उल्लेख करती हुई अन्तमें अमूर्त्तको ही निश्चल निर्विशेष ब्रह्मकी सत्ता प्रतिपादन करनेके लिये—'अथात आदेशो नेति नेति' वाक्योंके द्वारा अभ्युपगत वस्तुका आत्यन्तिक लय करती है, यह देखकर उपनिषद् साक्षात् भावसे योगको अपेक्षा न रखकर केवल विचारात्मक ज्ञानके द्वारा सारे अनित्य वस्तुओंका वर्जन करते हुए एकमात्र ब्रह्मत्वको उपलब्धि करके कृतकृत्य हुए हैं। अस्तु ब्रह्मात्मैक्यमोक्षके लिये जो दो मार्ग व्यवस्थापित हुए हैं, वे दोनों ही श्रुतिमूलक हैं, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। बिना कारणके कार्य्य नहीं हो सकता, अत एव श्रुतियोंने क्यों इस प्रकार भिन्न भिन्न उपास्तिपद्धतिका निर्देश किया है; इस विषयमें यथेष्ट वक्तव्य रहने पर भी उनकी आलोचना यहां समीचीन नहीं है।

परन्तु उत्थापित प्रसङ्गको समाप्त करनेके लिये वशिष्ठवचनका अ-
स्मरण करके हम यहां कहेंगे :—

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देव । जगाद परमः शिवः ॥

यह बात सच है कि वृत्तिनिरोधात्मक योगके द्वारा ब्रह्मप्राप्ति होती है, एवं विचारणात्मक ज्ञानके द्वारा भी ब्रह्मप्राप्ति होती है, यह भी ठीक उसीतरह सच है, किन्तु इन दोनों क्रमोंमें क्या किसी प्रकारका पारस्परिक सापेक्षत्व है? किसी किसीका तो विचार है कि ये दोनों क्रम परस्पर सम्पूर्णभावसे निरपेक्ष हैं। क्योंकि योगदर्शनमें सांख्यकल्पित प्रपञ्चको परमार्थता स्वीकृत हुई है, एवं वेदान्तके अद्वैतवादमें प्रपञ्चको व्यवहारिकमात्र समझा गया है। किन्तु ऐसा सिद्धान्त समीचीन नहीं है। प्रपञ्च परमार्थ है कि अपरमार्थ है यह सब योगशास्त्रमें नहीं कहा गया है, एवं 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्यायके अनुसार जब योगशास्त्र योगके लिये ही अनुशिष्ट है तो प्रसङ्गप्राप्त प्रपञ्चमें ही उसका तात्पर्य्य क्यों अवधारित होगा? परन्तु किसी आलम्बनके विना चित्तसंयम दुर्घट होता है, इस लिये एवं न्यायदर्शनकी अपेक्षा सांख्य-दर्शन अध्यात्मविद्याके अधिकतर निकटवर्त्ती होनेके कारण योग-शास्त्रमें सांख्यपरिकल्पित प्रधानादि तत्त्वांश तथा सत्वादि गुणांश हुए हैं यह बात सच है, किन्तु उनके स्वरूपके विषयमें उनकी कोई विवक्षा है ऐसा कहना कभी युक्तियुक्त नहीं हो सकता। अत एव यदि कोई इन सब सांख्यभागोंको त्यागकर प्रधानादि तत्वों एवं सत्वादि गुणोंका परमस्वरूप वेदान्तवेद्य अद्वय आत्माको योगके अव-लम्बनस्वरूप ग्रहण भी कर सकें तो भी तो योगशास्त्र अक्षुण्ण ही रह जाता है। और यदि योगी लोग प्रकृतपक्षमें प्रपञ्चपरमार्थवादी भी हो जावें तो योगकी सुदूर भूमिकासे भगवान् वार्षगण्य उच्चस्वरसे ऐसा क्यों कहते,—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ *

अस्तु, प्रपञ्चके स्वरूपको लेकर योगाङ्गके साथ वेदान्तके वेपरीत्यकी कल्पना करनेकी युक्ति किसी भी तरह पुष्ट वा बलवती होती ही नहीं।

यदि कोई वेदान्तवेद्य आत्माके स्वरूपको छोड़कर सांख्यकल्पित प्रधानादि तत्वांशका ही संयम करना चाहे तो उक्त ध्यानीको सिद्धाभास होने पर भी मोक्षप्रतिपादिका सिद्धि नहीं हो सकती। इसीसे योगशिखोपनिषदमें कहा गया है,—योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि। अर्थात् वेदान्तवेद्य ब्रह्मका स्वरूप जाने विना योग करनेसे वह मोक्षोत्पादनके उपयोगी कभी नहीं होता। योगी याज्ञवल्क्यने भी कहा है—वेदान्तश्रवणं कुर्व्वं स्तस्मिन् योगं समभ्यसेत् ॥ (५।७) इस प्रकारके शास्त्राशयोंको देखकर वेदान्ती लोग कहते हैं,—

वेदान्ताः सम्यगभ्यस्ता अथ ध्येयो महेश्वरः ।
प्राप्तातिसौरभे भृङ्गे रसपानं गुणाधिकम् ॥

पुनः यदि कोई योगकी किसी प्रकारकी सहायता लिये विना ही केवल वेदवेदान्तकी वाक्यराशियोंको ही कण्ठस्थ करता रहे तो उसे अध्ययनादि विषयोंमें सिद्धि मिलने पर भी अपरोक्षानुभवमें आत्मोद्वृत्तिके अभाववश परमपुरुषार्थ कदापि नहीं मिल सकता। क्योंकि श्रुतियोंने कहा है—"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः?" अर्थात् योगहीन ज्ञान मोक्ष किस प्रकार प्रदान कर सकता है ऐसी श्रुतिका अनुसरण करते हुए, भगवान् शङ्कराचार्य्यने अपने विवेकचूडामणिमें कहा है,—

---

* गुणका परमरूप कभी दृष्टिपथमें नहीं आता अर्थात् सत्वादिगुणका अधिष्ठान स्वरूप आत्मा कभी भी इन्द्रियवेद्य नहीं हो सकती। जो जो इन्द्रियवेद्य हैं वे मरीचिका आदि मायाके समान सारहीन तुच्छ वस्तु ही हैं।

"कुशला ब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनास्तु रागिण:।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥" *

अतएव मिथ्याभाससे परितुष्ट हुये विना तात्विकी सिद्धिकी वासना रखनेसे अथवा अध्ययनजनित सिद्धिके विषयमें परितृप्त हुये विना अपरोक्षानुभवमें ब्राह्मीवृत्तिका अभिलाषा करनेसे सभीको थोड़ा बहुत दोनो हो क्रमोंके अङ्गोपाङ्ग ग्रहण करने लिये वाध्य होना पड़ता है। इस प्रकारकी भावगतिको देखकर हमारे आचार्य्य शिरोमणि भगवान् सनत्कुमारने जिसके राजा धृतराष्ट्र किसी प्रकार भावी शोकसे दु:खित न हो इसो लिये मरणामरणके सवादको अवतारण करते हुये उनको ज्ञानप्रधानायोगोपसर्ज्जनीभूता ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया, पश्चात् योगप्रधाना ज्ञानोपसर्ज्जनीभूता ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। जो भी ब्राह्मीवृत्ति उत्पादन करनेके लिये इन दोनों उपायोंमेंसे किसो एकका ही अवलम्बन करना पर्य्याप्त होता है, तथापि धृतराष्ट्रका विषयानुराग वलवान देखकर आचार्य्य शिरोमणिने दोनों हो उपायोंका अवलम्बन किया था। किसी नये रास्तेसे जाने पर पुन: उसी पथसे लौटनेसे जैसे वह रास्ता सुपरिचित मालुम होतो है, ठीक उसीतरह योगाङ्गके सहारे वेदान्तवेद्य ब्रह्मको धारणा करनेपर पुन: वेदान्तवाक्योत्थ ज्ञानके साथ संयम करके ब्रह्मस्वरूपको उपलब्धि करनेसे ब्रह्मविद्याका संस्कार वद्धमूल होता है इसमें किसीतरहका सन्देह नहीं है।

आचार्यशिरोमणि भगवान् सनत्कुमारने महाराजा धृतराष्ट्रको अद्वैतवाद का ही उपदेश देनेके लिये वुलाये जाने पर भी कभी कभो विशिष्टाद्वैतवादका भी उपक्षेप किया है। पर यह दोषावह नहीं है। अधिकारीके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णने भो ज्ञानयोग

---

* जो वेदवेदान्तमे पटुता पाकर भी विषयोंमे अनुरागके कारण ब्रह्मवार्त्ताके द्वारा अनुप्राणित नहीं होते, वे भी अज्ञानियोंके समान पुन: पुन: संसारमे आते जाते रहते हैं।

भक्तियोग एवं कर्म्मयोगका उपक्षेप किया था। कारण शास्त्रोंमें ही कहा गया :—

"अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषत.।"

जहां जहां अद्वैतवाद की उपलब्धि करना महाराजके पक्षमें दुर्घट हुआ वहां वहां ही आचार्य्यशिरोमणिने भगवान् श्रीकृष्णके तरह उपदेश देनेकी इस शास्त्रसिद्ध क्रमानुसारिणी रीतिकी अवलम्बन कर विशिष्टाद्वैतवाद की भूमिकाका अवतरण किया है।

कितने ही पाश्चात्यभावापन्न प्रात्निकपण्डितोंने इस सनत्सुजातीयको भगवद्गीता एवं अनुगीताको बौद्धयुगके परवर्त्ती कहकर प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। किन्तु हम लोग इस प्रकारके मतवादोंका पक्षपाती कदापि नहीं हो सकते। इस विषयमें हम लोगोंका जो कुछ वक्तव्य है वह सब इस सनत्सुजातीय महाग्रन्थके चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें ही सन्निविष्ट है। अस्तु यहां उसकी पुनरावृत्ति बिलकुल निष्प्रयोजन है।

सनत्सुजातीय ग्रन्थके उपर एक शाङ्करभाष्य मिलता है। कोई कोई अनुमान करते हैं कि उक्त भाष्य साक्षात् शङ्कराचार्य्यका स्वलेखनोप्रसूत नहीं है, किन्तु इस प्रकारके अनुमानका कारण कुछ भी नहीं लिखते। जान पडता है निम्नलिखित हेतुवादों पर ही उक्त भ्रम अथवा अनुमानका उदय हुआ है।

१—प्रथमाध्यायस्थित नवम श्लोकके भाष्यमें सुरेश्वराचार्य्य प्रणीत वार्त्तिकका श्लोक प्रमाण रूपमें माना गया है। यहां शिष्यकी उक्ति स्वयं गुरु प्रमाणरूपसे प्रयोग करते हैं, यह एक अस्वाभाविक बात है।

२—प्रथम अध्यायके बीसवें श्लोकके भाष्यमें "अनादिभाव" इत्यादि प्रमाणोंका जैसा पाठ पाया जाता है, उसके बदले २।१।९के शारीरकभाष्यमें उसका दूसरे प्रकारका पाठ लिया गया है। इस प्रकारके पाठान्तरोंसे भावमें भी एक तरहका विभेद होता है। एक हि भाष्य कारने भिन्न भिन्न स्थानों पर एक ही प्रमाणका भिन्न

भिन्न पाठ ग्रहण करके अपनी सुविधाके अनुसार स्वकीय मतका पोषण किया है—ऐसा करना भगवान् शङ्कराचार्य्यके पक्षमें कभी सम्भव नहीं।

३—प्रथमाध्यायस्थित चतुर्थ श्लोकके भाष्यमें एवं अन्यान्य स्थलोंमें भी एक ही वाक्यका दो प्रकारका अर्थ कल्पित हुआ है। वेदान्तमें वैकल्पिक उपदेश समीचीन नहीं हो सकता, अस्तु भगवान् शङ्कराचार्य्य ब्रह्मतत्व निरूपणमें विकल्पविधान कदापि नहीं कर सकते।

४—सनत्सुजातीय भाष्यमें माण्डूक्यकारिकाके "अनादि मायया" इत्यादि श्लोक श्रुति कहकर उपन्यस्त हुआ है, किन्तु शारीरक भाष्यमें इसी श्लोकके उपन्यस्त करनेके पहले गौड़पादको लक्ष्य करके आचार्यने कहा है:—

"अत्रोक्तं वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्य्यैः।"

यदि दोनों भाष्य एक ही व्यक्तिके लेखनीप्रसूत होते तो इस प्रकारका व्यत्यय कदापि नहीं होता।

उक्त भाष्यके विरुद्धमें यही कुछ जातीय युक्ति दिखाई जा सकती है, परन्तु धारावाहिक रूपमें सन्यासी सम्प्रदायका भाष्य जब शङ्कराचार्य्य-प्रणीत ही कहकर उपस्थापित हुआ है तो सांप्रदायिक मर्य्यादा लङ्घन करके इसके विरुद्धमें हम लोग ऐसे मतवादका पक्षपाती कदापि नहीं हो सकते। इसके अलावे प्रमाणान्तरोंसे भी सन्यासि-संप्रदायोंकी उक्ति समर्थित होती है। विवेक-चूड़ामणिमें भगवान शङ्कराचार्य्यने लिखा है:—

"प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान् ब्रह्मणः सुतः॥"

इसके देखनेसे यही मालूम होता है कि सनत्सुजातीय कथनमें भगवान् शङ्कराचार्य्य विशेष आस्थावान थे। अस्तु भगवद्गीताके समान वेदान्तके स्मृतिप्रस्थानान्तर्गत इस ग्रन्थका भी एक भाष्य लिखना उनके पक्षमें अस्वाभाविक नहीं मालूम होता। और इस प्रकारके उपपत्तिके विरुद्धमें उपरोक्त अथवा तज्जातीय जो

कारण उपस्थापित हो सकते हैं, उनके सम्बन्धमें कहना पड़ेगा कि कालचक्रमें पड़कर अनेक प्रक्षिप्त वाक्यांशोंसे भाष्य शिर्फ रूपान्तरित हो गया है। क्योंकि पूर्वोक्त सन्देहजनक स्थानोंके प्रत्येक अंश बम्बइ, मद्रास, काशी तथा वङ्गदेशोंके प्रत्येक संस्करणमें नहीं देखा जाता। अत एव भाष्यके कोई कोई अंश कालान्तरमे प्रक्षिप्त हो गये हैं, यही गवेषणाकी वात होगी, और भाष्य आदि आचार्य्य लिखित है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। इस प्रकारकी युक्ति रहते भी जो लोग इस भाष्यके सम्बन्धमें वृद्ध-व्यवहारोंके विरुद्ध वैदेशिक लोगोंके समान पर्य्यनुयोग करते है, उन्हे हम लोगोंको सन्न्यासि सम्प्रदायोंका साक्ष्य दिखलाते हुए कहना पड़ेगा :—

"एतत् प्रमाणं न भवेत् प्रमाणं
कस्तस्य कुर्य्यात् वचनं प्रमाणम् ॥"

मैंने अपने पुत्रत्रय श्रीमान् वलाईचन्द्र हालदार एम, ए, श्रीमान् अजितकुमार हालदार एम एस, सि, वि एल एवं श्रीमान् भारतीविकाश हालदार एम, ए, वि एल, कलकत्ता विश्वविद्यालय से कृतकृत्यता लाभकर इस सनत्सुजातीय ग्रन्थको व्याख्याकी उपलक्ष्य करके उनके हृदयमे अविचाल्य शास्त्रविश्वास उत्पादन करने की चेष्टा किया है। भगवत्कृपासे मेरी यह चेष्टा विफल भी नहीं हुई। कोमलमति वालकगणने व्याख्याके समय जिन २ विषयोंको जाननेका आग्रह प्रकाश किया था, मैंने व्याख्यावसानमें उन सव विषयोंको कोई परिशिष्टोंमें लिखकर उनका समाधान करनेका प्रयत्न किया है। श्रीमान् भारतीविकाश संस्कृत साहित्यमें विशेष अनुरक्त एवं उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त है, और उनके ही उद्देश्यसे कालिका नामक टीका प्रस्तुत हुई है। श्रीमान् अजित-कुमारके अनुरोधसे कालिकाभास अथच "क" परिशिष्ट लिखे गये हैं। अङ्कशास्त्र तथा जड़विज्ञानमें श्रीमान् अजितकुमार लब्ध-

प्रतिष्ठा प्राप्त है, अस्तु उनको प्रसङ्गप्राप्त शास्त्ररहस्य समझानेके लिये हमने अनेकों स्थानोंमें अङ्कशास्त्र एवं जड़विज्ञानके उदाहरणों एवं प्रयोगोंका अकुण्ठितरूपसे अवतरण किया है। श्रीमान् बलाईचन्द्र शास्त्रकारगणोंका जीवनवृत्तान्त अथच उन २ समयोंकी राजनैतिक एवं पारिपार्श्विक घटनाओंको जाननेका अभिलाष प्रकट करते थे। तदनुसार "ग" एवं "घ" नामक ऐतिहासिक परिशिष्ट रचे गये है। अध्यात्मशास्त्र की व्याख्यामें ऐतिहासिक वृत्तियोंका उल्लेख करना देखकर कोई कोई कहेंगे कि यह सागरगमनेच्छु व्यक्तिके लिये हिमालय गमनके समान उपहास्यजनक मालूम होता है। किन्तु जिन् जिन् शास्त्रवचनोंमे बालकोंको आस्था लानेकी चेष्टा गई है, उनके शास्त्रकारगणोंकी विद्वत्ता आदिके सम्बन्धमें सम्यक परिचय देना भी सायद निष्प्रयोजन न होगा। आजकल शास्त्रोंके प्रति अनेक लोगोंका अनादर देखा जाता है, क्योंकि उनके निकट शास्त्रकारोंका स्वरूप प्रकाशित नहीं है। निउटनकी बातपर सभी कोई आस्था दिखाते है, क्योंकि निउटन की विद्यावत्ता सभी जानते है। किन्तु यदि उन्हे यह दिखाया जाय कि भाष्कराचाय की विद्यावत्ता निउटनके अपेक्षा किसी अंशमे न्यून नहीं है, तो भास्कराचार्यके मतवाद पर भी कोई अनास्था प्रकाश नहीं कर सकता। अस्तु इन्हीं भावोंसे प्रणोदित होकर हमने उक्त शास्त्रकारोंका थोडा बहुत परिचय देनेकी चेष्टा की है।

प्राचीन ऋषिमुनियोंका स्थितिकाल निस्सन्देह नहीं मिलता, इसीसे इतिहासमें उनका जीवनवृत्तान्त सन्निविष्ट नहीं हुआ है। किन्तु जो जो शास्त्रकार ऐतिहासिक कालोंमें आविर्भूत हुए है, उनके सम्बन्धमें कितनी दूरतक जानी गई है, यही यहां लिपीबद्ध किया गया है। जिन जिन समयोंमें इन सब तिथ्याङ्कोंका आविर्भाव हुआ है, उन २ समयोंमें भिन्न २ देशोंकी अवस्था कैसी थी, अथवा उन देशोंके राजावोंके निकट एवं समाजके निकट

उत्कृष्ट प्रतिभासम्पन्न मनोषिगण किस प्रकारका उत्साह पाया करते थे, उसोका आभास देनेके लिये "घ" चिह्नित परिशिष्टमें राजनैतिक आदि अनेक वृत्तान्तोंका समावेश किया गया है। जो जो ग्रन्थके शेषभागस्थित इस इतिहासके द्वारा बालकोंने जितनो तृप्ति पाई है, उसके अपेचा मैने स्वयं बहुत अधिक तृप्ति पाई है। क्योंकि जोवनमे ऐसो उत्कृष्ट साधुसेवा और कभो संघटित होगो कि नहीं नहीं जानता।

इस ग्रन्थमें जिन सब शास्त्रोय प्रमाणोंका प्रयोग किया गया है, उनका सम्पूर्णांश एकत्र संग्रह करके उनके विशेषविवरण भी साथ ही साथ "ख" परिशिष्टमें दिया गया है। आवृत्ति आदिमें सुविधाके लिये अतिदेशादि को सूचो भो व्यवस्था को गई है। जहां २ टोका टिप्पणिको आवश्यकता मालूम हुई है, वहां उनका भो यथासाध्य समावेश किया गया है। इसके अलावे कालिका कालिकाभास अथवा परिशिष्टमें उल्लिखित ग्रन्थोंको दो दो नाम सूचियां वनाकर उपक्रमणिकाके पोछ लगा दिये गये है। और जिन २ शास्त्रचिन्तक ग्रन्थकारोंका जोवनवृत्तान्त संग्रहोत हो सकता है, उसका भो एक नामसूचो परिशिष्टांशके पोछ जोड दिया गया है। ग्रन्थका आकार बहुत बड़ा हाने पर भो उन सव ग्रन्थोंके विषय आदि आवश्यकोय स्थान सुविधापूर्व्वक शोघ्र २ निकाले जा सकेंगे, यहो परम सन्तोष है।

पूर्वोक्त परिशिष्टसमूह अभो केवल वङ्गोय संस्करणमें हो मुद्रित हुआ , क्योंकि उसका सम्पूर्णांश अभोतक हिन्दो भाषामें अनुवादित नहीं हो सकता है। उसका अनुवादकर्म्म समाप्त हो जाने पर उक्त ग्रन्थका द्वितोय खण्ड आचरित होगा।

कुछ तो आत्मोत्कर्षके कारण एवं कुछ अपने पुत्रोंके उपदेशके लिये यह ग्रन्थ रचा गया था। तत्पश्चात् अपने प्राणप्यारे पुत्रोंके अनुरोधसे वह पहले पहल वङ्गाक्षरमें छपा। और फिर हजारोबाग जिलान्तर्गत करभानगर-निवासो स्वनामधन्य कविचक्रचूडामणि

परम श्रद्धेय श्रीमान् पण्डितप्रवर श्रीरामलालशर्म्मा विद्यारत्नके सुपुत्र एवं श्रीमान् अजितकुमारके भतीजे अथच मेरे परमस्नेहभाजन प्राणप्रिय पुत्रकल्प पण्डितप्रवर श्रीमान् केशरीकान्तशर्म्मा एम-ए, बी-एल ने अनुकरणीय परिश्रमके साथ अपना अमूल्य समय लगाकर उक्त बङ्गीय संस्करणका शुद्ध हिन्दी भाषामें अनुवाद करके परम अनुगृहीत किया। उनके विषयमें इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि इस देवनागरी लिपिमें हिन्दी भाषाके साथ इसका प्रकाशन अथच उक्त लिपिप्रेमी विद्वद्वरों एवं उदार महानुभावोंके करकमलों तक गमन श्रीमान् पण्डितवर श्रीकेशरीकान्त शर्म्माके अपूर्व्व उत्साह एवं अलौकिक अध्यवसायका ही फल है।

यदि इससे अन्य किसीका भी किसी प्रकारका उपकार हुआ तो मुझको बड़ा सन्तोष होगा और मेरे सारे अभीष्टपूर्ण होंगे।

अलमिति।

अनुवादक—
श्रीकेशरीकान्तशर्म्मा।
चैत्र कृष्णाएकादशी, शुक्रवार, सं: १६८८ साल।

श्रीगुरुपद हालदार।

ग्रन्थसूची।

कालिका, कालिकाभास अथवा परिशिष्ट भागमें
प्रमाणरूपसे वा समालोचनार्थ जिन
ग्रन्थोंके वचन उद्धृत किये गये हैं
उनकी वर्णानुक्रम सूची।

इन ग्रन्थोंके वचन किन किन स्थलोंमें व्यवहृत हुए हैं इसका पत्राङ्क भी वङ्गीय संस्करणकी सूचीमें दिया गया है, किन्तु परिशिष्ट भागके हिन्दीमें अभीतक मुद्रित न होनेके कारण पत्राङ्क यहां न दिया जा सका।

अध्यात्मरामायण (ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत)—

अध्यात्मोपनिषत्—

अनिरुद्धवृत्ति (अनिरुद्ध-प्रणीत सांख्यसूत्रवृत्ति)—

अनुगीता—

अनुभूति-प्रकाश (विद्यारण्यमुनि-प्रणीत)—

अन्नपूर्णोपनिषत् (अथर्व्ववेदीय)—

अपरोक्षानुभूति (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—

अभिधान-चिन्तामणि (हेमचन्द्र-प्रणीत)—

अभिषेकनाटक (भास प्रणीत)—

अमरकोष (अमरसिंह-प्रणीत)—

अर्थशास्त्र (कौटिल्य-प्रणीत)—

अर्थसंग्रह (लौगाक्षिभास्करप्रणीत)—

अलङ्कार-कौस्तुभ (कविकर्णपुर वा परमानन्दप्रणीत)—

अलङ्कार-कौस्तुभ (विश्वेश्वरपण्डित प्रणीत)—

अवलोक (धनिक प्रणीत)—

अविमारक (भास-प्रणीत)—

अष्टाध्यायी (पाणिनिप्रणीत)।

अष्टावक्र-गीता—

अहिर्बुध्न्यसंहिता—

आत्मप्रबोधोपनिषत् वा आत्मबोधोपनिषत् (ऋग्वेदीय)—

आत्मानात्मविवेक (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—

आदर्श (काव्यप्रकाशपर महेश्वर प्रणीत टीकाविशेष)—

आदिपुराण (जैनग्रन्थ)—

आदिपुराण (हिन्दुग्रन्थ)—

आदियामल—

आनन्दलहरी (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—

आपस्तम्बधर्म्मसूत्र—

आपस्तम्बसूत्रध्वनितार्थकारिका (त्रिकाण्डमण्डन-कृत)—

आर्य्यभट्टीय (द्वितीयआर्य्यभट्टप्रणीत)—
आर्यसिद्धान्त (तृतीयआर्यभट्टप्रणीत)—
आरुणिकोपनिषत् (सामवेदीय)—
आलोक वा तत्त्वचिन्तामण्यालोक (पक्षधरमिश्रप्रणीत)—
आश्रमोपनिषत् (सामवेदीय)—
आश्वलायन श्रौतसूत्र—
आह्निकतत्त्व (रघनन्दन-प्रणीत)—
आर्हतदर्शन—
इण्डियान् मिउजियाम् गाइड् वा तत्त्वकप्रदर्शनी
(कलिकाता १८३०)
ईशोपनिषत् (शुक्लयजुर्व्वेदीय)—
ईश्वरगीता (कूर्म्मपुराणान्तर्गत)—
उज्ज्वला (हरदत्त-प्रणीत)
उत्तरगीता (ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत)—
उत्तरगीताभाष्य (गौडपादकृत)—
उत्तरनृसिंहतापिन्युपनिषत्—
उद्योत (प्रदीपपर नागेशकृत व्याख्या)—
उद्वाहतत्त्व (रघुनन्दन-प्रणीत)—
उपमितिभावप्रपञ्चकथा (सिद्धर्षि-प्रणीत)—
उपस्कार (वैशेषिकसूत्रपर शङ्करमिश्र प्रणीत वृत्ति)—
उवटभाष्य (यजुर्व्वेदपर उवटाचार्य प्रणीत भाष्य)—
उशन संहिता—
ऋक् प्रातिशाख्य (शौनकसङ्कलित)—
ऋगभाष्य (सायणाचार्य-प्रणीत)—
ऋग्वेद—
ऋङ्मन्त्रसारभाष्य (काशीनाथप्रणीत)—
ऋतुसंहार—
एकादशीतत्त्व (रघनन्दन-प्रणीत)—

ऐतरेय-ब्राह्मण (ऋग्वेदीय)—
ऐतरेयारण्यक (ऋग्वेदीय)—
ऐतरेयोपनिषत् (ऋग्वेदीय)—
कठरुद्र—
कठोपनिषत् (कृष्णयजुर्वेदीय)—
कणाददर्शन वा वैशेषिकदर्शन—
कथासरित्सागर (सोमदेवभट्टप्रणीत)—
कनकसप्तति (सांख्यकारिका)—
कर्म्मलोचन (वोपदेव-सङ्कलित)—
कलाप—कातन्त्र।
कलाप कविराज (सुषेणाचार्य्यकृत)—
कल्पतरु (अमलानन्दयतिप्रणीत)—
कल्पतरु (लक्ष्मीधर प्रणीत स्मृतिग्रन्थ)—
कल्पसूत्र (आपस्तम्ब प्रणीत)—
कविकङ्कणचण्डी (मुकुन्दराम-प्रणीत)—
कविकल्पद्रुम (वोपदेव-प्रणीत)—
कविविमर्श (राजशेखरप्रणीत)—
काठकसंहिता—
कातन्त्र वा कुमार व्याकरण वा कलाप (शर्ववर्म्माचार्य्य प्रणीत)—
कात्यायन-श्रौतसूत्र—
कात्यायन-संहिता—
कादम्बरी (वाणभट्ट-प्रणीत)—
कामकलातत्त्व—
कामन्दकीयनीति—
कामाख्यातन्त्र—
कालाग्निरुद्रोपनिषत् (कृष्णयजुर्वेदीय)—
कालिकापुराण—
कालीतन्त्र—

कावषेयगीता (ब्राह्म-पुराणान्तर्गत)—

काव्यप्रकाश (मम्मटभट्ट-प्रणीत)—

काव्यादर्श (दण्डिप्रणीत)—

काशिका (श्लोकवार्त्तिकके उपर सुचरितमिश्रकृत टीका)—

काशिका (जयादित्य वामन प्रणीत पाणिनिसूत्रवृत्ति)—

काशिका (नन्दिकेश्वर प्रणीत)—

काशीखण्ड—

किरणावली (प्रशस्तपादभाष्यके उपर उदयनाचार्य प्रणीत वृत्ति)—

कुमारसम्भव (कालिदास-प्रणीत)—

कुलकारिका (एड़ुमिश्र-प्रणीत)—

कुलार्णवतन्त्र—

कुलार्णव-महारहस्य—

कुब्जिकातन्त्र—

कूर्मपुराण—

कृत्यतत्व (रघुनन्दन-कृत)—

कृष्णयजुर्वेद वा तैत्तिरीय संहिता—

केनोपनिषत् (सामवेदीय)

कै[illegible]निषत् (कृष्णयजुर्वेदीय)—

कौलावली—

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् (ऋग्वेदीय)—

कौषीतकि रहस्य ब्राह्मण (ऋग्वेदीय)—

क्रमसन्दर्भ (भागवतपर श्रीजीव गोस्वामिकृत टीका)—

क्रियायोगसार (पद्मपुराणान्तर्गत)—

गन्धर्वतन्त्र—

गरुड़पुराण—

गादाधरी—तत्त्वचिन्तामणिदीधिति विवृति।

गायत्रीतन्त्र—

गायत्रीभाष्य (शङ्कराचार्य-प्रणीत)—

गीता (महाभारतान्तर्गत)—
गुरुपरम्पराचरित वा गुरुपरम्परान्तक—
गृह्यासंग्रह (गोभिलपुत्रकात्यायनप्रणीत)—
गोपथ-ब्राह्मण (अथर्ववेदीय)—
गोभिलीयगृह्यसूत्र—
गोरक्षपद्धति वा गोरक्षसंहिता—
गोलाध्याय (भास्कर-प्रणीत सिद्धान्तशिरोमणिके अन्तर्गत)—
गोलाध्याय (लल्लाचार्य्य-प्रणीत)—
गोविन्दभाष्य (बलदेवविद्याभूषणप्रणीत वेदान्तभाष्य)—
गौड़पादकारिका—माण्डूक्यकारिका ।
गौड़पादभाष्य (उत्तरगीताभाष्य)—
गौतमधर्म्मसूत्र—
गौतमीयतन्त्र—
गौरीसंहिता—
चण्डी—सप्तशती ।
चतुर्वर्गचिन्तामणि ([illegible])—
चन्द्रालोक (जयदेव-प्रणीत)—
चन्द्रिका (नैष्कर्म्यसिद्धिपर ज्ञानोत्तम मिश्र प्रणीत टीका)—
चर्पटपञ्जरिका (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—
चाणक्यनीतिदर्पण (गजानन-सङ्कलित)—
चार्व्वाकदर्शन (सर्व्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत)—
चित्सुखी—तत्त्वप्रदीपिका ।
छन्दःसूत्र (पिङ्गलाचार्यकृत)—
छन्दोमञ्जरी (गङ्गादास-प्रणीत)—
छान्दोग्योपनिषत् (सामवेदीय)—
छाया (उद्द्योतपर वैद्यनाथ पायगुण्डे प्रणीत व्याख्या)—
जागदीशी—तत्त्वचिन्तामणिदीधिति प्रकाशिका ।
जातूकर्ण-संहिता—

जानकीहरण-काव्य (कुमारदास-प्रणीत)—

जाबालदर्शनोपनिषत् (शुक्लयजुर्व्वेदीय)—

जीवन्मुक्तिविवेक (माधवाचार्यकृत)—

जैमिनिसूत्र वा जैमिनिदर्शन वा पूर्व्वमीमांसा—

जैमिनिसूत्रभाष्य वा शबरभाष्य वा शाबरभाष्य—

जैमिनीय न्यायमाला विस्तर (माधवाचार्य्यप्रणीत—

ज्योतिर्व्विदाभरण—

ज्ञानमहोदधि—

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र—

तत्त्वकप्रदर्शनी वा इण्डियान् मिउजियाम् गाइड्—

तत्त्वकौमुदी ([illegible])—

तत्त्वचिन्तामणि (गङ्गेशप्रणीत [illegible] मूलप्रकरणग्रन्थ)—

तत्त्वचिन्तामणिदीधिति (रघुनाथशिरोमणि-कृत)—

तत्त्वचिन्तामणिदीधितिटीका वा माथुरी—

तत्त्वचिन्तामणिदीधिति विवृति वा गादाधरी—

तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या (वासुदेव-सार्व्वभौमकृत)—

तत्त्वत्रय (विष्णुपुराणपर लोकाचार्य्य प्रणीत टीका)—

तत्त्वप्रदीपिका वा चित्सुखी—

तत्त्वविवेक (आनन्दतीर्थकृत)—

तत्त्ववैशारदी (सभाष्य योगदर्शनपर वाचस्पतिप्रणीत टीका)—

तत्त्वसंख्यान (आनन्दतीर्थ-प्रणीत)—

तत्त्वसागर—

तत्त्वोपदेश (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—

तन्त्रवार्त्तिक (कुमारिलभट्ट-प्रणीत)—

तन्त्रसार (कृष्णानन्दसङ्कलित)—

तर्ककौमुदी (लौगाक्षिभास्कर-प्रणीत)—

तर्कसंग्रह (अन्नंभट्टप्रणीत)—

तलवकार—केनोपनिषत् ।

ताण्ड्यब्राह्मण वा पञ्चविंशब्राह्मण (सामवेदीय)—
तात्पर्य्य-दीपिका वा सूतसंहिताटीका (माधवाचार्य्य-प्रणीत)—
तारारहस्य—
तार्किकरक्षा (वरदराजकृत)—
तार्किकरक्षाटीका वा निष्कण्टक (मल्लिनाथकृत)—
तिथितत्त्व (रघुनन्दन-कृत)—
तेजोबिन्दूपनिषत् (कृष्णयजुर्व्वेदीय)—
तैत्तिरीयब्राह्मण—
तैत्तिरीयभाष्यवार्त्तिक (सुरेश्वराचार्य्य-प्रणीत)—
तैत्तिरीयसंहिता—कृष्णयजुर्व्वेद।
तैत्तिरीयारण्यक—
तैत्तिरीयोपनिषत् (कृष्णयजुर्व्वेदीय)—
तोडलतन्त्र—
तोषणी (भागवतपर सनातन गोस्वामिकृत टीका)—
तौतातित-मत-तिलक (भवदेवभट्ट प्रणीत)—
त्रिकाण्डमण्डन (भास्कर मिश्र सोमयाजिप्रणीत)—
त्रिकाण्डशेष (महाराज कलिङ्गाधिपति पुरुषोत्तमदेव प्रणीत अमरकोषपरिशिष्ट)—
दक्षसंहिता—
दक्षिणामूर्त्त्युपनिषत्—
दाक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र—
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिक वा मानसोल्लास (सुरेश्वराचार्य्यप्रणीत)
दत्तकचन्द्रिका (कुवेरपण्डितप्रणीत)—
दत्तकमीमांसा (नन्दपण्डितप्रणीत)—
दत्तात्रेयसंहिता—
दरिद्रचारुदत्त (भासप्रणीत)—
दशरूपक (धनञ्जयकृत)—
दानखण्ड (हेमाद्रिप्रणीत चतुर्व्वर्गचिन्तामणिके अन्तर्गत)।

दानसागर (बल्लालसेन सङ्कलित)—
दृग्दृश्यविवेक वा वाक्यसुधा (भारतीतीर्थप्रणीत)—
देवलसंहिता—
देवीपुराण—
देवीभागवत—
देवीभागवत टीका (नीलकण्ठप्रणीत)
देव्युपनिषत्—
द्वैतनिर्णय (शङ्करभट्ट-प्रणीत)—
धर्म्मपूजापद्धति (रामाइ-पण्डित-प्रणीत)—
धर्म्ममङ्गल (घनराम प्रणीत)—
ध्वन्यालोक (आनन्दवर्द्धनप्रणीत)—
नञर्थवाद (रघुनाथशिरोमणिकृत)—
नञर्थवाद-टीका (गदाधरभट्टाचार्य्य-प्रणीत)—
नन्दिपुराण—
नवीन-मुक्तिवाद (गदाधरभट्टाचार्य्य प्रणीत)—
नाट्यशास्त्र (भरतमुनि-प्रणीत)—
नाममहोदधि (महीधरप्रणीत)—
नारदपञ्चरात्र—
नारदपरिव्राजकोपनिषत् (अथर्व्ववेदीय)—
नारदीयपुराण—
नारायणवृत्ति (आश्वलायनश्रौतसूत्रपर नारायणप्रणीत वृत्ति)—
नारायणोपनिषत् (कृष्णयजुर्व्वेदीय)—
निम्बार्कभाष्य वा वेदान्तपारिजात-सौरभ—
निरालम्बोपनिषत् (शुक्लयजुर्व्वेदीय)—
निरुक्त (यास्कप्रोक्त)—
निरुत्तरतन्त्र—
निर्णयसिन्धु (कमलाकरभट्टप्रणीत)—
निर्व्वाणतन्त्र—

निर्व्वाणोपनिषत्—

नीतिदर्पण (चाणक्यप्रणीत)—

नीतिशास्त्र—अर्थशास्त्र ।

नीतिसार (कामन्दक-प्रणीत)—

नृसिंहतापिन्युपनिषत् पूर्व्व एवं उत्तर (अथर्व्ववेदीय)—

नैषधचरित (श्रीहर्षप्रणीत)—

नैष्कर्म्म्यसिद्धि (सुरेश्वराचार्य्य प्रणीत)—

न्यायकुसुमाञ्जलि (उदयनाचार्य्य-प्रणीत)—

न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी (वरदराज-प्रणीत)—

न्यायदर्शन—अक्षपाददर्शन ।

न्यायभाष्य वा वात्स्यायनभाष्य—

न्यायमालाविस्तर—जैमिनीय-न्यायमाला ।

न्यायवार्त्तिक (उद्योतकरभारद्वाज-प्रणीत)—

न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य्य (वाचस्पतिमिश्र-प्रणीत)—

न्यायसिद्धान्त-मञ्जरी-प्रकाश (लौगाक्षिभास्कर प्रणीत)—

न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली (विश्वनाथप्रणीत)—

न्यायसूची-निबन्ध (वाचस्पतिमिश्रप्रणीत)—

न्यायसूत्र—अक्षपाददर्शन ।

न्यायामृत (पूर्णप्रज्ञदर्शनपर व्यासराज स्वामिकृत टीका)—

पञ्चदशी (भारतीतीर्थ और विद्यारण्य-प्रणीत)—

पञ्चपादिका (पद्मपाद-आचार्य्य-प्रणीत)—

पञ्चपादिका-विवरण (प्रकाशात्म-यति-प्रणीत)—

पञ्चब्रह्मोपनिषत् (कृष्णयजुर्व्वेदीय)—

पञ्चरात्र—नारदादिसंवाद ।

पञ्चरात्र-नाटक—(भासप्रणीत)—

पञ्चविंश-ब्राह्मण वा तांड्यब्राह्मण (सामवेदीय)—

पञ्चिका—प्रकरणपञ्चिका ।

पञ्चीकरण (शङ्कराचार्य्य-सङ्कलित)—

पञ्चीकरण-वार्त्तिक (सुरेश्वराचार्य्यप्रणीत)—
पंडितविजय (शङ्करमिश्र-प्रणीत)—
पदमञ्जरी (काशिकापर हरदत्त प्रणीत व्याकरण ग्रन्थ)—
पदार्थ-धर्म्मसंग्रह वा वैशेषिकसूत्रभाष्य वा प्रशस्तपादभाष्य)—
पद्मपुराण—
परमहंसोपनिषत् (अथर्व्ववेदीय)—
पराशरतन्त्र वा पराशरसिद्धान्त—
पराशरमाधवीय (माधवाचार्य्यप्रणीत)—
पराशरसंहिता वा पराशरस्मृति—
पराशरोपपुराण—
परिमल (अप्पयदीक्षितप्रणीत)—
पाणिनि वा अष्टाध्यायी—
पाणिनीयवार्त्तिक (कात्यायन-प्रणीत)—
पाणिनीय-शिक्षा—
पातञ्जल वा योगदर्शन इत्यादि—
पारस्करगृह्यसूत्र—
पाशुपत ब्रह्मोपनिषत्—
पिङ्गलसूत्र—छन्दःसूत्र
पितृयज्ञब्राह्मण—
पूर्णप्रज्ञदर्शन वा मध्वभाष्य—
पूर्व्वनृसिंहतापिन्युपनिषत् —नृसिंहतापिन्युपनिषत
पूर्व्वमीमांसा—जैमिनिसूत्र वा दर्शन
पृथ्वीराज-चरित—
पैङ्गलोपनिषत् (शुक्लयजुर्व्वेदीय)—
प्रकरणपञ्चिका (शालिकानाथमिश्र-प्रणीत)—
प्रकाशादर्श (महेश्वरन्यायालङ्कार-प्रणीत)—
प्रतिज्ञायौगन्धरायण (भास-प्रणीत)—
प्रतिमानाटक (भास-प्रणीत)—

भट्टिकाव्य (भर्तृहरि-प्रणीत)—

भर्तृशतक (मालवराजभर्तृहरि-प्रणीत)—

भविष्यपुराण—

भागवत—देवीभागवत एवं विष्णुभागवत

भागवतभावार्थदीपिका (श्रीधरस्वामिकृत)—

भामती (वाचस्पति मिश्र-प्रणीत)—

भारत कि शिखाइते पारे (इट्सिं-प्रणीत)—

भारतभावदीप (महाभारतपर नीलकण्ठकी टीका)—

भावचूड़ामणितन्त्र—

भावप्रकाश (सदानन्दवित्प्रणीत-गीताव्याख्या)—

भावप्रकाश (भावमिश्रप्रणीत वैद्यग्रन्थ)—

भावनाविवेक (मंडनमिश्र-प्रणीत)—

भावनाविवेक टीका (उम्बेककृत)—

भावनोपनिषत् (अथर्ववेदीय)—

भावार्थदीपिका—भागवतभावार्थदीपिका ।

भाषापरिच्छेद (विश्वनाथ न्यायपञ्चाननकृत)—

भाषोत्कर्षदीपिका (धनपतिसूरि कृत)—

भिक्षुकोपनिषत् (शुक्लयजुर्वेदीय)—

भोजप्रबन्ध (बल्लालप्रणीत)—

मङ्गलभाष्य (पुरुषसूक्तपर मङ्गलाचार्य्यकृत भाष्य)—

मञ्जूषा वा जागदीशतोषिणी (कृष्णभट्ट आर्डे प्रणीत)—

मञ्जूषा (नागेश-प्रणीत)—

मठाम्नाय (शाङ्करसम्प्रदाय-कृत)—

मणिप्रभा (रामानन्दसरस्वतीप्रणीत योगसूत्र

मत्स्यपुराण—

मत्स्यसूक्त (हलायुधसङ्कलित)—

मध्वभाष्य—पूर्णप्रज्ञदर्शन ।

मनुसंहिता वा मानवसंहिता वा मानवधर्मशास्त्र वा मनुस्मृति—

मन्त्रभाष्य (शुक्लयजुर्व्वेदपर उवटाचार्य्यप्रणीत भाष्य)—
मन्त्रार्थमुक्तावली (कुल्लूकभट्टकृत)—
मलमासतत्त्व (रघुनन्दनकृत)—
महानारायणोपनिषत् (अथर्व्ववेदीय)—
महानिर्व्वाणतन्त्र—
महाभारत—
महाभाष्य, वा फणिभाष्य (पतञ्जलिप्रणीत)—
महावंश (धातुसेन-सङ्कलित)—
महावाक्योपनिषत्—
महावीरचरित—
महिम्नस्तोत्र (पुष्पदन्तविरचित)—
महिम्नस्तोत्र टीका (जगन्नाथचक्रवर्त्ति-प्रणीत)—
महीधरभाष्य वा वेददीप (यजुर्व्वेदीय भाष्य)—
महोपनिषत् (सामवेदीय)—
माठरवृत्ति (सांख्यकारिकापर माठराचार्य्यकी वृत्ति)—
माण्डूक्यकारिका (गौड़पादकृत)—
माण्डूक्यभाष्यटीका (आनन्दगिरि-प्रणीत)—
मांडूक्योपनिषत् (अथर्व्ववेदीय)—
माथुरी—तत्त्वचिन्तामणिदीधिति टीका।
मानसोल्लास (दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रपर सुरेश्वराचार्य्य-प्रणीत वार्त्तिक)—दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिक।
मार्कण्डेयपुराण—
मालविकाग्निमित्र (कालिदास-प्रणीत)—
मीमांसावार्त्तिक—तन्त्रवार्त्तिक।
मुक्तिकोपनिषत् (शुक्लयजुर्वेदीय)—
मुक्तिवाद—नवीन (गदाधर कृत)—
मुक्तिवाद—प्राचीन (शिरोमणिकृत)।
मुग्धबोधटीका (रामतर्कवागीश-कृत)—

मुण्डकोपनिषत् (अथर्ब्ववेदीय)—

मुद्गलोपनिषत् (ऋग्वेदीय)—

मुद्राराक्षस (विशाखदत्तप्रणीत)—

मूर्त्तिरहस्य—

मृगेन्द्रसंहिता—

मृच्छकटिका वा मृच्छकटिक (शूद्रकप्रणीत)—

मेघदूत (कालिदासप्रणीत)—

मैत्रायण-ब्राह्मणोपनिषत् वा मैत्रायण्युपनिषत् (सामवेदीय)—

मैत्रेय्युपनिषत् (सामवेदीय)—

यजुर्व्वेद—शुक्ल वा कृष्ण।

यजुर्व्वेदभाष्य—उवटभाष्य वा महीधरभाष्य।

यमसंहिता—

यज्ञपरिभाषासूत्र (आपस्तम्बकृत)—

याज्ञवल्क्य-शिक्षा—

याज्ञवल्क्य-संहिता—

याज्ञवल्क्योपनिषत् (शुक्लयजुर्वेदीय)—

योगचूडामण्युपनिषत् (सामवेदीय)—

योगदर्शन—पातञ्जलदर्शन।

योगदीक्षा-चिन्तामणि—

योगभाष्य (व्यासदेवकृत)—

योगवार्त्तिक (विज्ञानभिक्षुप्रणीत)—

योगवाशिष्ठ—

योगशिखोपनिषत् (कृष्णयजुर्वेदीय)—

योगिनीतन्त्र—

योगियाज्ञवल्क्य—

रघुवंश (कालिदास-प्रणीत)—

रत्नप्रभा (गोविन्दानन्द कृत वेदान्त टीका)—

रत्नाकर (रत्नाकरमिश्र-प्रणीत)—

रसार्णवसुधाकर (शिङ्गभूपाल प्रणीत)—

राकागम (गागाभट्ट-प्रणीत)—

राघवपाण्डवीय काव्य (कविराजमाधवभट्टप्रणीत)—

राजमृगाङ्क (भोजदेवप्रणीत)—

राजतरङ्गिणी (कल्हणमिश्र प्रणीत)—

राजनिर्घण्ट —

रामपूर्व्वतापिन्युपनिषत—

रामायण—

रामोत्तरतापिन्युपनिषत् (अथर्व्ववेदीय)—

रुद्राध्याय-भाष्य (भट्टभास्करीय)—

लघुकल्पसूत्र—

लघुमञ्जूषा (नागेशप्रणीत)—

लघुविष्णुस्मृति—

लघुशङ्खस्मृति—

लघ्वाश्वलायनस्मृति—

ललितरहस्य—

लिखित-संहिता—

लिङ्गपुराण—

लीलावती (भास्करप्रणीत सिद्धान्तशिरोमणि अन्तर्गत)—

लोचन (अभिनवगुप्तप्रणीत)—

वंशब्राह्मण—

वंशावली—

वराहपुराण—

वराहमिहिरीय-बृहत्संहिता—

वराहोपनिषत् (कृष्णयजुर्व्वेदीय)—

वल्लालचरित (आनन्दभट्ट-प्रणीत)—

वशिष्ठसंहिता—

वाक्यपदीय वा हरिकारिका (भर्तृहरि-प्रणीत)—

वाक्यवृत्ति (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—

वाक्यसुधा (भारतीतीर्थ-प्रणीत दृग्दृश्यविवेक)—

वाजसनेयसंहिता—शुक्लयजुर्व्वेद ।

वात्स्यायनभाष्य—न्यायभाष्य ।

वायुपुराण—

वाराहीतन्त्र—

वालंभट्टी ([illegible] किन्तु वालंभट्टके नामसे प्रचलित)—

वार्हस्पत्यसूत्र—

वालचरित (भासप्रणीत)—

वाशिष्ठ-महारामायण तात्पर्य्यप्रकाश (आनन्दवोधेन्द्र सरस्वती-प्रणीत)—

वासनाभाष्य (भास्कर-प्रणीत)—

वासुदेवोपनिषत् (सामवेदीय)—

विठ्ठल ऋङ्मन्त्रसार भाष्य (काशीनाथकृत)—

विद्याप्रस्थान (गुरुपदहालदारकृत)—

विद्वन्मनोरञ्जनी (वेदान्तसारपर रामतीर्थटीका)—

विधिविवेक (मण्डनमिश्र-प्रणीत)—

विवरण—पञ्चपादिका-विवरण ।

विवरणप्रमेयसंग्रह (माधवाचार्य्य-प्रणीत)—

विवादरत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)—

विवेकचूडामणि (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—

विश्वसारतन्त्र—

विष्णुधर्म्मोत्तर—

विष्णुपुराण—

विष्णुभागवत वा श्रीमद्भागवत वा भागवत—

विष्णुयामल—

विष्णुसंहिता—

विष्णुसहस्रनाम—

बृहज्जातक (वराहमिहिर-प्रणीत)—
बृहत्संहिता (वराहमिहिरीय)—
बृहती (प्रभाकरकृत मीमांसासूत्रभाष्य)—
बृहदारण्यकप्रकाशिका (रङ्गरामानुज-प्रणीत)—
बृहदारण्यकवार्त्तिक (सुरेश्वराचार्य-प्रणीत)—
बृहदारण्यकोपनिषत् (शुक्लयजुर्वेदीय)—
बृहद्ब्रह्मपुराण (नारदपञ्चरात्रान्तर्गत)—
बृहस्पतिसंहिता—
वेददीप (महीधरप्रणीत यजुर्वेदभाष्य)—महीधर-भाष्य ।
वेदान्त-डिण्डिम (नृसिंहसरस्वती-प्रणीत)—
वेदान्तदर्शन, वेदान्तसूत्र, बादरायणसूत्र, ब्रह्मसूत्र, शारीरकसूत्र—
वेदान्तपरिभाषा (धर्म्मराजाध्वरीन्द्र-प्रणीत)—
वेदान्तपारिजातसौरभ—निम्बार्कभाष्य ।
वेदान्तसार (सदानन्दयोगीन्द्र-प्रणीत)—
वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जरी (गङ्गाधरसरस्वती-प्रणीत)—
वैयाकरण-भूषणसार (कौण्डभट्ट-प्रणीत)—
वैयासिक-न्यायमाला (भारतीतीर्थ-प्रणीत)—
वैशेषिक-भाष्य—पदार्थसंग्रह ।
बोधनी (वरदराज-प्रणीत)—
बोधसार (नरहरि-प्रणीत)—
व्याससंहिता—
शकुन्तला (कालिदास-प्रणीत)—
शक्तिरत्नाकरतन्त्र—
शक्तिसङ्गमतन्त्र—
शक्तिसूत्र—
शङ्खस्मृति वा शङ्खीय-धर्म्मशास्त्र—
शतपथब्राह्मण वा शातपथीयब्राह्मण—
शब्दशक्तिप्रकाशिका (जगदीश-प्रणीत)—

शब्दार्थ-चिन्तामणि—
शाट्यायनीयोपनिषत् (शुक्लयजुर्व्वेदीय)—
शाण्डिल्य-सूत्र—
शाण्डिल्योपनिषत्—
शातातपसंहिता—
शान्तिशतक (शिल्हणमिश्र-प्रणीत)—
शाम्भवदर्शन—
शाम्भवीतन्त्र वा शाम्भवीविद्या—
शारदातिलक—सारदातिलक।
शारीरकभाष्य वा शाङ्करभाष्य—
शावरभाष्य—जैमिनिसूत्रभाष्य।
शास्त्रदर्पण (अमलानन्द-प्रणीत)—
शास्त्रदर्पण (अमलानन्द-प्रणीत)—
शिवपुराण—
शिवार्कमणिदीपिका (श्रीकण्ठभाष्यपर अप्पयदीक्षितेर टीका)—
शिशुपालवध (माघ-प्रणीत)—
शुकरहस्योपनिषत्—
शुक्लयजुर्व्वेद वा वाजसनेयसंहिता वा यजुर्व्वेद—
शुद्धितत्त्व (रघुनन्दन-कृत)—
शून्यपुराण—
श्राद्धविवेक (शूलपाणिकृत)—
श्रीकण्ठभाष्य (श्रीकण्ठाचार्य्यप्रणीत-वेदान्तभाष्य)—
श्रीधर्म्ममङ्गल (घनरामप्रणीत-बौद्धग्रन्थ)—
श्रीभाष्य (रामानुजाचार्य्य-प्रणीत)—
श्रीभाष्यवार्त्तिक वा श्रुतप्रकाशिका (सुदर्शनाचार्य्य-प्रणीत)—
श्रीमद्भागवत—विष्णुभागवत।
श्रुतप्रकाशिका—श्रीभाष्यवार्त्तिक।
श्लोकवार्त्तिक (कुमारिलभट्ट-प्रणीत)—

श्वेताश्वतरोपनिषत् (कृष्णयजुर्व्वेदीय)—
षड्दर्शन-समुच्चय (हरिभद्रसूरिकृत)—
षड्दर्शन-समुच्चय-टीका (गुणरत्नकृत)—
षड़ाम्नायतन्त्र—
संक्षेपशारीरक (सर्व्वज्ञात्ममुनि-प्रणीत)—
संस्कारकौस्तुभ—
स[illegible]र्षणकाण्ड वा भक्तिमीमांसा (जैमिनिदृष्ट)—
स[illegible]र (शुभङ्करप्रणीत)—
सन्न्यासोपनिषत् (सामवेदीय)—
सप्तपदार्थी (शिवादित्यमिश्रप्रणीत)—
सप्तशती वा चण्डी—
स्वप्नवासवदत्ता (भासकृत)—
सम्बन्धवार्त्तिक वा बृहदारण्यक वार्त्तिकांश
(सुरेश्वराचार्य्यप्रणीत)—
[illegible] (माधवाचार्य्यप्रणीत)—
[illegible] (शङ्कराचार्य्यप्रणीत)—
सांख्यकारिका वा कनकसप्तति (ईश्वरकृष्णाचार्य्यप्रणीत)—
सांख्यतत्त्वप्रदीपिका (भावगणेश प्रणीत)—
सांख्यदर्शन वा सांख्यशास्त्र वा सांख्यप्रवचन वा सांख्यसूत्र)—
सांख्यप्रवचन वा सांख्यभाष्य (विज्ञानभिक्षुप्रणीत)—
सांख्यसार (विज्ञानभिक्षुप्रणीत)—
सात्वतसंहिता—
सामवेद—
सायणभाष्य—
सारदातिलक (लक्ष्मणाचार्य्य-सङ्कलित)
सा[illegible]पनिषत्—
साहित्यदर्पण (विश्वनाथ कविराजप्रणीत)—
सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित-प्रणीत)—

सिद्धान्तचन्द्रोदय (तर्कसंग्रहपर कृष्णधूर्ज्जटिप्रणीत टीका)—
सिद्धान्तजाह्नवी (ब्रह्मसूत्रपर देवाचार्य्यप्रणीत
द्वैताद्वैतपर व्याख्या)—
सिद्धान्तमुक्तावली—
सिद्धान्तलेशसंग्रह (अप्पयदीक्षितप्रणीत)—
सिद्धान्तविन्दु (शङ्कराचार्य्यप्रणीत)—
सिद्धान्तशिरोमणि (भास्कराचार्य्यप्रणीत)—
सिद्धान्तसंग्रह—सर्व्वसिद्धान्तसंग्रह
सुवालोपनिषत्—
सूतसंहिता—
सूतसंहिताटीका वा तात्पर्य्यदीपिका (माधवाचार्य्यप्रणीत)—
सौन्दरनन्द (अश्वघोषकृत)—
सौरसंहिता—
स्कन्दपुराण—
स्कन्दभाष्य (निरुक्तपर स्कन्दस्वामिप्रणीत भाष्य)—
स्पन्दकारिका (कल्लटेन्दुभट्टप्रणीत)—
स्फोटचन्द्रिका—
स्फोटसिद्धिन्यायविचार—
स्मृतिसंग्रह (विद्याधरवाजपेयिमङ्कलित)—
स्मृतिसमुच्चय—
स्वच्छन्दशास्त्र वा तन्त्रशास्त्र—
स्वप्नवासवदत्ता (भास प्रणीत)—
हंसोपनिषत्—
हयग्रीवपञ्चरात्र—
हरिकारिका—वाक्यपदीय
हरिभक्तिविलास (गोपालभट्टगोस्वामिकृत)—
हरिलीला (वोपदेवप्रणीत)—
हरिवंश—

हर्षचरित (वाणभट्टप्रणीत)—

हादिमत—

हारीतसंहिता—

हितोपदेश (विष्णुशर्म्मप्रोक्त)—

हिरण्यगर्भसंहिता वा हैरण्यगर्भ—

हेमाद्रिनिवन्ध—चतुर्व्वर्गचिन्तामणि ।

कालिका, कालिकाभास और परिशिष्टभागमें जिन जिन ग्रन्थका
(प्रमाणवाक्यसे उद्धृत न होने:) पर भी नाम-विषयादि
उल्लिखित और समालोचित हुए हैं, उसकी

वर्णानुक्रम सूची।

इन ग्रन्थोंके समालोचनादि जिन जिन स्थलोंमें व्यवहृत हुए है इसका पत्राङ्क :भी बङ्गीय संस्करण की सूचीमें दिया गया है, किन्तु परिशिष्टभाग हिन्दीमें अभीतक मुद्रित न होनेके कारण पत्राङ्क यहां न दिया जा सका।

आर्य्यासप्तशती (गोवर्द्धन-प्रणीत)—
आश्वलायन-सूत्रभाष्य (सायण-प्रणीत)—
आह्निक-पद्धति (ईशानभट्ट-प्रणीत)—
उत्तरपुराण (जैन-ग्रन्थ)—
उत्तर-रामचरित (भवभूति-प्रणीत)—
उपदेशसाहस्री (शङ्कराचार्य्य-प्रणीत)—
उपनिषद्दीपिका (नारायणभट्ट-प्रणीत)—
ऊरुभङ्ग (भास-प्रणीत)—
ऋग्वेदानुक्रमणिका (सायणप्रणीत)—
ऋजुविमला (शालिकनाथप्रणीत)—
एकाक्षरकोष (महीधरप्रणीत)—
एकावली (विद्याधरप्रणीत)—
ऐतरेयारण्यक-भाष्य (सायणकृत)—
औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्रकृत अलङ्कारग्रन्थ)
कथाकौतुक ((श्रीधरप्रणीत)—
कथासंग्रह (केनारि भाषामें)—
कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्रप्रणीत)—
कर्णभार (भासप्रणीत)—
कर्पूरमञ्जरी (राजशेखरप्रणीत)—
कलाविलास (क्षेमेन्द्रप्रणीत)—
कात्यायन-गृह्यसूत्र-भाष्य (महीधरप्रणीत)—
कात्यायन-शुल्कसूत्र-भाष्य (महीधरप्रणीत)—
काव्यकौतुक (भट्टतौतप्रणीत)—
काव्यालङ्कार (भामहप्रणीत)—
काव्यालङ्कार-सूत्र (वामनप्रणीत)—
कामसूत्र (वात्स्यायनप्रणीत)—
कायस्थधर्मदीप (गागाभट्टप्रणीत)—
कालकाचार्य्य-कथापाठ—

कालनिर्णय (मध्वाचार्यप्रणीत)—

कालविवेक (जीमूतवाहनप्रणीत)—

काशीप्रकाशतत्त्व—

किरणावलीप्रकाश (वर्द्धमानप्रणीत)—

किरातार्ज्जुनीय (भारविप्रणीत)—

कुट्टनीमत (दामोदरगुप्तप्रणीत)—

कुन्दमाला (दिङ्नागप्रणीत)—

कुवलयानन्द (अप्पयदीक्षितप्रणीत)—

कृतकोटि (बोधायनप्रणीत वेदान्तवृत्ति)—

कृत्यकल्पतरु (लक्ष्मीधर-प्रणीत)—

कृत्यरत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)—

कृष्णलीला (बिल्वमङ्गल-प्रणीत)—

केशव-वैजयन्ती (विष्णुपुराणपर नन्दपण्डितकृत टीका)—

कैवल्यदीपिका—

क्रियायोग (विठ्ठलाचार्य-प्रणीत)—

खण्डन-खण्ड-खाद्य (श्रीहर्ष-प्रणीत)—

खण्डन-खण्ड-खाद्य-प्रकाश (वर्द्धमान-प्रणीत)—

खण्डखाद्य (ब्रह्मगुप्त-प्रणीत)—

गणरत्न-महोदधि (वर्द्धमान-प्रणीत)—

गणितसार (श्रीधर प्रणीत)—

गणिताध्याय (लल्लाचार्य-प्रणीत)—

गाथासंग्रह (वसुबन्धु-प्रणीत)—

गीतगोविन्द (जयदेव-कृत)—

गुरुमर्म्मप्रकाश (रसगङ्गाधरपर नागेशकृत टीका)—

गृहस्थरत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)—

गोरक्षसंहिता (गोरक्षनाथ-संकलित)—

गौड़वह (वाक्पतिराज-प्रणीत)—

ग्रहलाघव (गणेशाचार्य-प्रणीत)—

घटकर्परकाव्य (घटकर्परप्रणीत)—
घण्टापथ (किरातार्ज्जुनीयपर मल्लिनाथकृत टीका)—
चण्डमारुत (शतदूषणीपर दोड्याचार्यकी टीका)—
चण्डीमङ्गल (मुकुन्दरामप्रणीत)—
चतुर्व्वेद-तात्पर्य्य-संग्रह (हरदत्त-प्रणीत)—
चरणव्यूह (शौनकप्रणीत)—
चित्रमीमांसा (अप्पयदीक्षित-प्रणीत)—
चित्रमीमांसा-खण्डन (जगन्नाथपण्डित-प्रणीत)—
चित्रमीमांसा-दोषधिक्कार (नीलकण्ठ-प्रणीत)—
चैतन्य-चन्द्रोदय (कविकर्णपुरप्रणीत)—
चैतन्यचरितामृत (कविकर्णपुरप्रणीत)—
छन्दःपरिशिष्ट वा कर्म्मप्रदीप (गोभिलपुत्र कात्यायनप्रणी
जयमङ्गला (कामसूत्रपर यशोधरप्रणीत टीका)—
जीवातु (नैषधपर मल्लिनाथप्रणीत टीका)—
ज्ञानयज्ञ (यजुर्व्वेदपर भट्टभास्करप्रणीत भाष्य)—
टुप्‌टीका वा लघुवार्त्तिक (कुमारिलप्रणीत)—
तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश (वर्द्धमान-प्रणीत)—
तत्त्वचिन्तामणिप्रभा (यज्ञपतिप्रणीत)—
तत्त्वनिर्णय (वरदाचार्य्यप्रणीत)—
तत्त्वविन्दु (वाचस्पतिप्रणीत)—
तत्त्वसंग्रह (शान्तरक्षितप्रणीत)—
तत्त्वसमीक्षा (वाचस्पतिमिश्रप्रणीत)—
तत्त्वसागर—
तत्त्वसार-दीपिका (सकलकीर्त्तिप्रणीत)—
[illegible] (बुधस्वामिसंगृहीत)—
तर्कप्रदीप (कोण्डभट्ट-प्रणीत)—
तर्कभाषा (केशवमिश्र प्रणीत)—
तात्पर्य्यदीपिका—सूतसंहिताटीका ।

तात्पर्य्यपरिशुद्धि (उदयनाचार्य्य-प्रणीत)—
तिथिविवेक (शूलपाणि-प्रणीत)—
तैत्तिरीयसंहिताभाष्य (सायण-प्रणीत)—
तैत्तिरीयारण्यकभाष्य (सायण-प्रणीत)—
त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित (हेमचन्द्र-प्रणीत)—
दशकर्म्मपद्धति (भवदेवभट्टप्रणीत)—
दशावतारचरित (क्षेमेन्द्र प्रणीत)—
दानकल्पतरु (लक्ष्मीधरकृत)—
दानरत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)—
दायभाग टीका (श्रीकृष्णतर्कालङ्कार-प्रणीत)—
दायभाग टीका (श्रीनाथ-प्रणीत)—
दिनकरी (महादेवभट्ट-प्रणीत)—
दीधिति (रघुनाथशिरोमणि-प्रणीत)—
दीपशिखा (शालिकानाथ-प्रणीत)—
दुर्गोत्सवविवेक (शूलपाणि-प्रणीत)—
दुर्घटवृत्ति (शरणदेव-प्रणीत)—
दूतकाव्य (भास-प्रणीत)—
दूतघटोत्कच (भास-प्रणीत)—
देवीशतक (आनन्दवर्द्धन-प्रणीत)—
देशीशब्दसंग्रह (हेमचन्द्र-प्रणीत)—
द्वात्रिंशत्पुत्तलिका —
धर्म्ममङ्गल (घनराम-प्रणीत)—
नक्षत्रवादावली (अप्पयदीक्षित-प्रणीत)—
नवशशाङ्क-चरित (पद्मगुप्त प्रणीत)—
नागरिक-सर्व्वस्व (पद्मपण्डित-प्रणीत)—
नागरिक-सर्व्वस्व टीका (जगज्ज्योतिर्मल्ल-प्रणीत)—
नागानन्द (हर्षवर्द्धन-प्रणीत)—
निदानसंग्रह (माधवकर-प्रणीत)—

निरुक्तभाष्य (स्कन्दस्वामि-प्रणीत)—

निष्कण्टक (मल्लिनाथ-कृत)—

नीतिशतक (भर्तृहरि-प्रणीत)—

नीलकण्ठचम्पू (नीलकण्ठदीक्षित-प्रणीत)—

नेपाल-माहात्म्य—

न्यायकणिका (वाचस्पति-प्रणीत)—

न्यायकन्दली (श्रीधराचार्य-प्रणीत)—

न्यायकन्दलीपञ्जिका (राजशेखर-प्रणीत)—

न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश (वर्द्धमान-प्रणीत)—

न्यायदीपिका (वरदराज-प्रणीत)—

न्यायद्वारतारकशास्त्र (नागार्ज्जुन-प्रणीत)—

न्यायनिबन्धप्रकाश (वर्द्धमान-प्रणीत)—

न्यायनिर्णय (आनन्दगिरि-प्रणीत)—

न्यायपदार्थदीपिका (कोण्डभट्ट-प्रणीत)—

न्यायप्रवेश (दिङ्नाग-प्रणीत)—

न्यायमञ्जरी (जयन्तभट्ट-प्रणीत)—

न्यायरत्नाकर (पार्थसारथि-प्रणीत)—

न्यायलीलावती (वल्लभाचार्य-प्रणीत)—

न्यायबिन्दु (धर्मकीर्त्ति-प्रणीत बौद्धग्रन्थ)—

न्यायसार (भासर्व्वज्ञ-प्रणीत)—

न्यायावतार (सिद्धसेन-प्रणीत)—

पञ्चसिद्धान्तिका (वराहमिहिर-प्रणीत)—

पदचन्द्रिका (अमरकोषपर रायमुकुट-प्रणीत टीका)—

पदार्थदीपिका (नागेशभट्ट-प्रणीत)—

पदार्थधर्म्मसंग्रह (प्रशस्तपाद-प्रणीत)—

पदार्थादर्श (राघवभट्ट-प्रणीत)—

पद्यकादम्बरी (क्षेमेन्द्र-प्रणीत)—

पवनदूत (धोयी-प्रणीत)—

परपक्षगिरिवज्र (माधवमुकुन्द-प्रणी.) —
पराशरसिद्धान्त—
परिभाषेन्दुशेखर (नागेश-प्रणीत)—
परिभाषेन्दुशेखरसंग्रह (नागेश-प्रणीत)—
पादुकासहस्र (वेङ्कटाचार्य्य-प्रणीत)—
पिच्छिलातन्त्र—
पीयूषलहरी (जगन्नाथप्रणीत)—
पूजारत्नाकर (चण्डेश्वरप्रणीत)—
पूर्व्वमीमांसाकारिका (वल्लभाचार्यप्रणीत)—
प्रक्रियाकौमुदी (रामचन्द्रप्रणीत)—
प्रज्ञापारमिता (हरिभद्रसूरिप्रणीत)—
प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथप्रणीत)—
प्रतिष्ठासागर (वल्लालसेनप्रणीत)—
प्रत्यभिज्ञाकारिका (उत्पलाचार्य्यप्रणीत)—
प्रमाणवार्त्तिक (धर्म्मकीर्त्ति-प्रणीत)—
प्रमाणसमुच्चय (दिङ्‌नाग-प्रणीत)—
प्रमेयरत्नावली (वलदेव-प्रणीत)—
प्रवन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग-प्रणीत)—
प्रसाद (विठ्ठल-प्रणीत)—
प्राकृतप्रकाश (वररुचि-प्रणीत)—
प्रायश्चित्तविवेक (शूलपाणि-प्रणीत)—
प्रियदर्शिका (हर्षवर्द्धन-प्रणीत)—
प्रौढ़मनोरमा (भट्टोजिदीक्षित-प्रणीत)—
फो-कु-कि (फा-हियान्-प्रणीत)—
वृहत्कथा (गुणाढ्य-प्रणीत)—
वृहत्कथामञ्जरी (क्षेमेन्द्र-प्रणीत)—
वृहत्प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी वा वृहतीवृत्ति (अभिनवगुप्त-प्रणीत)—
वृहदारण्यकवार्त्तिक (सुरेश्वर-प्रणीत)—

बृहदुद्योतोदाहरणदीपिका (काव्यप्रकाशपर नागेशकृत टीका)—

बृहद्देवता (शौनक-दृष्ट)—

ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका (सदाशिवसरस्वती-प्रणीत)—

ब्रह्मसिद्धि (सुरेश्वर-प्रणीत)—

ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त (ब्रह्मगुप्त-प्रणीत)—

ब्रह्मामृतवर्षिणी (रामानन्दसरस्वती-प्रणीत)—

भट्टोक्तमीमांसानीति (भवदेव-प्रणीत)—

भर्तृयज्ञभाष्य (मनुसंहितापर भर्तृयज्ञ-प्रणीत)—

भाट्टदीपिका (खण्डदेव-प्रणीत)—

भाट्टरहस्य (खण्डदेव-प्रणीत)—

भामिनीविलास (जगन्नाथ-प्रणीत)—

भारत कि शिखाइते पारे ? (इट् सिं-प्रणीत)—

भारतमञ्जरी (क्षेमेन्द्र-प्रणीत)—

भेदधिक्कार (नृसिंहमुनि-प्रणीत)—

मकरन्द (मकरन्दाचार्य-प्रणीत)—

मङ्कोष (मंखदास-प्रणीत)—

मण्डनकारिका (मण्डनमिश्र-प्रणीत)—

मण्यालोक (पक्षधरमिश्र-प्रणीत)—

मदनपारिजात (विश्वेश्वरपंडित-प्रणीत)—

मनुभाष्य (मेधातिथि-प्रणीत)—

मनोरमाकुचमर्द्दन (जगन्नाथ-प्रणीत)—

मनोरमाकुचमर्द्दनकीचकवध—

मल्लिकामारुत (उद्दण्ड-प्रणीत)—

महाचीनाचारक्रमतन्त्र—

महानाटक वा हनुमान् नाटक (दामोदर-प्रणीत)—

महाभारत-तात्पर्य्यानुवाद (काशीराम-प्रणीत)—

महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र (अश्वघोष-प्रणीत)—

महायानसूत्रालङ्कार (असङ्ग प्रणीत)—
महासिद्धान्त (आर्य्यभट्ट-प्रणीत)—
माधवीय-धातुवृत्ति (माधवाचार्य्य-प्रणीत)—
माध्यमिकसूत्र (नागार्ज्जुन-प्रणीत)—
मानमेयोदय (नारायणभट्ट-प्रणीत)—
मालती-माधव (भवभूति-प्रणीत)—
मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर-प्रणीत)—
मीमांसाकारिका (तौतातित-प्रणीत)—
मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव-प्रणीत)—
मीमांसासूत्रभाष्य वा बृहती (गुरुप्रभाकर-प्रणीत)
मुक्ताफल (वोपदेव-प्रणीत)—
मुग्धवोध (वोपदेव-प्रणीत)—
यतिधर्म्मसमुच्चय (यादवाचार्य्य-प्रणीत)—
योगसुधाकर (सदाशिवेन्द्र-प्रणीत)—
यौगन्धरायण (भास प्रणीत)—
रत्नसमुच्चय (वैद्यशास्त्रपर वाग्भट-प्रणीत)—
रत्नापण (प्रतापरुद्रयशोभूषणपर कुमारस्वामि-प्रणीत टीका)—
रत्नावली (श्रीहर्ष-प्रणीत)—
रुद्रयामल—
रसगङ्गाधर (जगन्नाथ-प्रणीत)—
रसतरङ्गिणी (भानुदत्त-प्रणीत)—
रसमञ्जरी (भानुदत्त-प्रणीत)—
राजधर्म्मकल्पतरु (लक्ष्मीधर-प्रणीत)—
राजनीतिरत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)-
राजमार्त्तण्ड (भोजदेव-प्रणीत)—
राजवार्त्तिक (मिहिरधरिहारभोजराज-
राजावली (जोनराज-प्रणीत संस्कृत इतिहास)—

राजावली (श्रीवरपंडित-प्रणीत संस्कृत इतिहास)—
राजावली (प्रियभट्टाचार्य्य-प्रणीत संस्कृत इतिहास)—
रामायण (हेमचन्द्र-प्रणीत)—
लघदीपिका (तार्किक-रक्षापर ज्ञानपूर्ण-प्रणीत)—
लघुमानस (मुञ्जाल-प्रणीत)—
लघुवार्त्तिक वा टुपटीका (कुमारिल-प्रणीत)—
लीलावती (भास्कराचार्य्य-प्रणीत)—
लोकाचार्य्य-सिद्धान्त (लोकाचार्य्य-प्रणीत)—
वशिष्ठधर्म्मसूत्र—
बालक्रीड़ा (मण्डनमिश्र-प्रणीत)—
बालभारत (राजशेखर-प्रणीत)—
बालरामायण (राजशेखर-प्रणीत)—
वासवदत्ता (सुबन्धु-प्रणीत)—
विक्रमांकदेवचरित (विल्हण-प्रणीत)—
विज्ञानामृतभाष्य (विज्ञानभिक्षु-प्रणीत)—
विद्धशालभञ्जिका (राजशेखर-प्रणीत)—
विधिरसायन (अप्पयदीक्षित-प्रणीत)—
विनयसमुत्कर्ष (तिष्यपाद-प्रणीत)—
विवादचिन्तामणि (वाचस्पति-प्रणीत)—
विश्वप्रकाश (महेश्वरवैद्य-प्रणीत)—
विष्णुपुराण टीका (नागमनि-प्रणीत)—
विष्णुभक्तिकल्पलताप्रकाश (महीधर-प्रणीत)—
विष्णुयामल—
वृत्तरत्नाकर (केदारभट्ट-प्रणीत)—
वृत्तरत्नाकर-टीका (नारायणभट्ट-प्रणीत)—
वेणीसंहार (भट्टनारायण-प्रणीत)—
वेदान्तभाष्य (भास्कराचार्य्य-प्रणीत)—
वेदान्तसारटीका (रामतीर्थ-प्रणीत)—

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—
वैजयन्ती (यादवप्रकाश-प्रणीत)—
वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा (नागेश-प्रणीत) –
वैराग्यशतक (भर्तृहरि-प्रणीत)—
वैद्यावसर्व्वस्व (हलायुध-प्रणीत)—
बोधिचित्तोत्पादन (वसुबन्धु-प्रणीत)—
बोधिसत्त्वभूमि (असङ्ग-प्रणीत)—
व्यवहारकल्पतरु (लक्ष्मीधर-प्रणीत)—
व्यवहारतिलक (भवदेवभट्ट-प्रणीत)—
व्यवहारमातृका (जीमूतवाहन-प्रणीत)—
व्यवहाररत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)—
व्यवहारसमुच्चय (भोजराज-प्रणीत)—
व्याख्यासुधा (भानुजिदीक्षित-प्रणीत)—
व्याससूत्रेन्दुशेखर (नागेश-प्रणीत)—
व्योमवती (व्योमशिवाचार्य्य-प्रणीत)—
व्युत्पत्तिवाद (गदाधर-प्रणीत)—
शक्तिविमर्षिणी (नीलकण्ठ-प्रणीत)—
शङ्कीय-धर्म्मसूत्र—
शतदूषणी (वेङ्कटाचार्य्य-प्रणीत)—
शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित-प्रणीत)—
शब्दानुशासन (भोजराज-प्रणीत)—
शङ्करविजय (माधवाचार्य्य-प्रणीत)—
शाक्तानन्दतरङ्गिणी—
शारिपुत्र-प्रकरण (अश्वघोष-प्रणीत)—
शार्ङ्गधरपद्धति (शार्ङ्गधर-प्रणीत)—
शास्त्रदीपिका वा तन्त्ररत्न (पार्थसारथि-प्रणीत जैमिनिसूत्रकी
व्याख्या—
शिवदृष्टि (सोमानन्द भट्ट-प्रणीत)—

शिवदृष्ट्यालोचना (अभिनवगुप्ताचार्य्य-प्रणीत)—
शिवसूत्र (वसुगुप्त प्रणीत)—
शिवार्कमणिदीपिका (अप्पयदीक्षितकृत)—
शिवार्कमणिदीपिका-तात्पर्य्य (नीलकण्ठकृत)—
शिवाष्टमूर्त्तितत्त्वप्रकाश (रामेश्वराचार्य्य-प्रणीत)—
शिष्यधीवृद्धिदमहातन्त्र (लल्लाचार्य्य-प्रणीत)—
शुद्धिरत्नाकर (चण्डेश्वर-प्रणीत)—
शृङ्गारशतक (भर्त्तृहरि-प्रणीत)—
शैवसर्व्वस्व (हलायुध-प्रणीत)—
-।द्धमीमांसा (नन्दपंडित-प्रणीत)—
श्राद्धविवेक (शूलपाणि-प्रणीत)—
सङ्कल्पसूर्य्योदय (वेङ्कटनाथ-प्रणीत)—
संक्षेप-शारीरकटीका (रामतीर्थप्रणीत)—
सकलाचार्य्यमतसंग्रह (श्रीनिवासप्रणीत)—
सञ्जीवनी (रघुवंशकी मल्लिनाथप्रणीत टीका)—
संक्षिप्तसार (क्रमदीश्वरप्रणीत)—
सप्तशतीगाथा (हाल सातवाहनप्रणीत)—
संस्कारनिर्णय (नन्दपण्डितकृत)—
समुद्रतिलक (दुर्लभराज एवं जगद्देवप्रणीत)—
संस्कारपद्धति (पशुपति-प्रणीत)
सम्बन्धविवेक (शूलपाणिप्रणीत)
सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराजप्रणीत)—
सर्व्वंकषा (शिशुपालवधपर मल्लिनाथप्रणीत टीका)—
सर्व्वपाठी (भट्टिकाव्यपर मल्लिनाथप्रणीत टीका)—
सामवेदभाष्य (सायणप्रणीत)—
सांख्यसूत्रवृत्ति (अनिरुद्धप्रणीत)—
सिद्धान्तरहस्य (राघवानन्दप्रणीत सारणी)—
सिद्धान्तसुन्दर (मानराजप्रणीत)—

सिद्धित्रय (यामुनाचार्य्यप्रणीत)—
सि—यु—की (ह्विउ एन् चीयाङ्प्रणीत)—
सिद्धवाक्यानुशासन (हेमचन्द्रप्रणीत)—
सुधासागर (भीमसेन-दीक्षितप्रणीत)—
सुपद्म-व्याकरण (पद्मनाभप्रणीत)—
सुरथोत्सव (सोमेश्वरप्रणीत)—
सुबोधिनी (गीतापर श्रीधरस्वामीकी टीका)—
सुश्रुतसंहिता (सुश्रुतप्रणीत)
सूर्य्यशतक (मयूरकविप्रणीत)—
सूर्य्यसिद्धान्त (पिङ्गलनामक वृद्ध आर्य्यभट्टप्रणीत)—
स्मृतिरत्नाकर (चण्डेश्वरप्रणीत)—
स्पन्दप्रदीपिका (उत्पलाचार्य्यप्रणीत)—
स्पन्दामृत (वसुगुप्त-प्रणीत)—
स्वरूपनिर्णय (सदानन्द-यतिप्रणीत)—
स्वरूप-प्रकाश ([illegible])—
स्वाराज्यसिद्धि (सुरेश्वराचार्य्यप्रणीत)—
हनुमान् नाटक वा महानाटक (दामोदरप्रणीत)—
हरिवंशविलास (नन्दपण्डितप्रणीत)—
हाकन्दपुराण (बौद्धग्रन्थ)—
हारावली (पुरुषोत्तमप्रणीत)—

नामसूची।

क्रालिका कान्तिकाभास एवं परिशिष्टभागमें उल्लिखित
ग्रन्थकारोंकी नामादि सूची।

अक्षपाद वा गौतम (न्यायसूत्रकार)—

अक्षोभ्य मुनि—

अगस्त्य वा मान मुनि—

अग्निवेश मुनि—

अघमर्षण (मन्त्रद्रष्टा)—

अच्युतदास (कवि)—

अच्युत प्रेक्षाचार्य्य वा शुद्धानन्द (भेदवाद-प्रचारक)—

अजितकेश कम्बली (बौद्धाचार्य्य)—

अतिधन्वा शौनक (मन्त्रद्रष्टा)—

अत्रि (संहिताकार)—

अनिरुद्ध (वल्लालसेनके गुरु)—

अनिरुद्ध (वृत्तिकार)—

अन्नंभट्ट (तर्कसंग्रह-प्रणेता)—

अपरार्क (मिताक्षराके टीकाकार)—

अप्पयदीक्षित (शिवार्कमणिदीपिकादि-प्रणेता)—

अभिनन्द भट्ट (जयन्त भट्टके पुत्र एवं कादम्बरी-कथासार-प्रणेता)—

उपरोक्त नाम किन किन स्थानोंमें व्यवहृत हुए हैं इसका पत्राङ्क भी वङ्गीय संस्करणकी सूचीमें दिया गया है किन्तु परिशिष्ट भागके हिन्दीमें अभीतक मुद्रित न होनेके कारण पत्राङ्क यहां नहीं दिया जा सका।

अभिनव गुप्ताचार्य (लोचनादिप्रणेता)—
अभिनव वाचस्पति (स्मृतिविषयक विविधचिन्तामणिकार)—
अमरचन्द्र सूरि वा व्याघ्र (जैन नैयायिक)—
अमरराज (ब्रह्मगुप्त-प्रणीत खण्डखाद्यके टीकाकार)—
अमरसिंह (कोषकार)—
अमलानन्द यति (कल्पतरुकार)—
अलर्क (दत्तात्रेय मुनिके शिष्य एवं योगी)—
अल्लट सूरी (काव्य प्रकाशके शेषांश-प्रणेता)—
अवन्ति सुन्दरी (राजशेखरकी विदुषी पत्नी)—
अश्वघोष वा पुण्यादित्य (सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरितादिप्रणेता)—
असङ्ग बोधिसत्त्व (दिङ्नागके गुरु एवं बौद्ध आचार्य)—
असहाय आचार्य (मनुसंहिताके प्राचीन भाष्यकार)—
आङ्गिरस (शाब्दिक आचार्य)—
आनन्दगिरि वा आनन्दज्ञान (शङ्करविजय-प्रणेता एवं टीकाकार)—
आनन्दगिरि वा तोटक (शङ्करशिष्य)—
आनन्दतीर्थ वा मध्वाचार्य (पूर्ण-प्रज्ञदर्शनकार)—
आनन्द भट्ट (वल्लालचरित-प्रणेता)—
आनन्द भारतीतीर्थ वा भारतीतीर्थ (वैयासिक-न्यायमाला-प्रणेता)—
आनन्दवर्द्धन (ध्वन्यालोक-प्रणेता)—
आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती (वाशिष्ठ-महारामायण-तात्पर्य-प्रणेता)—
आनन्द सूरि वा सिंह (जैन नैयायिक)—
आपस्तम्ब (संहिताकार)—
आपस्तम्ब (सूत्रकार)—
आपिशलि (शाब्दिक आचार्य)—
आर्यभट्ट वृद्ध वा प्रथम—पिङ्गलाचार्य (सूर्य्यसिद्धान्तकार एवं छन्दःसूत्रकार)—

आर्य्यभट्ट मध्यम वा द्वितीय (आर्य्यभट्टीयकार अर्थात् दश-गीतिकादि-प्रणेता)—

आर्य्यभट्ट कनिष्ठ वा तृतीय (आर्य्यसिद्धान्त वा महा-सिद्धान्तकार)—

आवट्य (जैगीषव्यके गुरु)—

आश्मरथ्य (प्राचीन विशिष्टाद्वैतवाद प्रवर्त्तक)—

आश्वलायन (महाशाल शौनकके शिष्य एवं श्रौतसूत्रादि-प्रणेता)—

आश्वलायन लघु (स्मृतिकार)—

इट्सिं—

इट्टल मुनि (काशिकाकार महाराज जयादित्यके नामकर्त्ता)—

इलाया पेरुमल वा श्रीभाष्यकार रामानुज आचार्य्य—

ईशान भट्ट (पशुपतिके भ्राता एवं आह्निकपद्धतिकार)—

ईश्वर कृष्णाचार्य्य (सांख्यकारिका-प्रणेता)—

उत्पलाचार्य्य वा उत्पलदेव (स्पन्दप्रदीपिका-प्रणेता एवं ईश्वर-प्रत्यभिज्ञासूत्र-प्रणेता)—

उदयनाचार्य्य (न्यायकुसुमाञ्जलि-प्रणेता)—

उदर शाण्डिल्य (अतिधन्वा शौनकके शिष्य)—

उद्दण्डी (मल्लिकामारुत-प्रणेता)—

उद्दालक (ब्रह्मदत्तका मन्त्री एवं श्वेतकेतुके पिता)—

उद्योतकर भारद्वाज (न्यायवार्त्तिककार)—

उद्भट कौङ्कण (अलङ्कारसारसंग्रह-प्रणेता)—

उपवर्ष (वार्त्तिककार कात्यायन मुनिके गुरु, मीमांसा वृत्तिकार एवं बौद्धादिधर्म्मके प्रथम प्रतिवादकारी)—

उपालि (बौद्धाचार्य्य)—

उभयभारती वा सरसवाणी (मण्डनमिश्रकी विदुषी पत्नी एवं कुमारिलके भगिनी)—

उमापतिधर (प्रशस्तपदीय-कविता-प्रणेता)—

उम्बेक वा मण्डनमिश्र—

उम्बेक वा भवभूति (विधिविवेकादिके टोकाकार एवं मालती-
माधवादि-प्रणेता)—

उलूक वा कणाद (वैशेषिकसूत्रकार)—

उवटाचार्य्य (वेदभाष्यकार)—

उशना: (संहिताकार)—

एड़ुमिश्र (कुलकारिका-प्रणेता)—

ऐतरेय महिदास—

औड़ुलोमि—

कठ मुनि (सम्प्रदाय प्रवर्त्तक एवं शाब्दिक आचार्य्य)—

कणभक्ष वा कणाद (वैशेषिकसूत्रकार)—

कनकमुनि (बौद्धाचार्य्य)—

कपिञ्जल (उपस्मृतिकार)—

कपिल (सांख्यवक्ता)—

कमलशील (बौद्धाचार्य्य)—

कमलाकर भट्ट (निर्णयसिन्धु-प्रणेता)—

कमला देवी (कालिदासकी विदुषी पत्नी)—

कर्म्मन्द (प्राचीन अद्वैतवादी)—

कल्लटेन्दु भट्ट वा भट्ट कल्लट (स्पन्दकारिका-प्रणेता)—

कल्हण वा कल्याण (राजतरङ्गिणी-प्रणेता)—

कविकर्णपुर वा परमानन्द दास (चैतन्यचन्द्रोदय-प्रणेता)—

कवि काञ्चनाचार्य्य वा गोविन्दानन्द (रत्नप्रभा-प्रणेता)—

कविराज (राघवपाण्डवीय-प्रणेता)—

कविराज वा धोयी (पवनदूत-प्रणेता)—

कबीर ([illegible]-प्रवर्त्तक)—

कहोल ऋषि—

कात्यायन (गोभिलपुत्र एवं गृह्यसंग्रहकार)—

कात्यायन मुनि (संहिताकार एवं वैदिक अनुक्रमणी-प्रणेता)—

कात्यायन वररुचि (वार्त्तिककार)—

कामन्दक (नीतिसार-प्रणेता)—

कालिदास (कुमारसम्भवादि-प्रणेता)—

काशकृत्स्न ऋषि (शाब्दिक आचार्य्य एवं अद्वैतब्रह्मविद्याके प्रवर्त्तकविशेष)—

काशीनाथ (विठ्ठल ऋङ्मन्त्रभाष्य-प्रणेता)—

काशीराम वाचस्पति (रघुनन्दनप्रणीत तत्त्वके टीकाकार)—

किञ्जल्काचार्य्य (अर्थशास्त्रकार)—

कुचुमार (कामशास्त्रकार)—

कुमारजीव (चीनभाषामें बोधिचित्तोत्पादनके अनुवादकर्त्ता)—

कुमारदास (जानकीहरण-प्रणेता)—

कुमारस्वामी (मल्लिनाथके पुत्र एवं रत्नापण प्रणेता)—

कुमारिल भट्ट वा भट्टपाद (मीमांसावार्त्तिककार)—

कुल्लूकभट्ट (मन्वर्थमुक्तावली-प्रणेता)—

कृष्ण भट्ट वा कृष्णभट्ट आर्डे (दीपिकादिप्रणेता)—

कृष्णद्वैपायन वा व्यासदेव वा वादरायण (ब्रह्मसूत्रकार)—

कृष्णधूर्जटि-दीक्षित (सिद्धान्तचन्द्रोदयप्रणेता)—

कृष्ण मिश्र (प्रबोधचन्द्रोदयप्रणेता)—

कृष्णानन्द भट्टाचार्य्य (तन्त्रसार-प्रणेता)—

केदार भट्ट (वृत्तरत्नाकरप्रणेता)—

केशवमिश्र (तर्कभाषाप्रणेता)—

कैयट (प्रदीपकार)—

कोण्ड भट्ट (न्यायपदार्थदीपिकादि-प्रणेता)—

कौटिल्य वा चाणक्य (अर्थशास्त्रादि-प्रणेता)—

क्रमदीश्वर वादीन्द्रचक्रचूडामणि (संक्षिप्तसार-प्रणेता)

क्षीर पंडित (काशिकाकार जयादित्यके गुरु)—

क्षीर स्वामी (अमरकोषके टीकाकार)—

क्षेमेन्द्र व्यासदास (वृहत्कथामञ्जरी-प्रणेता)—

खण्डदेव (मीमांसाकौस्तुभादि प्रणेता)—

गङ्गादास सूरि (छन्दोमञ्जरी-प्रणेता)—
गङ्गाधर सरस्वती (वेदान्तसिद्धान्त-सूक्तिमञ्जरी-प्रणेता)—
गङ्गेश उपाध्याय (तत्त्वचिन्तामणि-प्रणेता)—
गणेश आचार्य्य (ग्रहलाघव-प्रणेता)—
गदाधर भट्टाचार्य्य (दीधितिप्रकाशादि-प्रणेता)—
गागा भट्ट वा विश्वेश्वर भट्ट (कायस्थधर्म्मदीपादि-प्रणेता)—
गार्ग्य (वैयाकरण)—
गालवमुनि (शाब्दिक आचार्य्य)—
गुणभद्र सूरि (उत्तरपुराणादि-प्रणेता जैन पण्डित)—
गुणरत्न (षड्‌दर्शनसमुच्चयके टीकाकार)—
गुणाढ्य (वृहत्कथा-प्रणेता)—
गुरुप्रभाकर वा प्रभाकर (वृहती-प्रणेता)—
गृत्समद शौनक (महाशाल शौनकके पूर्व्वपुरुष)—
गोणिकापुत्र (कामशास्त्रकार)—
गोपालचन्द्र चक्रवर्त्ती वा गोरीचन्द्र (संक्षिप्तसारके टीकाकार)—
गोपाल भट्ट गोस्वामी (हरिभक्तिविलास-प्रणेता)—
गोपीनाथ मौनी (तत्त्वचिन्तामणिके टीकाकार)—
गोभिल (गृह्यसूत्रकार)—
गोरक्षनाथ (गोरक्षपद्धतिकार)—
गोवर्द्धन आचार्य्य (आर्य्यासप्तशती-प्रणेता)—
गोविन्द योगीन्द्र (शङ्कराचार्य्यके गुरु)—
गोविन्दराज वा गोविन्द भट्ट (मनुसंहिताके टीकाकार)—
गोविन्दानन्द वा कविकाञ्चनाचार्य्य (रत्नप्रभा-प्रणेता)—
गौड़पाद आचार्य्य (माण्डूक्यकारिका-प्रणेता)—
गौतम (धर्म्मसूत्रकार)—
गौतम वा मेधातिथि गौतम (न्यायसूत्रकार)—
घटकर्पर (घटकर्पर-काव्यप्रणेता)—
घण्टामाघ वा माघ (शिशुपालवध-प्रणेता)—

घनराम चक्रवर्त्ती (धर्म्ममङ्गल-प्रणेता)—

घोटकमुख आचार्य्य—

चक्रपाणि दत्त (वैद्यग्रन्थकार)—

चणकमुनि (चाणक्यके पिता)—

चणकात्मज वा चाणक्य (अर्थशास्त्रादि-प्रणेता)—

चण्डेश्वर (गृहस्थरत्नाकरादि प्रणेता)—

चरक (संहिताकार)—

चाणक्य—कौटिल्य एव चणकात्मज।

चित्सुख आचार्य्य (तत्त्वप्रदीपिकादि-प्रणेता)—

चैतन्यदेव—

जगज्ज्योतिर्मल्ल (नेपालके महाराज एवं नागरिकसर्व्वस्वको टीकाकार)—

जगदीश तर्कालङ्कार (शब्दशक्तिप्रकाशादि-प्रणेता)—

जगद्देव एवं तत्पिता दुर्ल्लभराज (समुद्रतिलक-प्रणेता)—

जगन्नाथ पण्डितराज (रसगङ्गाधरादि-प्रणेता)—

जयदेव (गीतगोविन्द-प्रणेता)—

जयदेव वा पक्षधर मिश्र (मण्यालोक-प्रणेता)—

जयदेव वा पीयूषवर्ष (प्रसन्नराघवादि-प्रणेता)—

जयन्त भट्ट (न्यायमञ्जरी-प्रणेता)—

जयमङ्गल (भट्टिके टीकाकार)—

जयादित्य वा जयापीड़ (काश्मीरके महाराज एवं काशिका-प्रणेता)—

जातूकर्ण मुनि (उपस्मृतिकार)—

जातूकर्ण्य मुनि (स्मृतिकार)—

जाबाल मुनि (शाब्दिक आचार्य्य एवं दर्शनकार)—

जिन सेन (जैन ग्रन्थकार)—

जीमूतवाहन (दायभाग-प्रणेता)—

जीवगोस्वामी वा श्रीजीव गोस्वामी (षट्सन्दर्भकार)—

जगीषव्य मुनि—

जैमिनि (सूत्रकार)—

जोनराज (राजतरङ्गिणीके अवशिष्टांश राजावली-प्रणेता)—

ज्ञाननिधि (भवभूतिके प्रथमगुरु)—

ज्ञानवृद्ध शीलभद्र (नालन्दाविद्यालयके वङ्गदेशीय कुलपति)—

ज्ञानोत्तम मिश्र (चन्द्रिकाप्रणेता)—

डल्लनाचार्य्य (सुश्रुतके टीकाकार)—

तारानाथ वा लामा तारानाथ (बौद्ध ऐतिहासिक)—

तिष्यपाद वा मुद्गलीपुत्र तिष्य (नालन्दाके प्रथम बौद्ध कुलपति)—

तुलसीदास (रामायणतात्पर्य्यानुवादक)—

तौतातित आचार्य्य वा तुतात भट्ट (मीमांसक)—

तौतातित भट्ट वा भट्ट तौत (काव्यकौतुक-प्रणेता)—

तोटक—

त्रिकाण्डमण्डन (आपस्तम्बसूत्रध्वनितार्थकारिकाकार)—

दक्षिणावर्त्तनाथ (मल्लिनाथके पूर्व्ववर्त्ती टीकाकार)—

दण्डी (काव्यदर्शनादि-प्रणेता)—

दत्तक (कामशास्त्रकार)—

दत्तात्रेयमुनि—

दामोदरगुप्त (काशिकाकार महाराज जयादित्यके मन्त्री एवं कुट्टनीमत-प्रणेता)—

दामोदर मिश्र (महानाटक-प्रणेता)—

दिङ्नाग (प्रमाणसमुच्चयादि-प्रणेता)—

दिवोदास (सुश्रुतके एवं चरकके गुरु)—

दीर्घतमा (मन्त्रद्रष्टा)—

दुर्गसिंह (कलापवृत्तिकार)—

दुर्लभराज एवं जगद्देव (समुद्रतिलक-प्रणेता)—

देवल (स्मृतिकार)—

देवाचार्य्य वा शबर स्वामी (मीमांसाभाष्यकार)—

देवाचार्य्य (सिद्धान्तजाह्नवी-प्रणेता)—

देवेश्वर—सुरेश्वराचार्य्य ।

दोड्याचार्य्य (चण्डमारुत-प्रणेता)—

द्रमिड़ाचार्य्य—

द्रामिल वा चाणक्य—

धनञ्जय (दशरूपक-प्रणेता)—

धनपति सूरी (भाष्योत्कर्षदीपिकादि-प्रणेता)—

धनिक (अवलोक-प्रणेता)—

धन्वन्तरि—

धन्वन्तरि (वृद्ध)—

धर्म्मकीर्त्ति (प्रमाणवार्त्तिकादि-प्रणेता)—

धर्म्मराजाध्वरीन्द्र (वेदान्तपरिभाषा-प्रणेता)—

धातुसेन (महावंश-प्रणेता)—

धारेश्वर—भोजदेव ।

धावक—

धोयी (पवनदूत-प्रणेता)—

नन्द पण्डित वा विनायक पण्डित (दत्तकमीमांसादि-प्रणेता)—

नन्दिकेश्वर (प्राचीनकाशिकाकार)—

नन्दीश्वर (कामशास्त्रकार)—

नरहरि आचार्य्य (बोधसार-प्रणेता)—

नरहरि सरस्वतीतीर्थ (काव्यप्रकाशके टीकाकार)—

नागार्ज्जुन (न्यायद्वारतारकशास्त्रादि-प्रणेता) —

नागेश भट्ट वा नागोजी (परिभाषेन्दुशेखरादि-प्रणेता)

नाथमुनि (विष्णुपुराणके टीकाकार)—

नानक ([illegible]रकर्त्ता)—

नारायण आचार्य्य (आश्वलायनसूत्रके वृत्तिकार)—

नारायण पण्डित (हितोपदेश-संहर्त्ता)—

नारायण भट्ट (वृत्तरत्नाकरके टीकाकार)—

नारायण भट्ट (मानमेयोदय-प्रणेता)—
नित्यबोधाचार्य्य वा सर्व्वज्ञात्म मुनि (संक्षेपशारीरक-प्रणेता)—
निम्बार्काचार्य्य वा नियमानन्द आचार्य्य वा निम्बादित्याचार्य्य—
नीलकण्ठ (देवीभागवतके टीकाकार)—
नीलकण्ठ सूरी (महाभारतकी टीकाकार)—
नीलकण्ठदीक्षित (नीलकण्ठचम्पू-प्रणेता)—
नृसिंह-सरस्वती (भेदधिक्कारादि-प्रणेता)—
नैमार वा सुदर्शनाचार्य्य (श्रुतप्रकाशिका वा श्रीभाष्यवार्त्तिक-
प्रणेता)—
पक्षधर वा जयदेव पीयूषवर्ष (प्रसन्नराघवादि-प्रणेता)—
पक्षधर मिश्र वा जयदेव (मण्यालोक-प्रणेता)—
पक्षिल स्वामी वा वात्स्यायन एवं चाणक्य (न्यायभाष्यादि-
प्रणेता)—
पञ्चशिख आचार्य्य (षष्टितन्त्र-प्रणेता)—
पतञ्जलि (महाभाष्यकार)—
पतञ्जलि (योगसूत्रकार —
पद्मगुप्त (नवसाहसाङ्कचरित-प्रणेता)—
पद्मनाभ दत्त (सुपद्मव्याकरण-प्रणेता)—
पद्मपण्डित (नागरिकसर्व्वस्व-प्रणेता)—
पद्मपाद आचार्य्य (पञ्चपादिका-प्रणेता)—
परमानन्द दास वा कविकर्णपुर (चैतन्यचन्द्रोदय-प्रणेता)—
परमार्थ (सांख्यकारिकाके बौद्धटीकाकार)—
पराशर (उपस्मृतिकार)—
पशुपति भट्ट (लक्ष्मणसेनके मन्त्री एवं संस्कारपद्धतिकार)—
पाणिनि मुनि (वैयाकरण आचार्य्य)—
पारस्कर (सूत्रकार)—
पार्थसारथि मिश्र (शास्त्रदीपिकादि-प्रणेता)—
पार्श्वनाथ (जैनतीर्थङ्कर)—

पिङ्गलाचार्य्य (छन्दःसूत्रकार एवं महाराज विन्दुसारके सभा-पण्डित)—

पिशुनपुत्र किञ्जल्काचार्य्य (अर्थशास्त्रकार)—

पीयूषवर्ष वा जयदेव एवं पक्षधर—पक्षधर।

पुञ्जराज (सारस्वत व्याकरणके टीकाकार एवं ग्रियासुद्दीन् तोग्लकके मन्त्री)—

पुण्यराज (हरिकारिकाके टीकाकार)—

पुण्यादित्य वा अश्वघोष (सौन्दरनन्दादि-प्रणेता)—

पुरुषोत्तमदेव (वङ्गदेशीय राजा एवं त्रिकाण्डशेष-प्रणेता)—

पुलस्त्य (स्मृतिकार)—

पुष्पदन्त (महिम्नस्तोत्रकार)—

पृथूदक स्वामी (ब्रह्मसिद्धान्तके टीकाकार)—

पृथ्वीधर (मृच्छकटिकके टीकाकार)—

प्रकाशात्म यति (पञ्चपादिका-विवरणकार)—

प्रकाशानन्द (वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार)—

प्रचेताः (स्मृतिकार)—

प्रत्यक्स्वरूप (नयनप्रसादिनी-प्रणेता)—

प्रभाकर—गुरुप्रभाकर।

प्रशस्तपाद आचार्य्य (पदार्थ-धर्मसंग्रहकार)—

प्रियभट्ट (राजतरङ्गिणीके अवशिष्टांश राजावली-प्रणेता)—

फा-हियान् (चीनपर्यटक)—

वालम्भट्ट वा वालकृष्ण (वालम्भट्टी-प्रकाशक)—

वुद्धदेव—

वुधस्वामी—

ब्रह्मगुप्त (ब्रह्मसिद्धान्तकार)—

भगीरथ-ठक्कुर (नैयायिक)—

भट्टतौत (काव्यकौतुक-प्रणेता)—

भट्टनारायण (वेणीसंहार-प्रणेता)—

भट्ट भास्कर (रुद्राध्याय-भाष्यकार)—
भट्टेन्दुराज (आलङ्कारिक)—
भट्टोजिदीक्षित (सिद्धान्तकौमुदीकार)—
भट्टोत्पल (वृहत्संहिताके टीकाकार)—
भद्रबाहु (अङ्ग-प्रणेता)—
भरतमुनि (नाट्यशास्त्रकार)—
भर्तृयज्ञ (स्मार्त्त)—
भर्तृहरि (वाक्यपदीयकार)—
भर्तृहरि महाराज (वैराग्यशतकादि-प्रणेता)—
भवदास आचार्य्य (मीमांसाकार)—
भवदेव भट्ट (दशकर्म्मपद्धतिकार)—
भवभूति वा उम्वेक (उत्तररामचरितादि-प्रणेता)—
भानुजिदीक्षित (भट्टोजिदीक्षितके पुत्र एवं व्याख्यासुधा-प्रणेता)—
भानुदत्त (रसमञ्जरी-प्रणेता)—
भामह (काव्यालङ्कार-प्रणेता)—
भारतीतीर्थ (वैयासिकन्यायमालाप्रणेता)—
भारवि (किरातार्ज्जुनीयकाव्य-प्रणेता)—
भारुचि (विष्णुधर्म्मसूत्रके टीकाकार)—
भावगणेश वा भावागणेश (सांख्यतत्त्वप्रदीपिकादि-प्रणेता)—
भावमिश्र (भावप्रकाशकार)—
भास (स्वप्नवासवदत्तादि-प्रणेता)—
भासर्व्वज्ञ (न्यायसार-प्रणेता)—
भास्कराचार्य्य कविचक्रवर्त्ती (वेदान्तभाष्यकार)—
भास्कराचार्य्य गाणितिक (सिद्धान्तशिरोमणिकार)—
भूषणवाण (वाणभट्टके पुत्र एवं कादम्बरीके उत्तरभागप्रणेता)—
भोजराज मिहिरपरिहार कान्यकुब्जेश्वर (राजवार्त्तिकप्रणेता)—
भोजराज धारेश्वर (राजमार्त्तण्डादि-प्रणेता)—
भीमसेनदीक्षित (सुधीसागर-प्रणेता)—

मङ्खदास (मङ्खकोष-प्रणेता)—

मकरन्द (मकरन्द-प्रणेता)—

मण्डन मिश्र वा विश्वरूप वा उम्बेक वा सुरेश्वर वा देवाचार्य्य (विधिविवेक-स्मृतिभाष्य-वार्त्तिकादिप्रणेता)—

मथुरानाथ तर्कवागीश (माथुरी-प्रणेता)—

मधुच्छन्दा (मन्त्रद्रष्टा)—

मधुसूदन सरस्वती (अद्वैतसिद्धिकार)—

मध्वाचार्य्य वा आनन्दतीर्थ (पूर्णप्रज्ञप्रदर्शनकार)—

मनु (संहिताकार)—

मम्मटभट्ट राजानक (काव्यप्रकाशकार)—

मयूरकवि (सूर्य्यशतक-प्रणेता)—

मल्लनाग (चाणक्य)—

मल्लिकार्ज्जुन यतीन्द्र वा प्रकाशानन्द (वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार)—

मल्लिनाथ (षट्काव्यादिके टीकाकार)—

मरीचि (स्मृतिकार)—

मस्करी (काशिकाकार वामनके पुत्र एवं गौतमधर्म्मसूत्रके भाष्यकार)—

महाकाश्यप वा पुराणकाश्यप (बौद्ध आचार्य्य)—

महावीर वर्द्धमान (जैनतीर्थङ्कर)—

महादेव भट्ट (दिनकरी-प्रणेता)—

महाशाल शौनक (प्राचीन कुलपति)—

महीधर आचार्य्य (वेदभाष्यकार)—

महेश ठक्कुर (नैयायिक)—

महेश्वर न्यायालङ्कार (काव्यप्रकाशके टीकाकार)—

महेश्वर वैद्य (विश्वप्रकाश-प्रणेता)—

माघ वा घण्टामाघ (शिशुपालवध-प्रणेता)—

माठराचार्य्य (कारिकाभाष्य-प्रणेता)—

माणिक्यनन्दी (परीक्षामुखसूत्र नामका जैनग्रन्थप्रणेता)—
माधवकार (निदानसंग्रहप्रणेता)—
माधवभट्ट—
माधवाचार्य्य वा विद्यारण्यमुनि (जैमिनीयन्यायमालादिप्रणेता)—
माधवाचार्य्य (सायणका पुत्र)—
मानराज (सिद्धान्तसुन्दर-प्रणता)—
मार्कण्डेय—
मिहिरपरिहार भोजराज (राजवार्त्तिकप्रणेता)—
मुकुन्दराम (कविकङ्कणचण्डी-प्रणेता)—
मुद्गलीपुत्र तिष्य (अनागतभयसूत्रादि-प्रणेता)—
मेधातिथि (मनुभाष्यकार)—
मेधातिथि गौतम वा गौतम वा गोतम (न्यायसूत्रकार)—
मेरुतुङ्ग (प्रबन्धचिन्तामणिकार)—
यज्ञपति उपाध्याय (तत्त्वचिन्तामणिप्रभाप्रणेता)—
यशोधर (कामसूत्रका टीकाकार)—
याज्ञवल्क्य—
यादवप्रकाश वा यादवाचार्य्य (वैजयन्तीकार)—
यामुनाचार्य्य (सिद्धान्तत्रयप्रणेता)—
यास्क (निरुक्तकार)—
रघुनन्दन (स्मृतितत्त्वप्रणेता)—
रघुनाथ शिरोमणि (दीधिति-प्रणेता)—
रङ्गरामानुज (बृहदारण्यक-प्रकाशिकाकार)—
रत्नगोपालभट्ट (श्रीभाष्यवार्त्तिककार)—
रत्नप्रभसूरि (जैनपण्डित)—
रविदेव (नलोदय-प्रणेता)—
राघवगोविन्द (मनुसंहिताका टीकाकार)—
राघवभट्ट (पदार्थादर्शप्रणेता)—
राघवानन्द (सारणीकार)—

राजशेखर (कविविमर्शादिप्रणेता)—

राजानक मम्मटभट्ट—

रामकृष्ण (पञ्चदशीका टीकाकार)—

रामचन्द्र (प्रक्रियाकौमुदीकार)—

रामतीर्थ (संक्षेपशारीरकका टीकाकार)—

रामाइपंडित (धर्म्मपूजापद्धतिप्रवर्त्तक)—

रामानन्दसरस्वती वा रामकिङ्कर (ब्रह्मानन्दवर्षिणीकार)—

रामानन्द (मणिप्रभाकार)—

रामानुज आचार्य्य (श्रीभाष्यकार)—

रायमुकुट (पदचन्द्रिकाकार)—

राहुलभद्र (बौद्धाचार्य्य)—

रुचिदत्त (नैयायिक)—

रुय्यक (अलङ्कारसर्व्वस्व-प्रणेता)—

रूपगोस्वामी (भक्तिरसामृतसिन्धुकार)—

रेवती (बौद्धाचार्य्य)—

लक्ष्मणसेन (अद्भुतसागरप्रणेता)—

लक्ष्मणाचार्य्य (सारदातिलक-सङ्कलनकर्त्ता)—

लक्ष्मीदेवी (बालंभट्टीप्रणेत्री और कालनिर्णयादिका टीकाकर्त्री)—

लक्ष्मीधर (विविध-स्मृतिकल्पतरु-प्रणेता)—

लक्ष्मीधर (भास्कराचार्य्यका पुत्र एवं ग्रहयागविशारद)—

लघ्वाश्वलायन (स्मृतिकार)—

लल्लाचार्य्य (शिष्यधीवृद्धिदमहातन्त्र-प्रणेता)—

लिखित (स्मृतिकार)—

लीलाशुक वा विल्वमङ्गल (कृष्णलीलामृत-प्रणेता)—

लोकाचार्य्य (विष्णुपुराणका टीकाकार)—

लौगाक्षिभास्कर (अर्थसंग्रहादि-प्रणेता)—

लामा तारानाथ (बौद्ध ऐतिहासिक)—

वरदराज वा वरदाचार्य्य (तार्किकरक्षाप्रणेता)—
वरदाचार्य्य (रामानुजका भागिना एवं तत्त्वनिर्णय-प्रणेता)—
वररुचिकात्यायन (वार्त्तिककार)—कात्यायन वररुचि।
वररुचि (कलापका कृद्वृत्तिकार)—
वराहमिहिर (बृहत्संहितादि-प्रणेता)—
वर्द्धमान उपाध्याय (गणरत्नमहोदधिप्रणेता वैयाकरण)—
वर्द्धमान उपाध्याय (तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशादिप्रणेता नैयायिक)—
बलदेवविद्याभूषण (गोविन्दभाष्य-प्रणेता)—
बल्लभाचार्य्य (अणुभाष्यकार)—
बल्लभाचार्य्य (न्यायलीलावती-प्रणेता)—
[illegible] (भोजप्रबन्धकार)—
बल्लालसेन (प्रतिष्ठासागरादि-प्रणेता)—
वशिष्ठ—
वसुगुप्त आचार्य्य (शिवसूत्र-प्रणेता)—
वसुबन्धु (गाथासंग्रहादि-प्रणेता)—
वाक्पतिराज (गौड़वह-प्रणेता)—
वागदेवी (अम्भृणकन्या एवं ऋङ्मन्त्रद्रष्ट्री)—
वाग्भट (अष्टाङ्गहृदय-प्रणेता)—
वाग्भट (रत्नसमुच्चय-प्रणेता)—
वाचक्नवी वा वचकूटी (ब्रह्मविदुषी)—
वाचस्पतिमिश्र (भामतीकार)—
वाचस्पतिमिश्र (स्मृतिचिन्तामणि-प्रणेता)—
वाणभट्ट (हर्षचरितादि-प्रणेता)—
वात्स्यायन (न्यायभाष्यकार)—
वादरायण वा वेदव्यास वा कृष्णद्वैपायन (ब्रह्मसूत्रकार)—
वादरि (प्राचीन भेदाभेदवादी)—
वापूदेवशास्त्री (सिद्धान्तशिरोमणिका टिप्पणीकार)—
वाभ्रव्य (प्राचीनकामशास्त्रकार)—

वामन (काशिकाकार)—

वामनशास्त्री—

वार्षगण्य (गाथाषष्टिसहस्र-प्रणेता)—

वाल्मीक वा वाल्मीकि (रामायण-प्रणेता)—

वासुदेव वा मध्वाचार्य्य (पूर्णप्रज्ञदर्शनकार)—

वासुदेवसार्व्वभौम (तत्त्वचिन्तामणिव्याख्याकार)—

वासुदेवसार्व्वभौम (तत्त्वदीपिकाप्रणेता)—

वाड्दन्तिपुत्र—

विज्ञानभिक्षु (सांख्यसारादि-प्रणेता)—

विज्ञानेश्वरयोगी (मिताक्षराप्रणेता)—

विठ्ठलाचार्य्य (प्रसादकार)—

विद्याधर (एकावलीप्रणेता)—

विद्यानाथ (प्रतापरुद्रीय-प्रणेता)—

। [illegible]मुनि—माधवाचार्य्य ।

विनायकपंडित वा नन्दपंडित (दत्तकमीमांसादि-प्रणेता)—

विल्वमङ्गल वा लीलाशुक (कृष्णलीलामृत-प्रणेता)—

विल्हण विद्यापति (विक्रमाङ्कदेवचरित-प्रणेता)—

विशाख दत्त (मुद्राराक्षस-प्रणेता)—

विश्वनाथ कविराज (साहित्यदर्पण-प्रणेता)—

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (भाषापरिच्छेदादिप्रणेता)—

विश्वरूप आचार्य्य—मण्डनमिश्र ।

विश्वेश्वर पंडित (मदनपरिजातादि-प्रणेता)—

विश्वेश्वर भट्ट वा गागाभट्ट (कायस्थधर्मदीपादि-प्रणेता)—

विष्णुगुप्त (चाणक्य)—

विष्णुशर्म्मा (पञ्चतन्त्रादि-प्रणेता)—

विष्णुस्वामी (वर्त्तमान शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय-प्रवर्त्तक)—

वृद्धचाणक्य—

वृद्धवशिष्ठ—

वृन्दाचार्य्य (सिद्धयोग-प्रणेता)—

वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक (शतदूषणीकार)—

वैद्यनाथ तत्सत् (अलङ्कारचन्द्रिका-प्रणेता)—

वैद्यनाथपायगुण्डे (छायादिप्रणेता)—

वैशम्पायन—

बोधायन (कृतकोटिप्रणेता)—

वोपदेव (मुग्धबोधादि-प्रणेता)—

बौधायन (सूत्रकार)—

व्याघ्र (अमरचन्द्रसूरि)—

व्याघ्रमुनि—(उपस्मृतिकार)—

व्याड़ि—

व्यासदास क्षेमेन्द्र (बृहत्कथामञ्जरी-प्रणेता)—

व्यासदेव—बादरायण।

व्यासराजस्वामी (न्यायामृतकार)—

व्योमशिवाचार्य्य (व्योमवती-प्रणेता)—

शकटाल—

शकलकीर्त्ति (तत्त्वार्थसारदीपिका प्रणेता)—

शक्ति वा शक्ति—

शङ्करभट्ट (द्वैतनिर्णय-प्रणेता)—

शङ्करमिश्र (उपस्कार-प्रणेता)—

शङ्कराचार्य्य (शारीरक-भाष्यकार)—

शङ्करानन्द (श्वेताश्वतरादिके टीकाकार)—

शरणदेव (दुर्घटवृत्ति-प्रणेता)—

शरभङ्ग ऋषि—

शर्व्ववर्म्माचार्य्य वा स्कन्दस्वामी (कलापव्याकरण-प्रणेता)—

शवरस्वामी वा देवाचार्य्य (जैमिनिसूत्र-भाष्यप्रणेता)—

शाकटायन मुनि (शाब्दिक आचार्य्य)—

शाकल्यमुनि (शाब्दिक आचार्य्य)—

शाकायन्यमुनि—

शान्तरक्षित—

शार्ङ्गधर (शार्ङ्गधरपद्धतिकार)—

शालिकनाथ मिश्र (प्रकरणपञ्चिकाकार)—

शिङ्गभूपाल (रसार्णवसुधाकर-प्रणेता)—

शिल्हणमिश्र (शान्तिशतकप्रणेता)—

शिवादित्य मिश्र न्यायाचार्य्य (सप्तपदार्थिकार)—

शुक्राचार्य्य—

शूद्रक (मृच्छकटिकप्रणेता)—

शूलपाणि (श्राद्धविवेकादि प्रणेता)—

शेषाचार्य्य (प्रमाणचन्द्रिकाकार)—

शौनक (चरणव्यूहप्रणेता)—

शौनक गृत्समद—

शौनक अतिधन्वा—

श्यावाश्व ऋषि (मन्त्रद्रष्टा)—

श्रीकण्ठशिवाचार्य्य (वेदान्तके शैवभाष्यकार)—

श्रीकर (स्मृतिनिबन्धकार)—

श्रीकृष्णतर्कालङ्कार (दायभागका टीकाकार)—

श्रीजीव गोस्वामी (षट्सन्दर्भकार)—

श्रीधरभट्ट वा आचार्य्य (न्यायकन्दलीकार)—

श्रीधराचार्य्य ([illegible])—

श्रीधरस्वामी (भागवतभावार्थदीपिकादि-प्रणेता)—

श्रीनाथ आचार्य्य-चूड़ामणि (दायभागका टीकाकार)—

श्रीभाष्याचार्य्य (यामुनाचार्य्यका गुरु और रामानुजका परमगुरु)

श्रीवरपण्डित (राजावलीप्रणेता)—

श्रीहर्ष (नागानन्दादिप्रणेता)—

श्रीहर्ष (खण्डनखण्डखाद्यादिप्रणेता)—

श्वेतकेतु वा धर्म्मसूत्रकार गौतम—

सदानन्दयति (अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार)—
सदानन्दयोगीन्द्र (वेदान्तसारप्रणेता)—
सदानन्दवित् (भावप्रकाशकार)—
सदाशिवेन्द्रसरस्वती (योगसुधाकरादिप्रणेता)—
सनातनगोस्वामी (भक्तिरसामृतसिन्धुकार)—
समन्तभद्र (आप्तमीमांसा-प्रणेता)—
सरसवाणी वा उभयभारती—
सर्व्वज्ञात्ममुनि वा नित्यबोधाचार्य्य (संक्षेपशारीरकप्रणेता)—
सायणाचार्य्य (वेदभाष्यकार)—
सिंह (आनन्दसूरि)—
सिद्धसेनदिवाकर (न्यायावतारप्रणेता)—
सिद्धर्षि (उपमितिभावप्रपञ्चकथाप्रणेता)—
सुचरितमिश्र (मीमांसावार्त्तिकका टीकाकार)—
सुदर्शनमिश्र वा हरदत्त (पदमञ्जरीकार)—
सुदर्शनाचार्य्य वा नैनार (श्रुतप्रकाशिका वा श्रीभाष्यवार्त्तिक-
प्रणेता)—
सुधाकरद्विवेदी—
सुरेश्वराचार्य्य (बृहदारण्यकादिवार्त्तिककार)—
सुबन्धु (वासवदत्ताप्रणेता)—
सुवर्णाभ (कामशास्त्रकार)—
सुश्रुत (संहिताकार)—
सुषेणाचार्य्य (कलापकविराजकार)—
सोमदेव भट्ट (कथासरित्सागर-प्रणेता)—
सोमानन्द (शिवदृष्टिप्रणेता)—
सोमेश्वर दत्त (सुरथोत्सवप्रणेता)—
स्कन्दस्वामी वा रुद्रस्वामी (निरुक्तभाष्यकार)—
स्फोटायन (शाब्दिक आचार्य्य)—
हरदत्त वा सुदर्शनमिश्र (पदमञ्जरीप्रणेता)—

हरिदासन्यायालङ्कार (नैयायिक)—
हरिभद्रसूरि (षड्दर्शनसमुच्चयप्रणेता)—
हरिराम तर्कवागीश (नैयायिक)—
हर्षवर्द्धन वा श्रीहर्ष (नागानन्दादिप्रणेता)
हलायुध (अभिधानरत्नमालाप्रणेता)
हलायुध (ब्राह्मणसर्व्वस्वादिप्रणेता)
हाल सातवाहन (सप्तशतकप्रणेता)
हिउ-एन्-चोयाङ्ग (सि-यु-की)
हेमचन्द्रसूरि अभिधानचिन्तामणि प्रणेता)
हेमाद्रि (चतुर्व्वर्गचिन्तामणिकार)

सनत्सुजातीयमध्यात्मशास्त्रम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

वैशम्पायन उवाच ।

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

अन्वयः । ततः (तदनन्तरं) तद् विदुरेरितं (विदुरकथितं) वाक्यं (मृत्युर्नास्तीति प्रतिज्ञां) संपूज्य (संमान्य) महात्मा (महानुभावः) राजा धृतराष्ट्रः मनीषी (शास्त्रसंस्कृतमनीषावान्) बुभूषन् (भवितुमिच्छन्) सनत्सुजातं (सनत्कुमारं) रहिते (रहसि) परमां बुद्धिं (परां विद्यां श्रुतिप्रसिद्धां) पप्रच्छ (जिज्ञासितवान्) ॥१॥

शाङ्करभाष्यम् ।

ॐ नम आचार्य्येभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्त्तृभ्यः । सनत्सुजातविवरणं संक्षेपतो ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायारभ्यते ।

स्वतश्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषयया-ऽविद्यया स्वानुभवगम्यया स्वाभासया स्वाभाविकचिन्मदानन्दा-द्वितीयब्रह्मात्मभावात् प्रच्युतोऽनात्मनि देहादावात्मभावमापन्न: अप्राप्ताशेषपुरुषार्थ: प्राप्ताशेषानर्थ: अविद्याकामकर्म्मपरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहृतिं चाकाङ्क्षन् लौकिकवैदिक-साधनै-रनुष्ठितैरपि परमपुरुषार्थं स्वार्थं मोक्षाख्यमलभमानो मकरादिरिव रागद्वेषादिभिरितस्तत आकृष्यमाण: सुरनरतिर्य्यगादिप्रभेदभिन्नासु नानायोनिषु परिवर्त्तमानो मोमुह्यमान: संसरन् कथञ्चित् पुण्य-वशाद् वेदोदितैरीश्वरार्थकर्म्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यादि-दोषदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रफलभोगविरागो वेदान्तेभ्य: प्रतीयमानं ब्रह्मात्मभावं बुभुत्सु: वेदोदितशमदमादिसाधनसम्पन्नो ब्रह्म-विदमाचार्य्यमुपेत्य आचार्य्यानुसारेण वेदान्तश्रवणादिना "अहं ब्रह्मास्मि" इति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्य्यो ब्रह्मरूप: अवतिष्ठत इति इयं वेदान्तमर्य्यादा । एतत् सर्व्वं क्रमेण दर्शयिष्यति भगवान् सनत्सुजात: ।

धृतराष्ट्र: शोकमोहाभितप्त: "तरति शोकमात्मवित्" इति वेदान्तवादमुपश्रुत्य ब्रह्मविद्यया विना शोकापनयनमशक्यं मन्वान:,

"अनुक्तो यदि ते किञ्चिद्वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ।"

इति विदुरायोक्तवान् । श्रुतवाक्योऽपि परमकारुणिक: सर्व्वज्ञ: सन् ब्रह्मविद्यां विशिष्टाधिकारिविषयां मन्वान: "शूद्र-योनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे" इति शूद्रयोनिजत्वादौ-पनिषदब्रह्मात्मतत्त्वज्ञाने 'नाहमधिकृत:' इत्युक्त्वा कथमिमं धृतराष्ट्रं ब्रह्मविद्यया परमे पदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये स्थापयिष्यामीति मन्वानश्छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धमितिहासं स्मृत्वा मान्यो भूमानं तमस: परं परमात्मानं दर्शयितुं शक्नुयादिति

मत्वा तमेव भगवन्तं सनत्सुजातं योगबलेनाहूय प्रत्युत्थानादिभिर्भगवन्तं पूजयित्वा आह क्षत्ता—

"भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसे।
यो न शक्यो मया वक्तुं तमस्मै वक्तुमर्हसि॥
यं श्रुत्वाऽयं मनुष्येन्द्रः सर्व्वदुःखातिगो भवेत्।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ तथैव च जरान्तकौ॥
विषह्येत मदोन्मादौ क्षुत्पिपासे भयाभये।
अरतिं चैव तन्द्रीं च कामक्रोधौ क्षयोदयौ" ॥ इति।

भगवन् येनासौ सकलसंसारकारणधर्म्माधर्म्मविवर्जितः सर्व्वदुःखातिगो मुक्तो भवेत् तमस्मै धृतराष्ट्राय वक्तुमर्हसीत्युक्तवान्।

तत इति। तत एतद्वाक्यसमनन्तरं विदुरेण सनत्सुजातं प्रति ईरितमुक्तं यद् वाक्यं तत् सम्पूज्य संमान्य, सनत्सुजातं सनदिति सनातनं ब्रह्मोच्यते हिरण्यगर्भाख्यम्। तस्मात् सनातनाद् ब्रह्मणो मानसाज् ज्ञानवैराग्यादिसमन्वितः सुष्ठु जात इति सनत्सुजात इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमारः, तं रहिते रहसि प्राकृतजनवर्जिते देशे महात्मा महाबुद्धिः पप्रच्छ पृष्टवान्। बुद्धिं परमामुत्तमां पूर्णानन्दाद्वितीयविषयाम्। किमर्थम्? बुभूषन् भवितुमिच्छन् ब्रह्मात्मत्वेनाऽपहृतमात्मानं लब्धुमिच्छन्नित्यर्थः ॥१॥

कालिका।

आगमा निगमा वेदा अकुण्ठस्तवनोत्सुकाः।
यामप्राप्य निवर्त्तन्ते कालिकां तां नमाम्यहम्॥ १॥
वाक्येन नेति नेतीति शेषतो येव बुध्यते।
यया व्याप्तमिदं सर्वं कालिकां तां नमाम्यहम्॥ २॥
ज्ञानमूर्त्ते दयामूर्त्तेऽज्ञानमूर्त्ते* विशेषतः।
सुखदुःखानुसन्धानशक्तिमूर्त्ते नमोनमः॥ ३॥

---

* 'क' परिशिष्टे ज्ञानमूर्त्त्यज्ञानमूर्त्ति शब्दौ द्रष्टव्यौ।

द्वैताद्वैतसमायुक्तौ परब्रह्मस्वरूपिणि।
सत्यापलापशङ्कातस्त्रायस्व जगदम्बिके ॥ ४ ॥
यतोऽहमतिगम्भीरं प्रशान्तं मुनिभाषितम्।
टीकायां कालिकाख्यायां व्याख्यातुं श्रद्धयाऽऽरभे ॥ ५ ॥

भगवान् सनत्सुजातो धृतराष्ट्रस्य कश्चिन्मानससंशयमपनेतुं तं ज्ञानप्रधानां योगोपसर्ज्जनां ब्रह्मविद्यामुक्त्वा पुन र्योगप्रधानां ज्ञानोपसर्ज्जनां तां ग्राहयामास। यत्र पूर्व्वं चित्तवृत्तिनिरोधेन युष्मदर्थत्वं विज्ञाय पश्चाद् वेदान्तश्रवणादिना तस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते सैव आद्या। यत्र तु श्रवणादिना पूर्व्वं पारोक्ष्येण प्रतीचो ब्रह्मभावं निश्चित्य पश्चान्निदिध्यासनात्मकेन संयमेन सोऽपरोक्षीक्रियते सैव द्वितीया। तामेव विद्यां सनत्कुमारेण यथोपदिष्टां पाराशरी योगज्ञानादिसम्पन्नो मुमुक्षूपचिकीर्षया सनत्सुजातवाक्यात्मके श्लोकैरुपनिबबन्ध।

तदिदमध्यात्मशास्त्रं सांख्यवेदान्तमार्गद्वयरूपं पूर्व्वाचार्य्यादिभिर्विवृततात्पर्य्यमपि दुर्गमत्वेन लौकिके ग्रन्थमार्गमनुगम्य केचिदाभासद्योतका वङ्गानुवादा वार्त्तिकपथोपगताः कृताः। तत्र क्वचिदेव प्रकृतं स्पष्टार्थमिति मत्वा दुरुक्तानां व्याख्यानं संक्षेपतो विहितं क्वचिच्चानुक्तानां विस्तारे विकल्पजालमनर्थवासम्बे विवृतं क्वचिद्वा स्पष्टार्थेषु व्याख्यानमस्थाने निरतिशयं प्रपञ्चितम्। एतादृशं पदार्थविप्लवं दृष्ट्वा फल्गुप्रकाशमिव मूलस्वरूपं विधाय सम्प्रतितनपुस्तकेषु स्थितान् पाठांश्च यथाशक्ति विशदीकृत्य गुणोपसंहारन्यायेन श्रोतॄणां सुखावबोधाय सनत्सुजातकथामृतं व्याख्यायते।

विशं प्रजां पातीति विशम्पो जनमेजयः। तस्यायनं गुरुत्वेनाश्रयभूतो विशम्पायनः। स एव वैशम्पायन इति स्वार्थे तद्धितः। यद्वा विशम्पस्य गोत्रापत्यं वैशम्पायनः, 'अश्वादिभ्यः फञ्'। वक्ष्वारकत्वेनापि स च प्रसिद्धः। तथाहि पौराणिकाः—"जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च। पुलस्त्यः पुलहश्चैव पञ्चैते वक्ष्वारकाः॥" इति। उवाच जनमेजयं प्रतीति शेषः। ततः

इति। "भगवन् संशय: कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसे। यो न शक्यो मया वक्तुं तमस्मै वक्तुमर्हसि॥" इत्यादि विदुरवाक्यसमनन्तरम्। धृतं राष्ट्रं रूपान्धतया येन स धृतराष्ट्र:। तदुक्तमाश्रमवासिकपर्व्वणि प्रथमाध्याये,—"प्राप्य राज्यं महात्मान: पाण्डवा हतशत्रव:। धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्य्यपालयन्॥" इति। अतो हि स उक्तो महात्मा महानुभाव इति। मनीषी बुभूषन्नित्यन्वय:। मनस ईषा गमनं मनीषा। शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। सा अस्त्यस्येति मनीषी। व्रीह्यादित्वादिनि:। मनीषी मनोनिग्रह-समर्थो बुभूषन् भवितुमिच्छन्नित्यर्थ:। अमनीषित्वं धृतराष्ट्रस्य प्रसिद्धम्। "दु:शासन: पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी" इत्यादिमहाभारतानुपर्य्यसंग्रहश्लोकदर्शनात्। तत्रापि कुतोऽमनीषी? अपत्यस्नेहान्धेन तेनैव हि दत्तावकाशो दुर्य्योधनो जयो मृत्युर्वास्तु न तु राज्यार्द्धं देयमिति मतपोषणेन कुलक्षयकृदभवत्, अन्यथा बाल्यकाले विदुरवचसा तस्य त्यागे कृते सति वंशनाश आततायितादिमूलो न स्यादिति। यद्वा विदुरवाक्यात्तस्माद् बुद्धिशुद्धतया मनीषी समुत्पन्नविवेको भवितुमिच्छन्नित्यभिप्राय:। ततो राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषीति शोभन: पाठ इति केचित्। तदसारम्। आम्नातस्य ह्यर्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाम्नातं पर्य्यनुयोक्तुमिति। संपूज्य संमान्य वाक्यं मृत्युर्नास्तीति यद् विदुरेण ईरितं कथितं तत्। असत्यामपि सम्यग्-बोधोपपत्तौ विदुरवाक्ये राज्ञो विश्रम्भख्यापनात् संपूज्येतिपदप्रयोग:। बोधानुप-पत्तेश्च कारणमेव चिन्ताप्रणालीभेदा:—देहेन्द्रियादिसम्बन्धभावो जन्म, मरणं तु देहेन्द्रियादिविच्छेद इत्येवमाद्या:। सनत्-सुजातमिति। सनतो ब्रह्मण: सुष्ठु भगवद्ध्यानपूतेन मनसा न तु स्त्रीपुंसयोरन्योन्यसंयोगेन जात: सनत्सुजातस्तम्। कामाति-रिक्तकारणत्वात् सनत्सुजात इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमार:। अत्रेदमाख्यानमभिधीयते। विभाता सृष्टौ प्रागविद्यावृत्तौ: ससर्ज्ज। किन्तु सर्व्वा इमा: पापसृष्टीरवलोक्य स आत्मानं

नाभ्यनन्दीत्। ततः स भगवद्ज्ञानपूतेन मनसा निष्क्रियमूर्द्धरेतसं सनत्सुजातमस्त्रजदिति। परमां बुद्धिं परविद्यां श्रुतिप्रसिद्धाम्। श्रुतिश्च—"द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चे"ति। यद्वा परमामुत्तमामिति यावत्। रुचिवैचित्र्यादेव लोकानामनन्ता बुद्धयस्तासां या ब्रह्मप्रेप्सुना सर्व्वत उपादेया सा परमेति दिक्।

अन्यथापि श्लोको व्याख्यायते तत इति। मनीषीति नित्यानित्यवस्तुज्ञतां सूचयति। वेदादितात्पर्य्यबोधाभावे ब्रह्मज्ञानलाभासंभवात्। महात्मा महाभागधेयः। विशिष्टभाग्याभावे तदुपदेशलाभासंभवात्। यद्वा महति परब्रह्मणि आत्मा यस्येति तत्र उपदेशयोग्यतां प्रतिपादयति। सनत्पदं नित्यत्वबोधकं सनद्वाजसनमित्यादिश्रवणात्। सुष्ठु जातः स्वधर्म्माविर्भूतशरोरत्वादिति। पप्रच्छ जिज्ञासितवान्। भूधातुः प्राप्तावपि रूढः। बुभूषन् प्राप्तमिच्छन्। काकाक्षिगोलकन्यायेन बुद्धिं परमामित्येति दिक्।

कुलदेवीस्तुति :—

महागम निगम वेद उल्लुक सभीहो—
विनयकर कहैं पार तेरान पाऊं।
अचिन्त्या अप्राप्या समझ जिससे लौटें—
उसी कालिकाको स्वमस्तक नवाऊं॥ ॥
नहीं वह नहीं वह परित्यागते सब
जगत्वस्तुके अन्तमें जाहि पाऊं।
सभी वास्य जिसके जगद्व्यापिनोजो—
उसीकालिकाको स्वमस्तक नवाऊं॥२॥
सुमूर्ति दया ज्ञान अज्ञानकोजो—
अधिकतर जिसे मूर्ति अज्ञान गाऊं।
सुखादि सुसंधानिका शक्तिकाजो—
उसे माथ अपना नवाऊं नवाऊं॥३॥

समायुक्त द्वैतादि अद्वैतरूपे
जगत् अम्बिके पूर्णब्रह्मस्वरूपे ।
सुसत्याऽप्रलाये कुशंकादिकोंसे—
बचावो मुझे कालिके अम्बरूपे ॥४॥
महर्षि कहीशान्तगम्भीरवाणी—
महाध्यात्मविद्या सनत् जोवखानी ।
करूं कालिकानामटीका उसीका—
हमारी यही अञ्जली लो भवानी ॥५॥

सूचना ।

कुरुक्षेत्र का युद्ध का होना अनिवार्य हो गया था। और युद्ध होनेसे सभीको शोकभी अवश्यम्भावी था। धृतराष्ट्रकोभी भारी शोक हुआ। किन्तु ज्ञानके बिना शोकका दमन नही हो सकता। इसी लिए महाराज धृतराष्ट्रने विदुर जी से ज्ञानोपदेश लाभ करने की अभिलाषा प्रकट की। विदुर जी उनको उपदेशका आरम्भ करके सोचने लगे कि राजा शीघ्रही अपने आत्मीयस्वजनादि लोगोंके शोक में डूब जायेंगे। ज्ञानके अतिरिक्त इस प्रकारके दारुण शोक को निवारण करनेके लिए और दूसरा कोई उपाय न देख उन्होंने प्रसंगवस कहा। महाराज! "मृत्यु कोई चीज नहीं, यहतो केवल मोहका फलमात्र है।" यह सुनकर राजा अत्यन्त आश्चर्यित हुए और बोले मृत्यु नहीं है," यह कैसी बात कहते हो? तुम इसको मुझे विशद रूपसे समझा कर कहो।" राजाकी इस आज्ञाको सुनकर विदुरजी बोले—इसे मैने आचार्य सनत्कुमारसे सुनाथा, किन्तु इसका ज्ञाता होकर भी द्विजेतर (ब्राह्मण नहीं) होनेके कारण उसका वक्ता नही हो सकता। आपको यदि इस विषयको जाननेकी

उत्कट इच्छा है, तो मैं अपना ज्ञानगुरु आचार्य सनत्कुमारको ला देताहूं। वही आपको इसे पूर्णरूपसे समझा देंगे। ऐसा कह कर विदुरजीने भगवान सनत्कुमारको लाकर उनके निकट धृतराष्ट्रका परिचय दिया।

मूलानुवाद।

वैशम्पायनबोले—'इसके बाद विदुरजीके बचनको मान कर महात्मा राजा धृतराष्ट्रने मनीषी होनेकी इच्छासे एकान्त में—सनत्सुजात (सनत्कुमार) से परम बुद्धि (ज्ञान) विषयक प्रश्न किया।

कालिकाभास।

अभीप्सित टीकाकी सुसमाप्तिके लिए ब्रह्मबोधमें कुलदेवताकी स्तुतिकर टीकाकार ने अपनी टीकाका कालिकाटीका नाम रखा है। स्तुति वाले श्लोकोंका भावार्थ निम्नलिखित है।—

वेदादिशास्त्र जिसका यथातथ्य वर्णन करनेके लिए उत्सुक होकरभी सम्यकरूपसे वर्णन नहीं कर सके उसीकालिकाको मैं प्रणाम करता हूं॥१॥ "यह नहीं, यह नहीं", इस प्रकार विचार-पूर्वक सभी चीजोंको परित्यक्त हो जानेके बाद शेषमें जो ज्ञान-मार्गमें स्थित दिखाई पड़तीं हैं, अथच जो संसारके चिदचिद् सभी पदार्थोंमें व्याप्त है उसीकालिकाको मैं प्रणाम करताहूं * ॥ २ ॥ ज्ञान अर्थात् पराविद्या जिनकी मूर्ति है, दया जिनकी मूर्ति है, अज्ञान, अर्थात अविद्या जिनकी मूर्ति है, इसी तरह सुखदुखादिका अनुसन्धान की प्रवृत्ति भी जिनकी मूर्ति है, उसी (शक्तिमूर्ति) को मैं बारबार प्रणाम करताहूं † ॥३॥ जो कार्यरूपसे द्वैत, एवं

---

* उपरोक्त कथनका अभिप्राय यही है कि श्रुतिसमूह कार्यमें कारणबोधका प्रतिषेध कर संकेतहीके द्वारा जिनका परिचय समझा देती हैं, और जो स्थूल रूपमें वर्तमान रहने परभी सांसारिक लोगोंसे अगम्य होकर वर्तमान हैं मैं उन्हीं को प्रणाम करता हूं।

† यहां इससे यह ध्वनि निकलती है कि लीलावश जो सुखदुखादिकी प्रवृत्ति द्वारा जीवको मायाजाल में आबद्ध करती हैं, वही, दयाके वशीभूतहो मायाजनित सुखदुखादिकी

कारणरूपसे अद्वैत है, जो परब्रह्मके अतिरिक्त दूसरा और कुछ नहीं है, उसी जगदम्बाके निकट मैं प्रार्थना करता हूं कि वह मुझे सत्यापलाप (सत्यको असत्य) की कुशंकासे पूर्णतया रक्षा करे ॥४॥ क्योंकि मैं महामहर्षिके अत्यन्त गम्भीर अथच प्रशान्त महावाक्य समूहों को व्याख्या कालिका नामक अपनी टीकामें पूर्णश्रद्धासे करना आरम्भ करता हूं ॥ ५ ॥

भगवान सनत्सुजात ने धृतराष्ट्रके किसीभी मानसिक संशयको निवारण करनेके लिए उनको प्रथमतः ज्ञानप्रधाना योगोपसर्ज्जनी ब्रह्मविद्याकी वार्ता समझाई पीछे ज्ञानही से निराकरण होनेवाली योगप्रधाना ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। जिस प्रक्रियासे साधक पहले अपनी चित्तवृत्तिको संयमित कर, तत्वमस्यादि वाक्योंका अर्थ-अनुभव-पूर्व्वक वेदान्तादिको सुनकर अपनी अनुभूत वस्तुके सहारे ब्रह्मत्वका निश्चय करता है उसीको ज्ञानप्रधाना योगोप-सर्ज्जनीभूता ब्रह्मविद्या कहते हैं। और जिस प्रक्रियासे वेदान्तादि-श्रवणपूर्व्वक ब्रह्मका निगूढ़तत्वको परोक्ष में अनुमानकर धारणा ध्यान एवं समाधिके द्वारा साधक उसी अनुमित वेदान्त वर्णित ब्रह्मका प्रत्यक्ष दर्शन करता है उसे योग-प्रधाना ज्ञानोपसर्जनीभूता ब्रह्म-विद्या कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान पराशर ने मुमुक्षुओं का उपकार करनेके लिये सनत्कुमारसे उपदिष्ट ब्रह्मविद्या (ब्रह्मज्ञान) को श्लोकोंमें रचकर उसे "सनत्सुजातकथाके नामसे अभिहित किया है।"

सांख्यमीमांसादिदर्शनसारसंग्रहभूत यह सनत्सुजातीय

निवृत्ति करनेके लिए, विद्याका रूप धारण करती है। अविद्या जो विद्याके द्वारा नष्ट होती है, इसमें केवल उनकी ही अनुकम्पाका आधिक्य है। साथ यह भी कहा जासकता है, कि जीव संसारके दुखादिका भोग करता है। इतना कहने से वे ही नैर्घृण्य अथवा निष्ठुरता या वैषम्य दोषसे आरोपित नहीं किए जा सकते। क्योंकि सुख तथा दुख दोनो ही अविद्यामूलक हैं। और विद्या तथा अविद्या दोनो ही उसीका केवल लीला विकाश मात्र है।

अध्यात्मशास्त्र पूर्व्वाचार्यका किया ज्ञात रहने परभी साधारण लोगोंके निकट उसको दुर्गम समझकर कई विद्वानोंने उसका वार्तिक यथानुकूल आभासद्योतक बङ्गानुवाद किया है। इन बङ्गानुवादोंमें ग्रन्थकारोंने कहीं मूलको सुगम समझकर उसे विरक्ति न कर सिर्फ संचिप्त व्याख्या ही दिया है और कहीं अनर्थ वाक्योंके द्वारा अनुक्त विषयोंका प्रपञ्च परिदर्शन कराया है। और कहीं तो सुगम मूलको दुर्गम समझकर अस्थानमें ही अनन्त वाक्याडम्बरोंका विस्तार दिखलाया है॥

इसतरहके पदार्थ विप्लवके लिए फल्गुप्रकाशके समान मूलका स्वरूप निर्णयकर तथा उक्त पुस्तकस्थित विभिन्न पाठोंसे कविके अभिप्रेत पाठको यथाशक्ति उद्धारकर पाठकोंको सुलभतासे बोध होनेके लिए गुणोंका उपसंहारक्रमसे मैं सनत्सुजातकथामृतको व्याख्या करने में प्रवृत्त हुआहूं॥

वैशम्पायन :—जनमेजय ही का एक नाम विशम्प भी है। उनका अयन अर्थात स्थान गुरुरूपमें आश्रय स्थान होनेके कारण इनका नाम भी विशम्पायन पड़ा। विशम्पायन शब्दमें स्वार्थे तद्धित प्रत्यय करनेसे वैशम्पायन होता है किन्तु अर्थमें किसी प्रकारका वैलचन्य नहीं होता। अथवा विशम्प वंश समुद्भुत होनेके कारण इनका नाम वैशम्पायन हुआ। पौराणिकोंके मतसे उनका नाम उच्चारण करनेसे वज्रभय नहीं होता॥

"इसकेबाद"—मूलश्लोकमें 'ततः' अर्थात इसके बाद ऐसा शब्द है। 'इसकेबाद'-ऐसा बोलने ही से यह मालूम होता है कि उसके पहले कोई न कोई दूसरा वाक्य भी अवश्य ही बोला गया है। वह पूर्व्वोक्त वाक्य यह है।—भगवन! धृतराष्ट्रके मनमें किसी तरहके संशयका उदय हुआ है; उसके निराकरण करनेका अधिकार मुझको नहीं है। अस्तु कृपाकर आपही उसका निराकरण कर दें इत्यादि। इसी वाक्यके कहे जानेके बाद "इसकेबाद" ऐसे शब्दका व्यवहार उचित है।

'विदुरजीके वचनको मानकर'। विदुरजी कहते हैं—मृत्युकहकर कहीं कुछ है ही नहीं। इस कथनका तात्पर्य्य महाराज धृतराष्ट्रने ठीक ठीक नहीं समझा। उनके तात्पर्यको नहीं समझने परभी धृतराष्ट्र यह अच्छी तरह जानते थे कि विदुरजी अयुक्त बात नहीं कहते। अस्तु उनके कथनमें कोई न कोई गम्भीर उद्देश्य अवश्य छिपा है। और इसी विश्वाससे राजाने विदुरजीके वचन पर आस्था स्थापन किया ऐसा मूलमें लिखा गया है। "सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत्" अर्थात विदुरजीके वचनको मान कर।*

---

* विदुरजीने कहा हैं—"मृत्यु कह कर कोई वस्तु नहीं"। इस कथनका तात्पर्य राजाक्यों नही समझ सके? अज्ञाके साथ उन्होंने वेदान्तके गम्भीर तत्वमें अवगाहन नहीं किया। क्योंकि चिन्ता प्रणालीका भेदही उनमे इस प्रकारका मोहोत्पादन कर दिया था। निम्न लिखित मत अथवा विचार चिन्ता प्रणाली भेदका कारण है।

यथा —(१) वार्षायणिका कहना है कि सभी वस्तुओंका नाश अवश्यम्भावी है, एवं प्रत्यक्ष ज्ञान ही उनका प्रतिपादन करता हैं। सम्पूर्ण चराचरका छ' ६ भावोंके अधीन होनेसे ही प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति होती है, वर्तमान रहता है, बढता है, बदलता है, क्षयको पाता है और अन्तमे विनष्ट होजाता है॥ (२) चार्व्वाक दर्शनान्तर्गत कोई सम्प्रदाय कहता है, कि शरीरही आत्मा है तथा क्रियाशील शरीर बहुकालस्थायीके समान अनुभूत होने पर भी वह क्षण २ मे परिवर्तित होता रहता है। इस समय जिस शरीरको देखता हूं कालान्तरमे उसीका पूर्णतया परिवर्तन होजायगा। यह प्रत्यक्ष रूपसे सिद्ध है। और प्रत्यक्षके अपेक्षा और दूसरा कोईभी दृढतर प्रमाण नही है॥ (३) चार्व्वाक दर्शनान्तर्गत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं कि आत्मा देहातिरिक्त होने पर आत्माका देहोत्पत्ति होके साथ साथ जन्म एव देहनाशके साथ साथ उसका (आत्माका) भी नाश होजाता है।

अस्तु अग्नि तथा उसकी गर्मी (उत्ताप) के समानही देह तथा आत्माका सम्बन्ध है॥

४॥—कोई कोई सम्प्रदाय कहते हैं कि सृष्टिके आरम्भकालमें ही आकाशके समानही आत्माका भी जन्म हुआ है। इसको न तो कोई सख्या है और न कोई नियम ही है। सुतरा प्रत्येक देहमे भिन्न भिन्न आत्मा विद्यमान रहता है ये सभी आत्मा कल्पकालतक इसी प्रकार रहकर प्रलयके समय नाश होयेगी। कई दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं कि अपूर्व्वनामक कर्मफलके द्वारा देह तथा इन्द्रियोका सम्बन्धही जन्म है, एवं देहसे इन्द्रियोंका विच्छेदही मरण है, इत्यादि इत्यादि।

"महात्मा राजा युधिष्ठिर"।—महात्मा शब्दका अर्थ महानुभाव है। वे समुचितरूपसे राज्य पालन करते थे इसी कारण उनका नाम धृतराष्ट्र हुआ। महानुभाव नहीं होने परसी यह गुण और किसीके पक्षमें समुचित अथच सम्भव नहो जँचता इसी लिये मूल श्लोकमें ही उनको महात्मा कहा गया है। राज्य पालन कार्यमें उनकी सुदक्षता थी इस विषयमें कोई भी सन्देहका कारण नहीं दिखाता। महाभारतके आश्रमवासिक पर्व्वमें देखते हैं कि पाण्डवोंने राज्यपाकर भी, धृतराष्ट्रहीके परामर्शानुसार प्रजापालन किया है। इसीसे समझ सकते हैं कि राज्यपालनमें उनको महानुभाव हुए विना उनके विपक्षी उस विषयमें उनको कुशलता कभी भी स्वीकार नहीं करते॥

मनीषी होनेके लिए।—राजा मनीषी नहीं थे, किन्तु मनीषी होनेको इच्छासे,' ऐसा यहां श्लोकाभिप्राय समझना होगा। जो मनोनिग्रहकर सकते हैं वे ही मनीषी हैं। राजा मनका निग्रह नहीं कर सकते थे, इसीसे वे मनीषी नहीं कहे जा सकते। भारततात्पर्य्यसंग्रहका प्रथम श्लोक ही इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है। उक्त श्लोकके प्रति अनास्था दिखालानेका कोई भी उपाय अथवा कारण नहो दिखाता। क्योंकि अभी भी वह श्लोक ऐसा है कि मन्त्ररूपसे श्राद्धमें पाठ किया (पढ़ा) जाता है। श्लोकका भाव निम्नलिखित हैं:—दुर्योधन मानो एक क्रोधमय वृक्ष है, कर्णादि उसके स्कन्ध अथवा धड़ हैं, शकुनी प्रभृति उसके शाखा प्रशाखा हैं। ओर इसी वृक्षमें दुःशासन आदि पुष्पफलादिरूपमें उत्पन्न हुए है, अथच 'अमनीषी' राजा धृतराष्ट्र हैं, उसका मूल वा जड़ हैं। यहीं राजाको अमनीषी कहा गया है। क्योंकि वे अपने मनको निग्रह नहींकर सकनेके कारण विदुरजीके परामर्शानु-सार सद्योजात दुर्य्योधनको त्यागनहीं सके। उस समय अपत्य-स्नेहका पोषण न कर यदि वे दुर्योधनको त्याग करते तो उनका आततायिमूलक वंशका कभी भी विनाश नहीं होता।

इस वाक्यका एक और भी अर्थ (कारण) हो सकता है। बुद्धि-शुद्धिके अभावसे राजा विदुरजीके वाक्यका तात्पर्य नहीं ग्रहण कर सके इसीसे वे अमनीषी हुए, एवं बुद्धि शुद्धिके द्वारा विदुरजीके वाक्यका तात्पर्य ग्रहण करेंगे, इससे "मनीषी होनेकी इच्छासे" ऐसा पद समष्टिका प्रयोग हुआ है।

कोई कोई कहते हैं—मूलश्लोकमें है "धृतराष्ट्रोऽमनीषी" इस प्रकारका पाठ रखनेसे अच्छा होता। किन्तु वस्तुत: ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मूल श्लोकमें जो पहलेसे है उसीके अनुकूल व्याख्या करना उचित है। मूलहो पर कटाक्ष करना अथवा तद्विरुद्ध किसी प्रकारका अनुयोग करना किसी तरहभी समीचीन नहीं है॥

सनत्सुजात।—सनतकुमारका ही नाम सनतसुजात है। "सनत: सुष्ठुजात:" अर्थात ब्रह्मासे जिनने सुन्दर वा पवित्र रूपसे जन्म ग्रहण किया है, वेही सनत्सुजात हैं। स्त्रीपुरुषके मिलनसे उनका जन्म नहीं हुआ, इसीसे उनको 'सुजात' कहते हैं। जगत्-पितामह ब्रह्माजीने भगवच्चिन्तन करते करते उसी ध्यानयोगसे निर्मल मनमें ही उनकी सृष्टि की थी। श्रीमद्भागवतमें देखते हैं कि विधाताने पहले जो जो बनाया, उनमेंसे कोई भी तृप्तिदायक नहीं हुआ। उन्ही उक्त सृष्टियोंसे तम:, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्रका प्रादुर्भाव हुआ।

तम: अर्थात भ्रमात्मक ज्ञान वह है जो स्वरूपको आच्छन्न करके विपर्ययका उदयकर देता है। मोह-शब्दसे देहादिमें ममता-विषयक अभिमानका ज्ञान होता है। महामोहका अर्थ सुखमूलक अनुराग है। सुखमें व्याघात होनेसे अथवा व्याघातकी सम्भावना होनेसे जो दु:खमूलक द्वेष अथवा जीवहिंसाका उदय होता है उसेही तामिस्र कहते हैं। अन्ध तामिस्र कहनेसे अभिनिवेशका ज्ञान होता है। इस शरीरका नाश होने पर मेरा

है। इसीसे लोग कहते हैं मृत्युका भयही जीवका प्रधान अभि-निवेश है। इस साराकलुषमयी सृष्टिको देख ब्रह्मा आनन्दरहित होकर भगवत्ध्यानमें लीन होगये। और उसी ध्यान कालमें सृष्टि संस्कारवश उन्होने सनत् कुमारको बनाया।

परम बुद्धि विषयक प्रश्न।—अर्थात ब्रह्मतत्व विषयक प्रश्न। चिन्ताका प्रकार, भेद, हेतु, तथारुचिवैचित्र्यवश संसारके लोगोकी नाना प्रकार बुद्धि देखी जाती है उनके बीच ब्रह्मप्राप्तिके लिए जिस बुद्धिकी प्रेरणा होती है, वही परमा बुद्धि है। इसीश्लोकको दूसरे तरहसे भी व्याख्याकी जा सकती है। वेदादि शास्त्रोंका तात्पर्य बोध नही होनेसे ब्रह्मज्ञानलाभ नहीं होता है, ईसीसे मनीषी शब्द नित्यानित्य प्रज्ञताकी सूचना करता है। महात्मा शब्दसे महाभागधेय समझा जासकता है, क्योंकि विशिष्ट भाग नहीं रहनेसे सनत्कुमारके समान आचार्यका उपदेश लाभ नहीं किया जा सकता। अथवा 'परमात्माकी ओर जिसकी जीवात्मा उन्मुख हुआ है, इस अर्थमें महात्मा शब्द राजाकी उपदेश-योग्यता ही प्रतिपादन करता है। वेदमें "सनद्वाजसन"मित्यादि प्रयोगोंको देखकर यही जान पड़ता है "सनत्" पद नित्यत्व बोधक भी होसकता है। सनत्कुमारका शरीर स्वधर्ममें आविर्भूत हुआथा अर्थात विकारग्रस्त नहीं है इसी लिये उनको सुजात कहा गया है। प्राप्ति अर्थभी भूधातुसे प्रसिद्ध है। सुतरां मूल श्लोकमें "बुभूषन"शब्द "पानेके निमित्त" ऐसा अर्थमें व्यवहृत होसकता है। (काकाचिगोलकन्यायानुसार) कौवेके एकमात्र आँखोंका कार्य सम्पादन करता है, उसी तरह कर्मरूपमें व्यवहृत बुद्धिशब्द "पाना' और "जिज्ञासा करना" दोनोंही प्रकारके धातुओंसे सम्बन्ध सूचित करता है। अर्थात परमाबुद्धि पानेके लिएही परमबुद्धि विषयक प्रश्न किया था ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

सनत्सुजात ! यदिदं शृणोमि
मृत्युर्हि नास्तीति तवोपदिष्टम् ।
देवासुरा आचरन् ब्रह्मचर्य्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

अन्वय: ।

हे सनत्सुजात ! मृत्यु: हि नास्ति इति [विदुरं प्रति] तवेदं यदुपदिष्टं शृणोमि, [किन्तु मृत्युरस्तीति लोकतो यद् दृष्टं तथा] अमृत्यवे देवासुरा ब्रह्मचर्य्यमाचरन् [इति यत् शास्त्रत: श्रुतं च] तत् (तयो:) कतरत् नु सत्यम् ॥ २ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

सनत्सुजातेति । हे सनत्सुजात ! यत् मृत्युर्हि नास्तीति शिष्यान् प्रति उपदिष्टमिति विदुर: प्राह, देवासुरा: पुनरमृत्यवे मृत्योरभावाय अमृतत्वप्राप्तये ब्रह्मचर्य्यमाचरन्तो गुरौ वासं कृतवन्त: । श्रूयते च छान्दोग्ये "तद्धोभये देवा असुरा अनुबुबुधिरे" इत्याद्यारभ्य "तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतु:" इत्यन्तेनेन्द्रविरोचनयो: प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्याचरणम् "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास" इति च । यदि मृत्युर्नास्तीति तव पक्ष: तर्हि कथं देवासुराणाममृत्यवे ब्रह्मचर्य्याचरणम् ? तत् तयोर्मृत्युसद्भावा-सद्भावपक्षयो: कतरं नु सत्यं यत् सत्यं तद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्राय: ॥ २ ॥

कालिका ।

प्रश्नमाह सनत्सुजातेति । सनातनो हिरण्यगर्भो भगवद्ध्यान-पूतेन मनसा त्वामस्राक्षीत्, त्वमेव च भगवद्ध्यानविमुखीकृत-वाह्यविषय: सर्व्वज्ञो मे विचिकित्सामपनेतुमर्हसीति प्रष्टु सम्बोधनाभिप्राय: । मृत्युर्हि नास्तीति विदुरं प्रति तवेदं यदुपदिष्ट-मुपदेशं शृणोमि, किन्तु मृत्युरस्तीति लोकतो यद्दृष्टं, तथा अमृत्यवे

अमृतत्वाय देवासुरा ब्रह्मचर्य्यम् आचरन् ऊचुरिति यच्छास्त्रतः श्रुतं च, तत् तयोः कतरत्, नु संप्रश्ने, सत्यम् ? तद्ब्रूहीति शेषः। ब्रह्मचर्य्यं वेदाभ्यासादि। यदुक्तं भृगुणा—"अनभ्यासेन वेदाना-माचारस्य च वर्ज्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति"। इति। अतस्तदभावे हन्तीत्याशयः। अयमेव श्लोकस्य प्रपञ्चितार्थः। जनिलक्षणा हि वस्तुविक्रिया यस्या एव चरमफलं विनाश इत्युच्यते। यत् कालतो देशतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नं प्रत्यक्षमेव तद्विनष्टम्। जीवश्च प्रागेव जायते ततो भवनवर्द्धनादि-विक्रिया अनुभूय कालेन देशेन वस्तुना च परिच्छिद्यते। मृत्यु-लक्षणो विनाश एव तस्य परिच्छेदः। तदेव जीवस्यामरत्वं न सम्भवति घटत्वाघटत्वयोरिव मरणामरणयोरेकत्र स्थितिविरोधात्। तदुक्तं—"क्षयान्ता निचयाः सर्व्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्"। इति। न च प्रत्यक्षा-वगतस्य शास्त्रविरोध इह शङ्कनीयः। शास्त्रमपि दर्शयति देवासुरा आचरन् ब्रह्मचर्य्यममृत्यवे इति। न ह्यसतो नित्यनिवृत्तस्य निवृत्त्यर्थं यत्नः प्रयोक्तव्य इति शास्त्रेऽपि मृत्युसद्भाव एव अभ्युप-गम्यते। किन्तु सनत्सुजात! भवान् सर्व्वशास्त्रेषु पारीणोऽपि मरणामरणलक्षणाभिधित्सया मृत्युर्नास्तीति पक्षं कथं प्रतिपित्सते? नैतद् युक्तं निगमावाधितप्रत्यक्षप्रत्ययवाधितत्वात्। अथवा "वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते" इतिन्यायाद् भवतो वचनार्थो मयि न समुपपन्नः। अतस्त्वां पृच्छामि मरणामरणपक्षयोः कतरत् नु सत्यमिति। अस्तीति वा नास्तीति वा सत्यमिति प्रश्नार्थः॥ २॥

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात! मृत्यु नहीं हैं यह उपदेश जो आपने विदुरजीके प्रति दिया है, उसको हमने भी कुछ सुना है। किन्तु मृत्यु है यहीतो संसारमें सदा देखता हूं। और अमरत्वके लिये तो देवता तथा असुर दोनोंने ही ब्रह्मचर्य्य ग्रहण

किया था ऐसा शास्त्रोंमें सुनता हूं। अब "मृत्यु है, एवं मृत्यु नहीं है"—इन दोनो बातोंमें कौन सत्य है?

कालिकाभाष।

सनत्सुजातके कहनेके अभिप्रायका इन्हें सम्बोधन करना है। सनातन ब्रह्माने सत्त्व प्रधान करके आपकी सृष्टि की है। आपने भी भगवच्चिन्ताके लिए समस्त वाह्यविषयोंसे विमुख होकर सर्वज्ञता लाभ किया है। अतएव आपही मेरे सन्देहको दूर करनेके लिए उपयुक्त पात्र हैं। 'सनत्सुजात' कहकर सम्बोधन करनेका अभिप्राय यही है। 'मृत्यु नहीं हैं ऐसी प्रतिज्ञा प्रतिपन्न हो सकती है कि नहीं' इसीका राजा को सन्देह था। उन्होंने मनही मन विचार किया—कि लोकसे अथवा शास्त्रोंसे ऐसी प्रतिज्ञा संरचित नहीं होती। क्योंकि जन्म लेकर भला कौन कहां अमर हुआ है? अक्षपादादि नैयायिकगण कहते हैं "जिसकी उन्नति होती है, पतन भी उसकी अवश्यम्भावी है। जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग भी अनिवार्यही है। इसी तरह जिसने जीवन पाया है वह मरेगाभी जरूर।" संसारमें भी यही देखा जाता कि जो देशकालरूप वस्तुसे परिच्छन्न होजाता है उसीको नष्ट होने में परिगणन किया जाता है। मृत्युजीवनका परिच्छेद है। इसीसे जीवनके अवगत वा विनाश होनेपर संसार कहता है कि देहही नष्ट, मृत, अथवा परिच्छन्न हो गया है। समस्त जन्मशील मात्रही मरनेवाला है। उसका अमरत्व सम्भव नहीं। घटत्व एवं अघटत्व जिस तरह एकही स्थानपर एकाधार भावसे ठहर नहीं सकता, ठीक उसी तरह मरण एवं अमरत्वकी एक साथ स्थितिभी कल्पनासे परे है। एक और बात है, विकारही जन्मका कारण वा लक्षण है। एवं इस विकारका चरमफलही मृत्यु है। जो जन्मग्रहण करता है वही मरणरूप विकार को पाता है। और बीचमें भी यौवनादिरूप विकारका अनुभव करता है। इन सब बातों को देख कर यही धारणा होती है कि देहके साथही

साथ मृत्युकी उत्पत्ति भी हुई है। इसी आयुकालके क्षय हो जानेपर जब मृत्यु जीवका आकर्षण करता है, उस समयक्या मन्त्रबल क्या जपबल क्या होमबल अथवा क्या औषधिबल कोई भी उस प्राप्तकालसे रक्षा नहीं कर सकता। अतएव मृत्यु जैसा कुछभी है किन्तु वह सबहो का अनुभव सिद्ध वस्तु है। साथही यह भी देखा जा सकता है कि इस विषय में प्रत्यक्षके साथ साथ शास्त्रोंका भी कोई विरोध नहो देख पड़ता। यदि विरोध होभो तो इसमें शास्त्र हो को बलवान समझना चाहिए। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणों में दूरदर्शिता होती ही नहो किन्तु शास्त्र सदाहो अभ्रान्त होता है। स्वरूपावधारण में प्रत्यक्ष प्रमाणका फल चाहे कुछ भी क्यों न हो किन्तु शास्त्र उसकी अपेक्षा, आकांक्षा नहीं रखकरके सिद्धान्त निश्चित करता है वह यदि प्रत्यक्ष विरुद्ध भी हो तौभी ध्रुव सत्य हो है। जिस प्रकार दो सम-व्यवहित सरलरेखा, ये चाहे जितना भी क्यों न बढ़ाई जायं किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणों से उनका मिलना असम्भव है परन्तु गणितागम, प्रत्यक्षप्रमाणगत फलकी अपेक्षा अथवा आकांक्षा नहीं करके अनन्त में उनका मिलनाहो प्रतिपादन करता है। और भी जिस प्रकार सूर्यका उदयास्त प्रतिदिन प्रत्यक्ष देख पड़ता है किन्तु शास्त्र उसको निश्चल कह कर प्रतिपादन किया है। इसी तरह अनेक शास्त्र प्रतिपादित विषय, प्रत्यक्ष विरुद्ध होने परभी अबाधित सत्यकह कर परिगणित होता है। अस्तु "मृत्यु नहीं है" इस विषय में शास्त्रोंका क्या परामर्श है, उसीको देखना चाहिए।

छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है, कि देवासुर गणोंने अमरत्व पानेके लिए पितामह प्रजापतिके निकट ब्रह्मचर्य अवलम्बन पूर्व्वक, बत्तीश ३२ वर्षों तक निवास किया था। कठोपनिषद् कहता है "ब्राह्मणादि समग्र संसारही कालके लिये अन्नरूप है एवं मृत्युही उसका उपसेचन अथवा चखना है। इन सब बातोंको देखनेसे यह जान पड़ता है कि शास्त्रभी मृत्युका

सद्भाव प्रतिपादन करते हैं यहां तक कि स्मृतियोंने तो यहभी स्पष्ट कहा है कि "अभिनिवेशाख्य भय और मायाके संयोगसे ही भूतापहारक मृत्युका जन्म हुआ है। अतएव मृत्युसम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे शास्त्र प्रमाणोंका कोई भी विभिन्नता नहीं है।

महाराज धृतराष्ट्रने इस प्रकारका विचार किया कि प्रत्यक्ष प्रमाण सबके निकट विदित है, अस्तु ऋषिको उसके विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। मृत्युके सम्बन्धमें जो शास्त्रीय प्रमाण देखे जाते हैं उनके निकट उल्लेखनीय नहीं है। इसीसे उन्होंने ऋषीको कहा था देवतागण तथा असुरगण मृत्युनिवारणके लिए ब्रह्मचर्य अवलम्बन किया था......इत्यादि इत्यादि। ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि मृत्युके नहीं रहने पर फिर देवता तथा असुरगण अमरत्वके लिए ब्रह्मचर्यका अवलम्बन करते ही क्यों? "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते।" इसी नियमके अनुसार साधारण लोग भी उद्देश्यके विना कोई काम नहीं करता है। और देवासुरगण मृत्यु नहीं रहनेसे अमरत्वके लिए ब्रह्मचर्यके लिए प्रयत्न करेंगे यह भी सम्भव नहीं।

ब्रह्मचर्य अर्थात वेदाभ्यासादि। इस विषयमें भृगुमहाराजने कहा है—कि वेदाभ्यासके अभावसे ही ब्राह्मण मृत्युके मुखमें पड़ता है। और "मृत्योः पुरस्तादमृता भवन्ति ये ब्राह्मणा ब्रह्मचर्यं चरन्ति" इस जातीय श्रुतिसे भी मृत्युसन्धान प्रतिपन्न होता है। इन्ही कारणोंसे महाराजने फिर भी यही विचारकिया कि "मृत्यु अवश्य है" यही पक्ष (बात) ठीक है। अन्यथा पितामातासे अधिक स्नेहपरायण अशेष कल्याणमय एवं सर्वदा सत्यसंकल्पशास्त्र कभी मृत्यु सद्भावका समर्थन नहीं करते। किन्तु सनत्सुजात सर्वशास्त्र विशारद होनेपर भी, एक दूसरा ही सिद्धान्त करता है। अथवा लोग ऐसा कहते हैं कि जहां श्रोता बुद्धिहीन होते हैं, वहां वक्ता जड़ होता है। सुतरां वे भ्रान्त नहीं हो सकते, मालूम होता है मैं ही उनके वाक्योंका अर्थ नहीं समझ

सकता। इस प्रकार विचारकर महाराजबोले—"कतरन् सत्यम्" अर्थात "मृत्यु है" और "मृत्यु नहीं है" इन दो पक्षों में कौन पक्ष सत्य है?

सनत्सुजात उवाच।

अमृत्युः कर्म्मणा केचिन्
मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शृणु मे ब्रुवतो राजन्
यथैतन् मा विशङ्किथाः ॥ २ ॥

अन्वयः।

राजन्! केचित् कर्म्मणा (वेदविहितेन यागादिना) अमृत्युः (अमरत्वं) [भवतीति वदन्ति]। अपरे च मृत्युर्नास्तीति [वदन्ति]। यथैतद् ब्रुवतः (कथयतः) मे शृणु। मा विशङ्किथाः (परस्परविरुद्धत्वमेतयो: पक्षयो र्मा मंस्थाः)।

शाङ्करभाष्यम्।

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—अमृत्युरिति। केचित् पुनरविद्याधिरूढ़ाः परमार्थतो मृत्युसद्भावं मन्यमानाः वेदोक्तेन कर्म्मणा अमृत्युः अमृतत्वं भवतीति मत्वा अमृत्यवे अमृतत्वप्राप्तये वेदोक्तं कर्म्माचरन्ति। तथा अन्ये विषयविषान्धाः विषयव्यतिरेकेन निर्विषयं मोक्षममन्यमानाः कर्म्मणैवामृत्युः अमृतत्वं देवादिभावं वर्णयन्ति। तत्रैव च रागिगीतं श्लोकम् उदाहरन्ति—

'अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम' ॥ इति ॥

तथैव च परमात्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो ज्ञानकर्म्मभ्याम् अमृतत्वं वर्णयन्ति। अपरे पुनरद्वितीयात्मदर्शिन आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो मृत्युर्नास्तीति वर्णयन्ति। हे राजन्! यथैतत्-

पक्षयोरविरोधः सम्भवति तथा ब्रुवतो मे मम वाक्यं शृणु मा विशङ्किथाः मयोक्तेऽर्थे शङ्कां मा कृथाः ॥ ३ ॥

कालिका।

प्रश्नबीजं प्रतिलभ्य कर्म्मसाध्यममृतत्वमुत ज्ञानसाध्यमिति पक्षद्वयमुपन्यस्यति—अमृत्युरिति। अमृत्युरमरत्वम्। कर्म्मणा वेदविहितेन यागादिना। केचिन्मीमांसकाः कर्म्मिणस्ते मृत्युसद्भावं संमन्यमाना अमृतत्वं विद्याङ्गकात् कर्म्मण इत्येवमाहुः। ते ह्येवं मन्यन्ते। निरस्तनिखिलदोषाशङ्को वेदः प्रमितिजनकतया प्रमाणमतीन्द्रिये विषये। तदनुशासनयैव कर्म्म यागादिकमनुष्ठेयम्। तत आदिपुरुषो हिरण्यगर्भः स्वयमपि यागमीजे। "प्रजापतिर्यज्ञमतनुत" इतिश्रुतेः। आजानसिद्धाश्च देवा यागादिकं कर्म्म चक्रुर्यतो यजनरूपो धर्म्मः प्रोवाह। तथा हि श्रूयते—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा स्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्नि"ति। तत्र वेदाध्ययनसंसिद्धमन्त्रार्थविज्ञानाभावे कर्म्मण्यधिक्रिया नास्तीत्यपि वक्तुं न युक्तम्। भर्त्तृयज्ञादिदर्शनात्। तथापि यो वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य मुख्यार्थं विज्ञाय विधिदेशितं कर्म्म नित्यनैमित्तादिकं करोति स सकलं श्रेयः प्राप्नोति। "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति श्रुतेः। तथा हि निरुक्ते—"योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा" इत्यादिना कर्म्मस्वरूपविज्ञानं स्पष्टीक्रियते। यच्च श्रुत्यन्तरं विद्याकर्म्मणोः साहित्यं दर्शयति "तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते" इति, तदेव विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वेनैव सम्भवति। कर्म्मणः प्राधान्यनिर्द्देशात्। प्राधान्यं च कर्म्मणो दर्शयति श्रुतिरपि—"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे" ॥ इति। एतावतैतत् सिध्यति विद्याङ्गकस्य कर्म्मण एव पुरुषार्थत्वं न तु विद्यायाः स्वतन्त्राया इति। अन्यथा कुतो ब्रह्मविदामपि कर्म्मसङ्गतिः? श्रूयते हि जनको ब्रह्मविदग्रेसरः सर्व्वशास्त्रप्रसिद्धो यागम् अश्वमेधाख्य-

मियाजेति। अश्वपति: कैकय: किल ब्रह्मवित्तमो ब्रह्मविद्यार्थिन उद्दालकषष्ठान् समागतानृषीन् प्राचीनशालादीन् यथाशक्ति पृथगभ्यर्च्य "यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि ततश्च कतिचिद् दिनान्याध्वमि"त्यवोचदिति च। ज्ञानं चेत् पुरुषार्थहेतु स्तर्हि कदापि न तयो: कर्म्मप्रवृत्तिरुपयुज्यते। अतो हि कर्म्मणो विद्याङ्गत्वादमरत्वमिति पक्षो निरवद्य:। इति।

अपरे च ब्रह्मवादिन: परमार्थतो मृत्युर्नास्तीति ब्रुवन्तस्तत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते। विद्यातोऽमृतत्वं न तु कर्म्मणा नापि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्म्मभ्यामिति संमन्यमाना स्त्वेवमाहु:। "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चे"ति। तत्र खल्वपूर्व्वादिसाधनहेतुत्वात् कर्म्मकाण्डानामपरविद्यात्वं पुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वादुपनिषदां तु परविद्यात्वमिति। श्रुतिरपि कर्म्मफलस्य क्षयित्वं प्रतिपादयति—"न ह्यध्रुवै: प्राप्यते ध्रुवं कर्म्मभि:", "यथेह कर्म्मजितो लोक: क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक: क्षीयते", 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' इत्येवमाद्या। विद्याया अनन्तफलत्वं च शास्त्रे प्रसिद्धम्—"ब्रह्मविदाप्नोति परं न पुनर्मृत्यवे", "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय", "स स्वराड्भवती"त्येवमादौ। "स्वराट् स्वतन्त्रो न कर्म्मवश्य" इति नैघण्टु:। यच्चोक्तं "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति, सा श्रुति र्न विद्यामात्रविषया किन्तु प्राकरणिकविशेषबोधिका। न चात्र "प्रकरणात् श्रुतिर्ब्बलीयसी"ति वाच्यम्। यत् करोति, विद्ययैव तत् करोतीत्येवंपदाभिसम्बन्धाभावात्। यच्च परकीयं लिङ्गान्तरमुक्तं तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेत इति, तत्र ते लौकिकविभागवत् स्वफलाभ्यां समनुगच्छत:। यथा चैत्रमैत्राभ्यां शतं दीयतामित्युक्ते पञ्चाशच्चैत्राय पञ्चाशन्मैत्राय इति विभाग: प्रतीयते तद्वत्। यच्च श्रुतं "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समा:। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म्म लिप्यते नरे" इति, तत्र कर्म्मण: प्राधान्यं नाभिमतं किन्तु विद्यास्तुत्यर्थमिति व्याचक्ष्महे। एतदुक्तं भवति—एवं कुर्व्वन्नपि

कर्म्मणा कर्म्मी परमार्थतो न लिप्यते, तथा चेत: प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति यतो न कर्म्मलेप: स्यादिति । इयमेव श्रुति र्विद्याफलं दर्शयन्तो कालान्तरभाविफलकर्म्माङ्गत्वं विद्याया निराकरोतीति तत: कर्म्मण: प्राधान्यनिर्द्देश इति वक्तु न युक्तम् । अतो हि विद्याया अमृतत्वमिति पक्ष: कक्षीकरणीय: । पुरुषार्थ-हेतुत्वात् । इति ।

ननु, कर्म्मफलत्वं चरणशोलं ब्रह्मज्ञानस्य चामृतत्वफलत्व-मक्षरश्चेत्, तर्हि मुमुक्षो: कर्म्मापेक्षा कथं वर्त्तते ? तावच्च वर्त्तते यावदेव तत्त्वज्ञानोपलम्भो न भवति । कर्म्माधिगमादनन्तरं ब्रह्म-विविदिषा प्रवर्त्तते । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति श्रुते: । विविदिषायां च जातायां नित्यानि [illegible] । विविदिषा-पेक्षिते साधनचतुष्टये चोपलब्धे सति सकलाशेषविशेषविनाशक-चिन्मात्रब्रह्मज्ञानमुदेति, साधनापेक्षिताद् ब्रह्मविज्ञानादविद्यानिवृत्ति-स्ततश्चापवर्ग इति कर्म्मै व विद्याया: पूर्व्ववृत्तं भवति ।

भवतु तावत् कर्म्मणो ब्रह्मविविदिषासाधनत्वं ब्रह्मविविदिषादेश्च विदुषामपवर्ग:, कुतस्तु ततो मृत्युर्नास्तीति प्रतिज्ञा ? मृत्योरपार-मार्थिकत्वात् । स हि ब्रह्मविज्ञानेन निवर्त्तते, निवर्त्तकं च ज्ञानं वेदान्तवाक्यजन्यमिति । वेदान्तवेद्ये ब्रह्मणि विज्ञाते सति ब्रह्मै-कत्वात् कारकव्यापारादिद्वैतज्ञानशून्यतया भेदप्रपञ्चात्मकं मरणादिकं कार्य्यं नोपयुज्यते । समुत्खाते द्वैतविज्ञाने श्रुतिरप्याह—"क: केन कं पश्येदि"ति । 'क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे", "ब्रह्मविदब्रह्मैव भवति", "तत्र को मोह: क: शोक एकत्व-मनुपश्यत" इत्येवमाद्या: श्रुतयश्च तत्त्वज्ञानानन्तरमपवर्गं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्य्यान्तरं वारयन्ति ।

शृणु मे ब्रुवत इति । एतत्पक्षयो सर्वथा विरोधपरिहार: स्यात्तथा ब्रुवतो मे वाक्यं शृणवधारय । मा विशङ्किथा मम सिद्धान्ते शङ्कां मा कार्षी: । मृत्युरस्ति कर्म्मणा तु तत्परिहार

उत मृत्यु: स्वरूपत एव नास्तीति पक्षद्वयोपन्यासे तयो: क्रम-समूच्चयाश्रयेण विरोधाभावं मन्वान ऋषि र्वदति मा विशङ्किथा इति। विशङ्किष्ठा इति वक्तव्ये विशङ्किथा इत्यार्षम्। ३

मूलानुवाद।

सनत्सुजात बोले—हे राजन! कोई कोई कहते हैं कि कर्मके द्वारा अमरत्व पाया जाता है, और कोई कोई कहते हैं कि यथार्थत: मृत्यु नाम कोईभी वस्तु है ही नहीं। इन दोनों कथनोंमें जो तथ्य एवं सत्य है उसको मैं कहता हूं आप सुनिए। और कोई शंका न कीजिए॥ ३॥

कालिकाभास।

प्रश्नके बीज को अच्छी तरह समझ कर उसका समुचित उत्तर देते हैं। कर्मकाण्डरत मीमांसकगण कहते हैं कि वेदविहित कर्मके द्वारा अमरत्व पाया जाता है। उनकी धारणा है कि मृत्यु यथार्थ ही है, किन्तु ज्ञानके साथ कर्म्म करनेसे अमरत्व पाना सुलभ होता है। ये सब कर्मकी प्रधानता स्वीकार करते हैं, तथा विद्या कोभी कर्मही का अङ्ग कह कर वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि—वेद निर्दोष है तथा वह ज्ञानका प्रसवस्वरूप होनेके कारण अतीन्द्रिय विषयोंके लिए भी प्रमाण है। वेदोंके आज्ञानुसारही यागादिक कर्मों का अनुष्ठानभी आवश्यक है। आदिपुरुष हिरण्यगर्भने स्वयंभी याग किया है। श्रुतियांभी यही कहती हैं—ऋकके द्वारा हौत्रकार्य यजु:के द्वारा आध्वर्य्यव कार्य एवं सामके द्वारा औद्गात्रकार्य सम्पादनपूर्वक प्रजापतिने सृष्टि-यज्ञका विस्तार किया है। आजान सिद्ध देवगणोंने भी यज्ञादि किया है। इन्हीं सब कार्यों से यजन कार्य प्रचलित हुआ है। “यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:” इत्यादि मंत्रही उसका प्रमाण है। अनादि कालसेही जीव अपूर्व्व के वशमें हो कर संसार भ्रमण

कार कहा है। किन्तु कर्म ही संसारका कारण है कर्म यदि विद्याके साथ सम्पन्न हो तो वह धर्मादि मोक्ष पर्य्यन्त सब श्रेय ही प्रदान करता है। जो मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदका मुख्यार्थ को बिना समझे ही नित्यनैमित्तिकादि कर्म्म करते है वे कई प्रकारके श्रेय को प्राप्त करने पर भी निरतिशय श्रेय नहीं पा सकते। इसी से कभी कभी शास्त्र कहता है—कि जो मन्त्र अर्थ के (अर्थ जाने) बिना पढ़ा जाता है वह अग्निशून्य काष्ठके समान कर्म भी प्रज्वलित नहीं हो सकता। वेद भी कहते हैं जो मन्त्रोंका अर्थ जानते है वे सम्पूर्ण श्रेय लाभ करते हैं क्यों कि ज्ञान के द्वारा उनका पाप धुल जाता है। इस प्रकार के —अर्थज्ञानके साथ, श्रद्धा के साथ तथा तत्त्वज्ञानके साथ जो जो कर्म किये जाते हैं वे विशेष वीर्य्यवान एवं शक्तिपूर्ण होते हैं। दूसरे दूसरे स्थानों में भी श्रुतियां कहती हैं—विद्या और कर्म मृतक के पीछे पीछे अनुगमन करते है। वही शेषोक्त श्रुति विद्या और कर्मका साहित्य सूचित करती है।

विद्याका कर्म्मके साथ हो जाने पर ही साहित्य (यौगपद्य) सम्भव-तर, होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि विद्या स्वतन्त्र भावसे पुरुषार्थ का हेतु कदापि नहीं है किन्तु कर्म्मका सहाय स्वरूप अवश्य है। साथही श्रुतियां कहती है—कर्म्म करनेके लिये सौ १०० वर्षको आयुके लिए प्रार्थना करना चाहिये क्योंकि इसके लिये और दूसरा उपाय नहीं है—और ऐसा करनेसे तुममें कर्म्मका लेप भी नहीं रह जायगा अर्थात् तुम मोक्षके भागी हो जावोगे। ऐसे स्थानमें भी कर्म करने के लिये शतायु होनेकी इच्छा वा प्रार्थना करना चाहिये। इस प्रकारके नियमों को देखनेसे कर्म्मका ही प्राधान्य स्वीकार करना पडता है। तब यह जो वेद कहते हैं कि ज्ञान के बिना ब्रह्म का आयत्त या प्राप्ति नहीं की जा सकती यह तो केवल विद्याका अर्थवाद मात्र मालूम होता है अर्थात् विद्यायुक्त कर्म्मके द्वारा ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है इस प्रकारके वचन का प्रयोग केवल

विद्याके प्रशंसार्थ ही हुआ है। यदि ऐसा नहीं हो तो जो ब्रह्मज्ञके नाम से प्रसिद्ध हैं वे क्यों यज्ञादि कर्म किया करते? विदेहाधिपति जनक जो एक ब्रह्मवेत्ता थे क्योंकि ब्रह्मवेत्ता कहकर उनका नाम स्मृतियोंमें तोक्या श्रुतियोंमें भी प्रसिद्ध है। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था। फिर अगर ब्रह्म-वेत्ताओंके लिये कर्म्मकी आवश्यकता नहीं तब राजा जनकको यज्ञ करनेका क्या प्रयोजन था? और भी देखतेहैं कि महाराज अश्वपति केकय एक महा ब्रह्मिष्ठ पुरुष थे। उनके निकट उद्दालक प्राचोनशालादि छ: ६ ऋषिगण जिस समय ब्रह्मज्ञानके लिये प्रार्थना करने आये, उस समय उन्होंने उन लोगोंसे विनयके साथ कहा—आपलोग कृपया कुछ समय तक अपेक्षा करें, क्योंकि मैं अभी एक यज्ञमें व्यावृत्त हूं। ज्ञानके प्रति कर्म्मको अपेक्षा नहीं लेनेसे भला महा ब्रह्मिष्ठ महाराज अश्वपतिको यज्ञ करनेका क्या प्रयोजन था? इन्हीं सब बातोंको देख कर यह समझ सकते हैं कि विद्या कर्म्मका एक अङ्ग है और विद्यायुक्त कर्म्म विशेष संवेगशाली हो कर उसके अमरत्वका कारण हो जाता है। अतएव कर्म्मी विद्याङ्ग कर्म्मके द्वारा मृत्युको जीत अमरत्व का लाभ करता है। और यही सिद्धान्त अनिन्द्य है अस्तु यही सबके लिये मान्य है।

"यथार्थत: मृत्यु नहीं है" इसीको प्रतिपादन करने के लिये ब्रह्मवादिगण मीमांसक लोगोंके कथनसे प्रत्यवस्थान करते हैं। उनका कहना है, कि विद्या ही अमरत्वका साक्षात वा प्रधान कारण है। वह कर्म्मका अङ्ग कदापि नहीं।

श्रुतियोंमें भी देखते हैं कि परा तथा अपरा नामक दोनों विद्यायें मनुष्यों से पढ़ो जानी चाहिये। उसमें अपूर्व्व रूपसे कर्म्मी लोगोंके लिये जो विद्या, धर्म्मज्ञानादि का कारण होता है वही अपरा विद्या है। तथा पुरुषार्थरूपसे विद्वानों के लिये जो अक्षय ब्रह्मज्ञानका कारण होता है वही परा विद्या है। इसीसे शास्त्र

कर्म्मफलका क्षयित्व तथा ब्रह्मज्ञान का अनन्त फल बतलाया है। जिस प्रकार अध्रुवकर्म्मके द्वारा ध्रुव मोक्ष नहीं पाया जा सकता इत्यादि २।

और मीमांसक लोग यह जो कहते हैं कि विद्यायुक्त कर्म्म बलवान् अथवा वीर्य्यवत्तर होता है, उसमें विद्यामात्रविषयक श्रुति नहीं है। प्रकरणविशेषमें इस नियमको समझना चाहिए प्रकरणकी अपेक्षा श्रुति बलवती है इस प्रकारके न्यायका कथन भी यहां नहीं कहा जा सकता—क्योंकि "जो कुछ किया जायगा वह विद्याही की सहायता से किया जायगा' ऐसा आदेश इस प्रमाणमें नहीं प्रयुक्त हो सकता।

और यह जो कहा गया है,—विद्या तथा कर्म्म मरनेके बाद मृतक का अनुगमन करता है—ऐसे स्थानोंमें लौकिक विभाग के समान दोनोंहो समान रूपसे फल देते है, ऐसा समझना होगा जिस प्रकार 'राम श्यामको १००) रुपये दो' कहनेसे समझना होगा कि रामको ५०) रुपये तथा श्याम को ५०) रु० दिया जाय।

और यह जो कहा गया है कि—कर्म्म करनेके लिये शतायु होने की प्रार्थना करनी चाहिये इत्यादि इससे भी कर्म्मका प्राधान्य नहीं स्थापित होता है। वल्कि विद्या हो को स्तुति की गई है। इसमें यह कहा गया है कि इस प्रकार से कर्म्म करने पर मनुष्य कर्म्मसे लिप्त नहीं होगा। और कर्म्मलेप त्याग करनेके लिये इसको छोड़ कर दूसरा उपाय नहीं। अतएव विद्याफल दिखलाने के लिये यह श्रुति विद्याके साथ किये गये कर्म्म का भाविफल दिखलाती है। अस्तु विद्या ही पुरुषार्थका कारण है।

अच्छा यदि कर्म्मका फल क्षयशील हो एवं विद्या अथवा तत्त्व-ज्ञानका फल अक्षय:हो तो मुमुक्षुको और दूसरा कर्म्म करनेका क्या प्रयोजन है। नहीं २ इसका प्रयोजन है।—कर्म्म तत्त्वज्ञानका पूर्व्व-वृत्त है, क्योंकि कर्म्मका आश्रय करनेसे तत्त्वज्ञान सुलभ होता है।

कर्म्मके विना साधारणत: ब्रह्मविविदिषा होती ही नहीं। और विविदिषाके विना नित्यानित्य वस्तु विवेकादिसाधनचतुष्टयों में सिद्धि नहीं होती। फिर साधनचतुष्टयादि की प्राप्ति न होनेसे ज्ञानका उदय नहीं होता एवं ज्ञान अथवा विद्याका उदय नहीं होनेसे अविद्या निवृत्त नहीं होती, और अविद्यानिवृत्ति के विना अपवर्ग असम्भव समझ कर कर्म्म करना आवश्यक है।

स्मृति कहती है—योगी किसी समय कर्म्मका त्याग न करे। कर्म्म ही उसका त्याग करेगा। श्रुतियोंने भी कहा है कि यज्ञादि कर्म्मके द्वारा ब्राह्मण को ब्रह्मतत्त्व जाननेकी अभिलाषा होती है। इन सब कारणों को देखनेसे तो कर्म्म ही विद्याका अङ्ग जान पड़ता है। इसीसे ऋषियोंने इसे अच्छी तरह विचार कर उनके कथनमें सन्देह करने लिये मना किया है।

अच्छा मुमुक्षु नहीं हो कर भी ब्रह्मविद्याके लिये प्रवर्त्तित होता है—किन्तु "मृत्यु नहीं है"—इस प्रसङ्ग में इस प्रकारके विचारकी सार्थकता क्या है? यथार्थत: मृत्यु कहकर कोई वस्तु नहीं हैं, यह तो केवल अविद्या का फलमात्र है। ब्रह्मविद्याके द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर मृत्युका स्वरूप अधिगत होता है अस्तु यह ब्रह्मविद्याके प्रसङ्गमें सार्थक जान पड़ता है।

श्रुतियां कहती हैं—कि द्वैतज्ञान का समुच्छेदन हो जाने पर कौन किसको किसके द्वारा देखेगा? एकत्वका अनुभव होने पर कारक व्यावृत्ति ठहर नहीं सकती इसीसे शास्त्र तत्त्वज्ञान के बाद अपवर्ग को दिखलाकर जननमरणादि कार्य्यान्तरोंका प्रतिषेध किया है।

कर्म्मके द्वारा अमरत्व पाया जाता है इस विषयकी सनत्सुजात स्वयं ही निराकरण करेंगे। वह प्रथम अध्यायके नवें श्लोकमें मिलेगा ॥३॥

उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते
मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥४॥

अन्वयः । हे क्षत्रिय, आद्यप्रवृत्ते उभे सत्ये । यो मोहः (सः) कवीनां सम्मतो मृत्युः । अहं वै प्रमादं मृत्युं ब्रवीमि, सदा अप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ।

शाङ्करभाष्यम् ।

उभे इति ॥ ये पूर्व्वोक्ते मृत्योरस्तित्वनास्तित्वे ते उभे हे क्षत्रिय, आद्यप्रवृत्ते य आदिसर्गस्तमारभ्य प्रवृत्ते । अथवा क्षत्रियाद्य क्षत्रियप्रधान, प्रवृत्ते वर्त्तमाने । कथं पुनरुभयोः परस्पर-विरुद्धयोरस्तित्वनास्तित्वयोः सत्यत्वमिति ? तत्राह—मोहो मृत्युः संमतो यः कवीनामिति । भवेदेवं विरोधोऽस्तित्वनास्तित्वयोः, यदि परार्थरूपो मृत्युः स्यात् । कस्तर्हि मृत्युः ? यो मोहो मिथ्या-ज्ञानम्, अनात्मनि आत्माभिमानः, स मृत्युः केषांचित् कवीनां मतः । अहं तु न तथा मृत्युं ब्रवीमि । कथं तर्हि ? प्रमादं वै मृतुग्रमहं ब्रवीमि । प्रमादः प्रच्युतिः [illegible] । तं प्रमादं मिथ्याज्ञानस्यापि कारणम् आत्मानवधारणमात्माज्ञानं मृत्युं जनन-मरणादिसर्व्वानर्थवीजम् अहं ब्रवीमि । तथा सदाऽप्रमादं स्वाभाविक-स्वरूपेणावस्थानम् अमृतत्वं ब्रवीमि । तथाच श्रुतिः स्वरूपावस्था-नमेव मोक्षपदं दर्शयति—"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यते" इति । तथा अनुगीतासु स्पष्टमाह—

एको यन्ता नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ॥ इति ।

यतः स्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षः, अतएव चतुर्विधक्रियाफल-विलक्षणत्वादेव न कर्म्मसाध्यममृतत्वं, नापि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्म्म-

भ्यामिति "अमृत्यु: कर्म्मणा केचित्" इत्येतदनुपपन्नमेवेत्युक्तं भवति । वक्ष्यति चास्य पक्षस्य स्वयमेव निराकरणं—

कर्म्मोदये कर्म्मफलानुरागास्तत्रानु ते यान्ति न तरन्ति मृत्युम् ॥

ज्ञानेन विद्वांस्तेजोऽभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था: ॥

इति ॥ ४ ॥

कालिका ।

कर्म्मसाध्यममृतत्वमुत ज्ञानसाध्यमिति पक्षद्वयोपन्यासे तयो विरोधाभावं दर्शयति—उभे इति । क्षत्रिय: भगवान्नामसम्बोधने इति । क्षणु हिंसायां सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्, तालोप तुगागमश्चेति क्षद्धननम् । क्षतो हननात् त्रायत इति क्षत्त्र: शत्रूणां हिंसक इति पङ्कजादिवद् योगरूढ: । क्षत्त्र एव क्षत्त्रिय: । शत्रूनाशेन प्रजा-परित्राणं ते धर्म्म: क्षत्त्रियपदवाच्यत्वादधुना त्वविद्यापन्नमात्मानं त्रातुं यतस्व ब्रह्मज्ञानेनेति सम्बोधनाभिप्राय: । उभे सतेत्र मृत्यो-रस्तित्वनास्तित्वे आद्यप्रवृत्ते नित्ये आदिसर्गमारभ्य प्रवृत्ते भवत इति भाव: । प्रजापते: प्रबोधसमये यदा चैत्रादिभोगभूमय: प्रादुर्भवन्ति तदा द्वे सत्ये मृत्युरस्ति नास्तीति चोभे वाक्ये प्रवर्त्तेते । उपाधिनिसर्गनिर्विघ्नितया मृत्युभावाभावयोरविरोध इति भाव: । तस्मान्मतद्वयमपि दृष्टिभेदात् प्रामाणिकमिति केचित् ।

कथं पुनरुभयो र्मृत्युसद्भावासद्भावयो: परस्परविरुद्धमतयो: सत्यत्वम्? भवति खलु तयोर्विरोध: परमार्थतो यद्यपि मृत्यु: स्यात्, किन्तु यो मोह: प्रकृतिपुरुषयो: परस्पराध्यासरूप: स केषां-चित् कवीनां कापिलानां सम्मतो मृत्यु: । ते ह्येवमाहु:—प्रकृति-पुरुषसन्निधाने पुरुषस्य चैतन्यं प्रधानेऽध्यस्य प्रधानस्य च कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादिकं स्फटिके जपारुणिमानमिव पुरुषेऽध्यस्य मूढ़ा अहं कर्त्तेति भोक्तेति मन्यन्ते । अस्मादध्यासरूपान्मोहात् खलु जात्यायु-र्भोगपूर्व्वो मृत्युरमोहश्चामृत्युरिति । अतो जीवो जायते म्रियत इति यत् तत् कस्य हेतो: ? प्रकृतिपुरुषयो: परस्पराध्यासरूपमोह-समुद्भवादिति कापिला: । अहं तु कापिलमतं न ब्रवीमि । किं

तर्हि ? प्रमादं मृत्युमहं ब्रवीमि, सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि । वक्ष्यमाणसत्यज्ञानादिगुणयोगादात्मनश्चित्-सदानन्द रूपेण ज्ञानमप्रमादस्तथा वक्ष्यमाणक्रोधादिदोषसम्भवादात्मनो देहादिरूपतया विपरीतज्ञानं प्रमादो यतो देहन्यासात् स्वोच्छेदभ्रमो मरणमिति औपाधिको मृत्युस्तदाह—प्रमादं मृत्युमिति । श्रुतिरपि "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत" इति जीवमुक्तस्य देहस्य मुख्यं मृत्युमभिधाय जीवस्य पुनस्तं निराचष्टे । स्मृतावपि जीवस्य मुख्यजननमरणाङ्गीकारे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वाज् जीवस्य शरीरगते जननमरणे उपचर्य्येते । अत औपचारिके ते जननमरणे अपेक्ष्य लोकव्यवहारकर्म्मशास्त्रयोः प्रवृत्तिरिति दिक् ।

कर्म्मफलभोगी देहेन्द्रियाध्यक्षो जीवो वियदादिवत् परमात्मन उत्पद्यते "यथा अग्नेः पावकाद् क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेतस्मादात्मनः सर्व्वे प्राणा" इत्यादि-दर्शनात्, तथा अपहतपाप्मत्वादिधर्म्मकात् परात्मनो भिन्नत्वादस्य विकारसिद्धेः, विकारत्वादेवास्य जननमरणादौत्याशङ्कायां वेदान्तशास्त्रमध्याह—चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वादिति । शरीरस्य जनन मरण.[illegible] भाक्तो लाक्षणिको न तु मुख्यः । कुतः ? शरीरसम्बन्धव्यतिरेकेण जीवोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रमङ्गवैयर्थ्यदोषसम्भवात् । अतो लक्षणया जीवे देहधर्म्म इति सूत्रार्थः । तदुक्तं—"जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वात्मनो हि ते । जातो मे पुत्त्र इत्युक्ते जात कर्म्मादितस्तथा ॥ मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि । जातकर्म्म च लोकोक्तिर्जीवापैतेतिशास्त्रतः" ॥ इति ।

ननु जीवस्य जननमरणे भवतां किमिति लाक्षणिकत्वं स्वीक्रियते ? "नात्माऽश्रुते र्नित्यत्वाच्च ताभ्य इति । ताभ्यः श्रुतिभ्यः । श्रुतयश्च—"अयमात्माऽजरोऽमरः" "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "एको देवः सर्व्वभूतेषु गूढ़" इत्येवमाद्याः । तदुक्तम्—औपाधिकं जीवजन्मनित्यत्वं वस्तुतः श्रुतमिति । ४ ।

मूलानुवाद—हे क्षत्रिय ! दोनो सत्यही आदि कालसे ही प्रवृत्त

हैं। कविगण कहते—मोह ही मृत्यु है। किन्तु मैं प्रमादको ही मृत्यु कहता हूं। सुतरां मेरे विचारसे जो अप्रमाद है वही अमरत्व है।

कालिकाभास—अमरत्व कर्म्मसाध्य है अथवा ज्ञानसाध्य?—इस प्रकारके द्विपाक्षिक रूपके उपस्थित होने पर इस श्लोकमें इनका विरोध भाव दिखलाते हैं। "क्षत्रिय"—जो लोगोंको विपद्दशा से रक्षा करता है वही "क्षत्री" पद से वाच्य है। महाराज! आपको आत्मा अविद्याग्रस्त हो गई है। आप अपनी आत्माको अविद्याके प्रभावसे प्रभावान्वित हो जानेसे बचावें—इस प्रकारके अभिप्रायसे आचार्य्य सनत्सुजातने महाराजको क्षत्रिय कह कर सम्बोधन किया है। "दोनों सत्य आदि कालसे ही प्रवृत्त हैं"—मोहदृष्टिसे देखने से मृत्यु है ज्ञानदृष्टिसे देखनेसे मृत्यु नहीं है। मैं शरीरी हूं शरीरका ध्वंस होने पर मेरा भी ध्वंस वा मृत्यु होगी यह समझना मोहदृष्टि है।

ध्वंस एकतरह का विकारविशेष है, और विकारमात्रही माया है, क्योंकि किसी भी विषयका आत्यन्तिक ध्वंस होता ही नहीं। मैं अविकार हूं—ऐसा विचार ही ज्ञानदृष्टि है। मोह तथा ज्ञान, दोनों ही सृष्टिकाल से ही, वर्तमान हैं, इसी से मूल में "दोनों सत्यही"—इत्यादि कहा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि उपाधियों का नैसर्गिक सन्निवेश के कारण दोनों ही, प्रतिज्ञा के विरुद्ध नहीं हैं।

अच्छा "मृत्यु है" और "मृत्यु नहीं है", इस तरहके परस्पर विरुद्ध मतका सत्यत्व किस प्रकारसे सम्पादन हो? यदि मृत्यु नामका यथार्थतः कोई भी वस्तु होता तो दोनो प्रतिज्ञाओंमें किसी प्रकारका सामञ्जस्य नहीं रहता। किन्तु ऐसा नहीं है—इसीलिये इन विरुद्ध मतोंका सामञ्जस्य सम्भव होते देख पड़ता है कापिल सम्प्रदायभुक्त कविगण कहते है—प्रकृति एवं पुरुषका अध्यासरूप मोह ही मृत्यु है—क्योंकि इस प्रकार अध्यास वश सृष्टिके नहीं

रहनेसे मृत्यु नहीं होता। मैं इस मतका समर्थन नहीं कर सकता। बल्कि मैं तो कहता हूं कि प्रमादही मृत्यु है और इसके विरुद्ध अप्रमाद ही अमरत्व है। मेरा ऐसा कहनेका अभिप्राय यही है कि वक्ष्यमाण सत्वादि गुणयोगके कारण जीवका सच्चिदानन्द स्वरूपत्व ही अप्रमाद है तथा वक्ष्यमाण जीवका देहादि आत्मज्ञान ममता ही प्रमाद है। यह प्रमाद ही मृत्यु कहा गया है क्योंकि देहपात होना ही आत्मोच्छेद होना समझकर जीव भ्रान्त हो जाता है।

यहां सृष्टितत्वको मोहमूलक वा अध्यासमूलक होना व्यक्त करना विशेष अप्रासङ्गिक नहीं होगा। कपिलमतावलम्बी कहते हैं कि प्रकृति एवं पुरुषको सन्निहित होने पर पुरुषका चैतन्य, प्रधान रूपमें अध्यस्त होता है, तथा प्रधानरूपका कर्त्तृत्वादि अलक्तसमीपस्थ स्फटिक तथा उसमेंके अरुणिमा (ललाई) के समान पुरुषमें अध्यस्त होता है। इसीसे मोहप्राप्त जीव "मैने मरा" ऐसा समझने लगता है। इस अध्यासरूप मोहसे ही जन्मादि पूर्व्वक मृत्यु भी होता है। अस्तु इसका यही मतलब हुआ कि अध्यासरूप मोह के नहीं रहनेसे मृत्युका सद्भाव कभी होही नहीं सकता। ऐसा कहनेमें ऋषि वेदान्त मतमें सांख्य मतका निरास करते हैं।

जनममरणके विषयमें उपनिषद शास्त्र कहता है—कि जीवके द्वारा शरीरका परित्याग होनेसे लोग कहता है कि मरण हुआ किन्तु प्रकृत पक्षमें जीवका कभी भी मरण होता ही नहीं। इस प्रकार श्रुति जीव विमुक्त शरीरको ही मुख्य मरण कह कर जीवके मरणका प्रतिषेध करती हैं। स्मृतियां भी कहती हैं कि जीवका जननमरणादि स्वीकार करने पर कृतप्रणाश तथा अकृताभ्यागम दोष असक्त हो जाते हैं। इन दोनों प्रकारके दोषोंका निवारण करनेके लिए शरीरगत जीवनमरणादि जीवमें ही आरोपित रहता है। अस्तु इस प्रकारके उपचारिक जननमरणको लक्ष्य करके

शास्त्र एवं लोक दोनोंही व्यवहारमें प्रवृत्त हुये हैं ऐसा समझना पड़ेगा।

"आग से जिस प्रकार चिनगारियां उत्पन्न होती हैं परमात्मासे जीवात्मा भी उसी प्रकार उत्पन्न होता है।" इस जातीय श्रुति को देखनेसे यह जान पड़ता है कि कर्मफलभोगी देहेन्द्रियाध्यक्ष जीव आकाशादि महाभूतोंके तरह परमात्मासे ही उत्पन्न हुआ है। और निर्मल परमात्मा से जीव विभिन्न हो कर उससे विकृत होता है तथा इसी विवृत्तिके कारण जीवको जन्ममरणादि सम्पन्न होता है। पीछे कोई कोई इस प्रकारके सिद्धान्तको निश्चय कर लेते हैं, इसी लिये वेदान्तशास्त्र कहता है—कि सकल चराचर देहका जन्म मृत्यु से ही देहभावापन्न जीवको जन्ममृत्यु कहा जाता है। किन्तु इस प्रकारका उल्लेख भाक्त अथवा लाक्षणिक अर्थात् मुख्य नहीं हो सकता। क्योंकि ये दोनों शब्द देहका भावाभाव लक्ष्य करके ही प्रयुक्त होते हैं। इस वेदान्त सूत्रका अभिप्राय यही है कि शरीर सम्बन्धव्यतीत जीवका उपलब्धि और अनुपलब्धि घटित प्रसङ्गसमूह व्यर्थ हो जाता है ऐसा जानकर लक्षणके द्वारा जनन-मरणादि देहधर्म जीवमें ही उपचारित होता रहता है। यदि कोई यह कहे कि जीव का जननमरणादि देखकर भी उसको लाक्षणिक क्यों कहें—इसीके लिये वेदान्तशास्त्र फिर भी कहा है कि—जीवके जन्मविषयमें केवल जो कोई श्रौत प्रमाण नहीं है, इतना ही नहीं, बल्कि इन श्रौत प्रमाणोंसे जीवका नित्यत्व ही उप-लब्ध होता है। "आत्मा जन्म रहित तथा अमर है"—"आत्माका जन्म नहीं है"—एक ही देव समस्त भूतोंमें अवस्थित है—इत्यादि इन जातीय सूत्रको ही लक्ष्य कर उक्त सूत्रकी अवतारणा हुई है। यद्यपि शास्त्रीय निर्वचनादि जीवका जन्म ले कर ही व्यपदिष्ट हुआ है, तथापि, स्थालीपुलाकन्यायानुसार वह मरणविषयमें भी प्रयुक्त होगा। यदि वस्तुगति ऐसी ही हो तो हमारे ग्रन्थके आचार्य्य मरणनिवारणके लिये अप्रमाद अर्थात् वक्ष्यमाण सत्यादि

गुणका अवलम्बन करनेको कहते हो क्यों ? आत्मा जितने दिनों तक संसारी रहेगी उतने दिनों तक उसको बुद्धिसंयोगभी रहेगा। एवं अपने ही आप आत्मा का बुद्धि-संयोग परित्यक्त होता ही नहीं। आत्मा ही के समान बुद्धिको स्वच्छता का विधान कर सकने से पुरुष स्वरूपमें अवस्थित होता है, ऐसा कह कर आचार्य्यने ज्ञानप्रधान ब्रह्मविद्याको योगोपन[illegible] कहकर उपदेश दिया है। वेदान्तका "यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्" यह सूत्र भी इसी जगह देखना उचित है।

यदि ऐसा ही हो तो क्या आचार्य्यका उपदेश अद्वैत वादके विरुद्ध होता है ? नहीं, नहीं, विरोधका तो कोई सम्भावना भी नहीं दिखाता। क्योंकि वह उपासना का चरम क्रम-मन्त्र है। और गौड़पादने भी तो कहा है—"उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैत न विद्यते" ॥४॥

प्रमादाद्वै असुराः पराभवन्
अप्रमादाद्ब्रह्मभूताः सुराश्च।
नैव मृत्यु व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
नाप्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

अन्वयः। प्रमादाद् वै असुराः पराभवन् (मरणवशा अभूवन्)। अप्रमादात् च सुराः ब्रह्मभूताः (ब्रह्मिमन्तो जाताः)। मृत्युः व्याघ्र इव जन्तून् न अत्ति। अस्य हि रूपं न उपलभ्यते।

शाङ्करभाष्यम्।

कथमेतदवगम्यते प्रमादो मृत्युरप्रमादोऽमृतत्वमिति तत्राह—प्रमादादिति। प्रमादात् स्वाभाविकब्रह्मभावप्रच्यवनात् अनात्मनि देहादावात्मभावात्, असुराः विरोचनप्रभृतयः पराभवन् पराभूताः। तथाच श्रुतिः—"अनुपलभ्यात्मानम्" इत्यारभ्य "देवा वा असुरा वा ते पराभविष्यन्ति" इत्यन्तेन। तथा अप्रमादात् स्वाभाविकचित्-

सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थानात् ब्रह्मभूताः सुराश्चेन्द्रादयः। तथाच श्रुतिः—"तं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां च सर्व्वे च लोका आप्ताः सर्व्वे च कामाः" इत्यादिना। अथवा असुषु प्राणेषु इन्द्रियेष्वेव रमन्ते इत्यसुराः, अनात्मविदो वैषयिकाः प्राणिनोऽसुराः। ते स्वाभाविकब्रह्मभावमतिक्रम्य अनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नाः पराभवन् तिर्य्यगादियोनिमापन्नाः। तथाच बह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—"तस्मान्न प्रमादेयत नातीयात्" इति। तथा स्वस्मिन्नात्मन्येव रमन्ति इत्यात्मविदः सुराः। तथा चोक्तम्—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले।
ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः। इति॥

अप्रमादात्ते स्वाभाविकब्रह्मात्मनाऽवस्थानात् ब्रह्मभूताः। निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्य्याः ब्रह्मैव संवृत्ताः इत्यर्थः। नन्वन्य एव सर्व्वजन्तूनाम् उपसंहारकोमृत्युः प्रसिद्धः, कथमुच्यते "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इति? तत्राह—न वै मृत्युरिति। न वै मृत्युरत्ति भक्षयति प्राणिनः। यदि भक्षयेत् तर्हि व्याघ्र इवास्य रूपमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नास्त्येव मृत्युः॥ ५॥

कालिका। आत्मनो गुणं निरूपयन् प्रथमतस्तावत् प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं वेदार्थं प्रकाशयितुमाह—प्रमादादिति। प्रमादाद् वक्ष्यमाणकामक्रोधादिदोषसद्भावेन स्वरूपप्रच्यवनादसुरा असुषु प्राणेषु इन्द्रियेष्वितिभावः रममाणा विरोचनादयः पराभवन् पराभूताः। किं च—अप्रमादाद् वक्ष्यमाणज्ञानादिगुणयोगात् सुराश्च स्वस्मिन् शमदमादिमन्तश्च ब्रह्मभूता मृत्युरूपपाप्मानमपहत्य परमार्थतत्त्वं च प्रसमीक्ष्य कृतकृत्या अभवन्। बृंह वंह वृद्धाविति धातो ब्रह्मभूता वृद्धिमन्तो जाता इति भावः। एतेन दर्शयति—केचित् कामादिदोषसद्भावात् तमोनिकाया असुरा अधःस्रोतसः, केचित्त् त्यागादिगुणसद्भावात् सत्त्वनिकायाः सुरा ऊर्द्ध्वस्रोतस इति। ततो मृत्योरशरीरत्वं सप्रमाणकमाह—नैवेति। मृत्युरज्ञानं व्याघ्र इव जन्तून् नात्ति न भक्षयति। यद्यद्यात् तर्हि व्याघ्र इव रूपमस्यो-

पलभ्येत, न चोपलभ्यते। हिशब्दोऽनुपलम्भेः प्रसिद्धतां सूचयति। अयमाशयः—नहि तावन्मृत्युं शस्त्रमादायागच्छन्तं कश्चिदपरोक्षयति, किन्तु कामक्रोधमोहाभिभूतो हि पुरुष आत्मदर्शने प्रमाद्यन् शरीरभेदमेव मृत्युरिति मन्यते। इति।

यद्यपि निरीक्ष्यमाणमपि रूपमस्य ग्राह्यवत् सामान्यतो द्रष्टुं न शक्यमज्ञानमूलत्वात् तथापि प्रत्यक्षं तावदज्ञानविषयम्। अज्ञानमात्मनो हि न ज्ञानप्रागभावविषयं तस्य षष्ठप्रमाणगोचरत्वात्। अज्ञानस्य चानुभववेलायां ज्ञानस्यापि विद्यमानत्वं युज्यते, नोचेत्, ज्ञानाभावप्रतीति र्न समुपपद्येत, धर्म्मप्रतियोगिज्ञानापेक्षोऽज्ञानानुभव इतिन्यायात्। अतो मृत्युः प्रमादरूपो यद्यपि न दृष्टः प्राकृतैः जनैस्तथापि विवेकिभिः स दृष्ट इति तत्त्वम्। तदुक्तं भगवत्पञ्चशिखाचार्य्यैः—"एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति" ॥ ५ ॥

मूलानुवाद—प्रमादके कारण असुरगण (हार गये) पराभूत हुए थे। अप्रमादके कारण देवगण ब्रह्मभूत कह कर प्रसिद्ध हुए हैं। मृत्यु व्याघ्रके समान जीवको खाता नहीं है, और उसका स्वरूप भी उपलब्ध नहीं होता।

तात्पर्य्यभाष्य—पिछले श्लोक में अप्रमादरूप आत्मगुण उल्लेखपूर्व्वक प्रवृत्ति निवृत्तिलक्षणात्मक वेदोंके अर्थको प्रकाश करनेके लिए यह श्लोक सन्निविष्ट हुआ है। इससे यह जाना जाता है कि सत्यज्ञानादि गुणयुक्त सत्त्वप्रधान ऊर्द्धस्रोता कितने ही जीव देवतापदवाच्य हैं एव कामादिदोषयुक्त तमोबहुल अध स्रोता कितने ही जीव असुर नामसे प्रसिद्ध हैं। आचार्य्य गुणदोषादिके विषयमें स्पष्ट-रूपसे पीछे कहेंगे।

वक्ष्यमाण कामक्रोधादिदोषमूलक स्वरूपप्रच्युतिको लक्ष्य करके प्रमादशब्द व्यवहृत हुआ है। असुशब्द भी इन्द्रिय का एकपर्य्यायवाचक शब्द है। अनित्य इन्द्रियोंके विषयोंमें जो मुग्ध रहते हैं वे ही असुरोंके नामसे ख्यात हैं। विरोचनादि असुर नित्य विषयोंमें अनास्था दिखला कर अनित्य विषयोंमें मुग्ध हुये हैं।

वक्ष्यमाण ज्ञानादि गुणको लक्ष्य करके अप्रमाद शब्दका प्रयोग हुआ है। शमदमादि के द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वेही ब्रह्मभूत हो कर अर्थात् मृत्युरूप पापको दूर करके सुर वा अमर नामसे अभिहित हुए हैं। अविद्या अथवा अज्ञान ही को मृत्यु कह कर ऋषि कहते है कि—मृत्यु व्याघ्रके समान खा जाता तो उसका (मृत्युका स्वरूप भी अवश्य ही देखा जाता। यह सब कहनेका निष्कर्ष यही है कि—मृत्यु ग्राह्यविषयक नहीं है। इसी लिए उसका रूप भी नहीं देख पड़ता। पुरुष काम-क्रोध-मोहाभिभूत हो कर आत्मदर्शन से भी वञ्चित हो जाता है और इसी लिए शरीर त्याग कोही मृत्यु समझता है।

साधारण व्यक्तिको समझानेके लिए ही आचार्य्यने इस प्रकारका उदाहरण दिया है ऐसा समझना होगा। अज्ञान मूलत्वका कारण ग्राह्य विषयोंके समान मृत्युका रूप उपलब्ध नहीं होने से भी जो अज्ञान विषय प्रत्यक्षता के अधीन है, इसमें कोई भी सन्देह फिर बाकी नहीं रहजाता। अज्ञान कहने से ज्ञान का प्रागभाव नहीं समझा जाता क्योंकि वह षष्टप्रमाण में देखपड़ता है। ज्ञान यदि अज्ञानका प्रागभाव होता तो दिशाभ्रम होजाने के बाद दिशा काठीक २ निर्णय भी सम्भवपर नहीं होता। "मालुम होता है भ्रम होरहाहै"—इस प्रकार की अनुभूति जिस समय मनमें उदय होता है, उससमय भी ज्ञान की विद्यमानता स्वीकार किये विना काम नहीं चलता। अस्तु ऐसे समय में यह कहा जा सकता है कि भ्रम के समय में ज्ञान गुणविशेषसे समाच्छन्न (छिप) होजाता है। इसका अन्तर तत्त्व यही है कि धर्म्मप्रतियोगी ज्ञान को ही अपेक्षा करके अज्ञानानुभूतिका उदय होता है॥ ५॥

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-

रात्मावासममृतं ब्रह्मचर्य्यम्।

पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः । एके (केचित्) अन्यं यमं (यमसंज्ञं) मृत्युमाहुः । [यः] देवः पितृलोके राज्यमनुशास्ति । [किं च ? सः] शिवानां (शान्तानां) शिवः (कल्याणकृत्) अशिवानां (पापिनाम्) अशिवः (दुःखदः) । [स न मुख्यो मृत्युर्मुख्यस्तु प्रमाद इति] **अतः अप्रमादरूपम् आत्मावासम् (आत्माश्रयं) ब्रह्मचर्य्यम् अमृतम्** [अहं ब्रवीमि] ।

शाङ्करभाष्यम् । ननूपलभ्यते सावित्र्युपाख्याने—अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् । इति । कथमुच्यते नास्य रूपमुपलभ्यते इति ? तत्राह— यममिति ।

सत्यमुपलभ्यते, तथापि नासौ साक्षान्मृत्युः । कस्तर्हि ? यः प्रमादाख्यो मृत्युः अज्ञानं स एव, साक्षाद्विनाशहेतुत्वात् । तथा अज्ञानस्य विनाशहेतुत्वं श्रूयते—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः" इति । बृहदारण्यके प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य साक्षान्मृत्युत्वं दर्शितम्—"मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्" इति । यस्मात् प्रमाद एव साक्षात् सर्वानर्थबीजं तस्मान्न प्रमादेरत, चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावेनैवावतिष्ठेतेत्यर्थः । तथा चाज्ञानस्य बन्धहेतुत्वमुक्तं भगवता—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इति । यस्मात् प्रमाद एव मृत्युः अप्रमादोऽमृतत्वम, अतएव न कर्मसाध्यममृतत्वम् । नापि कर्मप्राप्यं, नित्यसिद्धत्वात् नित्यप्राप्तत्वाच्च । तथाच श्रुतिः—"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" इति । तथा— "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं दर्शितम् । तथा च—"न चक्षुषा गृह्यते" इति । वक्ष्यति च

भगवान् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्—"अन्तवन्तः क्षत्रिय" इति, "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा" इति च। तथाच मोक्षधर्म्मे—

कर्म्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात् कर्म्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥१॥ इति
"ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञाः" । इति च ।

तथाच ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं मन्यमानः सर्व्वकर्मपरित्याग-माह भगवान् वेदाचार्य्यो मनुः—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ इति ।

तथाह भगवान् परमेश्वरः—

ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गफलप्रदम् ।
तस्माद्ववह्निर्विमलं ज्ञान कैवल्यसाधनम् ॥
विज्ञातव्यं प्रयत्नेन श्रोतव्यं द्रष्टव्यमेव च ।
एकः सर्व्वगो ह्यात्मा केवलश्चितिमात्रकः ॥
आनन्दो निर्म्मलो नित्यः स्यादेतत् सांख्यदर्शनम् ।
एतदेव परं ज्ञानं एतन्मोक्षोऽनुगीयते ॥
एतत् कैवल्यममलं ब्रह्मभावश्च वर्णितः ।
आश्रित्यैतत् परं तत्त्वं तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छन्ति मां महात्मानं यतन्तो विश्वमीश्वरम् ॥ इति ।

ननु एवं चेत्तर्हि कर्म्माणि नानुष्ठेयानि ? न नानुष्ठेयानि, किन्तु ज्ञानिना नानुष्ठेयानि। तथा चाह भगवान्—"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्" इति। तथाच ब्रह्मपुराणे कावषेयाः—"किमद्य नस्वाध्ययनेन कार्य्यम्" इति ।

तथाच वह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—'किमर्थं वयमध्येष्यामहे' । तथाच वृहदारण्यके कर्म्मसंन्यासं दर्शयति—"तद्ध स्म वै तत् पूर्व्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्त" इति ॥ तथा लैंगी—"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य विदुषः कर्म्मणा प्रजया च किम्" इति । तथा चाथर्व्वणीश्रुतिः—"नैत-द्विद्वान्" इति । केन तर्ह्यनुष्ठेयानि? अज्ञानिना आरुरुक्षुणा सर्वकर्माणि

सर्व्वदा अनुष्ठेयानि, न ज्ञानिना। तथा चाह भगवान्—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इति, "आरुरुक्षोर्म्मुनेर्योगम्" इति, "ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्" इति च। तथा चाह भगवान् सत्यवतीसुतः—"द्वाविमावथ पन्थानौ" इति। नन्वेवमारुरुक्षुणाऽपि कर्म्माणि नानुष्ठेयानि, कर्म्मणां बन्धहेतुत्वात्। तथाचोक्तं भगवता "कर्म्मणा बध्यते जन्तु र्व्विद्यया च विमुच्यते" इति। सत्यम्, तथापि ईश्वरार्थतया फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानानि न बन्धहेतूनि। तथाचोक्तं भगवता "यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र" इति। किमर्थं तर्हि तेषामनुष्ठानम्? सत्त्वशुद्धयर्थमिति ब्रूमः। तथाचोक्तं भगवता—"कायेन मनसा बुद्ध्या" इति। "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" इति, "गतसङ्गस्य" इति च। तथाच—

कषायपक्तिः कर्म्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्म्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते॥ इति॥

ननु कर्म्मणामपि मोक्षहेतुत्वं श्रूयते—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयम्" इति। तथाच मनुः—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे"। इति।

नैतत्, पूर्व्वापरानुसन्धानविरहजनितोऽयं भ्रमः। तथाहि—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इत्युक्त्वा "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति विद्याविद्ययोर्भिन्नविषयत्वेन समुच्चयाभावः श्रुत्यैव दर्शितः। इममेवार्थं स्पष्टयन् भगवान् मनुः—"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे" इत्युक्त्वा समुच्चयाशङ्का मा भूदिति "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति तपसो नित्यनैमित्तिकलक्षणस्य कर्म्मणः अन्तःकरणशुद्धावेव विनियोगं दर्शितवान्। तथा "ईशावास्यमिदं सर्व्वम्" इति सर्व्वस्य तावन्मात्रत्वमुक्त्वा। तदात्मभूतस्य सर्व्वस्य तावन्मात्रत्वं पश्यतः स्वदर्शनेनैव कृतार्थस्य साध्यान्तरं पश्यतः "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" इति त्यागेनैवात्मपरिपालनमुक्त्वा। अतदात्मवेदिनः केन तर्हि आत्मपरिपालनमित्याशङ्क्याह—"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म

लिप्यते नर" इति। एवं सर्व्वभूते त्वयि नरमात्राभिमानिन्यत्रे अविद्यानिमित्तोत्तरपूर्व्वाघयोरश्लेषविनाशाभावात् कुर्व्वन्नेव सदा यावज्जीवं कर्म्माणि जिजीविषेद् इत्यत्रस्य नरमात्राभिमानिनः शुद्ध्यर्थं यावज्जीवं कर्म्माणि दर्शयति। अत एभिरपि वाक्यैः कर्म्मणां शुद्धिसाधनत्वमेवावगम्यते न मोक्षसाधनत्वम्। यद्यप्युक्तं—"तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च" इति चशब्दात् समुच्चयोऽवगम्यते—तदपि प्रसिद्धश्रुतिविनियोगानुसारेण वेदितव्यम्। तथा चानुगीतासु स्पष्टमाह भगवान् कर्म्मणां शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

नित्यनैमित्तिकैः शुद्धैः फलसङ्गविवर्जितैः॥
सत्त्वशुद्धिमवाप्याथ योगारूढ़ो भविष्यति॥
योगारूढ़स्ततो याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ इति।

वक्ष्यति च भगवान् सनत्सुजातः शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—"तदर्थमुक्तं तप एतत्" इति। ननु कथं सत्त्वशुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्? विनाऽपि सत्त्वशुद्धिं ज्ञानेनैव हि मोक्षः सिध्यत्येव! सत्यम्। ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यति, किन्तु तदेव ज्ञानं सत्त्वशुद्धिं विना नोत्पद्यत इति वयं ब्रूमः। तथाचोक्तम्—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्म्मणः" इति। तथा चाह याज्ञवल्क्यः—"तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः" इति। यस्मात् विशुद्धसत्त्वस्यैव नित्यानित्यवस्तुविवेकादिद्वारेण मोक्षसाधनज्ञाननिष्पत्तिः, तस्मात् सत्त्वशुद्ध्यर्थं सर्व्वेश्वरमुद्दिश्य सर्व्वाणि वाङ्मनःकायलक्षणानि श्रौतस्मार्त्तानि कर्म्माणि समाचरेत्, यावद्विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति। तथा चाह भगवान्—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्" इति। "सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" इति। तस्य लक्षणमुक्तं "यदा हि नेन्द्रियार्थेषु" इति। यस्तु पुनरेवं यज्ञदानादिना विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढ़ो भवति, तस्य शम एव कारणं न कर्म्म इति। तथा चोक्तम्—"योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" न कर्म्म इति। तस्माच्छमदमादिसाधनसम्पन्नः श्रवणादिसमन्वितो "योगी युञ्जीत सततमात्मानं

रहसि स्थित” इति। कथं तर्हि योगानुष्ठानं कार्य्यम्? शृणु। समे देशे शर्करावह्निवालुकाशब्दजलाशयादिवर्जिते मनोऽनुकूले शुचौ नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं स्थिरमासनं प्रतिष्ठाप्य, तत्रोपविश्यासनं स्वस्तिकादि बध्वा, समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं विश्वादीन् (विश्वतैजसप्राज्ञान्) जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिक्रमेण कार्य्यकारणविनिर्म्मुक्ते पूर्णात्मनि उपसंहृत्य पूर्णात्मना स्थित्वा ध्यायेत् पुरीशयं देवं पूर्णानन्दं निरञ्जनम् अपुर्व्वानपरं ब्रह्म नेति नेत्यादिलक्षणम् अशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थितं परं परमात्मानमोमिति। तथा चोक्तं ब्रह्मविद्भि:—

विविक्तदेशमाश्रित्य ब्राह्मण: शुद्धचेतसा।
भावयेत् पूर्णमाकाशं हृद्याकाशाश्रयं विभुम्॥ इति।

तथा चोक्तं ब्राह्मे—तस्माद्विमोक्षाय कुरु प्रयत्नमिति। एवं युञ्जन् सदाऽऽत्मानं परमात्मत्वेन यदा साक्षाद्विजानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्य्यो वीतशोक: कृतकृत्यो भवति। तथाच बृहदारण्यके—आत्मानं चेद्विजानीयादिति। तथा ईशावास्ये—यस्मिन् सर्व्वाणि भूतानीति। तथा च कठवल्लीषु—तं दुर्द्दर्शमिति। तथाच कावषेयगीतासु—आत्मज्ञ: शोकसन्तीर्णो न बिभेति कुतश्चनेति। तथाच मनु:—सर्व्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं मतमिति। तथा चाह भगवान्—एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यादिति। यस्मात्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्ति:, तस्मात्तमेव परमानन्दात्मानम् आत्मत्वेन जानीयादयमहमस्मीति न किञ्चिदन्यच्चिन्तयेत्। तथाच श्रुति:—तमेव धीरो विज्ञायेति। तथा चाह भगवान्—सङ्कल्पप्रभवान् कामानिति। एवं प्रसङ्गात् सर्व्वशास्त्रार्थ: संक्षेपतो दर्शित:।

अथेदानीं प्रकृतमनुसराम: यस्मात् प्रमाद एव सर्व्वानर्थबीजं तस्मात् प्रमादमेवाहं मृत्युं ब्रवीमि। न यमम्। यमं तु पुनरेके विषयविषांधा अविद्याधिरूढा: स्वात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं पश्यन्तो मृत्युम् अतो मयोक्तान् मृत्यो: प्रमादादन्यं मृत्यन्तरं वैवस्वतमाहु:, आत्मावासम् आत्मनि बुद्धौ वसतीत्यात्मावासस्तम्। तथाच मनु:—

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥ इति।

अमृतम् अमरणधर्माणं ब्रह्मचर्य्यं ब्रह्मणि स्वात्मभूते चरमाणं ब्रह्मनिष्ठमित्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हतो"ति। पितृलोके राज्यमनुशास्तोति। [illegible] शिवः सुखप्रदः शिवानां पुण्यकर्म्मणाम् अशिवोऽसुखप्रदः अशिवानां पापकर्म्मणाम्॥ ६॥

कालिका।

ननु यदि मृत्यु र्नास्ति, तर्हि मारिका काचन देवतास्तोतिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धे का गतिः? श्रुतिश्च यथा कठेषु—प्रवासगतो यमो वाजश्रवस स्तनयमुपगम्य पूजापुरःसरमुवाच—तिस्रो रात्री र्यदवात्सी र्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथि नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥ इति। स्मृतिश्च यथा सावित्र्युपाख्याने—अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥ इत्यादिः।

तत्रैव सनत्सुजातो अतिरिक्तमुखेनाह—यमन्तिति। एके केचित् प्रमादाख्यान्मृत्योरन्यं यमं मृत्युमाहुः। स खलु केनचिदनुपलभ्यमानोऽपि कथं मृत्युत्वेन कल्प्यत इत्याह—पितृलोक इति। यो देव पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवपितॄणां प्रत्यक्ष एवासावित्याशयः। स यमः शिवानां शुभकर्म्मकृतां शिवः सुखदः, अशिवानां पापिनामशिवो दुःखदः शुभाशुभकर्मफलदाता स देव इति भावः। स तु न मुख्यो मृत्युः। क स्तर्हि? प्रमादः। अतोऽहमप्रमादरूपमात्मावासमात्माश्रयः ब्रह्मचर्य्यमृतं ब्रवीमि॥ ६॥

मूलानुवाद।

कोई कोई यमराज को मृत्यु कहते हैं। उनके विचार (मत) से वह (यम) पितृलोकके राज्यका अनुशासन करते हैं। वह मङ्गलके लिये मङ्गल है तथा अमङ्गलके लिये अमङ्गल हैं। [वह

मुख्य मृत्यु नहीं हैं, प्रमाद हीं मुख्य मृत्यु है, इसी लिये मैंने अप्रमादरूप] आत्मावास ब्रह्मचर्य्य को अमृतत्व कहा है।

कालिकाभास।

अच्छा यदि मृत्युका रूप हो पता नहीं लगता, तो फिर नचिकेता अथवा शाविलीके उपाख्यान क्यों वर्णन किये गये? शास्त्रोंमें इस प्रकारके उपाख्यान हैं, इसीसे इस श्लोक को व्यतिरेक मुखसे वर्णन किया गया। श्लोकका भावार्थ यह है। उन उन स्थानोंमें यमका रूप उपलब्ध अवश्य हुआ है किन्तु यह मुख्य मृत्यु नहीं है। यह तो केवल शुभाशुभफलदाता मात्र होकर पितृलोकमें राज्य करते हैं। प्रमाद हो मुख्य मृत्यु है। इसीसे मैं मदयके अन्दर अविद्याके प्रतिबन्धक अप्रमादरूप आत्मानुसन्धान-परायण ब्रह्मचर्य्य को ही अमृतत्व कहता हूं। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि अमृतत्व का स्वरूप निर्णीत हो जाने पर मृत्युका स्वरूप भी स्वत: निर्णीत हो जायगा॥ ६॥

आस्यादेष निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्चमृत्युः।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित्॥ ७॥

अन्वयः।

एष (व्यष्ट्यहङ्कार:) नराणाम् आस्यात् (सामान्याहङ्कारात्) निःसरते (निर्गच्छति)। स (व्यष्ट्यहङ्कार:) क्रोध: प्रमादो मृत्यु-र्मोहरूपश्च (भवति)। अहंगतेन चैव विमार्गान् चरन् कश्चित् आत्मनो योगं न उपैति।

शाङ्करभाष्यम्।

एवं तावत् प्रमादो मृत्युरिति मृत्युरूपं निर्द्धारितम्। इदानीं तस्यैव कार्य्यात्मनाऽवस्थानं दर्शयति—आस्यादिति।

य: प्रमादाख्यो मृत्यु: स प्रथममास्यात्मना परिणमते। आस्य: अभिमानात्मकोऽहङ्कार:। तथा चोक्तं—"सर्व्वार्थाक्षेपसंयोगादसुधातु-समन्वयात्। आस्य इत्युच्यते घोरो ह्यहङ्कारो गुणो महान्"। इति। एवमहङ्कारात्मना स्थित्वा ततोऽहङ्कारात् नि:सरते निर्गच्छति कामात्मना। तत: काम: स्वविषये प्रवर्त्तमान: प्रतिहत: क्रोध: प्रमादो मोहरूपश्च भवति। ततोऽहंगतेन अहंरूपमापन्नेनाह-ङ्काराद्यात्मना अवस्थितेनाज्ञानेन तदात्मभावमापन्नो "ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता" इत्येवमात्मको रागद्वेषादिसमन्वितश्चरन् विमार्गान् श्रौत-स्मार्त्तविपरीतान् मार्गान्, न चात्मन: परमात्मनो योगं समाधि-लक्षणम् उपैति कश्चिदपि। अथवा अविद्याकामकर्म्माणि संसारस्य प्रयोजकानि। पूर्व्वत्र "मोहो मृत्यु: सम्मत" इत्यनेनान्यथा-ग्रहणात्मिका अविद्या दर्शिता। उत्तरत्र "कर्म्मोदये" इति कर्म्म वक्ष्यति। अथेदानीं कामोऽभिधीयते अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अनेन संसारे प्राणिन इत्यास्य: काम:। अथवा आस्यवदास्यं सर्व्व-जग्धृत्वात्। तथाचोक्तं भगवता काम एष क्रोध एष इति। एष [illegible]लुराख्यात्मना स्थित्वा तत: क्रोधात्मना विपरिणमते। उक्तं च—कामात् क्रोधोऽभिजायत इति। ततोऽहंगतेनाहङ्कारापन्नेना-ज्ञानेनाहंकारफलकारूढेन चिदाभासेन चरन् विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति कश्चित्॥ ७॥

का[illegible]।

प्रमाद एव मृत्युरिति निर्द्धारितम्। इदानीं तस्य कार्य्यात्मना-वस्थानं दर्शयति—आस्यादिति। आस्तेऽस्मिन्नित्यास्यं समष्ट्यहं-कारो यस्मिन्नेकादिविचतुष्पञ्चलक्षणा: शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: पञ्च-विशेषा: षष्ठश्चाविशेषोऽस्मि तामात्र इत्येते ह्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनु-भवन्ति, प्रलीयमानाश्च तस्मिन्नेवावस्थाय तन्मायाख्यं नि:सत्तासत्तं प्रधानं तत् प्राप्नुवन्ति। तत एव प्रसिद्धो व्यष्ट्यहङ्कारो व्यव-सायात्मकरूपो नि:सरते ग्रहणादिस्वरूपम[illegible] निर्गच्छति।

"आत्मनेपदमिच्छन्ति परस्मैपदिनां क्वचिदि"ति निःसरते। यो व्यष्ट्यहङ्कार इत्यपेक्षितपूरणं नराणामहंगतः प्रमादः कामाद्यपरपर्य्यायः। क्रोधो मोहरूपो मृत्युर्व्वा। ततो न पृथक् किन्तु स एव तदात्मना परिणमत इत्यभिप्रायेणै कीक्तत्य द्वितीयः पाद उक्तः।

क्रोधश्चात्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमानेषु स्मर्य्यमाणेष्वनुभूयमानेषु वा द्वेषविधायक इच्छाविशेषो गात्रप्रकम्पप्रस्वेदसन्दष्टौष्ठपुटरक्तवक्त्रनेत्रादिलिङ्गः। स च प्रमादाख्यात् कामात् कुतश्चित् प्रतिहन्यमानात् प्रतिघातकविषयः। स्मृतिश्च—"कामात् क्रोधोऽभिजायत" इति।

मोहः कार्य्याकार्य्यविवेकाभावस्तेन प्रारब्धे सद्व्यवसाये मृत्युरत्यन्तविस्मृतिरिति मृत्युर्मोहरूपः। मृङ् प्राणत्याग इत्यनुशासनादेव मृत्युरज्ञानं मरणसंज्ञां लभते। मृत्युरत्यन्तविस्मृतिरिति स्मृतेरज्ञानं प्रत्यगानन्दविस्मारकत्वेन यमश्च गृहीतदेहस्य विस्मारकत्वेन द्वयमपि मृत्युशब्दितम्। वस्तुतस्तु मुख्यो मृत्युरज्ञानं गौणो यमः। स एव मृत्युरात्मनो योगे न प्रवृत्तः। "पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तत्र रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्"॥ इत्यवधारणात्।

अस्यादेशादिति पाठे तु यमस्यादेशात् आज्ञातः प्रमादादिरूपो मृत्युर्निःसरतीत्यर्थः। अत्र प्रमादाभिमानिनो देवता यमस्तस्य दासभूताः क्रोधाद्यभिमानिन्यो देवता इत्यधिदैवतम्। अध्यात्मं तु प्रमादापरपर्य्यायात् कामादेव क्रोधादय उद्भवन्ति ततो म्रियन्त इति। तदुक्तं भगवता वासुदेवेन—"सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥" इति। ततः कश्चिदहङ्कृतेन मनसैव विमार्गांश्चरन् कामपरिकल्पितान् भोगान् भुञ्जान आत्मनो योगं नोपैति तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति। अहङ्कारनाशात् प्राक् कश्चित् तत्त्वज्ञानारूढ़ो न जात इत्यवधारणात्। तदुक्तं—याध-

हेतुफलावेश स्तावद्धेतुफलोद्भव'। चीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः॥ इति।

आत्मयोगप्राप्तेरुपायश्चाम्नायते — "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"॥ इति। अत आत्मयोगारुरुक्षु र्वागादीन्द्रियवर्गं कामनिदानं प्रातिलोम्येन मनसि प्रविलापयन् प्रागेव मौनी भवति, ततः पिण्डीकृतमनोमयविषयं विशेषाहङ्काराख्ये ज्ञान आत्मनि समाहरन् सर्व्वमहमेवेदमस्मीत्यहङ्कारवृत्तिमात्रशेषो भवति, ततश्चाभिमानरूपमहङ्कारं सर्व्वानुस्यूते सामान्याहङ्काराख्ये महत्तत्त्वे समुपहरन् विषयवेदनमन्तरेणास्मीत्येतावन्मात्रशेषो भवति। शेषतस्तदपि महत्तत्त्वं कुतश्चिदभिमन्तव्याभावात् प्रधाने निहितं शुद्ध आत्मनि विलीयते स चापि योगं महाफलमात्मन उपैति। तत्र मृग इव वाङ्निरोध आद्या भूमिः, बाल इव निर्म्मनस्त्वं द्वितीया, स्वाप इवाहङ्कारराहित्यं तृतीया, सुषुप्ताविव महत्तत्त्वशून्यत्वं चतुर्थीति भूमिचतुष्टयक्रमेण कृतकृत्यता स्यात्। कृतकृत्यतायां च प्रमादादिदुःखस्य संयोगमात्रेण वियोगो भवतीति शूरे कातरशब्दवद् विरुद्धलक्षणया योगोऽभिधीयते॥ ७॥

मूलानुवाद।

आद्य अर्थात् सामान्य अहंकार से विशेष अहंकार उत्पन्न होता है। यह विशेष अहंकार ही प्रमाद है, जो क्रोध या मोह से पृथक नहीं है। जीव इसी अहंकार के परतन्त्र होकर विमार्गमें जाता हुआ, आत्मयोग से वञ्चित हो जाता है॥ ७॥

कालिकाभास।

प्रमाद ही मृत्यु कहकर निर्द्धारित हुआ है। यहां कार्य स्वरूप को लेकर उसका अवस्थान दिखलाते हैं। समस्त वस्तु ही इस जगद्ग प्रतिलोमक्रम वा रूपमें परिणत हुआ है, इसी

लिये आस्य शब्द का अर्थ सामान्य अहङ्कार करते हैं। उसीसे विशेष अहङ्कार निकला है, इसी लिये मूलमें "एष" शब्दके द्वारा विशेष अहङ्कार ही समझा जाता है। अहङ्कारमें अहमिका ज्ञान अतिशय प्रबल समझ कर उसके पर्य्यायरूपमें प्रमाद शब्द व्यवहृत हुआ है। क्रोध या मोहसे प्रमाद पृथक् नहीं है, क्योंकि प्रमाद ही क्रोध अथवा मोहमें परिणत हो जाता है। क्रोध कहनेसे समझना पड़ेगा कि वह आत्मप्रतिकूल दृश्यमान स्मर्य्यमान अथवा अनसूयमान दुखमें अथवा दुखके हेतुमें द्वेषविषयक इच्छा-विशेष मात्र है।

तत्त्वोंके अनुसन्धान करने वाले समझ सकेंगे कि क्रोध कहनेसे स्वतन्त्र कोई वृत्ति नहीं मालूम होती—क्योंकि अनुराग ही कोई न कोई तरहसे प्रतिहत होकर अथवा प्रतिहत [illegible] होगा, ऐसा समझ कर उसी क्रोधरूपमें परिणत हो जाता है। अस्तु वह तत्त्वान्तर नहीं है। वह तो शिर्फ अनुरागका परिणाम मात्र है। इस प्रकार की दृष्टी धारण करके विचार करनेसे अनुराग को अवशिष्ट तथा क्रोधको विशिष्ट कह सकेंगे। इसके बाद अनुराग भी अस्मिताके एक विशिष्ट प्रकारका परिणाम भर है। अस्तु अस्मिता अनुरागकी प्रकृति तथा क्रोध अनुरागकी विकृति हुआ। इसी प्रकारके अभिप्रायको गीता भी कहती है।—काम अर्थात् अनुरागसे ही क्रोधका उद्भव हुआ है।

कार्य्याकार्य्यविवेकशून्यता ही मोह है। और वह भी विशेषाहङ्कारका परिणाम ही है। मोह कहनेसे भी मृत्यु समझते है। स्मृतियोंने भी कहा है—"अत्यन्त विस्मृतिका ही नाम मृत्यु है"। मृत्युसे अत्यन्त विस्मृति समझी जाती है, इसी लिये मृङ् धातुका अर्थ प्राणत्याग करना होता है। मोह सत्यका विस्मारक है, तथा यम गृहीत शरीरका विस्मारक है, ऐसा समझ कर ही उक्त दोनों शब्दोंको मृत्यु शब्दसे व्यवहृत किया गया है। प्रकृत पक्षमें तो अस्मिता नामक प्रमाद ही मुख्य मृत्यु है, तथा यम ही

गौण मृत्यु हैं। योगकालमें इस प्रकारकी कोई भी मृत्यु नहीं प्रवृत्त होती। इस विषय पर एक श्रौत गाथा भी है कि शरीरमें योगगुणके प्रवृत्त होनेसे रोग बुढापा तथा मृत्यु अवस्थान नहीं कर सकती।

मूलके "आसन्नादेष:" इस तरहके पाठका परिवर्त्तन करके यदि "आस्यादेशात्" अर्थात् इसके आज्ञा वा आदेशसे ऐसा पाठ रक्खें तो 'यमके आदेशसे प्रमादादिरूप मृत्यु निकलती है'—ऐसा अर्थ करना होगा। तथा उसका आध्यात्मिक भाव होगा—कामपर-पर्य्याय प्रमादसे ही क्रोधादि उत्पन्न होते हैं, एवं उससे ही मृत्यु होती है। इसी लिये गीता कहती है कि—विषयके सङ्ग होनेसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश, तथा बुद्धिनाशसे प्रकृष्ट विनाश हो जाता है। बुद्धि शब्दसे सांसारिक बुद्धि नहीं समझना चाहिये। चित्तिशक्ति की कृपावश जिसके द्वारा हम लोग इन्द्रिय कार्य करते हैं उसीको पारिभाषिक संज्ञामें बुद्धि कहते हैं।

उसके बाद अहङ्कार परतन्त्र होकर विमार्गमें जाते हुए अर्थात् विषय वासनादि उपभोग करके जीव आत्मयोग अथवा तत्वज्ञानको नहीं प्राप्त होता है। अहमिका नाशके पूर्व्वतक कोई भी तत्व-ज्ञानारूढ़ नहीं हो सकता, ऐसा कहा गया है। कारणके रहते कार्यका नाश नहीं होता, इस विषयमें यह कहा गया है कि—जितने दिनोंतक हेतु अर्थात् कारणके लिये फलावेश रहता है, उतने दिनोंतक हेतुका फलोद्गम निवारित नहीं होता। बल्कि हेतुका फलावेश क्षीण होनेसे फिर और हेतुका फलोद्गम हो नहीं सकता। आत्मयोग की प्राप्तिका उपाय वेदोंमें यह लिखा है कि—प्रथमत: वाक्य अर्थात् तदुपलक्षित दश इन्द्रियोंको मनको अर्पण करना, अर्थात् मौन अवलम्बन पूर्व्वक मनन करना। इसका अभ्यास हो जानेसे वह वाक्यसंबलित मन पुन: "ज्ञानात्माय" अर्थात् विशेष अहङ्कारमें परिणत हो जायगा। इससे अनुभूति होगी,

जिससे फिर एकादश इन्द्रिय विशेष अहंकारके साथ पिण्डीकृत्य होकर केवल मेरी सत्ता मात्र सार रह जाती है। इसमें अभ्यस्त हो जाने पर यही पिण्डीकृत्य विशेष अहंकार फिर भी सामान्य अहंकारमें अर्थात् महत्तत्त्वमें परिणत कर देगा। इस अवस्थामें चिन्ताका अवलम्बन नहीं करनेसे मालूम होगा कि मानो समस्त वस्तुमें ही मैं परिव्याप्त हूं तथा मुझसे पृथक किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है। यही ब्रह्माजीकी एकत्व कल्पना है। यही महत्तत्त्व वा सामान्य अहङ्कार है। इसके बाद ज्ञाता तथा ज्ञेयका भाव विलुप्त करके इस महान् अहङ्कारको ब्रह्ममें अर्पण करेगा। यही "सोऽहं" ज्ञान है। इस तरहसे महाफल आत्मयोग अधिगत होता है। इस लिये पशुओंके वाक्‌निरोधके समान मौनावलम्बन योगकी प्रथम भूमिका है। वाक्य-संयम नहीं करनेसे चित्त विक्षिप्त हो जाता है, इसी लिये इस प्रथम भूमिका की नितान्त आवश्यकता है। बालकोंके समान निर्मनत्व योग की द्वितीय भूमिका है। "मैं हूं मैं हूं" इस प्रकारके बोधके अलावा बालकोंको जिस प्रकार और चिन्ता होती ही नहीं, ठीक उसी तरह योगी भी विशेष अहङ्कारके अलावे और दूसरी किसी प्रकार की भी चिन्ता नहीं करके केवल इसी भूमिका पर आरूढ होगा। स्वप्नके समय अहङ्कार रहितके समान होना ही योग की तृतीय भूमिका है। स्वप्नमें स्वप्नदेखनेवाला अनेक वस्तुओंका अनुभव करता है, किन्तु वह उपाधान पर मस्तक रखकर उन सब वस्तुओंका स्वप्न देख रहा है, ऐसा अनुभव कभी भी नहीं करता। योगी भी संसारके समस्त वस्तुओंमें परिव्याप्त रहेगा, किन्तु मैं इस प्रकार परिव्याप्त हुआ हूं—इस प्रकार की चिन्ताका अवरोध कर सकने पर वह तृतीय भूमिका पर आरूढ़ होगा। योगकी चतुर्थ भूमिका सुषुप्तिके समान है। सुषुप्तिमें जिस प्रकार सब स्वाप्निक व्यापारोंका लोप होकर सत्तामात्र अन्तःसलिलके समान प्रवाहित होता है, उसी तरह अस्मिता मात्रका लोपका भी लोप करके बोधमात्र सर्व्वात्मक ब्रह्ममें

परिणत कराना ही आत्मयोग की तृतीय भूमिका है। चिन्ताके सिवाय बोध कहनेसे आश्चर्य होने की कोई आशङ्का नहीं है। ग्रीष्मकालमें सुशीतल जलमें अवगाहन करते समय जो अनुभूति होती है, वह चिन्ताके अलावे बोधके समान ही होती है। अस्तु वह भी चिन्ताहीन बोधका एक स्थूल उदाहरण मात्र है ॥ ७ ॥

ते मोहिता स्तद्वशे वर्त्तमाना
अतः प्रेता स्तत्र पुनः पतन्ति।
ततस्तं देवा अनुपरिप्लवन्ते
ततो मृत्युं मरणादभ्युपैति ॥ ८ ॥

अन्वयः।

ते मोहिता अतः प्रेता स्तद्वशे वर्त्तमानाः पुन स्तत्र पतन्ति। ततो देवा स्तम् अनुपरिप्लवन्ते। ततो मृत्युं मरणादभ्युपैति ॥ ८ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

किं च—त इति। ते अहङ्कारादिरूपेण स्थितेनाज्ञानेन मोहिताः देहाद्यात्मभावमापादिताः। तद्वशे अहङ्काराद्यात्मना परिणतप्रमाद-दाख्यमृत्युवशे वर्त्तमानाः अतोऽस्मात्प्रेताः धूमादिमार्गेण गत्वा तत्र परलोके यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैनमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते"। इति। ततोऽनन्तरं पुनर्देहग्रहणावस्थायां तं देवा इन्द्रियाण्यनुसृत्य कर्म्माणि परि समन्तात् प्लवन्ते समन्ततः परिवर्त्तन्त इत्यर्थः। अतोऽस्मात् कारणादिन्द्रियगुणानुसरणान्मरणं याति। ततो मरणाज्जन्माभ्युपैति ततो मृत्युम्। एवं जन्ममरणप्रबन्धारूढ़ो न कदाचिन्मुच्येत इत्यर्थः। आत्मज्ञाननिमित्तत्वात् संसारस्य यावत् परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति, तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभि-रितस्ततः समाकृष्यमाणो [illegible] इत्यर्थः ॥ ८ ॥

कालिका।

अहंगतविमार्गाणां निन्दासमुच्चिचीषयाह—ते मोहिता इति।

मोहिता अहंगतविमार्गविषयैः तेषां द्वैरूप्यं रमणीयचरणं कपूय-चरणमिति। श्रुतिस्तावत्—"तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्—ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्य-योनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्—श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वे"ति। अनुशयिनां ये शोभनकर्म्माण स्ते स्वस्वकर्म्मानुरूपेण रमणीयां योनिं प्राप्नुयुः, ये पुनः कुत्सितकर्म्माण स्ते जुगुप्सितां योनिम् आपद्येरन्। अभ्याश आवृत्तिपर्य्यायः, पुनः पुन र्घटीयन्त्रवत् सानुशयानामारोहण-प्रत्यवरोहणे सूचयतीति श्रुतिपदव्याख्या। अत इतः प्रेता गता,। जीवानामुत्क्रान्तिस्तावत् श्रूयते—"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रा-मति—चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" इति। आग-तिश्च—"तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्म्मण" इति। एतत् सर्व्वं स्मरन्नाचार्य्यः पठति—"तद्वशे वर्त्तमानाः पुनस्तत्र पतन्ती"ति। ते मूढा अपूर्व्वपरिणामलक्षणैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्ताः पञ्चम्यामाहुतौ भोगायतनं शरीरं षाट्कौशिकं बिभ्रति। एतदेतदाख्यानं छान्दो-ग्योपनिषदि श्रूयते—प्रवाहणो निजान्तिकागतं श्वेतकेतुं पप्रच्छ "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति। श्वेतकेतुः प्रश्नपाराज्ञानात् पितरमुपसृत्य परिदेवयामास। अविदितप्रष्टव्यः पिताऽपि तद्बुभुत्सया प्रवाहणमागत्य तमेव प्रश्नं विभिदे। तत स्तत्पितरं प्रति निरूपणं राज्ञा कृतम्—"असौ वाव लोको गौतमाग्निरि"त्येवमादिः.....तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुते गर्भः सम्भवति, इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायत" इत्येवमन्तादिति।

तत्र हि द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषा पञ्चाग्नितया निरूपिताः। तेष्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः क्रमात् पञ्चाहुतयः पठिताः। होतारः सर्व्वत्र देवाः कथ्यन्ते। होमस्तु भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितस्य जीवस्य भोगाय देवैः कृतो द्युलोकादिषु प्रक्षेपः। ते हि द्युलोकाग्नौ श्रद्धां

जुह्वति। सा च श्रद्धा स्वर्गभोगार्हसोमराजाख्यदिव्यदेहरूपेण परिणमते। स च देहो भोगान्ते तैः प्राणैः पर्जन्येऽग्नित्वेन रूपिते हुतो वर्षं भवति। तच्च वर्षं पृथिव्यामग्नित्वरूपितायां तैः प्रक्षिप्तमन्नं भवति। तच्चान्नं पुरुषेऽग्नित्वरूपिते तैः प्रक्षिप्तं रेतो भवति। तच्च रेतो योषायामग्नित्वरूपितायां तैरेव प्रक्षिप्तं गर्भो भवतीत्युक्त्वा प्राह—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति।

अद्धा तत्र संसारे पुनस्ते पतन्ति किन्तु पतन्तो जीवाः सानुशया उत निरनुशयाः? यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्त" इति श्रुते निरनुशयाः खलु। कुतः? सम्पातशब्देनात्र कर्म्माशय उच्यते सम्पतन्त्यनेन स्वर्गं लोकं फलभोगायेति। "यावत्सम्पातम् उषित्वे"तिवचनात् कृत्स्नोपभोगो ज्ञायते। मैवम्। अभुक्तफलानाम् अकृतप्रायश्चित्तानां वा कर्म्मणां नाशो नोपपन्न इति सानुशयास्ते पुनः पतन्ति। गौतमधर्म्मसूत्रञ्च तत्र—"वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्म्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुत-वित्तवृत्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते, विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ती"ति। आपस्तम्बश्च—"ततः परिवृत्तौ कर्म्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्म्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते, तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्त्तते" इति। यदुक्तं—यावत्सम्पातमिति तदेव फलदानप्रवृत्तकर्म्मविशेषविषयमिति निराकरणम्। दृष्टानुसाराच्च सानुशयाः पतन्तीति प्रतिपत्तव्यं यथा मधुभाण्डं रिच्यमानं न सर्व्वात्मना रिच्यत इति।

ननु, येनैव पथा सानुशया स्ते प्रेता आरोहन्ति तेनैव ते पुनर्भवे पतन्ति? उत न? पतन्ति आरोहनक्रमेण प्रकारान्तरेण च। आरोहणं हि धूमरात्र्यपरपक्षदक्षिणायनषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्र-लोकक्रमेण, पतनं तु चन्द्रलोकादाकाशवायुधूमाभ्रमेघक्रमेणेति।

ततस्तदनन्तरं पुनः कायारम्भणे देवा इन्द्रियाणि तमनुपरिप्लवन्ते व्याकुलीकुर्व्वन्ति। "परिप्लवश्चञ्चले स्यादाकुलेऽपि परिप्लव" इति निर्द्देशात्। उत्क्रामति जीवे देवशब्दाभिलप्यानामिन्द्रियाणां तदनु-

गमनात् पुनर्भवे जीवस्य तैः परिप्लवस्याभ्युपगन्तव्यः। तत स्तस्मादिन्द्रियगुणानुस्मरणादेव मरणं यान्ति, मरणाच्च जन्माभ्युपेति ततो मृत्युम्। एवं जन्ममृत्युप्रबन्धमारूढ़ः कदाचिदात्मयोगेन न मुच्यत इति भावः ॥ ८ ॥

मूलानुवाद।

वह ही मोहित जीवगण अहङ्कारादिके वशवर्ति होकर मरणान्तरमें मोहफलके वशमें पुनः संसारमें पतित होते हैं। उसके बाद इन्द्रियगण उनके जीवात्माको व्याकुल करते है। और अन्तमें उनके मरनेके बाद मरण ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कालिकाभास।

अहंगत विमार्गके दोष समूह को एकत्र संग्रह करके दिखलानेके लिये ही यह श्लोक कहा गया है। अहमिकाके विषयीभूत होनेके कारण जीवगणको "मोहित" ऐसा कहा गया है। मोहित जोव दो प्रकारके होते है—१ धर्मरत २ पापरत। वेद कहते है—संसारमे धार्म्मिकगण उत्तम योनि पाते है तथा पापी अधम योनियोंमें जाते है।

"मरणान्तरमें"—वेद जीवोंके उत्क्रान्तिके सम्बन्धमे कहते हैं कि आत्मा आँखसे, ब्रह्मरन्ध्रसे, अथवा पैरोंके अंगूठेसे निकलती है। इसी लिये मूलमें लिखा गया है—"अतः प्रेताः" अर्थात् शरीरसे निकलनेके बाद। "पुन संसारमें"—मृत व्यक्तिके प्रत्यावर्त्तनके विषयमें वेद कहते है—परलोकसे फिर भी वे सब भोगनेके लिये आते हैं। इस जातीय श्रुतिको स्मरण कर आचार्य कहते हैं—मोहवश फिर भी संस्कारोमे आता है। मोहवश जीवको आत्मा अनेक तरहके संसारसे परिवेष्टित होकर अनुशयके साथ किस तरह पञ्चम आहुतिसे भोगायतन शरीर धारण करता है—इसीको छन्दोग्य उपनिषदके पञ्चम अध्यायमें देखने होसे समझ सकते है। वही वेदमें पञ्चाग्नि विद्याके नामसे प्रसिद्ध है।

"उसके बाद इन्द्रियगण···इत्यादि"। उसके बाद अर्थात् शरीर ग्रहण करनेके बाद इन्द्रियगण इस जीवको व्याकुल करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर धारण करनेसे ही जीव इन्द्रिय-समूहके वशतामें पड़ जाता है, और तब उसका भोगकाल आरम्भ होता है। मूल श्लोकमें देवशब्द इन्द्रियार्थमें रूढ़ है। तथा मूलमें परिप्लव शब्द व्याकुलताका पर्य्याय वाचक है।

"मरनेके बाद मरण"। मरनेके बाद शरीर ग्रहणपूर्व्वक भोग-जनक कर्म्म करके पुनः मृत्युके मुखमें पड़ता है। इसका मतलब वह है कि वह अपने कर्म्मवश प्रत्येक जन्ममें मरण ही को प्राप्त होता हैं। कभी मुक्त नहीं होता ॥ ८ ॥

कर्म्मोदये कर्म्मफलानुरागा
स्तत्रानु ते यान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्त्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

अन्वयः।

कर्म्मोदये (कर्म्मानुष्ठाने) कर्म्मफलानुरागाः (कर्म्मफलासक्ताः सन्तः) ते तत्र अनुयान्ति (कर्म्मविपाकमनुगच्छन्ति) मृत्युं न तरन्ति। देही सदर्थयोगानवगमात् भोगयोगेन समन्तात् प्रवर्त्तते ॥ ९

शाङ्करभाष्यम्।

एवं तावदविद्याकामयोर्बन्धहेतुत्वमभिहितम्। अथेदानीं कर्म्मणां बन्धहेतुत्वमाह—कर्म्मेति *।

---

* अयमेव पाठ इदानीन्[illegible] दृश्यते, दाक्षिणात्य-पाठस्तु—"प्रत्यगज्ञानजननेषु सर्व्वद्वैताकाराज्ञानपरिणामेषु स्वस्याभासः तस्मिन् फलके समारूढ़ः साक्षित्व[illegible] गच्छति। स च प्रपञ्च-स्थोऽपि वस्तुतो न तेन सम्बध्यते। असङ्गागमविरोधात्। तस्मादीश्वरत्वादिकं कल्पितम्। उक्तं हि अविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति" इति। तथा च तद्बोधात्तु तद्गतिरित्यविरुद्धमित्यर्थः। उक्तञ्च सुरेश्वराचार्य्यैः—"स्वाभासफलकारूढ़-स्वदज्ञानभूमिषु। तत्स्थोऽपि तदसम्बन्धे ईश्वराद्यात्मतां मतः॥" एवं तावत् अविद्या-कामयोर्बन्धहेतुत्वमाह—कर्म्मेति"। इति।

अमृत्यु: कर्म्मणा केचिदिति कर्म्मणाऽमृतत्वं भवतीति यन्मतान्तरमुपन्यस्तं तन्निराकरोति—न केवलं कर्म्मणा अमृतत्वं भवति, अपितु कर्म्मोदये कर्म्मणामुत्पत्तौ कर्म्मफलानुरागा: सन्तस्तत्र तस्मिन् कर्म्मफलेऽनुयान्ति, अतो न तरन्ति मृत्युं पुन: पुनर्ज्जन्ममरणात्मके संसारे परिवर्त्तन्त इत्यर्थ:। कस्मात् पुन: कर्म्मोदये कर्म्मफलानुरागास्तत्रैव परिवर्त्तन्ते? सदर्थयोगानवगमात्। सदर्थेन योग: सदर्थयोग: परमात्मना योगस्तस्य सदर्थयोगस्य एकत्वस्यानवगमात् स्वात्मनश्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावानवगमादित्यर्थ:। [illegible]न्तात् समन्तत: प्रवर्त्तते भोगयोगेन विषयबुद्ध्या देही। यथा अन्धो निम्नोन्नतकण्टकस्थलादिषु परिभ्रमति, एवमसावपि विवेकहीन: सर्व्वत्र विषयसुखाकांक्षया परिभ्रमति ॥ ८ ॥

कालिका।

अमृत्यु: कर्म्मणा केचिदित्यत्र स्वाभिप्रायमुद्घाटयन् समाधत्ते—कर्म्मोदय इति। कर्म्मणो भोगप्रदस्योदये प्रारब्धकर्म्मपरिपाके सति तत्फलेऽनुराग आसक्ति र्येषां ते कर्म्मफलानुरागा: कर्म्माशयवन्त: पुरुषास्तत्र यज्जातीयकस्य कर्म्मणो यो विपाकस्तस्मिन्ननुयान्ति विपरिणमन्ते, किन्तु मृत्युं न तरन्ति जन्मान्तरं भजन्त इत्याशय:। एतदुक्तं भवति—फलानुरागापेक्षितं कर्म्म जन्मन: साधनं न तु मोक्षस्येति। तदेव कर्म्म सांख्यदृष्टिमाश्रित्य विचार्य्यते।

तत्र किमेकं कर्म्मैकस्य जन्मन: कारणमथैकं कर्म्मानेकं जन्माक्षिपतीति कर्म्मैकत्वं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वानेकत्वगोचरा प्रथमा विचारणा। द्वितीया तु किमनेकं कर्म्मानेकं जन्म निर्व्वर्त्तयति, अथानेकं कर्म्मैकं जन्म निर्व्वर्त्तयतीति कर्म्मानेकत्वं ध्रुवं कृत्वा जन्मैकत्वानेकत्वगोचरा द्वितीया विचारणा। तदेवं चत्वारो विकल्पा:। तत्र नैकं कर्म्मैकजन्मकारणम्। अनन्तकाल एकैकजन्मसञ्चितस्यासंख्येयस्यैकैकजन्मभुक्तादेकैककर्म्मणोऽभुक्ततयाऽवशिष्टस्यैहिकस्य च अनन्तकर्म्मणो मध्ये किं कर्म्म प्रथमं फलं दास्यति किं च पश्चादिति फलक्रमनियमाभावाल्लोकाना पुण्याद्यनुष्ठाने फलानाश्वासापत्तेश्च निराकृत: प्रथमो

विकल्पः। न चैकं कर्म्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। अनेकेषु जन्मसु क्रियमाणकर्म्मणामेकैकमेवासंख्यजन्मनः कारणसतोऽनिरूप्य तदितरस्य विपाककालाभावप्रसक्तेः कर्म्मवैफल्यशङ्कया तदननुष्ठानप्रसङ्गाच्च निराकृतो द्वितीयो विकल्पः। नाप्यनेकं कर्म्मानेकजन्मकारणम्। अनेकस्य जन्मनो यौगपद्यासम्भवे क्रमस्वीकारे प्रथमपश्चोक्तस्यानाश्वासरूपदोषानुषङ्गाच्च निराकृतस्तृतीयो विकल्पः। एवं पक्षत्रये निराकृते पारिशेष्यादनेकं कर्म्मैकस्य जन्मनः कारणम्। तथा हि जन्मारभ्य मरणपर्य्यन्तकाले विहितनिषिद्धानुष्ठानसम्पादितः पुण्यापुण्यसमूहो गुणप्रधानोपसर्ज्जनभावेनोत्पन्नो नानाविधविचित्रफलो मरणकाल आरब्धकर्म्मभोगसमाप्त्या लब्धावसरः सन् एक प्रघट्टकेन मिलित्वा स्वफलदानार्थं मरणं प्रसाध्य पुनर्जन्मादिलक्षणे कार्य्यं एकलोलीभावापन्नः स्वफलयोग्यमेकमेव जन्म करोति।

अपि च भोगप्रदं कर्म्म त्रिविधं शुक्लं कृष्णशुक्लं कृष्णमिति। तत्र शुक्लं कर्म्म सत्त्ववर्धकत्वात् सुखफलदं यथा तपःस्वाध्यायध्यानवतामसन्न्यासिनामपि। तस्य हि केवले [illegible] साधनाधीनतया परापीड़यैवोत्पत्तेः। मिश्रं कृष्णशुक्लम्। रजोवर्द्धकत्वात् सुखदुःखफलदं यथा [illegible]। एतद् वहिःसाधनसाध्यं तत्र परपीड़ानुग्रहोभयद्वारकत्वात् कृष्णशुक्लत्वम्। वहिःसाधनसम्पादने कर्म्मणि श्रौते कीटादिवधसम्भवादन्ततो वीजादीनां जीवयोगनाशात् स्तम्बादिभेदोत्पत्तिप्रतिबन्धाद् वा परपीड़ा अपरिहार्य्येति कर्म्मणो यागादिकस्यापि कृशात्वमुक्तम्। अनुग्रहश्च ततो हवनादिना देवादेर्दानदक्षिणादिना ब्राह्मणादेर्भवतीति तस्यैव शुक्लत्वम्। निषिद्धं कृष्णं तमोवर्द्धकतया दुःखफलदं यथा नारकिणाम्। एतच्च त्रिविधं जन्मादिविपाकं प्रयच्छति। तदुक्तं— "शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः" ॥ इति।

अनुरागशब्देन आसक्ति र्बोध्या। अनुरागादीनां यच्छक्त्यात्मनावस्थानं स संस्कारः। तथा हि नानायोनिषु भ्रमतां संसारिण

यस्मिन् जन्मनि भोगै: सञ्चिता येऽनुरागसंस्कारा स्त एव जन्मनि पुन: प्राप्ते प्रकटीभवन्ति। कुत:? अनुष्ठीयमानात् कर्मणश्चित्तसत्त्वे तदनुरागरूप: संस्कार समुत्पद्यते। स च फलानामङ्कुरभावो भवतीति।

जन्मान्तरिता अनुरागा न सन्तीति न। तेषामाशीर्योनित्वादनादित्वमिति येयमाशीर्मे भोगरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासु र्मा कदाचन तै र्मे वियोगो भूदिति य: सङ्कल्पविशेषोऽनुरागानां कारणं तस्य नित्यत्वात्तदनादित्वं सिध्यति।

ननु, संसारचक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादनुरागादीनामनादितया कथं तदुच्छेद:? सदर्थयोगानुगमादिति। नानुरागास्ते पुरुषवदनादय इति तत्समुच्छेद: सम्भवति। उक्तं च— "हेतुफलाश्रयालम्बनै: संगृहीतत्वादेषामभावे तदभाव" इति। तत्र धर्म्माधर्म्मसुखदु:खरागद्वेषरूपारषट्कसहितं हि भ्रमितमेत्र संसारचक्रमनुरागादीनां साक्षाद्धेतु संसारचक्रस्यापि प्रतिक्षणम् आवर्त्तमानस्याविद्या भ्रामिका हेतुत्वेन व्यपदिष्टा। फलं तु जात्यायुर्भोगा। आश्रयश्चानुरागादीनां साधिकारं मन:। न हि मनसो लयेन ते अवनिष्ठेरन्निति। आलम्बनं हि यदेवानुभवस्य तदेवानुरागादीनामिति। एवमेतैर्हेतुफलाश्रयालम्बनै र्व्याप्ता अनुरागा:।

किञ्च—सदर्थयोग आत्मयोग: प्राग्व्याख्यातो यस्योदये भवति निवृत्तो भवसंक्रमो देहाद्देहान्तरसञ्चराख्यस्तदनवगमात् तदलाभाद्देही समन्तादूर्द्धाधस्तिर्य्यग्योनिषु भोगयोगेन विषयलिप्साभ्यासेन प्रवर्त्तते परिभ्रमति। एतस्मादेतत् सिध्यति—सदर्थयोगावगमाद् देही न संसरति कर्म्मफलेन तु संसरतीति।

तत्र श्रुतिस्मृत्यादिष्वपि कर्म्मणां बन्धहेतुत्वं ज्ञानस्य च मोक्षसाधनत्वं दर्शितम्। तथा हि श्रुतय:—"यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त: परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥" "तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:। निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशां-

स्मृतयस्तावत्—"कर्म्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात् कर्म्म न कुर्व्वन्ति यतयः पारदर्शिनः"॥ "अयं तु परमो धर्म्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"॥ "धर्म्मरज्ज्वा व्रजेदूर्द्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः। द्वयं ज्ञानासिना छित्वा विदेहः शान्तिमृच्छति"॥ "यज्ञै र्देवत्वमाप्नोति तपोभि र्ब्रह्मणः पदम्। दानेन विविधान् भोगान् ज्ञानेन मोक्षमाप्नुयात्"॥ "एवं कर्म्मसु निस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः। विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्म्ममयः स्मृतः॥ "मनोवृत्तिमयं द्वैतमद्वैतं परमार्थत.। मनसो वृत्तयस्तस्माद्धर्म्माधर्म्मनिमित्तजा'॥ निरोद्धव्यास्तन्निरोधे द्वैतं नैवोपपद्यते। मनोदृष्टमिदं सर्व्वं यत् किञ्चित् सचराचरम्॥ मनसो ह्यमनोभावेऽद्वैतभावं तदाप्नुयात्॥ कर्म्मणो भावना चेयं सा ब्रह्मपरिपन्थिनी। कर्म्मभावनया तुल्यं विज्ञानमुपजायते। तादृग् भवति विज्ञप्ति र्यादृशी खलु भावना। क्षये तस्याः परं ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशते"। इत्येवमाद्या.।

एवं वेदादिप्राप्तिहेतुत्वेन कर्म्मणां बन्धहेतुत्वं स्वत एव। तत्र पुनः फलनिरपेक्षमोक्षराथं कर्म्म ि.-.ग़ि म। ।नयोगमाधनज्ञानसाधनपारम्पर्य्येण मोक्षसाधनं भवति। तथाहि सर्व्वज्ञो भगवान् वासुदेवः—

"ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म्म कुर्व्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि"॥ इति॥ ८॥

मूलानुवाद।

कर्म्मानुष्ठानमें अनुरागके वश जीवगण कर्मविपाक ही पाते हैं।

वे कभी मृत्युका अतिक्रम नहीं करते। देहधारी नित्यवस्तुको किंवा जाने ही भोगलिप्सामें रहता है। इसीसे संसारमें भ्रमण करता है।

कालिकाभास।

'कर्मके द्वारा अमरत्व पाया जा सकता है'—ऐसा जो कोई कोई कहते है इस विषयमें आचार्य अपना मत वा अभिप्रायका उद्‌घाटन करके समाधान करते हैं। "कर्मानुष्ठान" इत्यादि—। जीव जिस प्रकारके भोगप्रद कर्मको करेगा उसका तदनुरूप फल पावेगा, किन्तु मृत्युको अतिक्रमण नहीं कर सकेगा। इससे यह कहा गया कि फलापेक्षित कर्म मोक्षका साधन नहीं है, वल्कि जन्मका ही साधन है। अस्तु ऐसे स्थानमें योगदर्शनादि शास्त्रोंके मुताविक कर्मका विचार अप्रासङ्गिक नहीं है।—

एक कर्म क्या एक ही जन्मका कारण है, अथवा एक कर्म अनेक जन्मोंका कारण है। कर्मके एकत्वको अवलम्वन करके जन्मका एकत्व वा बहुत्वको निर्णय करनेके पहले दो प्रकारके विकल्प उपस्थित होते है। अनेक कर्म क्या अनेक जन्मोंका कारण है अथवा अनेक कर्म एक जन्मका कारण है। इस प्रकारसे कर्मोंके बहुत्वको अवलम्बन करके जन्मका एकत्व वा बहुत्वके निर्णय करनेके विचारके दूसरे दो विकल्प है। अस्तु सब मिलकर चार विकल्प पाये जाते हैं। यदि एक एक कर्म एक एक जन्मका कारण हो तो संख्यातीत कर्म संख्यातीत जन्मोंका कारण होगा। प्रति जन्ममें ही कर्मका सञ्चय होता जायगा, इसी लिए संख्यातीत कहा गया। किन्तु कर्मोंका तारतम्य है तथा पहले कौन कर्म जन्मका कारण होगा इसकी स्थिरता नहीं हो सकती है, इसी लिये तथा पुण्यकर्मके फलभोगके विषयमें भी जीवका अविश्वास होगा, इससे प्रथम विकल्प निराकृत होता है। और यदि एक कर्म अनेक जन्मोंका कारण हो तोभी यह आपत्ति उपस्थित होती है, इससे द्वितीय विकल्प भी निराकृत हुआ।

यदि अनेक कर्म अनेक जन्मोंका कारण हो तो क्रमकी कोई स्थिरता नहीं रहती, इससे तीसरा विकल्प भी परित्यक्त हो जाता है। और यदि अनेकों कर्म मिलकर एक जन्मका कारण हो, तो कर्मके स्वरूपके अनुकूल जन्मका तारतम्य भी स्थिर होगा, पुण्यादि भोग विषयोंमें जीवका अनाश्वास होता हो नहीं, किसी कर्मकी विफलताकी आशङ्का भी नहीं हो रहती, इसलिये चौथा विकल्प ही युक्तियुक्त होता हुआ देखकर शास्त्रोंमें माना गया।

कर्मको जन्मका साधन मान लेने पर भी कर्मके स्वरूप विषयमें प्रणिधानके सिवा प्रसङ्गका शेष समीचीन होते नहीं दीखता। भोगप्रद कर्म तीन प्रकारके हैं। १—शुक्ल, २—कृष्णशुक्ल, तथा ३—कृष्ण। उनमें शुक्लकर्म सत्वगुणको बढाकर सुखजनक फल प्रदान करता है; जो फलकी आकांक्षा रखकर तपस्या, स्वाध्याय एवं ध्यानादि करते रहते हैं, उनका कर्म ही शुक्ल है। जीवोंका अनिष्ट नहीं करनेसे पुण्य होता है, इसी लिए ये सब कर्म शुक्लत्व विधायक कहे गये है। कृष्णशुक्ल कर्मोंमें पाप तथा पुण्य दोनोंही मिले रहते हैं। उनसे रजोगुणका उद्रेक होता है। यज्ञादिसे दानादिजनित पुण्य होता है, इससे उसका शुक्लत्व किन्तु पशुओं तथा बीजोंका जीवननाश होता है, इससे उसका कृष्णत्व माना गया है। शास्त्रविवेकादि विरुद्ध आचरण ही कृष्ण कर्म है। और वह पापियोंके द्वारा किया जाता है। ये तीन प्रकारके कर्मही जन्मादि विपाकको प्रदान करते है, इसी लिये शास्त्रोंमें कहा गया है, कि—शुभ कर्मोंके द्वारा देवत्व लाभ होता है, एवं निषिद्ध कर्मोंके द्वारा नरक मिलता है, तथा शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा मनुष्यजन्म मिलता है।

मूलका "अनुराग" शब्द वासना अथवा आसक्तिको लक्ष्य करता है। वासना अथवा अनुराग जिस समय अपनी शक्तिके बलसे अपनी आत्मामें स्थित होता है, उस समय उसको "संस्कार" कहते हैं। इसी जन्ममें हो अथवा जन्मान्तरमें ही हो, येही संस्कार

प्रकटित होकर स्वफलदान करनेमें प्रवृत्त होते है। और येही कर्म तथा भोगके अङ्कुररूप है। एकजन्मका संस्कार अन्यजन्मे फलोन्मुख नहीं होता ऐसी वात नहीं कही जा सकती। अभि-निवेश ही उसके प्रमाण हैं। मरणभय जीवोंका प्रधान अभिनिवेश है। "मैं सदा जीवित रहूं"—"मुझको कभी दुख न हो" इस तरहकी वासना पूर्व्वजन्मका संस्कारमात्र है। पूर्व्वजन्मोंमें मरनेकी यन्त्रणाका भोग किया है, इसीसे इस जन्ममें मरनेका भय उपस्थित होता है। सद्योजात अथवा तुरतका जन्मा बच्चा भूखकी शान्ति करनेके लिए स्तनपान करता है, यह उसका पूर्वजन्मका भोजन संस्कारमात्र है। बच्चेको आदरसे भी उपर उचकाने (लोकने) से वह डरकर सिहर जाता है, गिरजानेका दुख उस बच्चेने इस जन्ममें कभी भी नहीं देखा, फिर उसको इस तरहका डर होताही क्यों है? पूर्वजन्ममें बच्चा गिरनेका दुख पा चुका है, इसी लिये इस जन्ममें भी उसका वह पहिला संस्कार वना हुआ है। यही भयका कारण स्पष्टतः दीख पड़ता है। वच्चा पितामातासे सव संस्कार पाता है, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं। जल, वायु तथा मिट्टीके अनुसार दाख-(अंगूर)के आकार वा स्वरूप तो वदल सकता है, किन्तु वीज सभी जगहोंमें सदा आवश्यक है। मिट्टी आदिके समान पितामाता भी संस्कारके फलको बदल (घटावढ़ा) सकते किन्तु वीजरूप संस्कार भ्रूण अथवा वच्चेको वर्त्तमान नहीं रहने पर फिर पितामाताकी कार्यकारिता होगी तो किस चीजपर? यदि ऐसाही नहीं होता तो पण्डित पिताका मूर्खपुत्र अथवा मूर्ख पिताका पण्डितपुत्र होनेका कारण नहीं स्थिर किया जासकता।

अवस्था विशेषसे जिस तरह संस्कारका परिवर्तन है उसी तरह उसका उच्छेद भी होता है। धर्मकर्मानुष्ठानोंमे इन सव संस्कारोंका उत्कर्ष अथवा कितनेही उच्छेदके साधित होनेपर भी ज्ञानके विना उनका सम्यकरूपसे उत्पाटन नहीं होता। 'ज्ञान' कहनेसे तत्वज्ञान अर्थात् नित्य—सत्य—अनन्त—ब्रह्मविषयक ज्ञानही सम-

झना चाहिये। इसी प्रकारके शास्त्रीय अभिप्रायोंको विचारकर आचार्य सनत्सुजात भगवान कहते हैं—"भोगलिप्सामें लगे रहनेसे संसारमें भ्रमण करता है" अर्थात् कभी संसारमुक्त नहीं होता ॥ ९ ॥

तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगेऽस्य गति र्हि नित्या।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥ १० ॥

अन्वयः।

यद्वै इन्द्रियाणां विषयेषु (शब्दादिषु) प्रवर्त्तनं तत् महामोहनं (स्वरूपतो रञ्जनीयम्)। मिथ्यार्थयोगे (असत्प्रत्ययविषये) अस्य हि गतिः नित्या। मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा विषयान् स्मरन् समन्तात् उपास्ते [तान् न तु परमात्मनमित्यभिप्रायः]।

शाङ्करभाष्यम्।

किं च—तदिति। यद् रागाभिभूतस्य इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवर्त्तनं तन्महामोहनम्। एतदुक्तं भवति—यस्य विषयेषु न वास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणि विषयेषु न प्रवर्त्तन्ते। तस्य विषयेषु प्रवृत्त्यभावाद् आत्मन्येव प्रवृत्तिः, ततश्च मोहनिवृत्तिः। यस्य विषयेषु वास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणां पराग्भूतेषु प्रवृत्तत्वान्न स इमं सदद्वितीयं प्रत्यग्भूतं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति। तथाचोक्तम्—स्त्रीपिण्डसम्पर्ककलुषितचेतसो विषयविभ्रान्धा ब्रह्म न जानन्ति" इति। ततश्च महामोहेन पुनः पुनर्विषयेषु प्रवृत्तिः। तथाचाह मनुः—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" इति। ततश्च मिथ्यार्थैरविद्याकल्पितैः शब्दादिविषयैर्योगो भवति तस्मिन् मिथ्यार्थयोगे अस्य देहिनो गतिः संसारगति र्नित्या नियता। प्रसिद्धं ह्येतत् —स्वात्मभूतं परमात्मानमनवगम्य विषयेषु प्रवर्त्तमानाः पराग्भूता स्तिर्यगादियोनिं प्राप्नुवन्तीति। तथाच बह्वृचब्राह्मणोपनिषदि—

या वैता इमा: प्रजायन्त इति । वक्ष्यति च—कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यतीति । कस्मात्पुनर्मिथ्यार्थयुक्तस्य गतिर्हि नित्येति ? तत्राह—मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा मिथ्याभूतविषयसंयोगेनाभिहतान्तरात्मा यस्य सः अभिहतस्वाभाविकब्रह्मभावः स्मरन् शब्दादिविषयान् तानेवोपास्ते न परमात्मानं समस्तात् समन्ततः ॥ १० ॥

कालिका ।

भोगोपकरणेषु चेतनाचेतनेषु वा भोगाधिष्ठानेषु मनःशरीरादिषु वा वस्तुष्वनात्मस्वात्मख्यातिं निन्दति—तद्वा इति ।

मिथ्यार्थेषु सुखदुःखाद्यनात्मविषयेषु न तु सदर्थेषु योगो मनसः संयोगस्तेनाभिहत आक्रान्तोऽन्तरात्मा यस्य स समन्तात् समन्ततो विषयान् शब्दादीन् स्मरंस्तान् उपास्त इति यत् तद्वा इन्द्रियाणां स्वोपलक्षितानां श्रोत्रादीनां महामोहनं स्वरूपतो रञ्जनीयं श्रेयः प्रतिबन्धकारणम् । हि यतो मिथ्यार्थयोगे सुखदुःखाद्यनात्मप्रत्यययोगेऽस्य गतिः प्रवृत्तिर्नित्या । तत्र मूढस्यानादिः सम्बन्धो हेतुरित्याशयः । तथा चाम्नायते—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥ इति । एषा हि श्रुतिः प्रतिपादयति—मिथ्यायोगाधिरूढा विषयव्यतिरेकेण सत्यार्थं परमात्मत्वेन न पश्यन्ति किन्तु विषयेषु प्रवृत्ता भवन्तीति । तथा हि भगवता पञ्चशिखाचार्येणोक्तं—"व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानः तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध" इति । अयमेवाशयः—स्थूलरूपं व्यक्तं सूक्ष्मरूपमव्यक्तं वा सत्त्वं पुत्रकलत्रपात्रमित्रधनजनयौवनशय्यासनगृहादिवैभवेषु चेतनाचेतनात्मकेषु बुद्धिसत्त्वम् आत्मत्वेन गृहीत्वा तस्य बुद्धिसत्त्वस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिकामात्मसम्पदं मन्यमानो नन्दति तस्येच्छाप्रतिघातादिरूपां विपदमात्मविपदं मन्यमानः शोचति यः स सर्वोऽप्रतिबुद्धो मूढो इति । ननु, कुतोऽन्तरात्मा मिथ्यायोगाभि-

इत:? बुद्धे: प्रतिबिम्बितो पुरुष इति। तथाहि विष्णुपुराणं—तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टय:। इमास्ता: प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमा:। इति। प्रमाता चेतन: शुद्ध: प्रमाणं वृत्तिरेव न:। प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥ इति च।

ननु, सांख्यपक्षमालम्ब्य सत्यां वेदान्तव्याख्यायां पुरुषबहुत्वमभ्युपगन्तव्यमिति चेत्? तन्न। "अंशो नानाव्यपदेशादि"त्यादिसूत्रजातैर्ब्रह्ममीमांसायामपि व्यवहारिकभेदोपपत्ते:। भोगयोगत आत्मन आज्ञानिकोपाधिहेतोरीशेशितव्यव्यवस्थापि शास्त्रतो निश्चीयते। यथाह—"निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो हीनोपाधिसम्पन्नान् जीवान् प्रशास्तीति न किञ्चिद्विप्रतिषिध्यते"ति। नैतावता पुरुषबहुत्वमभ्युपगतं न च जीवेश्वरयोर्भेदो वस्तुत: सिद्ध:। तदुक्तं भगवता गौडपादेन—प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्त्तेत न संशय:। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत:॥ इति। विकल्पो विनिवर्त्तेत कल्पितो यदि केनचित्। उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥ इति च। तथाहि जीवेश्वरयोरीशितेशितव्यभावं स्वीकृत्य तस्य परमार्थत्वं दर्शयन्नाह वार्त्तिककार: सुरेश्वराचार्य्य:—ईशेशितव्यसम्बन्धो न प्रत्यगज्ञानहेतुज:। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वर:॥ इति॥ १०॥

मूलानुवाद।

भोगविषयोंमें इन्द्रियोंका प्रवर्त्तन ही महामोह है। क्योंकि मिथ्यार्थयोगमें उनकी गति अथवा प्रवृत्ति नित्य अर्थात् स्वत:सिद्ध होती है। अन्तरात्मा मिथ्यार्थयोगमें अभिहत होकर भोगसुखस्मरणपूर्व्वक विषयोंही की उपासनामें रहती है॥ १०॥

कालिकाभास

आचार्य्य भोगोपकरणमें आत्मप्रशंसाकी निन्दा करते हैं। भोगविषयोंमें इन्द्रियोंका प्रवर्त्तन महामोह अर्थात् श्रेय:प्रतिबन्धक है। क्योंकि वैराग्यमें जो वस्तु पाये जाते हैं, वे भोगमें कभी

पाये नहीं जा सकते। मिथ्यार्थयोग कहनेसे शरीरादि अनात्म-विषयोंको ही समझना होगा। जो मेरा नहीं है, उसको अपना कहकर भोग करनेकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंकी स्वतःप्रवृत्ति है, इसी लिये मूलमें कहा गया है—"मिथ्यार्थयोगमें उनकी गति अथवा प्रवृत्ति नित्य अर्थात् स्वतःसिद्ध होती है"। इस विषयमें श्रुतियां कहती हैं—"प्रजापति अर्थात् ब्रह्माजीके शापसे इन्द्रियगण सर्व्वदा ही वहिर्मुख रहनेके कारण अन्तरात्माकी उपलब्धि नहीं करते।

तब प्रत्यक्ष आत्माका दर्शन करनेकी अभिलाषासे कोई कोई धीर व्यक्ति संयमपूर्व्वक जितेन्द्रिय होकर उसकी उपलब्धि करता है।" यहां श्रुतियां यही कहती है कि मिथ्यायोगाधिरूढ व्यक्ति विषयोंके अलावा परमात्माका दर्शन नहीं पाता। इसी लिये भगवान पञ्चशिखने कहा है—व्यक्त अथवा अव्यक्त भौतिक (सांसारिक) वस्तुके गौरव अथवा वृद्धिके लिये साधारण लोग अपने ही गौरव अथवा वृद्धिको विचारकर आनन्दका अनुभव करते है। और उनके (वस्तुवोंके) लघुत्व अथवा ह्रासका कारण अपनी ही लघुता अथवा ह्रासको समझकर (जानकर) शोकाकुल होना मूर्खोंका काम है। इसके कहनेका अभिप्राय यह है कि—धन-जनादि सम्पत्तिके इकट्ठा होने पर साधारण लोग उनको अपना उपचय समझकर आनन्द करते हैं, और इस सम्पत्तिको किसी तरहसे अपचित होनेसे अपना ही अपचय समझकर दुख भोगता है, किन्तु प्रकृतपक्षमें धनजनादिका उपचय अथवा अपचय होनेसे आत्माका किसी तरहका लाभ या हानि नहीं होती, इस लिये इस तरहका आनन्द करना अथवा दुख सहना मूर्खोंका काम है।

वासनामें लिप्त चित्त वासनाका ही अनुसरण करता है इसी लिये मूलका शेषार्द्ध कहा गया है। इन्द्रियोंके भोगप्रद-अनात्म-विषयोंमें जिनकी अन्तरात्मा अभ्यस्त होती है, वह केवल भोगका सुख स्मरणकर रूपरसादि विषय समूहोंमें ही रत रहता है, और कभी भी उनसे विरक्त नहीं होता है"—यही यहां आचार्य्य सनत्-

सुजातका अभिप्राय है। अब ऐसा प्रश्न हो सकता है कि—नित्य शुद्धमुक्त आत्मा फिर दुबारा मिथ्यार्थयोगके द्वारा किस प्रकार अभिहत होगी। पुरुष अर्थात् आत्मा, बुद्धिका प्रतिसंवेदी है ऐसा सांख्यदृष्टिसे देखकर कहा गया है। योगाचार्यगण कहते हैं, कि जिस प्रकार जलमें वस्तुओंके रूपके समान हो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी तरहसे आत्मापर बुद्धिका प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। और यही संस्कारका कारण भी है। इन सबको लक्ष्य करके हो योग-शास्त्रमें कहा गया है—"पुरुष अर्थात् आत्मा बुद्धिका प्रतिसंवेदी है।" अच्छा यह मान लेते हैं कि जलमें पदार्थके रूपके समान ही प्रतिबिम्ब भी पड़ता है, किन्तु जिसका रूप नहीं होगा उसका फिर प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा। अस्तु क्या उक्त दृष्टान्त यथायथ एवं पर्य्याप्त होता है? अस्तु केवल रूपही प्रतिबिम्बके लिये प्रयोजक वस्तु है, ऐसी बात नहीं है। शब्दोंका भी प्रतिबिम्बरूप हो पुराणमें कहा गया है कि—"सरोवरमें जिस प्रकार उच्चस्थ वृक्षोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकारसे चिन्मय, निर्मल, दर्पणस्वरूप पुरुष अर्थात् आत्मापर सब ही वस्तु प्रतिबिम्बित होती है।" इस विषयपर और भी यह कहा गया है कि—प्रमाणकर्त्ता चेतन तथा शुद्ध है, और उस प्रमाणकर्त्ताकी जो वृत्ति है वे ही प्रमाण हैं, तथा वही प्रमाण है जो अर्थाकारप्रवृत्ति वृत्ति है, और वही चेतनमें प्रतिबिम्बित होती है।

अब इस समय यदि कोई कहे कि सांख्यमतको आश्रयकर वेदान्तमतका पोषण करना आचार्यका पक्ष सङ्गत नहीं होता, इसपर हमलोग कहेंगे कि वे पूर्व्वभागमें ज्ञानप्रधाना योगोपसर्ज्जनीभूता ब्रह्मविद्याका उपदेश देते हैं, अस्तु दोनों मतोंका सामञ्जस्य रखनेके लिये ही उन्होंने इस प्रकारकी युक्तिका प्रयोग किया है।

यदि कोई कहे कि सांख्यका अवलम्बन करके वेदान्तमतकी रक्षा करना पुरुषबहुत्वको स्वीकार करना हुआ किन्तु ऐसा होनेपर भी हमलोग कहेंगे कि वेदान्तके साथ आचार्यवाक्यका कोई भी

विरोध नहीं है। कारण—"अंशो नानाव्यपदेशादि"त्यादि ब्रह्म-सूत्रमें व्यवहारिक भेद अभ्युपगत होता है। और मिथ्यार्थयोगमें आत्मा कहनेसे उसकी आज्ञानिक उपाधियोंके ऊपर परमेश्वरका प्रशासन भी शास्त्रोमें कहा गया है। इसी वज़हसे भगवान शङ्कराचार्य्यने भी—"अपि च स्मर्य्यते"—इस सूत्रके भाष्यमें कहा है,—सर्वोत्कृष्ट उपाधियुक्त परमेश्वर हीनोपाधिविशिष्ट जीवोंका शासन करते हैं। इस सिद्धान्तमें विन्दुमात्रका भी विरोध नही हैं। अत एव हमारे आचार्यके कथनानुकूल पुरुषबहुत्वका अभ्युपगम नही होता, अथवा जीवेश्वरका तात्त्विक भेद भी स्वीकृत नहीं होता? इसी लिये आचार्य गौडपाद कहते हैं—"विकल्पो विनिवर्त्तेत कल्पितो यदि केनचित्। उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥"—अर्थात् शास्ता, शास्त्र और शिष्यके रहनेपर भी द्वैतका निराकरण नहीं होता—क्योंकि उपदेशके कारण ही यह सब स्वीकृत हुआ है, किन्तु परमतत्त्वज्ञात हो जानेपर और द्वैतका सद्भाव होता ही नहीं। वृहदारण्यकके वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्यने भी अवस्था विशेषमें जीव तथा ईश्वरका नियम्यनियंतृभाव स्वीकारकरके उसकी परमार्थता दिखलानेके लिये कहा है—ईशितव्य-ईशितृसम्बन्ध केवल अज्ञान-मूलक है, अस्तु अन्धकारके नाश हो जानेपर विद्वान ईश्वरोंके भी ईश्वर हो जाते हैं, अर्थात् ब्रह्म सम्पन्न हो जाते है॥ १०॥

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति चैनं
कामक्रोधौ गृह्य चैनञ्च पश्चात्।
एतान् बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्य्येण तरन्ति मृत्युम्॥ ११॥

अन्वयः।

अभिध्या (विषयचिन्तनं) वै (प्रसिद्धौ) प्रथमं हन्ति। कामक्रोधौ च एनं गृह्य [हतः]। पश्चात् [ते] एतान् मृत्यवे प्रापयन्ति। धीरास्तु धैर्य्येण मृत्युं तरन्ति। ११।

शाङ्करभाष्यम्।

ततः किमिति चेत्? तत्र यद् भवति तच्छृणु। अभिध्या विषयाभिध्यानं प्रथमं हन्ति विनाशयति स्वरूपात् प्रच्युतं करोति, ततो विषयध्यानाभिहतमेनं विषयरससन्निधौ शीघ्रं प्रतिगृह्य कामश्च हन्ति। ततः कामाभिहतमेनं प्रतिगृह्य क्रोधश्च हन्ति। तदेतेऽभिध्यादय एतानभिध्याकामक्रोधवशं गतान् बालान् अविवेकिनो मूढान् मृत्यवे प्रापयन्ति क्षिपन्ति। श्रूयते कठवल्लीषु—पराचः कामानिति। धीरास्तु पुनर्धैर्य्येण विषयान् जित्वा परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य तरन्ति मृत्युम्। श्रूयते च—निचाय्य तं मृत्युमुखादिति॥ ११॥

कालिका।

विषयस्मरणदोषं विस्तरेण प्रतिपादयितुमाह—अभिध्येति। अभिध्या विषयचिन्तनं मिथ्यार्थयोगाभिहतं प्रथमं हन्ति प्राक् स्वरूपादीषत् प्रच्युतं करोति। विषयस्मरणात् सुखे तत्साधने वा य इच्छाविशेषरूपः काम एवमधिगतविषयावच्छेदे विषयानधिगमे वा दुःखहेतुत्वम् अनुमाय दुःखे तत्साधने वा यो जिघांसारूपः क्रोधस्तौ च पश्चात्तत एनं गृह्य प्रतिगृह्य हत इत्यपेक्षितपूरणं स्वरूपात् सर्वतः प्रच्युतं कुर्व्वात इत्यर्थः। तत एतेऽभिध्यादय एतान् विषयरतान् बालान् बालिशान् मृत्यवे प्रापयन्ति जन्ममरणात्मके संसारे क्षिपन्ति। धीराः प्रज्ञावन्तो ये प्रारब्धकर्म्मप्रापितं सुखमपि प्राप्य नाभिनन्दन्ति दुःखं च प्राप्य नापि निन्दन्ति तथा स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरभोग्यांश्च कामसङ्कल्पादीन् मनोवृत्तिविशेषान् प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतिभेदेन तन्त्रान्तरे पञ्चधा प्रपञ्चितान् सर्व्वानिखिलविशेषान् ध्यानाभ्यासरसेन परित्यजन्ति, ते धैर्य्येण मृत्युं तरन्ति देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणं जननमरणजरारोगाद्यनर्थव्रातं न प्रतिपद्यन्ते। धीरस्य भावो धैर्य्यं तेन। इह धैर्य्यशब्देन प्रयत्नविशेष उद्दिष्टो येन प्राक् स्थूलकरणग्रामस्य काम्यमानविषयानां त्याग

एकान्तसेवनमालाद् भवति, ततश्च विलीनकरणग्रामस्य जाग्रद्वासनामयाः स्वप्ने ये काम्यमानविषयाः स्फुरन्ति तेषामपि त्यागो भगवद्ध्यानादिसद्वासनाभ्यासबलेन भवति, शेषतो यदा तूपसंहृतकरणस्य सम्प्रज्ञातसमाधिकाले ये दिव्याः कामविषयाः सङ्कल्पनाशोपनीता स्तेषामपि त्यागोऽसम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यासबलेन भवति। श्रुतिश्च—"यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्तोऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" ॥ इति। वस्तुस्वरूपदर्शनं च वैराग्यस्य पूर्व्वमुक्तम्। तत्प्रयोजनमुद्दिश्य शास्त्रमपि प्राह—"तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु वाह्यतः। तत्त्वीभूतस्तदाराम तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्" ॥ इति। ११।

मूलानुवाद।

पहले पहल अभिध्या (विषयचिन्ता) ही इसका अनिष्ट करती है। इसके बाद काम तथा क्रोध इसका और भी विशेष अनिष्ट करते है। और अन्तमें अभिध्यादि सब ही मिलकर मूर्ख लोगोंका बधकर डालते है। किन्तु जो धीर अथवा साहसी हैं वे धैर्य्यके सहारे मृत्युको भी अतिक्रम कर (जीत) जाते है ॥ ११ ॥

कालिकाभास।

विषय चिन्ताका दोष विस्ताररूप से प्रतिपादन कर अब परवैराग्य की प्रशंसा करते है। रूपरसादि भोग विषयक चिन्ताहीका नाम अभिध्या है।—"इसका"—अर्थात् मिथ्यार्थयोगाभिहत व्यक्तिका। भोगाभिहत होकर जो ब्रह्मप्रच्युत हो जाते है, भोगविषयकी चिन्ताको उनका मूल बतलाते हुये हमारे आचार्य कहते हैं—"पहले पहल अभिध्या ही इसको आहत करती है।" चिन्ता ही काम अथवा भोगलालसाकी पूर्ववर्त्तिनी है, इसी लिये उसका प्राथम्य स्वीकृत हुआ है।—"इसके बाद काम तथा क्रोध"—इत्यादि। चिन्ताके अलावा, काम तथा क्रोध ही लोगोंका अधिकतर अनिष्ट करते हैं। चिन्ताके अन्त होने पर चिन्तितवस्तुके भोगाधिकारमें

प्रवृत्ति होती है। उसीको उद्देशकर काम शब्द व्यवहृत हुआ है। भोगलालसा, अथवा भोगप्राप्ति को चरितार्थतामें किसीके बाधा देनेपर जो द्वेष अथवा हिंसाका उदय होता है, वही क्रोधमें परिणत हो जाता है। अस्तु क्रोध कामकी विकृति, एवं काम क्रोधकी प्रकृति है॥

"इसके बाद (अन्तमें) अभिध्यादि—।" इसके बाद भोगचिन्ता भोगलालसा, तथा लालसा की पूर्ति होनेमें जो जो बाधा स्वरूप उपस्थित होती है, उससे क्रोधादि मनोवृत्तियां मिलकर ऐसे मूर्ख लोगोंका वध करती है, अर्थात् संसारमें डाल देती है। एवं किसी प्रकार मुक्त होने नहीं देती। किन्तु जो धीर तथा बुद्धिमान हैं वे धैर्य्यके सहारे मृत्युका अतिक्रम (पार) कर जाते हैं। जो प्रारब्ध कर्म्मजनित सुख पाकर हर्ष नहीं करते, दुख पाकर विचलित नहीं होते, और जो स्थूल अथवा सूक्ष्म इस कारण शरीरके भोगनेकी मनोवृत्तियोंके परित्याग करनेके लिए ध्यानाभ्यासका रस आस्वादन करते हैं वे धीर कह कर पुकारे गये हैं। अस्तु यहां "धैर्य" शब्दसे धीरके प्रयत्न विशेष, का लक्ष्य किया गया है। प्रत्याहार पा लेने पर निर्जनस्थान में भी इन्द्रियां काम्यमान विषयों में लिप्त नहीं हो सकतीं, यह सच है, किन्तु, प्रत्याहृत चित्तके स्थूलवासना संस्कार कभी कभी स्वप्नमें दीख पडते है। दृष्ट विषयमें ध्यानाभ्यासके परिपक्व हो जानेपर इस स्थूल वासना-संस्कारका लोप हो जाता है। इस प्रकार की अवस्था पा जाने पर भी योगी सम्प्रज्ञात समाधि-कालमें आत्माके सूक्ष्म संस्कारवश जिन सब स्वर्गीय कामनाओंका भोग प्राप्त करते है, उन्हे भी परवैराग्यके अवलम्बनसे त्याग करने पर असम्प्रज्ञात समाधिसे उनको कैवल्य मिलता है। इन्हीं सब योग प्रक्रियाके कष्टसाध्य प्रयत्नोंको लक्ष्य कर आचार्यने कहा है— "धीर धैर्यके सहारे मृत्युका अतिक्रम करता है। धैर्यके सहारे पर वैराग्यके लाभ करने पर जिस प्रकार की मुक्ति होती है उसका वर्णन वेदोंमें भी हैं। वेदोंमें कहे गये वाक्योंका भावार्थ यह

हैं—"हृदयकी सम्पूर्ण कामनायें जिस समय अपगत हो जाती हैं, उसी समय मरणशील व्यक्ति अमर होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करता है।"—पर-वैराग्य लाभ करनेके लिये नित्य तथा अनित्य वस्तुओंका तत्त्वविचार करना चाहिए। वस्तुओंका अनित्यत्व मालूम हो जाने पर फिर उनमें अनुराग नहीं होता, इस लिये तत्वविचार वैराग्यका पूर्व्ववर्त्ती है। तत्वविचारके सम्बन्धमें शास्त्रोंका आदेश यह है—'तत्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्वं दृष्ट्वा तु वाह्यत:। तत्वीभूत-तदा राम तत्वादप्रच्युतो भवेत॥" अर्थात्, हे राम! आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक तत्वोंको विचारकर तत्वीभूत होना आवश्यक है। अस्तु तत्वोंसे कभी प्रच्युत न होना। ऐसा कहनेका अभिप्राय यही है कि विना तत्वीभूत हुये अनित्य वस्तुओंसे वैराग्य कभी उत्पन्न नहीं हो सकता और वैराग्यके विना ज्ञान भी नहीं हो सकता। ज्ञानही मुक्तिका कारण है, इसी लिये नित्यानित्य वस्तुविवेक साधित होने पर यहांके और वहांके (इहामुत्र) फलभोगके विषयमें वैराग्यका अनुशीलन करना चाहिए॥ ११॥

योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्या
दनाचारेणाऽप्रतिवुध्यमान:।
स वै मृत्यु मृत्युरिवात्ति भूत्वा
ह्येवं विद्वान् योऽभिहन्तीति कामान्॥ १२॥

अन्वय:।

य: अभिध्यायन् (नश्वरत्वेन निरूपयन्) अनाचारेण (अनादरेण अप्रतिवुध्यमान: (अचिन्तयन् सन्) उत्पत्तिष्णून् (क्षणस्थायिनस्तान् विषयान्) निहन्यात् (परित्यजेत्), [तथा] य: कामान् इत्येवं विद्वान् (जानन्) अभिहन्ति, स वै मृत्युरिव भूत्वा मृत्युमत्ति॥ १२॥

शाङ्करभाष्यम् ।

कथं पुनर्धीरास्तु धैर्य्येण विषयान् जित्वा मृत्युं तरन्तीत्यत आह—य इति ।

योऽभिध्यायन् अनित्याशुचिदुःखानुविद्धतया चिन्तयन् उत्पतिष्णून् उत्पत्योत्पत्य पतन्तीत्युत्पतिष्णवो विषयास्तान्निहन्यात् परित्यजेत् । अनाचारेण अनादरेण अमेध्यदर्शन इव अप्रतिबुध्यमानः पुनः पुनरचिन्तयन् स वै पुरुषो मृत्योरेव मृत्युर्भूत्वा मृत्युरिवाऽत्ति मृत्युम् । उक्तं च—विषयप्रतिसंहारं यः करोति विवेकतः । मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविः इति ॥ १२ ॥

कालिका ।

कथं पुनर्धीरा मृत्युं तरन्तीत्यत आह—य इति । उत्पतिष्णूनुत्पत्योत्पत्य पतन्तीत्युत्पतिष्णवोऽध्रुवाः शब्दस्पर्शादिनिमित्तसुखप्रत्ययास्तानभिध्यायंस्तान् नश्वरत्वेन निरूपयंस्ततोऽनाचारेण बुद्धिनिवृत्त्याऽप्रतिबुध्यमानोऽचिन्तयन्ननवहितो—भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् । अपुनः-स्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥ इत्यादिस्मृतेस्तान् यो निहन्यात् परित्यजेत्, तथा हि कामान् शब्दस्पर्शादिविषयप्रवृत्तिहेतूनेवं विद्वान् विवेकेनोत्पतिष्णून् जानन्निति तान् योऽभिहन्ति जहाति, स वै मृत्युतरणकामो योगी मृत्युरिव भूत्वा मृत्युमत्ति तत्त्वज्ञानेन विमुच्यत इत्याशयः । नानेन विषयत्यागस्य साक्षादेव मोक्षहेतुता प्रोक्ता किन्तु विषयरूपबन्धकारणस्य निवृत्तौ बुद्धिनिवृत्तिस्ततो विवेकजन्यव्यापारद्वारा मोक्षस्य कारणत्वमिति । अतो विवेकस्यापि मोक्षे न सद्भावः, परवैराग्यवशात् तस्य च तत्र वह्निवत् स्वाश्रयनाशकत्वात् । स्मर्य्यते हि—"विषयप्रतिसंहारं यः करोति विवेकतः । मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविः" ॥ इति ॥ १२ ॥

मूलानुवाद ।

शब्दरूपरसादि सुखप्रत्ययोंको तुच्छता निरूपणकर जो उनको

परित्याग करते हैं, और त्याग देने पर फिर स्मरणतक नहीं करते, एवं जो ऐसे है कि सुखप्रत्ययोंकी कामनाओंको भी अत्यन्त तुच्छ समझकर त्याग करते हैं, वे मृत्युके भी मृत्यु होकर मानो उस मृत्युका ही संहार कर देते हैं ॥ १२ ॥

कालिकाभास।

धीर लोग किस प्रकार मृत्युका अतिक्रम करते हैं, उसीका यहां विस्तार रूपसे वर्णन होता है। रूपरसादि सब ही प्रत्यय उत्पत्तिशील तथा पतनशील होनेके कारण अनित्य हैं; इसी लिये वे कभी चिरस्थायी सुख भी नहीं दे सकते। बाल्यकालमें कितना विचित्र आनन्द रहता है किन्तु संसारमें प्रवेश करने पर फिर उनका कहीं चिह्न भी नहीं रह जाता; बल्कि उनकी बीती हुई सुखस्मृति और भी कष्टदायकही हो जाती है। सुख प्रत्ययोंका स्वरूप ही ऐसा नश्वर है। इसी लिये उससे इस प्रकार होना ही अच्छा है। जिसमें वे फिर और कभी प्रतिबोधित भी न हो सकें। इस विषयपर योगवाशिष्ठमें एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है:—आकाशमें नीलिमा नहीं है, किन्तु फिर भी हमलोग भ्रमवश उसको नीला देखते हैं, रूपरसादि सांसारिक विषयोंमें भी हम लोगोंको इसी तरहका भ्रम ही होता है। अर्थात् आकाशमें नीलिमाके नहीं रहनेपर भी, हमलोग जिस तरह आकाशको नीला देखते है, ठीक उसी तरह सांसारिक वस्तुओंमें सुख नहीं रहनेपर भी हमलोग अपने मनमें उनको सुखका आधार मानते हैं। इसी लिये सब भ्रमात्मक विषयोंको इस प्रकार विस्मरणकर देना उचित है कि जिसमें वे फिर और कभी स्मृतिपथमें भी नहीं आ सकें।

जब रूपरसादि विषय इस प्रकार अनित्य हैं तो उनकी कामना करके कौन साफल्य प्राप्त करे? इसी लिये उनका भी परित्यागकर निष्कामधर्मका अवलम्बन करना ही उचित है। हम लोगोंका मन एक तरहका मधुपात्र है। जिस प्रकार मधुपात्रसे मधुकोष

निकाल देने पर भी मधु उसमें लगा ही रहजाता है। उसी तरह मनरूप मधुभाण्डसे आपाततः रमणीकी भोगवासना वा कामनारूप मधुको हटा देनेपर भी उसका संस्कार रह ही जाता है। अस्तु यत्नोंके सहारे इन संस्कारोंको भी उखाड़कर फेंकना होगा। विषय तथा विषयकामना परित्यक्त हो जानेपर फिर सर्व्वशून्यताको पानेमें कोई आशङ्का रह नहीं जाती। इन सब अनित्य वस्तुओंको निकाल देनेके बाद नित्यवस्तुका उदय स्वयं ही हो जाता है। स्थूल जगतका प्राकृतिक नियम भी इसका उदाहरण है। मधुपात्रसे समस्त मधु निकाल लेनेपर भी वह पात्र सर्वशून्य नहीं हो जाता। क्योंकि पात्र मधुशून्य होनेपर भी वायुपूर्ण तो रह ही जाता है। सूक्ष्मजगतका भी यही नियम है। समस्त अनित्य वस्तुओंको निकाल देनेपर हमलोग नित्यवस्तुसे परिपूर्ण हो सकते है। इसी लिये योगशास्त्रमें परवैराग्य विवेकख्यातिकी साधना कहकर वर्णित हुआ है।

इन सब बातोंको चिन्ता करके उसे आचार्य कहते हैं कि जो इन्द्रियविषयक सुख एवं सुखविषयक कामनाका त्याग करते है, वेही मृत्युके भी मृत्यु होकर मृत्यु ही का ग्रास करलेते है, अर्थात् संसार मुक्त हो जाते है ॥ १२ ॥

कामानुसारी पुरुषः कामानतु विनश्यति।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत्किञ्चित् पुरुषो रजः॥ १३ ॥

अन्वयः।

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति। पुरुषः कामान् व्युदस्य (विहाय) यत् किञ्चित् रजो धुनुते (संसृतिकारणं नाशयति)॥ १३ ॥

शाङ्करभाष्यम।

एवममित्यादिरूपेण विद्वान् सन् अनादरादिना अभिहन्ति कामान्। यः पुनरनादरादिना नाभिहन्ति स किं करोतीत्याह—

कामिति। यस्तु पुनर्विषयाभिध्यानेन कामानुसारी भवति स कामाननु विनश्यति, कामविषये नष्टे कामाननु कामैः सह विनश्यति। अनित्याः कामगणाः प्रतिक्षणं विनाशान्विताः, तद्वत्कामी विशीर्णो भवति। यस्तु पुनर्विषयदोषदर्शनेन कामान् परित्यजति स कामान् बुद्धस्य परित्यज्य विवेकबुद्ध्या, धुनुते ध्वंसयति यत्किञ्चिदिह जन्मनि जन्मान्तरे च उपार्जितं रजः पुण्यपापादिलक्षणं कर्म्म ॥ १३ ॥

कालिका ।

सकामानां निन्दासमुच्चिचीषया प्राह—कामानुसारीति। शब्दस्पर्शादिसुखप्रत्ययपरमा स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरभोग्यः कामो ममैते भवन्त्विति तृष्णाविशेष स्तदनुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति सर्व्वपुरुषार्थायोग्यो भवति। यो हि तादृशः पुरुषार्थायोग्यः स विनष्ट एवेति लोके वदन्ति। अतो विनश्यतीत्युक्तम्। यत एवं कामाभिहननाभावे परमानर्थप्राप्तिस्ततो महता परिकरबन्धेन सदर्थयोगप्राप्तये कामान् परित्यजेदित्यभिप्रायः।

ननु कस्यविषयानध्यायतोऽपि पुरुषस्य प्रमाणस्वाभाव्यादिन्द्रियाणां विषयेष्वनुसरणं दुष्परिहरं ततश्चोक्तरीत्या सर्व्वेषामपि विनाशप्रसक्तिरित्याशङ्क्याह—कामानिति। पुरुषः कामान् त्रिविधान् स्थूलादिशरीरभोग्यान् विषयान् मनस्येव सङ्कल्पविकल्पात्मके स्थितान् न तु वहिः, यथोक्तमक्षपादाचार्य्यैः—"दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृता" इति, बुद्धस्य विहाय किङ्करीकृतमनाः सन्नित्याशयो रजो यत्किञ्चित् पुण्यापुण्यात्मकं संसृतिकारणं धुनुते नाशयति।

तत्र स्थूलानां कामानां त्याग एकान्तसेवनमात्राद् भवतीति स स्थवीयान्। विलीनकरणग्रामस्य समनस्कस्य जाग्रद्वासनामयाः स्वप्ने ये कामाः स्फुरन्ति ते सूक्ष्मा स्तेषां त्यागो मलिनवासनोच्छेदपूर्व्वकं चित्तप्रसाधनेन परमेश्वरप्रणिधानादिरूपसद्वासनाभ्यासबलेन भवति।

ये तु सम्प्रज्ञातसमाधिफलभूतायां मधुमत्यां योगभूमौ स्थितमुपसंहृतकरणं योगिनं प्रति दिव्याः कामाः सङ्कल्पमात्रोपनीता

योगशास्त्रेषु प्रसिद्धा उपतिष्ठन्ते तेषामपि त्याग इष्टः। तदुक्तं— "स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादि"ति। स्थानिनो देवास्तैरुपनिमन्त्रणे सङ्गो लिप्सा तत्र न कर्त्तव्या, नापि तन्नाभिमानिनो महाभागत्वं देवप्रार्थ्यत्वं मत्वा स्मयो गर्व्वो कर्त्तव्य स्तयोः सङ्गस्मययोर्भ्रंशहेतुत्वादिति सूत्रार्थः। अतः सङ्कल्पविकल्पपङ्कलेपप्रक्षालनेन मनसः स्वच्छतां विधाय पुरुषार्थयोग्यो भवेदित्याशयः ॥१२

मूलानुवाद।

कामनाके वशवर्त्ती होनेसे कामनाके साथ साथ काम्यकामनाका भी नाश हो जाता है। जो मनसे कामनाको विरहितकर सकते हैं (अर्थात् जो मनको दास (किङ्कर) बना सकते हैं) वे पापपुण्यात्मक धूलिसे मुक्त हो सकते हैं ॥ १२ ॥

कालिकाभास।

कामनाके बुरे फलका उल्लेख करते हुए यह श्लोक लिखा गया है। जिस तरह इन्द्रियसुखः क्षणभरके बाद अन्तवान हो जाता है अथवा मिटजाता है, उसी प्रकार इन्द्रियसुखका प्रेमी व्यक्ति भी इन्द्रियसुखके साथ साथ नष्ट हो जाता है, अर्थात् वह सम्पूर्ण पुरुषार्थके अयोग्य हो जाता है।

जब तक प्रमादादि वृत्तिचित्तमें वर्त्तमान रहती है, उतनी देरतक इन्द्रियोंके विषयोंका प्रतिहार करना सम्भव नहीं। अस्तु इससे सबका ही विनाश-प्रसङ्ग आ जाता है। इसी तरहके प्रश्नोंकी आशङ्का करके मूलका शेषभाग कहा गया है। जिन लोगोंने मनसे कामनाओंके विषयोंको संमार्जित किया है,—अर्थात् जिन लोगोंने अपने मनका दास न होकर मनको ही अपना दास बनाया है, वे ही पापपुण्यात्मक धूलिका प्रक्षालन करते हुये संसारमुक्त होते हैं। पुण्य भी स्वर्गादि भोगमें बन्धनका कारण होता है, इसी लिये उसकी रजः ही कहा गया है।

जो सर्व स्थूल तथा सूक्ष्म कामनाएं हैं उनके प्रतिहार करनेका

उपाय पहिले ही कहा गया है। यहां केवल इतना कह देना युक्त जान पड़ता है कि सङ्कल्प विकल्परूप पङ्कलेपका प्रक्षालन करते हुये मनको स्वच्छता सम्पादनकरके पुरुषार्थके योग्य होना ही परम कर्त्तव्य है। और यही इस श्लोकका अभिप्राय भी है ॥ १३ ॥

देहोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते।

मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः ॥ १४ ॥

अन्वयः।

भूतानां देहः अप्रकाशः (अप्रकाशितस्वरूपः)। अयं (देहः) नरकः प्रदृश्यते। उन्मुखाः (आकाशबद्धदृष्टय) श्वभ्रं (कूपादिकं) गच्छन्त इव [देहे] मुह्यन्तः [नरकं प्रति] धावन्ति ॥ १४ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

कथं पुनरस्य देहस्य काम्यमानस्य हेयत्वमित्याह—देह इति। योऽयं भूतानां देहो दृश्यते सः अप्रकाशः अविद्यया कल्प्यमानः केवलं नरकः श्लेष्मासृक्पूयविण्मूत्रक्रिमिपूर्णत्वात्। तथाचाह मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसक्षतजलेपनम्।
चर्म्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ इति।

एवमत्यन्तबीभत्सितं स्त्र्यादिदेहं कमनीयबुद्ध्या गृह्यन्तोऽभिकाङ्क्षन्त एव धावन्ति अनुधावन्ति। गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखा यथा अन्धाः कूपादिकं विवेक्तुमशक्ताः कूपादिषून्मुखाः पतन्ति एवं स्त्र्यादीनभिकांक्षंतो विषयविषान्धा उन्मुखाः पतन्ति नरकेष्वित्यर्थः ॥ १४ ॥

कालिका।

इदानीं देहस्य काम्यमानस्य हेयत्वं दर्शयति—देह इति। भूतानामयं देहो नरकोऽस्त्यचिरप्रकाशो नास्ति प्रकाशः स्वरूपविवेको

यस्मिन् तथाभूतः प्रदृश्यते। अयं भावः—अशुचिरपि देहः शुचिरिव गृह्यते विपर्य्ययकल्प्यमानत्वात् इति। वस्तुतस्तु विण्मूत्रसङ्कुले नरकदेहेऽशुचित्वं प्रसिद्धम्। तथा हि वैयासिकी गाथा—"स्थाना-द्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥" इति।

न चाप्रकाशशब्दस्याभावविशिष्टः प्रकाशस्तदभावो वा नञ्तत्-पुरुषाव्ययीभावाभ्यामर्थः। नञ्तत्पुरुषस्योत्तरपदप्रधानतया किञ्चि-द्धर्माभावविशिष्टप्रकाशप्रतीतिः, अव्ययीभावे तु अप्रकाशमित्येव स्यात्। बहुव्रीहिणाऽल्पत्वमप्रकाशत्वं वार्थो न तु विपरीतख्याति। उक्तार्थानां च न स्वरूपवैपरीत्यमिति वाच्यम्। अगोष्पदवदप्रकाशशब्दस्य सतत्त्वापरपर्य्यायतत्त्वभूतवस्तुविरुद्धे प्रयोगात्। तथाऽगोष्पदं न किञ्चिदभावविशिष्टं गोष्पदं नापि तदभावो नाप्युत्तमगोष्पदं वा किन्तु देशविशेष एव, तथाऽप्रकाशो नोत्तमप्रकाशो नापि प्रमाणरूपप्रकाशा-भावो नापि यत्किञ्चिदभावविशिष्टः प्रकाशः किन्तु प्रकाशविपरीत-ज्ञानान्तरमप्रकाशः। आरोपितः प्रकाशइति च बोधः। आरोपितत्वं च नञर्थः। अशुचित्वे शुचित्वारोपात्।

उन्मुखा आकाशवद्दृष्टयो गच्छन्तो गमनशीलाः श्वभ्रं कूपादिकं प्रति यथा धावन्ति, तथैव देहे मुह्यन्तो नरकं प्रति धावन्ति। १४।

मूलानुवाद।

देहियोंका देह अप्रकाश होता है अर्थात् यथायथ रूपसे प्रका-शित नहीं होता है। यह भी एक प्रकारका नरकविशेष है। जो शरीरके प्रति मुग्ध और अन्धे होकर दौड़ते हैं, वे ऊपर नजर किये दौडनेवाले पुरुषके समान गड्ढेमें गिरते हैं॥ १४॥

कालिकाभास।

इस श्लोकमें काम्यमान शरीरका हेयत्व प्रदर्शित हुआ है। देह विण्मूत्रादिसंकुल होनेके कारण नरकके समान ही परम अपवित्र

है, तथापि साधारण लोगोंके निकट यही पवित्र मानकर गृहीत होता है। क्योंकि उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं है। अशुचि अथवा अपवित्र शरीरको पवित्र वा शुचि माने जानेके लिये यहां आचार्यने अप्रकाश शब्दका व्यवहार किया है। अप्रकाश कहनेसे प्रकाशका अभाव नहीं समझा जायगा, क्योंकि संसारमें लोग देहको देख सकते हैं। और नहीं हो उत्तम प्रकाश जिससे अर्थात्—अनुत्तम प्रकाश—ऐसा अर्थ भी नहीं समझा जायगा। क्योंकि देहका अशुचित्व साधारणतः प्रतीयमान नहीं हैं। अस्तु अप्रकाश शब्दसे विपरीत प्रतीति अर्थात् अन्यरूपका प्रकाश—यही समझा जा सकता है।

अविद्याशब्द भी इसी प्रकारका है। अविद्या कहनेसे विद्या अथवा ज्ञानका अभाव नहीं समझा जाता, क्योंकि मरुभूमिमें जल देखते वक्त जलका ज्ञान है, अस्तु ज्ञानका निरा अभाव नहीं कहा जा-सकता।—नहीं है उत्तम विद्या वा ज्ञान जिसमें ऐसे अर्थसे अनुत्तम विद्या—ऐसा भी नहीं समझा जा सकता। क्योंकि निकट जानेपर इस प्रकारका जलज्ञान बालुकारूप ज्ञानान्तरके द्वारा बाधित होता है। इसलिये विद्याके विपरीत ख्यातिको ही अविद्या कहना होगा। अस्तु अविद्याकी दो (२) शक्तियां स्वीकृत होती है। एक आवरण शक्ति, और दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण शक्तिके वशमें होकर वस्तुका स्वरूप छिप जाता है। इसीसे बालूको (ढ़के रहनेके कारण) बालू नहीं देख सकते। और विक्षेपशक्तिसे वस्तुमे विपरीत ख्याति होती है, इसीसे बालूको भी जल ही देखते है। इस अविद्यानामक विचित्र ज्ञानको 'सत्' नहीं कह सकते, क्योंकि वह ज्ञानान्तरोंसे बाधित होता है। उसको असत् भी नहीं कह सकते—क्योंकि उसी समय उसीके सत्तावश इस प्रकारकी कार्यकारिता शक्ति अनुभव होती है। इसी लिये ऋग्वेद कहते है—"नासदासीत् नो सदासीत्। तदानीं तम आसीत्—"।

बालूकामें जलके आरोप (निश्चय) करनेके समान अशुचित्वमें शुचित्वका आरोप होता है—इसीसे अप्रकाश शब्दसे प्रकाश विपरीत ज्ञानान्तरका बोध होता है। वैयाकरण लोग भी 'अगोष्पद' वा अमित्रादि शब्दोंका इसी तरह अर्थ करते हैं।

जो लोग स्त्रियोंकी देहको सुन्दर तथा पवित्र समझकर उनकी ओर आकर्षित होकर दौड़ते हैं, वे ऊपर नजर किये चलनेवाले पथिकोंके समान गड्ढोंमें गिरते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि रास्तेको देखकर नहीं चलनेसे जिस प्रकार विपत्तियोंमें पड़ना होता है, उसी तरह वस्तुओंके स्वरूपको नहीं पहचाननेसे सातिशय प्रवञ्चित होना पड़ता है ॥ १४ ॥

अमन्यमानः क्षत्रिय किञ्चिदन्य-
नाधीयते तार्ण इवास्य व्याघ्रः।
क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ॥ १५ ॥

अन्वयः।

हे क्षत्रिय, मोहभयान्तरात्मा य एष त्वच्छरीरे स वै मृत्युः। अमन्यमानः किञ्चिदन्यं नाधीयते न (स्मरति)। [कामः] अस्य तार्णः व्याघ्र इव ॥ १५ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

य एवं गृह्यन्त एव धावन्ति तेषां देहो निरर्थक इत्याह—अमन्यमान इति। यः स्त्र्यादिकमभिकांक्षन् अनुधावति स विषयविषान्ध स्तद्व्यतिरिक्तं स्वात्मभूतं परमात्मानममन्यमानोऽप्रतिबुध्यमानो नाधीयते तद्विषयमध्यात्मशास्त्रं नाधिगच्छति। तस्यास्य विषय-विषान्धस्य षडङ्गवेदविदुषोऽपि देहस्तृणनिर्मितव्याघ्र इव निरर्थको भवति। तथा चाह भगवान् वशिष्ठः—चतुर्व्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विन्दति। वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्द्दभः ॥ इति। न केवलं देहो निरर्थकः, अपितु य एवम्भूतः स एव मृत्युरित्याह—

क्रोधाल्लोभान्मोहभयादन्तरात्मा इति। क्रोधलोभाभ्यां हेतुभ्यां मोह-भयसमन्वित: अन्तरात्मा त्वच्छरीरे य एष तव आत्मा दृश्यते स एव तव मृत्यु:। य: पुनरजितेन्द्रिय: क्रोधोलोभादिसमन्वितो विषयेषु प्रवर्त्तते स एव तस्य मृत्यु: विनाशहेतुत्वात्। उक्तञ्च—आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:। इति ॥ १५ ॥

कालिका।

हे क्षत्रिय, मोहभयान्तरात्मा अहंप्रत्ययविषयोऽन्तरात्मा वाह्यात्मानं शरीरमपेक्ष्य आन्तरश्चिदचिद्ग्रन्थिरूपो यो जीवो मोहभयसमन्वित: स वै त्वच्छरीरे मृत्युर्मृत्युरूपो भवति। अतएव शरीरममन्यमानोऽगणयन् तद्भोग्यमन्यं कामविषयं किञ्चिन्नाधीयते स्मरति क्रोधाद्युल्लासपूर्व्वकम्। व्यत्ययो वहुलमिति आत्मनेपदं विकरणश्च। कामोऽस्य तार्णस्तृणमयो व्याघ्र इव भवति। किं कुर्य्यादिति ध्वनि:। यथा समाधावनुभवितरि देहस्याप्रतीतिस्तथा विजिताभिनिवेशे कामानामप्रतिपत्तिरिति दिक् ॥ १५ ॥

मूलानुवाद।

मोहभयसङ्कुलित अन्तरात्मा अर्थात् आत्माका वैभव ही तुममें मृत्युस्वरूप होजाता है। जो शरीरको आपना नहीं समझते वे क्रोध या लोभके वश और दूसरे कोमो भी काम सुखका स्मरणतक नहीं करते। घासके वनावे हुए वाघकी तरह काम उनका कुछ भी नहीं कर सकता है ॥ १५ ॥

कालिकाभास।

शरीरादिके अभिनिवेशसे अन्तरात्मा अर्थात् अन्त:प्रत्ययविषयक आत्मा मोहभयाकुलित हो जाती है। यह अहंप्रत्यय ही तुम्हारे शरीरमें मृत्युस्वरूप होकर रहता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि शरीरके प्रति अभिनिवेशात्मक मोह तथा भय संस्काररूपसे आत्मामें निहित है—इसीसे हमलोग देहपातके (नाश) होनेसे मृत्युका सद्भाव अनुमित कर लेते हैं।

शरीरके लिये काम्यविषयसमूहकी आवश्यकता है, इसी लिये आचार्य कहते हैं कि—जो लोग इस शरीरको अपना नहीं समझते वे क्रोध अथवा लोभके वशमें पडकर कभी काम्यविषयोंका स्मरणतक नहीं करते। जो शरीरको अपना समझकर उसमें मुग्ध नहीं होते—अस्तु जो काम्यविषयोंका स्मरण नहीं करते उनके निकट यह (काम्यवस्तु) घासकी बनाये बाघके समान कुछ भी नहीं करता। समाधिमें जिस प्रकार योगियोंको देह प्रतीति नहीं रहती, उसी तरह जो अभिनिवेशको जीत सकते हैं, उनके ऊपर कामकी दूसरी और कोई भी प्रतिपत्ति नहीं रह जाती। यही इस श्लोकका निष्कर्ष है ॥ १५ ॥

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

अन्वयः।

एवं जायमानं मृत्युं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन् मृत्योः न बिभेति। यथा मर्त्यो मृत्योर्विषयं प्राप्य विनश्यते (नष्टो भवति) [तथा] मृत्युः तस्य विषये [विनश्यति] ॥ १६ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

तर्हि केनोपायेन मृत्योर्विनाश इत्याह—एवमिति। एवं क्रोधादि-रूपेण जायमानं प्रमादाख्यं मृत्युं जननमरणादिसर्व्वानर्थबीजं विदित्वा क्रोधादीन् सम्पाद्य ज्ञानेन चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः। तथाच श्रुतिः—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन"। इति। कस्मात्पुनर्ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योरित्याह—विनश्यत इति। तस्य ज्ञानिनो विषये गोचरे परमात्मनि साक्षात्-क्रियमाणे प्रमादाख्योऽज्ञानमृत्युः। यथा मृत्योर्विषयं संसारमागतो मृत्युनाऽभिभूतो नष्टो भवति मर्त्त्य एवमात्मवेदिनो विषयमागतो

अज्ञानमृत्युर्नष्टो भवति। उक्तञ्च ज्ञानमहोदधौ—"ज्ञानसंस्थानसद्भावो ज्ञानाग्निर्ज्ञानवज्रभृत्। मृत्युं हन्तीति विख्यात: स वीरो वीतमत्सर:"। इति ॥ १६ ॥

कालिका।

कथं तर्हि मृत्योर्न भेतव्यमित्युपसंहरति—एवमिति। मृत्युं प्रमादाख्यमनर्थबीजमेवं मोहरूपेण जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन् ज्ञाननिष्ठावान् सन् पुरुषो मृत्यो: प्रमादाद्वा यमाद्वा न बिभेति। श्रूयते हि—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चने"ति। कथं पुनर्ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योरित्याह—विनश्यत इति। तस्य ज्ञानस्य विषये गोचरे मृत्युर्बन्धो विनश्यति नष्टो भवति। तत्र दृष्टान्त:। यथा मृत्योर्विषयं क्रोधादीन् प्राप्य मर्त्त्यो देहो नश्यति, तथा च ज्ञानेन परमात्मनि साक्षात्क्रियमाणे मृत्युर्नष्टो भवति। अज्ञानकृतो बन्ध: खलु ज्ञानेन नश्यति न कर्म्मणेति निर्गलितार्थ:। तदुक्तं—"ज्ञानसंस्थानसद्भावो ज्ञानाग्निर्ज्ञानवज्रभृत्। मृत्युं हन्तीति विख्यात: स वीरो वीतमत्सर:"। इति ॥ १६ ॥

मूलानुवाद।

मृत्युको प्रमादसे परिणत होते जानकर तत्वज्ञानका आश्रय करनेपर फिर उससे भयका कोई कारण नहीं रहजाता। मरणशील व्यक्ति कामक्रोधादि मृत्युके विषयोंको पाकर जिस प्रकार विनष्ट हो जाता है, तत्त्वज्ञानके उदय होनेपर मृत्यु भी उसीतरह विनष्ट हो जाती है ॥ १६ ॥

कालिकाभास।

किस प्रकारसे मृत्युभय छुड़ाया जासकता है, उसीको कहकर आचार्य उपसंहार करते हैं। प्रमादरूप मोहसे मृत्युकी उत्पत्ति हुई है, इस प्रकार जो विचारपूर्व्वक मोहादि निवारक तत्वज्ञानका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे मृत्युभयसे छुटकारा पा जाते है। इसी लिये श्रुतियां कहती हैं—"जिन लोगोंने एकबार ब्रह्मानन्दका

अनुभव किया है, वे किसी वस्तुसे नहीं डरते—।" पृथक् पृथक् वस्तुओंसे भय उत्पन्न होता है, और एकत्वका दर्शन नहीं होनेसे ब्रह्मानन्द नहीं पाया जासकता—अस्तु ब्रह्मानन्दको पा लेनेपर फिर एकत्व दर्शनके लिये वस्तुओंकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती इसीसे फिर भयका कारण भी नहीं रह जाता। यही श्रुतियोंका अभिप्राय है। बृहदारण्यक उपनिषद में भी कहा गया है—कि प्रकृतिके प्रथम पुत्र, जैव भावके बीजस्वरूप प्रजापति श्रीब्रह्माजी उत्पन्न होते ही, डरे थे,—इसी लिये जीवमात्र को ही डर मालूम होता है। पीछे उन्होंने आलोचना करने पर देखा कि-भय दूसरी ही (वस्तु) से उत्पन्न होता है, और जब यहां मुझको छोड़कर और किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर भयका कारण भी नहीं ही होना चाहिये। इसी लिये जैवज्ञानको हटाकर अद्वैत ज्ञानमें प्रतिष्ठित होने पर जीव भी भयमुक्त हो जाता है।

मृत्युका किस प्रकारसे नाश होता है, आचार्यने उसीका यहां दृष्टान्त दिखलाया है। कामक्रोधादि मृत्युके विषयोंके अधीन हो जानेसे मरणशालि व्यक्ति जिस प्रकार विनष्ट हो जाता है, तत्त्वज्ञानके आधीन हो जानेपर मृत्यु भी उसी तरह विनष्ट होती है॥ १६॥

धृतराष्ट्र उवाच।

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद्विद्वान्नैति कथं नु कर्म्म? १७॥

अन्वयः।

द्विजातीनां [सम्बन्धे] इज्यया (यागादिना) यान् लोकान् पुण्यतमान् सनातनान् [वेदवित्तमाः] आहुः, वेदाः तेषां परार्थं कथयन्ति। एतत् विद्वान् इह नु कथं कर्म्म न एति? ॥ १७॥

शाङ्करभाष्यम् ।

एवं तावत् "कर्म्मोदय" इत्यादिना कर्म्मणां बन्धहेतुत्वमुक्ता "ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्यो:" इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमभिहितम्। तत्र चोदयति धृतराष्ट्र:—यानिति ।

ननु कथं कर्म्मणां बन्धहेतुत्वम्? यावता यानेवाहुरिज्यया ज्योतिष्टोमादिना साधुलोकान् साधुभिर्धार्मिकैराकृष्टान् पुण्यतमान् पवित्रान् सनातनान् नित्यान्, तेषां ब्रह्मलोकपर्य्यन्तानां परार्थं परमपुरुषार्थत्वं कथयन्ति इह अस्मिन् संसारमण्डले वेदा: । एतत् लोकानां परमपुरुषार्थत्वं विद्वान् कथं नु साधनं कर्म्म नैति न गच्छति नानुतिष्ठतीत्यर्थ: । अथवा एतत् ब्रह्मलोकपर्य्यन्तानां लोकानां साधनभूतं कर्म्म विद्वान् ब्रह्मवित् कथं नैति नानुतिष्ठतीति ॥ * १७ ॥

कालिका ।

"अक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्ययाजिन: सुकृतं भवती"त्यादिश्रुतिरत्र शङ्कते—यानिति । सर्व्वे द्विजातीनां सम्बन्धे इज्यया सोपासनेन यागादिना साधुलोकान् सत्यलोकाद्याख्यान् पुण्यतमान् स्वर्गाद्यपेक्षया पुण्यान् सनातनान् व्यवहारापेक्षया नित्यान् यान् कुर्वैदविदस्तेषां महल्लोकानां परार्थं परार्थत्वं पुरुषार्थतासाधकत्वमिति यावत् कथयन्ति वेदा "अपाम सोमममृता अभूम" इत्येवमाद्या: श्रुतय: । एतत् कर्म्मणां क्रममुक्तिहेतुत्वं विद्वान् जानन्नपि कथं नु प्रश्ने कर्म्म यागादिकं नैति न शरणीकरोति । वेदानुवचनात् पुरुषाणां कर्म्मणि प्रवृत्ति: । यो हि वेदोक्तं नित्यनैमित्तिकं कर्म्म करोति स सकलं भद्रमश्नुते । अत: कर्म्मणा यदि पुरुषार्थसिद्धिस्तर्हि ज्ञानेनायासलभ्येन किं प्रयोजनमिति प्रश्नकार्थ: ॥ १७ ॥

मूलानुवाद ।

द्विजातियां उपास्तिगत यज्ञादि द्वारा परम पुण्यतम सनातन लोकमें जाते है, और इन सब लोकोंसे मुक्तिक्रमकी प्रणालीके अनु-

---

* अथर्वेत्यादिनाश्रयं शाण्डिल्यगौडादिग्रन्थेषु न दृश्यते ।

सार परार्थ अर्थात् मोक्ष पाते हैं, यही वेदोंमें कहा गया है। तो फिर विद्वान लोग मुक्तिके लिये इस तरहके कर्म्म क्यों नहीं करते? ॥ १७ ॥

कालिकाभास।

कर्म्मफल यदि क्षयशील हो, तो—"चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षयपुण्य ही है"—इत्यादि श्रौत वाचनोंका तात्पर्य्य क्या है, उसे ही निर्णय करनेके लिये यह श्लोक कहा गया है। जिसको मन्त्रोंके अर्थोंकी जानकारी नहीं है, वे आवृत्तिके सहारे कर्म्मानुष्ठान करके जो पुण्य अर्जन करते हैं, वही स्वर्गादि भोगका कारण होता है। और जो मन्त्रोंके अर्थ, भाव, प्रयोग तथा आशयादिको जानकर कर्म्मानुष्ठान करते हैं, उनका कर्म अधिक वीर्यवान होता है, इसी लिये वे पुण्यतम सनातन लोकादि पाते हैं, और इन सब लोकोंके आश्रय करलेने पर भी मुक्तिक्रमकी प्रणालीके अनुसार वे परार्थ अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ पाते हैं। लोकान्तरोंमें चले जानेके वाद भी जैसे आत्माका उत्कर्ष हो सकता है, वह प्रश्नोपनिषदमें और तो क्या सप्तशतीतकमें भी स्वीकृत हुआ है। क्योंकि देवतागण भगवतीकी प्रार्थना करते हुए, कहते हैं—"स्वर्गं प्रयाति च ततो भवती प्रसादाल्लोकद्वयेऽपि फलदा ननु देवि तेन।" इससे यह जान पड़ता है, कि परलोकमें भी आत्माका उत्कर्ष हो सकता है। यदि कोई कहे कि मोक्षाधिकार तो केवल मनुष्योंका ही सुनता हूं—तो इसपर हमलोग कहेंगे कि भगवान वादरायण न्यायप्रस्थानमें देवता लोगोंको भी मुक्तिका प्रतिपादन किया है। इसी लिये आचार्य कहते है—"ईक्षति कर्म्मव्यपदेशात् सः"—। इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें कहते है,—क्रममुक्तिसिद्धान्त दोषावह नहीं है।

और यही यदि वेदोंका अभिप्राय हो तो यति, नैष्ठिक अथवा विद्वान कर्म्मके आश्रयको नहीं धारण करते—ऐसा क्यों होता है—इस श्लोकमें यही दिखलाया गया है ॥ १७ ॥

सनत्सुजात उवाच ।

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तथार्थजातं च वदन्ति वेदाः
स नेह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहन्त्यमार्गान् ॥ १८ ॥

अन्वयः ।

अविद्वान् हि एवम् तत्र उपयाति । वेदाः च तथा अर्थजातं वदन्ति । स इह न आयाति [किन्तु] मार्गेण (ब्रह्मज्ञानेन) अमार्गान् (भोगमार्गान्) निहन्ति । परात्मा [सन्] परं प्रयाति (सत्सम्पन्नो भवति) ॥ १८ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—एवमिति । सत्यम् एवमेव ब्रह्मलोकादिसाध्यं सुखं परमार्थं मन्यमानो विषयविषान्धो ह्यविद्वान् उपयाति तत्र तस्मिन् ब्रह्मलोकादिसाधनभूते कर्म्मणि न विद्वान्, अविद्यादिदोषदर्शनात् । तथा च बृहदारण्यके—"आनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ॥ इति ।

तथाऽर्थजातं च प्रयोजनजातं च तस्यैवाविदुषो वदन्ति वेदाः । यस्मादविदुष एव वदन्ति न विदुषः, तस्मात् नेह सः विद्वान् ब्रह्मलोकाद्यनित्यसुखे तत्साधने वा कर्म्मणि आयाति प्रवर्त्तते । किं तर्हि कुरुते ? तत्राह—परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य परात्मा सन् ब्रह्मैव सन् परं प्रयाति । मार्गेण निहन्ति अमार्गान् संसारहेतुभूतानात्मनो विरुद्धमार्गान् धर्म्माधर्म्मोपासनारूपान् । अथवा, "एवं हि विद्वानुपयाति तत्र" इति पाठे सगुणब्रह्म विद्वान् तत्र ब्रह्मलोकादावुपासनाफलमुपयाति प्राप्नोति । तथाऽर्थजातं च अस्य वदन्ति वेदाः । कीदृशं वदन्ति ? सः विद्वान् इह अस्मिन् लोके कर्मेव नायाति न

जायते, किन्तु मार्गेण ब्रह्मोपासनया अमार्गान् निहन्ति। एवं तत्र गत्वा संसारहेतून् अमार्गान् निहत्य परात्मा ब्रह्मात्मा सन् कालेन परं ब्रह्म प्रयातीत्यर्थः॥ १८॥

कालिका।

एवं त्वदुक्तक्रमेण हि सत्यमेवाऽविद्वान् कर्म्मी नत्वोपयानि कर्म्मणि प्रवृत्तो भवति। प्रवृत्तिहेतुश्च—कर्म्माधिगमाद् ब्रह्मविविदिषा जायते, विविदिषायां जातायां नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयोपपत्ति-रुपयुज्यते, विविदिषापेक्षिते साधनचतुष्टय उपलब्धे सति ब्रह्मज्ञान-मुदेतीति। अतो हि स्मृतिः—"न कर्म्माणि त्यजेद् योगी कर्म्मभि स्त्यज्यते ह्यसौ"॥ इति। वेदास्तथाऽविदुषयथार्थंजातं कर्म्मणः प्रयो-जनमात्रं वदन्ति। तथा हि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विवि-दिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"त्यादिना यागादिकर्म्म विद्याङ्ग-त्वेन जायते। यस्मादविदुष एव तन्मार्गं वेदा वदन्ति न विदुष-स्तस्मात् स विद्वानिह कर्म्मणि नायाति न प्रवर्त्तते। विरमति कर्म्मणः स्वानधिकारादिति भावः। स विद्वान्। मार्गेण ब्रह्मोपासनज्ञानेन। ब्रह्मोपासनं च द्विविधमेकं प्रकृतिकार्य्येभ्यो विविक्ते ब्रह्मचैतन्य आत्म-तत्त्वचिन्तनमपरमंशांशिकार्य्य-कारणशक्तिशक्तिमदादिभिस्तप्तायःपिण्ड-वदविभागलक्षणेनाभेदेन च—अहं ब्रह्म, सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म चेति चिन्तनमिति। अमार्गान् भोगमार्गान् संसारहेतुभूतानात्मनो विप-रीतान् निहन्ति रुणद्धि। अपि च—स परात्मा सन् परं प्रयाति शुद्धतत्त्वमात्रेणान्तःकरणेन परमात्माभिन्नं प्रत्यक्चैतन्यं साक्षात्कुर्व्वन् परमानन्दघने निष्कलेन रूपेणावतिष्ठते॥ १८॥

मूलानुवाद।

सनत्सुजातने कहा—पराविद्या जिनको नहीं अधिगत है वे कर्म्ममें प्रवृत्त होवें—वेदका यही आदेश है, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे सन्मार्गके द्वारा अर्थात् ब्रह्मोपासनके द्वारा अमार्गको अर्थात् भोगप्रद कर्ममार्गको त्यागकर ब्रह्मसम्पन्न हो जाते हैं॥ १८॥

कालिकाभास।

धृतराष्ट्रके प्रश्नका यही उद्देश्य है कि कर्म क्रममुक्तिका कारण है, तथापि ज्ञानी लोग कर्म्म न करके कष्टसाध्य ज्ञानके लिये क्यों प्रयास करते हैं? इस प्रकारके प्रश्नबोजको पाकर आचार्य उसका पूर्णतया उत्तर देते हैं। परा विद्या जिनको नहीं अधिगत हुई है वे अविद्वान हैं। अविद्वान कर्म्म करनेमें प्रवृत्त होगा—क्योंकि कर्म्म ही उसके पक्षमें प्रशस्त होगा, और कर्म ही उसके पक्षमें श्रेयस्कर है। और यही वेदोंका आदेश भी है। और इस प्रकारके आदेश देनेका कारण भी यही है कि कर्मके अधिगत हो जाने पर ब्रह्म-विविदिषा होती है, अर्थात् ब्रह्म कौन सा पदार्थ है, यह जाननेकी प्रवृत्ति होती है। ब्रह्मविविदिषा हो जाने पर—नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्रफलभोगवैराग्य, शमदमादिसम्पत्ति तथा मुमुक्षुता यही चार साधनचतुष्टयोंकी उपलब्धि होती है। साधनचतुष्टयोंकी उपलब्धि हो जाने पर तत्त्वज्ञानका उदय होता है, एवं तत्त्वज्ञानके उदय होनेसे अविद्या दूर हो जाती है, अस्तु कर्म इस अवस्थामें स्वतः परित्यक्त हो जाता है। इसी लिये भगवान वसिष्ठने कहा है—कर्म्मत्याग करनेका प्रयोजन नहीं है, क्योंकि ज्ञानके उदय होने पर कर्म्म स्वतः परित्यक्त हो जाता है।

वेदने अविद्वानों ही के लिये कर्म्मविधान किया है, इसीसे विद्वान लोग कर्म्ममें नहीं प्रवृत्त होते; अथवा वे कर्म्ममें प्रवृत्त होने पर भी उसके फलभोगमें प्रवृत्ति नहीं रखते। अस्तु कर्मके करने या नहीं करनेका निर्णय साधक ही के अधिकार भेदसे निश्चित हो सकता है। जिस प्रकार अष्टाङ्ग योगके उपदेश रहने पर भी कोई कोई तीव्र संवेगशाली योगी आरम्भसे ही परवैराग्यके अवलम्बनपूर्व्वक असम्प्रज्ञातसमाधि लाभ करते हैं, उसी तरह कोई कोई साधक अधिकारवश कर्मकी सीढ़ियोंको लांघकर पहलेसे ही ब्रह्मोपासना करते हैं।

विद्वान वा तत्त्वज्ञानी सन्मार्गके द्वारा असमार्गका त्याग करते हैं, अर्थात् ब्रह्मोपासना द्वारा भोगप्रद सकाम कर्मका परित्याग करते हैं। ब्रह्मोपासना अनेक प्रकारकी है। उसमें जो प्रपञ्चकी परमार्थता नहीं स्वीकार करते वे प्रकृतिके कार्य्यसमूहको मायाका विकाश समझकर उससे पृथक्भूत, ब्रह्मचैतन्यमें आत्मतत्त्वका चिन्तन करते हैं। हैरण्यगर्भमें तो चित्तादि सब की सत्ता स्वीकृत हुई है, इसीसे ये लोग योग की अपेक्षा न रखकर विचारणाके द्वारा चित्तदोषको मिटाते हुये, ब्रह्मसाक्षात्कारमें प्रवृत्त होते हैं। और जो लोग प्रपञ्च परमार्थवादी है, वे सब जिस प्रकार अग्निसंयोगसे लाल लोहेका टुकड़ा विभक्त नहीं होता, अर्थात् उसमें इतना भाग लोहा एवं इतना भाग अग्नि है, इस तरहका कोई विभाग सम्भवपर नहीं हो सकता, उसी तरह ब्रह्म और जगतमें कोई पार्थक्य की कल्पनातक नहीं की जा सकती, इसी लिये,—"सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म"से समाम चिन्ता करते है। अग्नि तथा लौह खण्डके विभाग की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि लौहपिण्डके प्रत्येक परमाणु अग्निसे अभिन्न है, और अग्नि उसके प्रत्येक परमाणुका स्वरूप हो गया है। इसी तरह जगत् ब्रह्ममय एवं ब्रह्म जगन्मय होनेके कारण जगत और ब्रह्मकी विभागकल्पना भी सम्भवपर नहीं है। इसी लिये मूर्त्तिरहस्यमें कहा गया है—"सर्व्वरूपमयी देवी सर्व्वं देवीमयं जगत्"—इत्यादि। अर्थात् ब्रह्मस्वरूपिणी देवी भगवती संसारके स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुवोंका रूप धारण किये हैं, अस्तु सकल वस्तु देवीमय हो गया है। श्रुतियां भी कहती हैं—जिससे विश्वकी उत्पत्ति, जिसमें विश्वकी स्थिति तथा जिसमें ही अन्तमें विश्व विलीन होता है, वही ब्रह्म है।

शेषोक्त मतानुसार संसारके वस्तुओंकी सत्ता स्वीकृत हुई है, इसी लिये इस सम्प्रदायको प्रपञ्चपरमार्थवादी कहते हैं। वे लोग ब्रह्मोपासनाके लिये योगकी अपेक्षा करते है। महर्षि दक्ष इसी सम्प्रदायके ब्रह्मोपासक थे। वे कहते हैं—"स्वसंवेद्य

हि तद्ब्रह्म जात्यन्धो हि यथा घटम्। अयोगी नैव जानाति कुमारी स्त्रीसुखं यथा॥" अर्थात् जन्मान्ध व्यक्ति जिस प्रकार घट जिस रूपका है, यह नहीं जानता, और कुमारी जिस प्रकार स्त्रीसुख नहीं समझ सकती, उसी तरह अपने अन्दरके ज्ञातव्य ब्रह्मको अयोगी कभी किसी तरह नहीं जान सकता। हमारे आचार्य सनत्सुजात भी इसी तरह की विचारप्रणालीका अवलम्बन कर धृतराष्ट्रको उपदेश देते हैं। इसी लिये उनसे उपदिष्ट ब्रह्मविद्या ग्रन्थका पूर्व्वभाग योगोपसर्ज्जनीके नामसे प्रसिद्ध है।

ब्रह्मोपासना कहनेसे कोई उपासना विशेष की कल्पना अवश्य भाविनी नहीं है। अधिकार भेदसे सभी सम्प्रदाय ब्रह्मोपासना करते है। ब्रह्म कहनेसे कोई विशेष विशेषित वस्तुका लक्ष्य किया गया ऐसा शास्त्रोंका अभिप्राय नहीं है। जो सत् चित् आनन्द तथा निरतिशय बृहत् है, वही ब्रह्म है। व्यवहारके लिये ही नामोंकी सृष्टि हुई है। इसी लिये ब्रह्म कहनेसे इस प्रकारका गुणसन्निवेश समझना चाहिये। उपासक चाहे शाक्त हो अथवा वैष्णव हो, किन्तु जिस समय वह अपनी इष्टदेवताको इन सब विशेषणोंसे विशेषित करता है, उस समय उसकी इष्टदेवता ब्रह्मरूपमें सिद्ध होती है। अस्तु इसमें सम्प्रदायगत किसी तरहके द्वैधभावकी सम्भावना नहीं है॥ १८॥

धृतराष्ट्र उवाच।

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्व्वमनुक्रमेण।
किं वास्य कार्य्यमथवा सुखञ्च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्व्वं यथावत्॥ १९॥

अन्वयः।

चेत् (यदि) सः अनुक्रमेण इदं सर्व्वं [भवति], कः तं

पुराणम् अजं नियुङ्क्ते ? किं वास्य कार्य्यम् ? अथवा [किं] सुखम् ? विद्वन् तत् मे यथावत् ब्रूहि। १८।

शाङ्करभाष्यम्।

एवं तावत्प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य मृत्युत्वम् अप्रमादस्य स्वरूपावस्थानलक्षणस्यामृतत्वम् "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इत्यादिना दर्शयित्वा "आस्वादेष निःसरते नराणाम्" इत्यादिना "स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः" इत्यन्तेन तस्यैव कार्य्यात्मना परिणतस्य सर्वानर्थहेतुत्वं दर्शयित्वा, कथमस्य मृत्योर्विनाश इत्याशङ्क्य, "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः" इति आत्मज्ञानेन मृत्युविनाशं दर्शयित्वा "यानेवाहुरिज्यया" इत्यादिना ब्रह्मलोकादेः पुरुषार्थत्वमाशङ्क्य "एवं ह्यविद्वान्" इत्यादिना तेषामविद्याविषयत्वेनापुरुषार्थत्वमुक्त्वा, "परं परात्मा प्रयाति मार्गेण" इति ज्ञानमार्गेण मोक्षश्च उपदिष्टः। तत्र "परं परात्मा प्रयाति" इति जीवपरयोरैकत्वमुक्तम्। तदसहमानश्चोदयति धृतराष्ट्रः—कोऽसाविति।

ननु यदि स एव सत्यादिलक्षणः परमात्मा क्रमेण आकाशादि धरित्र्यन्तं सृष्ट्वा तदनुप्रविश्यान्नमयाद्यात्मना स्थितः संसरति तदा कोऽसौ तं सत्यादिलक्षणम् अजं संसारे नियुंक्ते प्रेरयति ? किमन्येन, स्वयमेवेति चेत्, किं वाऽस्य नानायोनिषु प्रवर्त्तमानस्य कार्य्यं प्रयोजनम् ? अथवा, नानायोनिषु प्रवर्त्तमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वे महिम्नि स्थितस्य संसारानुप्रवेशे असुखम् अनर्थजातं वा किं भवति ? हे विद्वन्, मे ब्रूहि सर्व्वं यथावत्। तथा च ब्रह्मविदामेकःपुण्डरीको भगवान् याज्ञवल्क्यः तत एव सर्वस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैव जीवात्मत्वमभ्युपगम्य—"यद्येवं स कथं ब्रह्म पापयोनिषु जायते। ईश्वरश्च कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते" इति। "कोऽसौ नियुंक्ते" इत्यनेन भगवतोक्तमेव ब्रह्मजीववादपक्षं वावदूकचोद्यं स्वयमेव स्पष्टमुक्तवान्॥ १८॥

कालिका।

ननु, जीवः परं प्रयातीति चेत्, पर एव जीवत्वं प्राप्नोतीत्युक्तं भवति। एवं जीवपरयोरैकत्वमसहमानो वावदूको धृतराष्ट्रश्चोदयति —कोऽसाविति। तं परमात्मानम्। अजं जन्मादिरहितम्। यो हि जायते स एव जन्मानन्तरमस्तित्वं भजते, परमात्मा न जायते इत्यजः। पुराणं पुरापि नव एव न तु परिणामतो रूपान्तरं प्राप्य नवो भवतीत्यनेनै तस्य परिणामित्वं निरस्तम्। तादृशं परं कोऽसौ नियुङ्क्ते? न कोऽपीति ध्वनिः। नियोजकान्तरसद्भावे तस्य परत्वापत्तेः। श्रुतयश्च तस्यैव परत्वं प्रतिपादयन्ति—"न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके, न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" ॥ इत्येवमाद्याः।

ननु, सर्व्वार्थशक्तियुक्तः परो नियोजकान्तरं विना यद्यपि स्वयमेव सर्व्वमिदं चेतनाचेतनं भवति, तथापि तस्य कार्य्यं प्रवृत्तिपूर्व्वकं प्रयोजनं विना नोपपद्यते। पूर्णकामस्य प्रयोजनाभावात्। तदुक्तं "पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः। मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः" ॥ इति। अतः प्रयोजनं विना यद्यपि परमात्मनो जगदाकारेण परिणामित्वं भवति, तस्मिन् नितान्ताप्रेक्षाकारित्वापत्तिरेव प्रसज्येत। "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते" इति- न्यायात्। एवं मत्वा पृच्छति धृतराष्ट्रः—किं वाऽस्य कार्य्यमिति।

पुनरपि, लोकस्य सुखोन्मत्तस्य सुखोद्रेकात् फलनिरपेक्षाः केवललीलैकप्रयोजनाः कन्दुकचतुरङ्गाद्यारम्भा दृश्यन्ते। यदि सृष्टौ [illegible]विधा परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनो परिकल्प्येत, परिपूर्णत्वं तस्य बाध्येत, यद्वा प्रयोजनाभावे प्रवृत्त्यभावो भवेदित्याशङ्क्याह —अथवा सुखञ्चेति। कन्दुकादिक्रीडापि सुखार्थमेव क्रियते, न हि परस्य सुखलिप्सा वर्त्तते, न च स्वात्मानं स्वयमेव सङ्कटे पातयतः सुखं सम्भवतीति दिक्। १८।

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्र बोले—वे (ब्रह्म) यदि जीवादि रूपमें परिणत होकर रहते है तो उस जन्मादि वर्ज्जित पुराणपुरुषने किसके द्वारा नियोजित होकर इस प्रकारके रूप एवं परिणाम को पाया है? और यदि स्वतन्त्र पुरुष हो तो भी इस तरहके रूप परिणाम को स्वीकार करनेका उनको प्रयोजन ही क्या है अथवा सुख भी क्या है? इन सभी बातोंको आप मुझे अच्छी तरह समझा दें॥ १८॥

कालिकाभास।

पूर्व्व श्लोक में कहा जा चुका है कि जीव ज्ञानके द्वारा ब्रह्म-सम्पन्न होता है। इससे यही सिद्धान्त होता है, कि ब्रह्म ही, जीवत्वको पाता है। जीव तथा ब्रह्म की एकत्व कल्पना नहीं कर सकने पर धृतराष्ट्र आचार्य्यसे फिर भी प्रश्न करते हैं।

जन्मादि रहित को 'अज' कहते हैं। परमात्माका भी जन्म नहीं है। जो प्राचीनकालसे ही अवस्थित होकर भी 'नवीन' ही हैं, अर्थात् जिनमें समयका परिणाम नहीं है उन्हींको 'पुराण' कहते हैं। हम लोग प्रचलित भाषा में 'पुराण' शब्दको जीर्ण का पर्य्याय कहते हैं किन्तु संस्कृत साहित्य में इस तरह का व्यवहार नहीं होता। संस्कृत में 'पुराण' शब्द अपरिणामका द्योतन करता है। और इस अनुवाद में भी ऐसा ही समझना चाहिए। केवल एक परमात्मा में ही परिणामित्व निरस्त होता है, इसीसे केवल वे ही "पुराण" है। अतएव धृतराष्ट्रने जिज्ञासा की कि—इस प्रकारके अज, पुराणपुरुष किसके द्वारा नियोजित होकर जीवाकार में परिणत हुए हैं?—उनका कोई नियोजक नहीं है—इस प्रकार की ध्वनि प्रश्न ही में व्यक्त हो रही है। वेद भी उनका किसीसे नियोज्य होनेके सम्बन्ध की कल्पना न करके उनका श्रेष्ठत्व ही प्रतिपादन करते हैं। श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने वाले मन्त्रका भावार्थ यह है—समस्त चराचर में उनका स्वामी कोई भी नहीं है, न उनका कोई

ईशिता वा शासनकर्त्ता ही है, और न उनका कोई लिङ्ग ही है, अर्थात् न तो वे पुरुष है न स्त्री ही है न और कोई दूसरे ही हैं। उनका जनक (जन्म देनेवाला) भी कोई नहीं, पालक भी कोई नहीं है। बल्कि वे ही समस्त वस्तुओंके जनक, पालक, तथा सब कारणोंके भी कारण कहे जाते हैं।

और भी स्वतन्त्र तथा सर्व्वशक्तिमान् परमेश्वर यद्यपि स्वय जीवों में व्याप्त वा परिणत होकर रहते हैं किन्तु तो भी, उनका इस तरह के कार्य्य में प्रवृत्ति रखने पर आपना कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। यदि पूर्णकाम हैं तो उनकी प्रवृत्ति भी उचित नहीं है। शास्त्र भी कहते हैं—उस पूर्णानन्द परमेश्वरमें प्रयोजन बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती, क्योंकि मुक्तपुरुष भी यदि आप्तकाम हो जाते है तो वह सर्व्वात्मक परमेश्वर भी आप्तकाम न होंगे इससे अधिक आश्चर्य की और कौन सी बात होगी? और यदि वे विना प्रयोजन ही जीवाकार में परिणत होकर रहते हों तो उससे उनमें प्रेक्षाकारित्वका अभाव होता है। प्रयोजन के विना मूर्ख व्यक्ति भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता इस (बात) को सब ही जानते है। अस्तु पूर्णब्रह्म परमेश्वर प्रयोजन विना ही काम करते है—यह क्या सम्भव हो सकता है।

इन सब बातोंको मन ही मन विचार कर धृतराष्ट्रने पूछा— परिणाम स्वीकार कर लेने पर फिर उसके प्रयोजन की आवश्यकता ही क्या है? अर्थात् जीवत्वमें परिणत हो जाने पर उनका कोई भी प्रयोजन सिद्ध वा साधित होता है?

फिर भी धृतराष्ट्र सोचने लगे—कि सुखकी अभिलाषासे लोग फलसे निरपेक्ष होकर कन्दुक (गेंद) वा चतुरङ्ग (सतरञ्ज) का खेल सचमुच खेलते है, किन्तु इस प्रकार की क्रीड़ामें प्रवृत्तिका यदि परमेश्वरमें आरोप की जाय तो फिर उनको अदृप्त कहना पड़ेगा। और यदि क्रीडाके लिये ही वे अपनेको जीवत्वमें परिणत करते हैं, तोभी यह उनका प्रेक्षाकारित्वका परिचय नहीं है।

क्योंकि जीवको बहुत तरहके दुखोंका घात प्रतिघात सहना पड़ता है, अस्तु इस तरह की क्रीडासे किसी सुखके पाने की सम्भावना नहीं है। और यदि कहा जाय कि दुखके अन्त होने पर सुख होता है, तो फिर कहना होगा कि कौन अपने आप ही अपनेका सङ्कटमें डालकर सङ्कटोद्धारका सुख पाना चाहता है? इस तरह को चिन्ता करके धृतराष्ट्रने आचार्यसे फिर पूछा—कि फिर सुख हो क्या है? अर्थात् जीव होकर तो कितने ही दुखोंको भोगना पड़ता है, अस्तु दुख भोगकर वे कौन सा सुख पाते है?॥ १९॥

सनत्सुजात उवाच।

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमपैति किञ्चि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः॥ २०॥

अन्वयः।

अत्र विभेदयोगे (जीवपरेशयोर्भेदसिद्धान्ते) महान् दोषः। हि अनादियोगेन (मायायोगेन) नित्याः भवन्ति। [एकः पुमान्] अनादियोगेन पुंसः भवन्ति, तथा [अपि] अस्य आधिक्यं किञ्चित् न अपैति॥ २०॥

शाङ्करभाष्यम।

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—दोष इति। यद्येवं चोदयत एषोऽभिप्रायः—नियोज्यनियोक्तृत्वादिभेददर्शनादेकस्य कूटस्थस्य तदसम्भवाद्भेदेन भवितव्यमिति। तत्र यदि ब्रह्मण एव नानात्वमभ्युपगम्यते चेत्—तदा तस्मिन् भेदयोगे ब्रह्मणो नानात्वयोगे दोषो महान्। को दोषः? द्वैतिनो ह्यतथावादिनो वैदिका भवेयुः, वेदहृदयं परमार्थमद्वैतं च बाध्यं स्यात्। किञ्च,नानारूपेण परिणतत्वात् अनित्यादिदोषोऽस्य स्यादिवाक्यविरोधश्च प्रसज्येत।

अथोच्यते नास्माभिर्ब्रह्मणो नानात्वमभ्युपगम्यते अपितु जीव-परयोर्भेदोऽभ्युपगम्यत इति। अत्रापि महान् दोषः, यतो विनाशं प्राप्नोति। श्रूयते च—"मृत्योः स मृत्युम्" इत्यादि। "यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" इति। अत्र जीवपरयोर्भेदेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणभाषितत्वादवैदिकत्वं नाम महान् दोषो भवति। कथं तर्हि त्वत्पक्षे जीवेश्वरादिव्यवहारभेदः, कथं वा तेषां नित्यत्वमिति? तत्राह—"अनादियोगेन भवन्ति नित्याः इति। अनादिरविद्या माया। तथा चोक्तं—प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इति। "इयं हि साक्षात्" इति च। तद्योगेन अनादिमायायोगेन भवन्ति जीवादयो नित्याः, अद्वितीयस्यापि परमात्मनो मायया बहुरूपत्वमुपपद्यत एव इत्यर्थः। श्रूयते च एकस्यैव बहुरूपत्वम्—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" "एको देवः सर्व्वभूतेषु गूढः" "एकं सद्विप्राः" "एकं सन्तं बहुधा" "एकः सन् बहुधा विचचार" "त्वमेकोऽसि" "अजायमानो बहुधा विजायते" इति। तथा च मोक्षधर्म्मे—"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः॥ एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्"॥ १॥ तथा च याज्ञवल्क्यः—"आकाशमेकम्" इति च। तथा च कावषेय गीतासु—"न जायते म्रियते वा" इति। तथा चाह भगवान्—"अहं प्रशास्ता सर्व्वस्य" इति। "न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत् प्रभुः" इति। किञ्च, मायानिमित्ते भेदेऽभ्युपगम्यमाने अस्य परमात्मनः कार्य्य-कारणात्मना अवस्थितस्य आधिक्यम् आधिपत्यं नापैति किञ्चित् किञ्चि-दपि, मायात्मकत्वात् संसारस्य कूटस्थ एव भवतीत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् अनादियोगेन अनाद्यविद्यायोगेन भवन्ति पुंसः पुमांसो जीवाः बहवो भवन्ति।

अथवा, पुंसः पुरुषस्य पूर्णस्य परमात्मनो या माया अनादिसिद्धा तद्योगेन बहवो भवन्ति। तथा च एतत् सर्वमनुगीतासु अष्टमा-भगवान्—"इदं जगदनेकमिति वेदानुशासनम्" इति, तथा चाह

भगवान् पराशर आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वम्—"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः" इति। तथा चैतत् स्पष्टमाह भगवान् सनत्सुजातः। ब्राह्मे पुराणे कावषेयगीतासु च—"असङ्गेन वेदात् पठध्वम्" इति ॥ २० ॥

कालिका।

जीवेश्वरयोर्भेदं वारयन् सिद्धान्तमाह—दोष इति। विभेदो वैलक्षण्यं तद्योगे जीवपरेशयोर्भेदसिद्धान्ते महान् दोषः सत्यापत्त्याद्यः। तस्य परत्वापत्तेः। दोषशब्देन व्यपदिश्यते च विभेदयोगं प्रतिपादयत्सु नाम निरीश्वरे तत्त्वे सिद्धे सति लोका निरीश्वरा अवैदिकाः स्युः श्रुतिश्च सर्व्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गत एकस्यान्यात्मत्वाभावात् परमार्थदृशि व्यर्था भविष्यतीति। अतो जीवपरेशयोर्भेद औपाधिको न तु तात्त्विक इत्यभिप्रायः। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्येवमादिश्रुतेः। तदुक्तं गौडपादाचार्य्यैः—नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन। न पृथङ् नापृथक् किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः॥ इति। मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽयं कथञ्चन। तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्त्यतामसृतं व्रजेत्॥ इति च। तदेव पुनः स्पष्टीकरोति—हीति। हि यतः। अनादि माया या परमेश्वरनिकटवर्त्तिनी किं कुर्व्वाणाऽवतिष्ठते। तदुक्तं—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"। इति। 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा"॥ इति च। तद्योगेन मायायोगेन मायाविकारभूतभोक्तृभोगभोग्यार्थयुक्ततयेति भावः, जीवादयो विभक्ता अपि घटाकाशादिन्यायेन नित्या भवन्ति। अयमेवाशयः—अद्वितीयस्य परमात्मनो मायया जीव स्तस्मादत्यन्तं भिन्न इव दृश्यते [illegible] किन्तु परमार्थतो घटाकाशमहाकाशयोरिव तयोर्भेदो न युक्त इति। तदुक्तं—"घटसंवृतमाकाशं नीयमाने यथा घटे। घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः" ॥ इति। भेदस्तु तयो र्यद्यपि लोके व्यवहारसिद्धस्तथापि ज्ञान-

ध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य जीवस्य देहेन्द्रियसङ्घातात् समुत्थास्यतः परमात्मनैक्योपपत्तेः स न पारमार्थिकः। अतो हि शास्त्रेषु तद्भविष्यन्तमभेदमुपादाय व्यवहारसिद्धभेदकालेऽपि जीवपरयोरभेद उक्तः। यत्राहुः पाञ्चरात्रिकाः—"आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च। मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावत"॥ इति। तत्र शास्त्रमप्याह जीवो ज्ञानध्यानादिसाधनैः स्वाभाविकमेव तस्य नामरूपप्रपञ्चाद्भवत्यन्तरं भेदकालुष्यमपनीय पार्थिवानामणूनां श्यामत्वं पाकेनेव परात्परं पुरुषमुपैतीति। श्रुतिश्च—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥" इत्येवमाद्या। तथेति। अनादियोगेन मायायोगेन पुमानेक [illegible] पुंसो भवन्ति बहवो जीवा भवन्ति तथाप्यस्याधिक्यं किं चिन्नापैतीत्यन्वयः। अयं भावः—अद्वितीयस्य परमात्मनो मायया जीवा भिन्ना दृश्यन्ते परमात्मा तु [illegible] गृह्यते न च तस्य सर्व्वात्मकत्वं हीयत इति। तदुक्तं—सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः। तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते॥ इति। सात्वतास्तु सांख्यदृष्टिमाश्रित्य तत्र मन्यन्ते यद्यपि पुरुषा असंख्या भोगाय ततः उद्भूता जन्मादिभाजो भवन्ति तथापि तस्य पूर्णत्वं न हीयते, न च जीवानां मोक्षेण स आधिक्यमुपैतीति। वाजसनेयिनश्च तत्र समामनन्ति—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"॥ इति। अस्यायमर्थः। अदो मूलरूपं तच्छब्दवाच्यं कारणब्रह्म पूर्णं त्वं शब्दनिर्दिष्टं प्रकाशरूपमिदं कार्य्यब्रह्म पूर्णमुभयं पूर्णं न देशाद्यवच्छिन्नमिति भावः। पूर्णादव्याकृतात् कारणब्रह्मणः पूर्णं कृत्स्नं व्याकृतं कार्य्यब्रह्म उदचाते प्रादुर्भवति। अञ्चुगतिपूजनयोः। कर्म्मणिप्रत्ययः। पूर्णस्येति लालसा, पूर्णादित्यर्थः तस्मात् पूर्णमादाय समुद्धृत्य पूर्णमेवावशिष्यत इति। उक्तं च गणितागमे—शून्याच्छून्यसमुद्धारे शून्यत्वमवशिष्यत इति। तत्र संयोगवियोगाभ्यां न्यूनता न्यूनातिरिक्ततां न भजत इत्ययं महिमा पारमेश्वर एव॥२०॥

मूलानुवाद।

सनत्सुजात बोले—विभेदयोगमें अत्यन्त दोष है, क्योंकि मायाके प्रभावसे वे जीवरूपमें नित्य अवस्थान करते है। उसी एक अद्वितीय परमेश्वरका मायाके कारण बहुत्वमें परिणत होने पर भी उनके आधिक्यमें किञ्चितमात्र भी कमी नहीं होती॥ २०॥

कालिकाभास।

जीव तथा परमेश्वरके बीच किसी तरहका वैलक्षण्य अवश्य है—इस प्रकार की कल्पना करनेका आचार्य निषेध करते हैं। वेद हिन्दूधर्म की भित्ति है। और यही वेद कहते हैं कि जिस तरह मिट्टीके स्वरूप अथवा धर्मको सम्यक्रूपसे जान जाने पर घट, सराव, माणिक तथा ईंट आदिका तत्व समझ सकते है, क्योंकि उक्त सब वस्तुएं बाह्यत: विभिन्न होने पर भी, केवल उसी मिट्टीके विकारमात्र है, उसी तरह ब्रह्म कौन वस्तु है, यह सम्यकरूपसे समझ लेने पर, संसारके समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। यही एक विज्ञानमें सर्व्व विज्ञानोंकी प्रतिज्ञा कहकर संसारमें परिचित है, और यही अद्वैतवादका जीवस्वरूप है। यदि जीव और परमेश्वर के बीच भेद कल्पना की जाय, तो वेद की यह एक विज्ञान प्रतिज्ञा भी परमार्थ दृष्टि विषयसे व्यर्थ हो जाती है, और इसके अलावा वेद भी निरर्थक हो जाता है। इस तरहसे हिन्दूधर्मके भित्तिशून्य हो जाने पर नास्तिक्य दर्शन प्रबल होकर महाविप्लव उपस्थित करता है। अस्तु इन्हीं सब बातोंका विचारकर आचार्यने कहा कि विभेदयोग में अत्यन्त दोष है, अर्थात जीव और परमेश्वर भिन्न रहें—इस प्रकारके सिद्धान्तके निश्चय कर लेने पर सनातन आर्यधर्म्ममें विप्लव उपस्थित हो जायगा। क्योंकि लोग अवैदिक होकर नास्तिक्यमतका अवलम्बन करने लग जायंगे।—"विभेदयोगमें वैलक्षण्य सद्भाव अर्थात जीव एवं परमेश्वर विभिन्न है—इस प्रकारका सिद्धान्त।

जीव तथा परमेश्वरके बीच भेद क्यों नहीं है, इसका कारण दिखलानेके लिये, आचार्यने कहा है—कि मायाके प्रभावसे वे जीवरूपमें नित्य हैं, अर्थात जीव तथा परमेश्वरके बीच भेद, अथवा जीव तथा जीवका भेद, तात्विक नहीं है बल्कि औपाधिक है। इस विषयमें श्रुतियां कहती हैं—इन्द्र अर्थात ऐश्वर्य्यशाली ब्रह्म, मायाके द्वारा बहुत प्रकारके रूप धारण करता है। और इसी कारणसे आचार्य गौडपाद भी कहते हैं—"नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो-मायाभिरित्यपि। अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः॥" अर्थात् ऐश्वर्यशाली ब्रह्म मायाके द्वारा बहुरूप धारण करते है—इत्यादि। श्रुतिनिर्देशके कारण समझना होगा कि, ब्रह्म अजायमान होकर भी मायाके द्वारा जन्मवान होकर (कहे जाकर) प्रतीयमान होते हैं।

इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये श्लोकका शेषार्द्ध लिखा गया है। अद्वितीय परमेश्वर मायाके कारण अनेक हो जाते हैं, अर्थात् एक परमात्मा मायावश असंख्य जीवाकार बन जाते हैं। माया शक्तिरूपसे परमेश्वरमें निहित है। इसका न तो आदि है, न अन्त है, और न:शेष ही है। इसी लिये भगवद्गीतामें कहा गया है कि प्रवृत्ति तथा पुरुष दोनों ही अनादि हैं। श्रुतियां कहती हैं—मायाको प्रकृति जानो तथा मायीको महेश्वर जानो। येही भोक्ता भी है, और ये ही भोग भी हैं ; येही भोग्य भी हैं, तथा ये ही सब कुछ है। इस तरहके सम्बन्ध माया रचित है अस्तु जीवका बहुत्व पारमार्थिक नहीं है।

एकही पुरुष अनेक होगये है, इनमें कोई भेद नहीं है, ऐसी बातोंसे जान पड़ता हैं, कि आचार्य्यने दो प्रकारके भेदोंके प्रति लक्ष्य किया है। प्रथमत: जीव तथा परमेश्वरका भेद और दूसरा जीव तथा जीवका भेद। योग में दोनो ही भेदके निरस्त हो जाने पर भी, हमारे लिये भेदप्रतिपादक दृष्टान्त आवश्यक है। और आकाश ही उसका यथायथ दृष्टान्त है।

घटाकाश तथा वहिराकाशमें जिस प्रकार भेदाभेद है, जीव तथा परमेश्वरमें भी भेदाभेद उसी प्रकारका है। आकाश अखण्ड है, अस्तु जो आकाश घटमें वर्त्तमान है, वही आकाश वाहर भी वर्त्तमान है। इस तरहके, परमार्थ देखनेसे दोनों आकाशोंमें कोई भी भेद नहीं दीख पड़ता। जो मिट्टीका आवरण घटाकाशको घेर रक्खा है, वह तो उपाधिमात्र है। और उपाधिके संयोगसे जो भेद उत्पन्न होता है, वह सत्य नहीं है किन्तु माया है। क्योंकि उपाधि सम्पर्कके तिरोहित हो जानेसे भेदज्ञान बाधित हो जाता है। जीव तथा परमेश्वरका भेद भी उसी तरहका है। अखण्ड एकरस परमेश्वर अंशोंसे जिस समय मायारूप उपाधियोंसे छिपे रहते है, उस समय वे जीव कहलाते हैं। और जिस समय उपाधि हट जाती है, उस समय यही जीव प्रबुद्ध होकर उनका अखण्डत्व तथा एकरसत्वका अनुभव करता है। इसी लिये गौडपादीय-कारिकामें कहा गया है, कि जीव मायाके द्वारा सुला दिया जाता है, किन्तु जिस समय प्रबुद्ध होता है, उस समय वह अपनेको जन्मरहित, निद्रादिरहित, स्वप्नरहित और तो क्या द्वैतादि ज्ञानरहित तक अनुभव करने लगता है।

एक घटाकाश तथा अन्य घटाकाशमें जिस प्रकारका अभेद है, जीव और जीवमें भी उसी प्रकारका अभेद है। जो आकाश एक घटमें है, वही आकाश अन्य घटमें भी वर्त्तमान है। उसमें कोई प्रभेद नहीं है। तब उनमें विशेषता यही है कि एक घटाकाश एक पतले मिट्टीके आवरणसे घिरा हुआ है, और अन्य घट अन्य मिट्टीके आवरणसे घिरा रहता है। इनके दोनों ही आवरण उपाधिमात्र हैं, इसी लिये आवरण हट जानेपर आकाशका भेद नहीं मालूम होता। देहादिवश जीवको भी जीवसे भिन्न देखते है किन्तु उनका देहादि उपाधिमात्र है। अस्तु इस उपाधिके हट जाने पर भेदज्ञान भी हट जायगा। इसी लिये नारद पञ्चरात्रमें कहा गया है कि, मुक्ति पर्य्यन्त ही भेदज्ञान रहता है,

और मुक्तिके बाद भेदके कारणके अभावसे भेदज्ञान नहीं रह सकता। यद्यपि जीव परेशको लक्ष्यकर पाञ्चरात्रिक ऐसी बात कहते हैं, तथापि दोनों प्रकारके भेदसे ही यह बात स्वत:सिद्ध होती है।

उपाधिवश कुछ समयके लिये इस तरहके भेद-व्यवहार सिद्ध रहने पर भी, आचार्य सनत्सुजातने उनको अभेद ही कहकर निश्चित किया है। क्योंकि ज्ञानध्यानादिके द्वारा संप्रसन्न जीवका देहादि सन्धानसे समुत्थित होकर परम ब्रह्ममें सुसम्पन्न हो जाने पर किसी प्रकारको भेद की पारमार्थिकता रह ही नहीं जाती।

श्रुतियां भी कहती हैं—कि नदी समुद्रसे मिलकर जिस तरह अपना नाम तथा रूपका त्याग करतीं है, जीव भी ज्ञानके द्वारा परात्पर पुरुषमें सम्मिलित होकर, अपने समस्त नामादि भेद चिन्होंसे मुक्त होता है। इससे यह जाना जाता है कि पार्थिव द्रव्य जिस प्रकार आगमें तपनेसे अपना श्यामत्व छोड देता है, उसी तरह जीव भी ज्ञानध्यानादिके द्वारा समस्त भेदकालिमाको दूरकर ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है।

यद्यपि हम लोग असंख्य जीव देखते है, और यद्यपि सब ही जीव उनके ही अंश है, तथापि इससे उनके उत्कर्षमें किसी तरह को हानि नहीं होती। इसका कारण यही है, कि अविद्याके द्वारा प्रत्युपस्थापित भेद स्वाभाविक अथवा प्रकृत पक्षमें सत्य नहीं है। प्रतिबिम्ब चाहे कितना ही क्यों न हो, किन्तु उससे मुख्य सूर्य्यका जिस तरह कोई ह्रास नहीं होता, इसी तरह जीव चाहे कितना ही क्यों न हो, किन्तु इससे परमात्माका कोई भी इतर विशेष होनेको कोई सम्भावना नहीं। इन्हीं सब वातोंको सोचकर आचार्यने कहा—कि बहुत्वमें परिणत होने पर भी उसका आधिक्य किसी तरह लुप्त अथवा ह्रासयुक्त नहीं होता।

वाजसनेयी कहते हैं कि—कारण-ब्रह्म पूर्ण है तथा कार्य-ब्रह्म भी पूर्ण है। अनन्त कारण-ब्रह्मसे अनन्त कार्य-ब्रह्मके प्रादुर्भूत होने

पर भी कारण-ब्रह्मका पूर्णत्व कभी व्याहत नहीं होता। ऐसी श्रुतियोंके प्रामाण्य हेतु सांख्यवित् सात्वतगण कहते हैं कि यद्यपि असंख्य पुरुष भोगके लिये उनसे उद्भूत होकर जन्मादिके भागी होते है, और यद्यपि असंख्य पुरुष मुक्त होकर उनमें सम्पन्न होते हैं, तथापि उससे उनके पूर्णत्वमें किसी प्रकारका कोई ह्रासवृद्धि नहीं होती।

इस समय अङ्कशास्त्रके एक नियमका स्मरण आता है—एक वस्तुके असंख्य भागके एक भागको शून्य कहते है। इस तरहके एक भागके साथ इसी तरहके और एक भागका संयोग करनेसे मिले हुए भागोंका अवयव अपने अपने अवयवकी अपेक्षाबुद्धि नहीं पाता। साथ ही इस तरहके एक भागसे इसी तरहका एक और भागके वियोग (घटाने)से वियुक्त अवयवका ह्रास नहीं होता। इसी लिए गणितागममें कहा गया है, कि शून्यमें से शून्यके घटाये जाने पर शून्यही बचता है। शून्य ही क्यों बचता है? यह पूछने पर शास्त्र वैकल्पिक ज्ञानका परिचय देते है, किन्तु हमलोग कहेंगे कि, योग वियोगमें शून्यत्व अथवा अनन्तत्व, जो वृद्धि वा ह्रास नहीं पाते, वह केवल परमेश्वर को प्रबल महिमा है ॥ २० ॥

य एतद्वा भगवान् नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम्।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

अन्वयः।

यो वा भगवान् नित्यः स विकारयोगेन (मायायोगेन) एतत् विश्वं करोति। तथा च तच्छक्तिः इति मन्यते स्म। तथार्थयोगे च वेदा भवन्ति ॥ २१ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

एवं तावदेकस्यैव परमात्मनः अनादिमायायोगेन बहुरूपत्वमुक्तम्,

इदानीं यदीश्वरस्य कारणत्वं तदपि मायोपाधिकमित्याह—य एत-दिति। य एतद्वा परमार्थभूतो भगवान् ऐश्वर्यादिसमन्वितः परमेश्वरो नित्यः स विकारयोगेन ईक्षणादिपूर्व्वकं विश्वं करोतीति तथा तत् सर्व्वं तच्छक्तिर्देवात्मशक्तिर्माय्यैव करोति न परमात्मा अपूर्व्वादि-लक्षण इति स्म मन्यते। न स्वतः चित्सदानन्दाद्वितीयस्य कारणत्वं, किन्तु मायाविशवशादित्यर्थः। किं तद्धर्मस्य तथाभूतशक्तियोगे प्रमाणम् इति चेत्, तत्राह—तथार्थयोगे। तस्य परमात्मनो जगदुपादानभूत-मायार्थयोगे च भवन्ति वेदाः। तस्य मायासद्भावे वेदाः प्रमाणं भवन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"इन्द्रो मायाभिः" इति। तथा चाह भगवान्—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" इति॥ २१॥

कालिका।

जीवपरेशयोर्भेदं निरस्य परमेश्वर आख्यापित एक एव। इदानीं जगत्प्रपञ्चमपि ततः पृथक्सत्त्वं वारयति—य इति। यो भगवान् षड़ैश्वर्य्यादिसम्पन्नः परमेश्वरो नित्यः षड्भावरहित स श्रुतिस्मृति-प्रसिद्धो विकारयोगेन स्वमायया विश्वं जगदेतत् परिदृश्यमानं करोति—इत्यन्वयः। वा शब्द इवार्थः। अयमस्याभिप्रायः—यदेतत् परिदृश्यमानं विश्वं मायया परिणामीव भाति तदेव परमार्थतो नित्योऽविकारो परमात्मैवेति। श्रुतिश्च—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्मेति"। ऋग्वेदश्च तत्र वदति—"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद् यदध्य-तिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्"॥ इति। किमिति लोकानुसारिणि प्रश्नेऽलौकिक-वस्तुत्वात् स च तत् तच्च ब्रह्मेतिश्रुतितात्पर्य्यम्।

ननु, 'पुरुषस्य च शुद्धस्य नाशुद्धा विकृतिर्भवेदि'ति श्रुतेः पर-

मात्मनोऽपरिणामित्वादुपादानकारणत्वेनैव प्रधानं कथं नाभ्युपेयम्? उक्तञ्च—"इच्छापूर्व्वककर्त्तृत्वं प्रभुत्वमस्वरूपता। निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित्"॥ इति। प्रधानं च जडं परिणामि च, जगच्चापि जड़मेव, तर्हि जडस्य जड़मेव कारणं सादृश्यादिति न्यायेन जगत उपादानकारणं प्रधानं भवति न तु परमात्मा वैलक्षण्यादपरिणामित्वाच्च। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा" इत्येवमाद्या मन्त्रवर्णाश्च प्रधानस्यैव जगदुपादानत्वं समर्थयितुमुत्सहन्ते। अतो हि परमात्मा निमित्तकारणत्वेन भवितुमर्हति प्रधानस्योपादानकारणत्वादित्याशङ्क्य प्राह—तथा चेति। तथा च तेनैव शास्त्रप्रसिद्धेन प्रकारेण जगत्परिणामस्तच्छक्तिः परमात्मनः शक्तिरिति योगिभि र्मन्यते स्म। अनेन योगानुभवमाचार्य्यः प्रमाणत्वेनोपन्यस्यतीति वोध्यम्। श्रुतिश्च—"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणै र्निगूढामि"ति। तथा च व्रह्मसूत्रं "जन्माद्यस्य यत" इति। "सर्व्वं खल्विदं व्रह्मे"ति श्रुतिनिर्द्देशात्। तत्र जगत्कारणत्वे परमात्मन उपादानत्वेन निमित्तत्वेन च गृह्णीते तस्य साधुलक्षणमुपात्तम्। ततः स्थूणानिखननन्यायेन स्वकीयामुक्तिं दृढ़यति—तदिति। तदर्थयोगे निमित्तोपादानवस्तुशरीरतया स्वमायया स उपादानरूपो निमित्तरूपश्चेत्यस्मिन् विषये वेदाः श्रुतयो भवन्ति प्रमाणत्वेनेत्यध्याहारः। अयमस्य भावः। न केवलमनुभवेन तस्य सर्व्वकारणत्वं निश्चीयते किन्तु श्रुतावपि तदेव साक्षान्निगद्यते। श्रुतिश्च—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् व्रह्मेति"। 'एतदुक्तं भवति—स्वयमपरिच्छिन्नं परमात्मा स्वलीलोपकरण-निमित्तोपादान-वस्तुशरीरतया तन्मयः स्वशरीरभूतप्रकृति-पुरुष-समष्टिपरम्परया महाभूतपर्य्यन्तमात्मानं स्वमायया तत्तच्छरीरकं परिणमय्य स्थावरादिजीवान्तजगद्रूप इति। चकारेण व्यपदिश्यते न केवलमनुमानं योगिनामनुभवो वा तस्य सर्व्वकारणत्वे प्रमाणं किन्तु साक्षाद्वेदा अपीति। तदुक्तं गौड़पादाचार्य्यैः—"नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि। अजाय-

मानो बहुधा मायया जायते तु सः" ॥ इति । "जात्याभासं चला-भासं वस्त्वाभासं तथैव च । अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्" ॥ इति च । २१ ।

मूलानुवाद ।

उसी नित्य भगवानने विकारयोगसे अर्थात् मायाके द्वारा इस सृष्टिको रचना की है। योगी लोग सोचते हैं, कि वही उनकी शक्ति है। वेद भी इस विषयमें प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

कालिकाभास ।

जीव तथा परमेश्वरका भेद समझाकर वा निराकरण कर अब जड तथा परमेश्वरके भेदका निराकरण करते हैं। वही अर्थात् श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध। मूलमें नित्य शब्दके द्वारा षड्भाव साहित्यको लक्षित किया गया है। भगवान षड़ैश्वर्य्यादियुक्त परमेश्वर है। उन्होंने विकार योगसे इस सृष्टिको रचना की है अर्थात् वे अपनी मायाके द्वारा इस परिदृश्यमान जगतप्रपञ्चरूपमें परिणत हुए हैं। इसका तात्पर्य यही है कि—परिदृश्यमान जगत्प्रपञ्च जिस मायाके कारण परिणामी कहकर वतलाया गया है, वह वस्तुतः अविकारी परमात्मा है। इसी लिये श्रुतियां कहते है—जिससे परिदृश्यमान जगत उत्पन्न हुआ है, जिसमें वह स्थित है, एवं जो उनके प्रलयनिमित्त प्रयाणाभिमुख होकर रहता है वही ब्रह्म है। ऋग्वेदने भी इस विषयमें लौकिक प्रश्नोंके द्वारा जगतका अलौकिकत्व दिखलाया है। किस जङ्गलके किस वृक्षसे यह स्वर्गमर्त्यादि लोक निर्म्मित हुआ है? जो संसारमें रहकर भी संसारका धारण करते है उसी ब्रह्म-रूप जङ्गलके ब्रह्मरूप वृक्षसे यह स्वर्गमर्त्यादि लोक निर्म्मित हुए हैं।

श्रुति कहती है कि विशुद्ध पुरुषसे अशुद्ध विकार नहीं उत्पन्न होता। इसी लिये अपरिणामी परमात्माको निमित्तकारण मानकर सांख्योक्त प्रधानको ही जगतका उपादान कारण मानना ठीक है। शास्त्रोंमें भी यही कहा गया है कि—"आलोचनापूर्वक देखनेसे

मालूम होगा कि कर्तृत्व, प्रभुत्व, तथा भिन्नरूपता निमित्त कारणमें ही वर्त्तमान रहते हैं, उपादान कारणमें वे कभी समुपपन्न नहीं होते।" और भी देखा जाता है कि प्रधान ही जड़ तथा परिणामी है, एवं जगत भी जड़ तथा परिणामी है। अस्तु सादृश्य हेतु जड ही को जडका कारण होना उचित है। इसी लिये सांख्योक्त प्रधानको परिदृश्यमान जगतका उपादान मानना ठीक है। मन्त्रवर्णोंमें भी कहा गया है, कि—त्रिगुणात्मिका सनातनी प्रकृति गुणतारतम्यके द्वारा अपने समान असंख्य पदार्थोंका उत्पादन करती है। इसी तरह मन्त्रवर्ण भी सांख्योक्त प्रधानवादका समर्थन करनेके लिये उत्साह प्रदान करते हैं। अत एव परमात्मा जगतके निमित्त कारण है, एवं अचेतन सांख्योक्त प्रधान उनका उपादान कारण है—ऐसा युक्तिवाद पीछे बलवान होगा इसकी आशङ्का करके आचार्यने कहा है—कि योगी लोग समझते हैं कि वही उनकी शक्ति है, अर्थात् योगी लोग मायाको ही पारमेश्वरी शक्ति समझते है। इस जगह मनोगत आशय यही है कि शक्ति तथा शक्तिमानकी तरह माया तथा ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है, अस्तु जगतको ब्रह्मसे विभिन्न नहीं समझना।

माया परमेश्वरी शक्ति है, तथा वह परमेश्वरसे पृथक् नहीं है, इस विषयमें योगानुभवका प्रमाणरूपमें व्यवहार करने पर भी उससे सब ही अभ्यस्त नहीं है, इसलिये फिर भी अन्तमें वही वेदचतुष्टय प्रामाण्यरूपमें उपन्यस्त हुए हैं। यहां वेद शब्द लक्षणाके द्वारा वेदान्तादि शास्त्रोंको भी बतलाता है। नामसे तो वेदान्तका उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि वेदका निगूढ़ चरम तत्त्वको उद्घाटन करना ही वेदान्तका अभिप्राय है। वेदान्तमें विविधवादोंका प्रचलन रहने पर भी ब्रह्मानुभवमें वह क्रमादि नियमानुसार प्रस्थान भेद मात्र ही है। इसी लिये आचार्यकी उक्तिमें कहीं कहीं अद्वैतवाद और कहीं कहीं विशिष्टाद्वैतवादका गन्धलेश रहने पर भी वह दृष्टिभेदके कारण दोषावह नहीं हो सकता॥ २१॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

यस्माद्धर्म्मानाचरन्तीह केचित्
तथाधर्म्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्म्मः पापेन प्रतिहन्यते वा
उताहो धर्म्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥ २२ ॥

अन्वयः ।

यस्मात् इह केचित् धर्म्मान् आचरन्ति, तथा इह केचित् अधर्म्मान् आचरन्ति । धर्म्मः पापेन प्रतिहन्यते ? उत धर्म्मः पापं प्रतिहन्ति ॥२२॥

शाङ्करभाष्यम् ।

एवं तावत् "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इत्यादिना मृत्योः स्वरूपं तस्य कार्य्यात्मनाऽवस्थानं तन्निमित्तं चानेकानर्थं दर्शयित्वा केन तद्वंस्य विनाशः इत्याशङ्क्य "एवं मृत्युं जायमानम्" इत्यादिना ज्ञानादेवाभयप्राप्तिं दर्शितां श्रुत्वा प्रासङ्गिके चोद्यद्वये परिहृते, कर्म्मस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—यस्मादिति । यस्मात् धर्म्मान् अग्निहोत्रादीन् आचरन्ति इह लोके केचित् तथा अधर्म्मान् इह आचरन्ति । किं तेषां धर्म्मः पापेन प्रतिहन्यते ? उताहो स्वित् धर्म्मः प्रतिहन्ति पापम् ? अथवा तुल्यबलेन अन्यतरेण अन्यस्य विनाशः ? इति ॥ २२ ॥

कालिका ।

एवं सर्व्वभोगभोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य स्वरूपनिर्द्देशाज्जगज्जन्मनिमित्तभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मानन्यत्वाच्च पूर्णानन्दं ब्रह्माद्वैतं सिद्धम् । समुत्खातद्वैतविज्ञानेन च ब्रह्मविद्या ब्रह्मविदां मृत्युनाशो दर्शित इति मृत्युर्नास्तीति पक्षः स्थिरः । केचित्तु ब्रह्मविदो गार्हस्थ्यव्रता अश्वपतिकैकयजनकादयः कर्म्माणि योगाद्युपासनासहितानि कुर्व्वन्ति । केचिच्च नैष्ठिकब्रह्मचर्य्यवैखानसपारिव्राज्याश्रमप्रविष्टाः सोऽहं तत्त्वमसीत्याद्युपासननियमाद् यागादीनि कर्म्माणि न

कुर्व्वन्ति। तत्र पूर्व्वोक्तानां कर्म्माचरतां यागादिसाधनसम्पादनेऽपि परपीडाकीटवधादिसम्भवात् तद्‌गतं पापं दानादियोगात् तद्‌गतं पुण्यं चोत्पद्यते, शेषोक्तानां च नैष्ठिकादीनां कर्म्मत्यागात् प्रत्यवायजनितं पापमुपासनविधियोगात् तद्‌गतं पुण्यं चोत्पद्यते। अतः पृच्छति धृतराष्ट्रस्तेषां धर्म्मः पापेन प्रतिहन्यत आहोस्वित् तदेव पापं धर्म्मः प्रतिहन्तीति। केकयजनकादीनां ब्रह्मविदां कर्म्माचरणदर्शनादुक्तं प्रथमं चरणं यस्मादिति। "ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादौ ब्रह्मविदां यागादिधर्म्मत्यागदर्शनादुक्तं द्वितीयं चरणं तथेति। अधर्म्मशब्देन विरक्तस्य गार्हस्थ्यकर्म्मत्याग उद्दिष्टो न तु पापाचरणं पाषण्डानाम्। न ह्यधर्म्मशब्देन किञ्चिदभावविशिष्टधर्म्मप्रतीतिर्न च तदभावः किन्तु विपरीतख्यातिः। अमित्रवदधर्म्मशब्दस्य सतत्त्वापरपर्य्यायतत्त्वभूतवस्तुसद्‌भाव उपपद्यते, यथा ह्यमित्रो न किञ्चिदभावविशिष्टं मित्रं नापि तदभावः किन्तु सपत्नः, एवमधर्म्मो न किञ्चिदभावविशिष्टो धर्म्मो नापि तदभावः किन्तु यागादिधर्म्मविपरीत उपास्तिविशेष। नञ्‌तत्पुरुषः। आरोपितत्वं च नञर्थः। आरोपिता ब्रह्मोपास्तिरिति बोधः। धर्म्मः पापेन प्रतिहन्यत उत, वाहोस्विद् धर्म्मः प्रतिहन्ति पापम्। उभयोरेवानुभवः स्यादथवा अन्यतरेणान्यतरस्य विनाश इति प्रश्नाभिप्रायः। यद्वा श्लोकः सामान्यतो व्याख्येयः। २२।

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्र बोले— संसार में कोई तो धर्म्माचरण करते हैं, अर्थात् यागादि करते हैं; और कोई अधर्म्माचरण करते हैं, अर्थात् नैष्ठिकादि धर्म्ममें दीक्षित होकर यागादि कर्म्म को त्यागते हुये, ब्रह्मोपासना रूप अन्यान्य धर्म्मका अवलम्बन करते है। पिछले लोगोंका उपासना जनित धर्म्म, क्या प्रत्यवाय जनित पापके द्वारा प्रतिहत होता है? अथवा उनका उक्त धर्म्म प्रत्यवाय जनित पापको नाश करता है। ॥ २२ ॥

कालिकाभास ।

उक्त प्रश्नका उत्तर देखकर ही इस श्लोकका ऐसा अनुवाद किया गया है। वेदके अनुशासनक्रमसे, याग यज्ञ व्रतादि किए जाते हैं, और उसीके लिये यजमान पुण्यार्जन करते हैं, । साथही वेदोंमें यह भी कहा गया है कि, द्विज गुरुगृह में रहनेके वाद अपने घरको न लौट-कर यागादि कर्म्म त्याग पूर्व्वक, नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर ब्रह्मोपासना-कर सकता है। इसमें यह संदेह हो सकता है, कि कर्तव्यत्यागके लिये नैष्ठिक कर्म्मोंका प्रत्यवाय जनित पाप और उसका ब्रह्मोपासना-जनित पुण्य, यह दोनों ही भोगप्रद होगा कि नहीं ? धृतराष्ट्रने इसीका कारण पूछा—कि उनका उपासनाजनित धर्म क्या प्रत्यवाय-जनित पापके द्वारा प्रतिहत होता है, अथवा उनका उक्त धर्म प्रत्य-वायजनित पापको ही नाश करता है।

"कोई कोई तो अधर्म आचरण करते हैं।" इस वाक्यके द्वारा पाषण्डका पापाचरण नहीं उद्दिष्ट हुआ है। क्योंकि जो शास्त्र-विरुद्ध, धर्मविरुद्ध अथवा विवेकविरुद्ध कार्य करके पाप अर्जन करते हैं, उनका भोग तो शास्त्रोंमें व्यवस्थापित ही है, अस्तु उसमें संदेहका अवकाश नहीं रह जाता। संस्कृतमें सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध इन्हीं छः (६) अर्थोंमें "नञ्"का व्यवहार होता है, यही जानकर यहां अधर्म शब्दसे धर्मसे अन्य अर्थ मानना पड़ेगा। जिस प्रकार 'अघट' कहनेसे घटसे अन्य पदार्थ जाना जाता है, अर्थात पट समझाजाता है, कट समझा जाता है मठ समझा जाता है, अन्ततः, घटके अलावा और कोई भी वस्तु ही समझी जा सकती है, उसी तरह 'अधर्म' शब्दसे भी यागादि धर्मसे अन्य जिस किसी पदार्थके समझे जाने पर भी इस स्थानमें लक्षणाके द्वारा ब्रह्मोपासना ही समझी जाती है। लक्षणा निर्देशका कारण यही है कि सनत्सुजातने प्रश्नोत्तरमें "विद्वान" शब्दके द्वारा नैष्ठि-कादि ब्रह्मचारीको ही लक्ष्य किया है, और नैष्ठिकादि ब्रह्मचारी यागादि धर्म परित्यागकर ब्रह्मोपासनाको ही किया करते हैं। इसी

लिये "अधर्म" शब्दसे ब्रह्मोपास्ति निर्दिष्ट हुई है। अथवा साधारण भावसे भी श्लोककी व्याख्या की जा सकती है॥ २२॥

सनत्सुजात उवाच।

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
यथागतं पापमुपैति सिद्धम्॥ २३॥

अन्वयः।

तस्मिन् (ब्रह्मणि) स्थितो विद्वान् (योगबलसमन्वितो ब्राह्मणः) सिद्धं (निर्वृत्तम्) उभयं कर्म्म (पापपुण्यात्मकं कर्म्म) ज्ञानेन नित्यं प्रतिहन्ति (विनाशयति)। अन्यथा देही (देहाभिमानवान् जीवः) यथागतं पुण्यमुपैति तथा पापमुपैति [इति] सिद्धम् (प्रसिद्धम्) ॥२३॥

शाङ्करभाष्यम्।

अविदुषः उभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः। विदुषः पुनरुभयोरपि ज्ञानाग्निना विनाशः इति उत्तरमाह। एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—तस्मिन्निति। तस्मिन् पुण्यापुण्यात्मके कर्म्मणि स्थितोऽपि कुर्व्वन्नपि उभयं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म्म नित्यं नियमेन विद्वान् ज्ञानेन प्रतिहन्ति विनाशयति। कथमेतदवगम्यते ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति? तत्राह—सिद्धं प्रसिद्धं ह्येतत् श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु। तथा च श्रुतिः "भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"॥ इति। "यथा पुष्करपलाश" इति। "यथैषीका तूलमग्नौ" इति च। "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इति च। "क्षणमात्मानुसन्धानात् पापं दहति कोटिशः। अन्यथा पापविध्वंसो न भवेत् कोटिपुण्यतः"॥ इति च।

अन्यथा ज्ञानहीनश्चेत्पुण्यमुपैति। तथागतं पापमपैति ततफलं

चोपभुङ्क्ते। कथमवगम्यते इति चेत्, एतदपि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु प्रसिद्धम्। तथा च श्रुति:—"इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ति प्रमूढ़ा:। नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" ॥ इति। "अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:" ॥ तथैव वासुदेव:—"त्रैविद्या माम्" इति च ॥ २३ ॥

कालिका।

प्रश्नस्वरूपमुपलभ्य प्रतिवचनमाह—तस्मिन्निति। तस्मिन् ब्रह्मणि स्थितो विद्वान् ब्रह्मिष्ठ: सिद्धं निर्वृत्तमुभयं कर्म्म पापपुण्यात्मकं ज्ञानेन नित्यं प्रतिहन्ति विनाशयति। तथाहि विदुष: सर्व्वकर्म्मक्षयव्यपदेशो बृहदारण्यके श्रूयते—"उभे उ हैवैष एते तरती"ति।

ननु, अदत्तफलं कर्म्मापूर्व्वं यद्यपि विनश्यति, कर्म्मण एव फलप्रसवसामर्थ्यबोधकश्रुति: परमार्थदृशि व्यर्था भवेत्, स्मृतिश्च कदर्थिता स्यात्। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपो"त्यादिशास्त्रविरोधात्। न च ब्रह्मज्ञानं पूर्व्वोत्तराघयो: प्रायश्चित्ततया विधीयते येन प्रायश्चित्तेन दुरितविनाश उच्यते। मैवम्। श्रुतिनिर्द्देशात्। तत्र काचन श्रुतिर्ब्रह्मज्ञानेन पूर्व्वोपचितस्य दुरितस्य विनाशं व्यपदिशति—"यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयतैवं हास्य सर्व्वे पाप्मान: प्रदूयन्त" इति, काचन ततश्च सम्भाव्यमानसम्बन्धस्यागामिनो दुरितस्याश्लेषं व्यपदिशति—यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवं विदि पापं कर्म्म न श्लिष्यत" इति। यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्म्मण: क्षयकल्पनायां शास्त्रकदर्थनं स्यादिति, तन्न। भिन्नविषयत्वात्। कर्म्ममीमांसा प्रतिपादयति कर्म्मफलजननसामर्थ्यं दृढ़िमविषयमुत्तरमीमांसा तु विद्याया उत्पन्नाया: फलजननशक्तिविनाशसामर्थ्यमुत्पत्स्यमानानाञ्च फलजननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धकरणसामर्थ्यमिति द्वयोर्विषयो भिद्यते। यथा क्षुत्पिपासानिवारणसामर्थ्यतन्निवारणसामर्थ्यविषययोर्द्वयो: प्रमाणयोरपि विषयभेदात् प्रामाण्यमेवं मीमांसयो:

कर्म्मफलजननतन्निवारणसामर्थ्यविषययोर्न कश्चिद् विरोधो न च शास्त्रव्याघात:।

तथान्यथा ज्ञानहीन: सकामो वा देही देहाभिमानवान् जीव: सिद्धं परिनिष्पन्नं यथागतं यागादिसाधनसम्पादने दक्षिणादिदान-हेतुत्वादपरिहार्य्यं पुण्यं, परपीडाहेतुत्वादपरिहार्य्यं पापमुभयमुपैति उपभुङ्क्ते। यत्रेदमुक्तं—"स्वल्प: सङ्कर: * सुपरिहर: सप्रत्यव-मर्श: कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे वहन्यदस्ति यत्रायमावापं गत: स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यती"ति ॥ २३ ॥

मूलानुवाद।

सनत्सुजातने कहा—ब्रह्ममें लब्धस्थितिक विद्वान पुरुष ज्ञानके द्वारा पापपुण्यात्मक दोनों ही कर्म्मोंका नाश कर देते है। एवं जो अविद्वान है वे पापपुण्य दोनों ही कर्म्मोंके फलको भोगते हैं ॥ २३ ॥

कालिकाभाष्य।

उक्त प्रश्नके पारविषयमें आचार्य सन्दिग्ध होकर इस प्रकारसे कहते हैं कि पूर्व्वश्लोक को जिज्ञासा चाहे जो भी कुछ क्यों न हो, किन्तु उसका प्रतिवचन मनको समस्त विचिकित्साको अपनोदन करते हुये, विशेष तृप्तिकर होगा।

ग्रन्थ पढनेसे पण्डित हो सकता है किन्तु विद्वान नहीं हो सकता। क्योंकि अनुभूतिमूलक ब्रह्मविद्या अधिगत नहीं हुए विना कोई विद्वान पदवाच्य नहीं हो सकता। अस्तु ब्रह्म कौन वस्तु है, यह जिन लोगोंने समझ लिया है, और समझ लेने पर उपासनाके द्वारा उसमें प्रतिष्ठा लाभ की है, वे ही विद्वान हैं।

और भी कर्म्म यदि फल दिये विना ही विनष्ट हो जाता हो तो फिर सभी श्रुतियोंमें कर्म्मका जो फलप्रसवसामर्थ्य दिखलाया गया है, वह तो परमार्थ दृष्टिसे व्यर्थ हो जाता है, साथ ही भोग विना कर्म्मका कभी क्षय नहीं होता, यह सब ही स्मृतियोंका

* सं परिहरः इति वा पाठः।

आदेश है, वह भी तो कदर्थित हो जाता है। और ब्रह्मज्ञान भी शास्त्रोमें पूर्व्वोत्तर पापोंका प्रायश्चित्त रूपसे नहीं कहा गया है, इसीसे वह कभी पाप नाश करनेका कारण हो ही नहीं सकता। यदि कोई इसतरह पूर्व्वपक्ष करे तो सिद्धान्ती लोग कहेंगे—कि—"रूईको अग्नि जिस प्रकार भस्मीभूत कर देता है, ब्रह्मज्ञान भी पापका उसी तरह विनाश कर देता है।"—ऐसी श्रुतियोंसे समझ सकते हैं कि विद्वानोंका उपचित पापका शास्त्रानुसार ही नाश होता है। और भी—"पद्मपत्रके ऊपर जलके समान ही ब्रह्मज्ञ लोगोंको पाप संलग्न नहीं होता,"—इस प्रकारकी श्रुतियोंसे समझा जा सकता है कि, विद्वान लोग सम्भाव्यमान पापसे भी, शास्त्रानुसार उपहत नहीं होते। और कर्म्मोंका फल भोग किये विना स्मृतियोंका तात्पर्य्य विकृत होगा—ऐसा भी कहना संगत नहीं। क्योंकि पूर्व्व मीमांसामें कर्म्मोंकी फल जनन शक्तिको दृढ़ करनेके लिये ऐसा कहा है, एवं उत्तरमीमांसामें विद्याके द्वारा कर्म्मकी इस फल जननशक्तिको व्यर्थ करनेके लिये ऐसा कहा है। अस्तु यह विषयके दो भिन्न भिन्न प्रसङ्गको अधिकार किये रहनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुति तथा स्मृतियोंका तात्पर्य्य नष्ट हो गया। आग जलाती है, तथा जल आगको शान्त करता (बुझाता) है,—इन दोनों विषयोंके जैसे अपने अलग अलग प्रसङ्गके प्रामाण्य हैं—उसी तरह कर्म्मोंकी फलजनन शक्ति, तथा विद्याकी उसको निवारण करनेकी शक्ति यह दोनों ही विषय परस्पर विरुद्ध न होकर अपने अपने व्यापारमें प्रमाणरूपसे गण्य है, तथा इससे शास्त्रोंका किसी तरहका व्याघात भी नहीं होता।

उसके वाद अविद्वान की वात। जो निष्काम कर्म्म करते हैं वे ही विद्वान है, किन्तु अविद्वान लोग ब्रह्मको जगन्मय देख नहीं सकते; इसीसे सब ही काम वे अपने लिए फलाकांक्षा रखकर करते हैं। वे यागादि कर्म्म करके भोगके निमित्त पुण्यका अर्ज्जन करते हैं, एवं उसके साथ ही साथ पापका भी अर्जन कर लेते हैं। क्योंकि

यज्ञादिकोंमें दानादिके कारण पुण्य होता है, और साथ ही पर-पोड़ादिके कारण पाप होता है। इसी विषयमें भगवान पञ्चशिखाचार्यने एक वैदिक आख्यायिका कही है। आख्यायिका की भङ्गिमा (मुख्य बात) इस प्रकार की है। कोई एक शुक्लधर्मप्रवण व्यक्ति यज्ञमें बलिदान, कीटबध तथा बीजादिके जीवनाशके द्वारा दूसरेको पीडा दी जाती है,—इसीसे उसका (यज्ञका) कृष्णत्व दिखलाया है। और कर्म्मी लोग इसका उत्तर यह देते है कि यज्ञमें जो पाप होता है वह बहुत ही अल्प परिमाणमें होता है। दूधमें जिस प्रकार जल रहता है, जसी तरह वह (पाप) भी पुण्यके साथ मिला रहता है। और प्रायश्चित्तके द्वारा उसका परिहार करना कष्टसाध्य नहीं होता साथ ही वह सुकृतके चयसाधनमें भी कार्यकर नहीं है। इसी लिये यज्ञादिसमुद्भूत पाप यजमानका अपकर्ष नहीं कर सकते—क्योंकि उसमें पुण्यभागके अधिक रहनेके कारण यह पाप उससे छूट जाता है। ऐसी हालतमें यह पाप दुखप्रद होने पर भी वह भोजनानन्तरीय दुखवत् सहने लायक है—इसमें कोई सन्देह नहीं।" इससे समझा जा सकता है—कि कर्म्मी पाप पुण्य दोनों-ही का भोग करता है। इसीसे आचार्यने कहा है—अज्ञानी पाप तथा पुण्य दोनोंका ही फल भोगता है॥ २३ ॥

गत्वोभयं कर्म्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्म्मणा।
धर्म्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्म्मो बलीयानिति तस्य विद्धि॥ २४ ॥

अन्वयः।

शुभस्य पापस्य च उभयम् अस्थिरं गत्वा कर्म्मणा युज्यते। अपि स विद्वान् (अपरोक्षज्ञानी) धर्म्मेण कर्म्मणा पापम् इह प्रणुदति इति तस्य धर्म्मो बलीयान् इति विद्धि॥ २४ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

किम् अविदुषः अनुभव एवोभयोः, उतान्यतरेणान्यतरस्य विनाश इति तत्राह—गत्वेति। गत्वा परलोकं प्राप्य उभयं पुण्यापुण्यसाध्यं फलम् पुण्यापुण्यलक्षणेन कर्म्मणा भुज्यतेऽस्थिरम्। श्रूयते च बृहदारण्यके—"यो वा एतदक्षरम्" इति। "अथ ये अन्यथातो विदुः" इति च छान्दोग्ये। स चापि सोऽपि विद्वान् धर्म्मेण कर्म्मणा पापं प्रणुदति विनाशयति इह लोके विद्वान् वक्ष्यमाणलक्षण ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म्मानुष्ठाता तस्य धर्म्मो बलीयानिति विद्धि जानीहि, ईश्वरेऽर्पितत्वात्। तथा च वक्ष्यति—"तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्। पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञान-विदीपितात्मा॥ ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वानथान्यथा स्वर्ग-फलानुकाङ्क्षी। अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व्वममुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम्" इति॥ २४॥

कालिका।

किमविदुष उभयानुभव उतान्यतरेणान्यतरनाश इत्यत्र प्राह—गत्वेति। परलोके पुण्यस्य पापस्य चोभयं फलं स्वर्गनरकाख्यमस्थिरं क्षयिष्णु गत्वा प्राप्य कर्म्मणा स उक्तो प्रथमा पुनरिह युज्यते। सकामं कर्म्म कृत्वा तत्फलञ्च भुक्त्वा पुनः स कर्म्मैव कुरुते कर्म्मपाशात् तु न मुच्यते इति भावः। श्रूयते हि—"क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ती"ति॥ स्मर्य्यते च तत्र—"वर्णाश्रमाः स्व स्वधर्म्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्म्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवित्तवृत्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्त" इति। "ततः परिवृत्तौ कर्म्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्म्मानुष्ठानमिति ;प्रतिपद्यन्ते, तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्त्तते" इति च।

यद्यप्येवं तथापि विद्वान् निष्कामकर्म्मी धर्म्मेण तत्कर्म्मणा पापमिह संसारे प्रणुदति दूरीकरोति। "धर्म्मेण पापमपनुदती"ति श्रुतेः। उक्तं च पञ्चशिखाचार्य्यैः—"द्वे द्वे ह वै कर्म्मणी वेदितव्ये

पापस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपद्दन्ति। तदिच्छस्व कर्म्माणि सुकृतानि कर्त्तुमिहैव ते कर्म्म कवयो वेदयन्त" इति। पापस्य पापमिति विवक्षायां षष्ठी। अतस्तस्य धर्म्मो बलीयानिति विद्धि जानीहि॥ २४॥

मूलानुवाद।

अज्ञानी पाप और पुण्य दोनोंका ही फल भोग करते हैं—और ज्ञानी (विद्वान) स्वीय धर्म्मके द्वारा अर्थात् ज्ञानके द्वारा पापका नाश करते हैं। अस्तु उनके ही धर्म्मको बलवान समझना होगा॥ २४॥

का लकाभास।

अपना मत दृढ़ करनेके लिये उक्त श्लोक कहा गया है। अज्ञानी सकाम कर्म्म करके उसके फलको भोगते हैं। उनके कर्म्म-बन्धन अर्थात् संसारबन्धन (आवागमन)का कभी भी नाश नहीं होता। इसी लिये वेद कहते हैं—कि पुण्यकर्म्मका क्षय हो जानेपर फिर भी जन्म ग्रहण करना पड़ता है। आपस्तम्बने भो कहा है—कि कर्म्मफलके अनुसार ही जीवोंका जन्म निर्धारित होता है। और ये आपस्तम्ब महात्मा एक महान स्मृतिकार महर्षि हुए है।

किन्तु विद्वान अपने स्वीय धर्म्मके द्वारा अर्थात ब्रह्मज्ञानके द्वारा पापका विनाश करते हैं। इस लिये उनको पाप और पुण्य भोगना नहीं पड़ता।

इसी लिये भगवान पञ्चाशिखाचार्य्यने कहा है—कि विद्वानोंको पापराशिका पुण्यके द्वारा विनाश होती है। अतएव क्रान्तदर्शी ऋषिगणने विद्वानोंके समान सुकर्म्म करनेके लिये परामर्श दिया है। यहां पुण्य शब्द वा सुकृतशब्द ज्ञान वा निष्काम कर्म्मको ही लक्ष्य करता है॥ २४॥

येषां धर्म्मेषु विस्पर्द्धा बले बलवतामिव।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य स्वर्गं यान्ति प्रकाशताम्॥ २५॥

अन्वयः ।

बलवतां (मल्लादीनां) बले इव येषां धर्म्मेषु विस्पर्द्धा, ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य स्वर्गे प्रकाशतां यान्ति ॥ २५ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

"येषां धर्म्मे न च स्पर्द्धा तेषां ब्रजज्ञानसाधनम्" इत्याह श्लोक-द्वयेन—येषामिति ।

येषां विषयपराणां स्वर्गादावुर्वश्यादिभोगश्रवणात् तत्साधनभूत-ज्योतिष्टोमादिधर्म्मेषु विस्पर्द्धा सङ्घर्षो वर्त्तते अस्मादहमुत्कृष्टतरं धर्म्मं कृत्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति । बले बलवतामिव, यथा बल-वतो राज्ञो बलवन्तं राजानं दृष्ट्वा अहमस्मादपि बलवत्तां सम्पाद्य एनं जित्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति सङ्घर्षो वर्त्तते तद्वत् । अनित्यफलमङ्गमङ्गिनास्ते ब्राह्मणाः यज्ञादिकारिणः इतः प्रेत्य धूमादि-मार्गेण गत्वा स्वर्गे नक्षत्रादिरूपे यान्ति प्राप्नुवन्ति प्रकाशतां प्रकाशम् । श्रूयते च—"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभि-सम्भवन्ति" इति ॥ २५ ॥

कालिका ।

बलवतां मल्लादीनां बल इव येषां दृष्टानुश्रविकविषयपराणां धर्म्मेषु तत्साधनभूतव्रतेषु यागादिषु विस्पर्द्धा अहमन्येभ्योऽधिकं व्रतं परया शक्त्या साधयिष्यामीति मिथः स्पर्द्धमानानां सङ्घर्षस्तपस्यभिनिवेशो विश्वामित्रस्येवेति यावत्—ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य गत्वा स्वर्गे प्रकाशतां यान्ति पूज्या भवन्ति । एतेनैवाचार्य्यः सहस्रदक्षिणानां यजमानानां त्यक्तप्राणानां महाफलत्वं दर्शयति ये मिथः स्पर्द्धमाना अपि यागादीनि कुर्व्वन्ति तेषां यन्मरणं तदनुक्रान्तस्वर्गायैवेति ॥ २५ ॥

मूलानुवाद ।

मल्लधर्म्मानुसार जो धर्म्माचरणमें स्पर्द्धा करते हैं, वे इस लोकसे जाकर स्वर्गमें निवास करते हैं ॥ २५ ॥

कालिकाभास।

इस श्लोकमें शुभ कर्म्मकी प्रशंसा है। वीर वीरके प्रति जैसी स्पर्द्धा दिखलाता है कर्म्मी भी दूसरेके कर्म्मको देखकर स्पर्द्धाके साथ उससे भी अधिक कर्म्म करने लगता है। जैसे विश्वामित्रजीने वशिष्ठजीसे स्पर्द्धाकर तपस्या की थी। इसी लिये यहां इसकी प्रशंसा है ॥ २५ ॥

येषां धर्म्मे न च स्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम्॥ २६

अन्वयः।

येषां च धर्म्मे न स्पर्द्धा तेषां तत् (कर्म्म) ज्ञानसाधनं [भवति]। ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं त्रिविष्टपं यान्ति ॥ २६ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

येषामिति। येषां विषयानाक्रष्टचेतसाम् अनित्यफलसाधन-ज्योतिष्टोमादौ धर्म्मे न च स्पर्द्धा सङ्घर्षो न वर्त्तते तेषां फलनिरपेक्ष-मोक्षरार्थं कर्म्मानुष्ठानवतां तत् यज्ञादिकं कर्म्म चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञान-साधनम्। वक्ष्यति च भगवान् स्वयमेव शुद्धिद्वारेणैव ज्ञानसाधनत्वम् —"पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञानविदीपितात्मा" इति। ये यज्ञादिभिर्विशुद्धसत्त्वाः परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्ति, ते ब्राह्मणा इतोऽस्मात् कार्य्यकारणलक्षणाल्लोकात् प्रेत्य मुक्ताः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दं ब्रह्म यान्ति। इतरतः स्वर्गादस्य वैलक्षण्यमाह—त्रिविष्टपमिति। त्रिभिराध्यात्मिकादिभि तापैः सत्त्वादिभिर्जाग्रदादिभिर्वा मुक्तं त्रिवि-ष्टपम्। अथवा, तैर्विष्टम् अधिकारिणं पातीति त्रिविष्टपम् इति ॥२६

कालिका।

येषां दृष्टानुश्रविकविषयानाक्रष्टचेतसां धर्म्मे न च स्पर्द्धा अहमेव सर्व्वोत्कर्षेणानुतिष्ठेयमिति सङ्घर्षो न विद्यते तेषां तत् कर्म्म ज्ञानस्य साधनं विविदिषोत्पादनद्वारा भवति। श्रुतिश्च "तमेतं वेदानुवचनेन

ब्राह्मणा विविदिषन्ती"ति। ते ब्राह्मणा इतः संसारात् प्रेत्य स्वर्गं दुःखासम्भिन्नत्वादिविशिष्टं स्वर्गाख्यं त्रिविष्टपं तृतीयं भुवनं देवलोकं वा यान्ति न तु मर्त्यलोकम्। विविदिषार्थमपि कर्म्मानुतिष्ठता-मानुषङ्गिकं स्वर्गफलमपि भवतीत्यर्थः। तदुक्तमापस्तम्बेन—"आम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावनूत्पद्येते। एवं धर्म्मं चर्य्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते" इति। अत्र क्षेपणार्थक'मि'धातो रूपमिदम्। निमिते रोपिते इत्यर्थः॥ २६॥

मूलानुवाद।

जिनको धर्म्माचरणमें स्पर्द्धा नहीं होती उनका धर्म्म कर्म्म ज्ञानका साधन बन जाता है। वे इस लोकको छोडकर त्रिविष्टप नामक स्वर्गमें जाते है॥ २६॥

कालिकाभास।

इस श्लोकमे स्पर्द्धाहीन कर्म्मीको प्रशंसा की गई है। दृष्ट अथवा आनुश्रविक विषयमे अनासक्त होकर जो लोग धर्म्माचरण करते है, और जो इस तरहके धर्म्माचरणमें स्पर्द्धा नहीं करते उनका धर्म्म कर्म्म ज्ञानका साधन हो जाता है। अर्थात् यह ब्रह्मविविदिषाका उत्पादन करता है। इसीसे श्रुतियां कहती हैं—यज्ञ, दान, ध्यान, व्रत आदि तथा धर्मके अन्यान्य कर्म करनेसे ब्रह्मविविदिषा उत्पन्न होती है—अर्थात् ब्रह्म क्या वस्तु है यह अनुभव पूर्व्वक जाननेकी अभिलाषा होती है।

ज्ञानके विना मुक्ति नहीं हो सकती इसीसे कर्म्मी लोग मुक्त नहीं होते। किन्तु त्रिविष्टप नामक स्वर्गमे यथेष्ट सुख प्राप्त करते हैं। कहनेका अभिप्राय है कि स्पर्द्धाहीन कर्म निष्कामकर्मके समीपवर्त्ती होनेके कारण कर्मी उच्च स्वर्गका भोग प्राप्त करते है। और यदि उनका यह कर्म परिपक्व होकर सम्पूर्ण निष्काम हो जाय तो वे ज्ञानी होकर संसारमुक्त हो जाते हैं। सुतरां मुक्तितक नहीं पहुंच सकने पर भी इस तरहके कर्मी उत्तम फलभोगसे किसी

तरह वञ्चित नहीं हो सकते। इसी लिये स्मृतिकार आपस्तम्ब ऋषिने कहा है—फलकी आशासे आमका वृक्ष रोपने पर फलके साथ साथ जिस तरह छाया सुगन्ध आदि की प्राप्ति होती है, उसी तरह धर्मके लिये सुकर्म करनेसे धर्मके साथ सुखजनक भोगादि लाभ होते हैं। मूल (श्लोक)में रोपणार्थक "निमित" शब्द प्रयुक्त हुआ है। और अनेक ग्रन्थोंमें उसके जगहमें "निमित्त" और "निर्मित" शब्दके व्यवहार हुए हैं किन्तु वे सब भ्रममूलक हैं। "निमिते" अर्थात् "रोपिते"।—क्षेपनार्थ "मि" धातुसे पदकी व्युत्पत्ति जाननी चाहिए॥ २६॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्॥ २७॥

अन्वयः।

वेदविदः जनाः (विद्वांसः) तस्य (विदुषः) सम्यक् समाचारम् (संवादम्) आहुः। [तद् यथा] न स एन जनं बाह्यम् आभ्यन्तरं भूयिष्ठं (बहुशः) मन्येत॥ २७॥

शाङ्करभाष्यम।

इदानीं विदुषः समाचारमाह—तस्येति। तस्य विदुषः सम्यक् समाचारं वेदविदो जनाः विद्वांसः आहुः। नैनं योगिनं मन्येत चिन्तयेत् भूयिष्ठं बहु बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्। पुत्रकलत्राद्याभ्यन्तरं जनम्, इतरत् बाह्यम्। तथा पुत्रमित्रादयो न गृह्णन्ति, तेषामगोचर एव वर्त्तते इत्यर्थः॥ २७॥

कालिका।

अकरणे प्रत्यवायं मत्वा कर्त्तव्यतया ये धर्म्ममाचरन्ति न तु स्वप्रयोजनाय तानाह—तस्येति।

वेदविदो जना स्तस्य विदुषः सम्यक् समाचारमाहुः। तद् यथा—जनो नैनं भूयिष्ठमत्यन्तं मन्येत मानयेत्, एषोऽपि बाह्यं सामा-

जिकं पुत्रकलत्राद्याभ्यन्तरं जनं न भूयिष्ठमुत्तमं मन्येत। तदुक्तं—"तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्। अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत्" इति। 'निःस्तुतिर्निर्नमस्कारोनिःस्वधाकार एव च। चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्'' ॥ इति च ॥ २७ ॥

मूलानुवाद।

वेदवित्तम आचार्यगणोंने उनके सम्बन्धमें यथायथ वर्णन किया है। वे कहते है कि ऐसे व्यक्ति अपने परिवारके निकट घरमें भी आदर नहीं पाते—और बाहर सामाजिक लोगोंमें भी सम्मानित नहीं होते ॥ २७ ॥

कालिकाभास।

ज्ञानियोंके लौकिक व्यवहारका वर्णन किया जाता है। नहीं करनेसे पाप होता है इस लिये अपना प्रयोजन न होनेपर भी कर्त्तव्यज्ञानसे धर्मपालन करते है "उनका" अर्थात् निष्काम कर्म्मियों वा ज्ञानियोंका ऐसा पदभंगी (अन्वयार्थ) समझना होगा। श्लोकका तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म्मी ज्ञानी संसारमें अनुपयोगी होनेके कारण—उनका कोई विशेष आदर नहीं करता यही स्वाभाविक बात है। इसका कारण यही है कि जिस वस्तुका व्यवहार होता है—संसार उसीका आदर करता है। इस लिये अनादरके कारण निष्काम कर्म्मी या ज्ञानी खिन्न होकर स्वधर्मभ्रष्ट नहीं होते। यहां आचार्यका यही उपदेश है। ज्ञानियोंके व्यवहारके विषयमें आचार्य गौडपाद कहते हैं "विद्वान वा ज्ञानी अद्वैत चिन्तनमें तत्पर रहकर संसारमें जडवत् आचरण करेंगे। वे किसीसे प्रशंसाकी इच्छा नहीं रखते—वे किसोको प्रणाम भी नहीं करते—और पैत्रादिकर्मादि रहित होकर वे चल धर्मोपयोगी वा अचल-धर्मोपयोगी शरीरका आश्रयकर यादृच्छिक अर्थात् यथालाभसे सन्तुष्ट रहेंगे।

"चलधर्मोपयोगी" शब्दसे समझना होगा कि शरीर क्षणभङ्गुर रहनेपर उसको तपस्याके योग्य बनानेके लिये आहारादिमूलक धर्म आवश्यक है। और "अचलधर्मोपयोगी" शब्दसे समझना चाहिये कि शरीराश्रित ज्ञानरूप धर्मके द्वारा अचल तथा सनातन परमात्मा पाया जाता है॥ २७॥

यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोदकम्।
अन्नपानञ्च विप्रेन्द्रस्तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत्॥ २८॥

अन्वयः।

विप्रेन्द्रः (विद्वान् योगी वा) प्रावृषि (वर्षासु) भूयिष्ठं तृणोदकमिव अन्नपानं च तत् जीवेत् न च अनुसज्वरेत् (अन्नादिकमनुसृत्य क्लेशं न कुर्य्यात्)॥ २८॥

शाङ्करभाष्यम्।

कीदृशे देशे अस्य वास इत्याह—यत्रेति। यत्र यस्मिन्देशे मृग-चोरादिपीडारहिते अन्नपानादि भूयिष्ठं बहुलं वर्त्तत इति मन्येत प्रावृषीव तृणोदकं बहुलं भवति तद्वत्। तृणोलपमिति केचित्— "तृणोलपमिति ख्यातो मुनिभोज्यौदनादिषु" इति वदन्ति। दूर्व्वा-विशेष इति केचित्। तत्र स्थित्वा तदन्नपानादिकमुपजीवेत्। नानुसंज्वरेत् सन्तप्तो न भवेत्। अन्यथा अन्नपानादिरहिते देशे कथं नाम देहयात्रा सिध्येदिति सन्तप्तो भवति, ततश्च न योगसिद्धिः॥ २८॥

कालिका।

प्रसङ्गात्कृते प्रश्ने प्रतिवचनं दत्त्वा पूर्व्वप्रक्रान्तनास्तिकमृत्यु-तरणोपायं कथयति—यत्रेति।

प्रावृषि वर्षाकाले तृणोदकमिव यत्र गृहेऽन्नं पानं च ब्राह्मणस्य भूयिष्ठमस्तीति मन्येत जानीयात् तद्गृहं प्राप्य जीवेत् प्राणयात्रां कुर्य्यात्, चोणवृत्तिं गृहस्थं न पीड़येदिति भावः। न अनुसंज्वरेत् क्षुद्बाधया नात्मानं सन्तापयेत्। अन्यथा पानादिरहिते देशे कथं

नाम देहयात्रा सिध्येदिति सन्तप्तो भवति। ततश्च चित्तविक्षेपान्न स्वाभीष्टसिद्धिः ॥ २८ ॥

मूलानुवाद।

वर्षाकालमें तृण अथवा जलके समान जिस स्थानमें प्रचुर अन्न-पानादि हो उसी जगह विद्वान ज्ञानी अथवा योगी निवास करें। तथा जिस जगह भूख प्याससे शरीरको कष्ट हो वहां वे कभी न रहे ॥ २८ ॥

कालिकाभास।

उक्त प्रसंगमें किए गए प्रश्नका उत्तर देनेके पहले, प्रचण्ड मृत्यु निवारणका उपाय कहा जाता है। जहां अन्नपानादि अनायास ही मिल जाया करे वहां ही विद्वान अथवा योगी निवास करें। यहां 'आदि' शब्दसे मनोनुकूल निरुपद्रव स्थान कहा गया है। इससे यह भी मालूम होता है कि यदि कोई मुक्त हृदयसे अतिथिसत्कार करे तो उनका भी आश्रय ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु किसी गृहस्थसे इसके लिये लड़ाई झगड़ा करना उचित नहीं। और जहां अन्नजलके लिये शरीर व्याकुल हो जाया करे—वहां भी निवास करना उचित नहीं है। क्योंकि उससे सिद्धिमें व्याघात होता है ॥ २८ ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम्।
अतिरिक्तमिवाकुर्व्वन् स श्रेयान्नेतरो जनः। २९ ॥

अन्वयः।

यत्र जनः अकथयमानस्य (तूष्णीम्भूतस्य) अशिवं भयं प्रयच्छति तथा अतिरिक्तम् अकुर्व्वन् इव (स्वोत्कर्षं न दर्शयन्निव वर्त्तते), स श्रेयान्। न इतरः ॥ २९ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

तत्राप्येवम्विधजनसमीपे वास इत्याह—यत्रेति। यत्र यस्मिन् देशे अकथयमानस्य तूष्णीम्भूतस्य स्वमाहात्म्यं प्रच्छादयतो येन केन-

चिदाच्छन्नस्य येन केनचिदाश्रितस्य यत्र क्वचन शायिन आत्मानमिव लोकं पश्यतो जडवल्लोकमाचरतः प्रयच्छत्यशिवं भयम्, जड़ इति मत्वा अशिवमकल्याणमवमानादिकं प्रयच्छति तथा अतिरिक्तमिवाकुर्व्वन्—यथा कश्चित् स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञो ब्रह्मविदिति ज्ञात्वा प्रणिपातादिपूर्व्वकमीश्वरबुद्ध्या सम्पूजयति तद्वत् अज्ञाततया अतिरिक्तं ब्राह्मणजातिमात्रप्रयुक्तपूजातिरिक्तं पूजान्तरं ब्रह्मविदनुरूपमकुर्वन्नवमानादिकमेव कुर्व्वन् यो जनः सोऽस्य विदुषः श्रेयान्। नेतरो यः प्रणिपातादिपूर्व्वकमीश्वरबुद्ध्या पूजयति। तथाह मनुः—"सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।" तथा चाह पराशरः—"सम्माननां परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः। जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति" इति ॥ २९ ॥

कालिका।

इदानीं तत्प्रसङ्गतो मुमुक्षूणामाचरणविधिमाह—यत्रेति। यत्र देशे जनोऽकथयमानस्य सर्व्वोपसंहारं कृत्वा पूर्णात्मनावस्थितस्य भयमशिवमकल्याणमवमानादिकं प्रयच्छति, तत्र स्थित्वापि आत्मानमतिरिक्तमिवाकुर्व्वन् स्वप्रौढ़िमदर्शयन् यो वर्त्तते स श्रेयान् नेतर इति। मानं स्वमाहात्म्यप्रकाशनं च परित्यजेदिति श्लोकाभिप्रायः ॥ २९ ॥

मूलानुवाद।

जहां लोग मौनावलम्बी सहनशील विद्वान अथवा योगीके प्रति अन्याय आचरण करते हैं उसी जगह अपने माहात्म्यको प्रकाश न कर अर्थात निरीहभावसे सहते हुये जो वास करते हैं वे ही सौभाग्यशाली पुरुष हैं। न कि वे जिनको संसारी लोग सौभाग्यशाली कहते हैं। वे कदापि वस्तुतः सौभाग्यशाली नहीं है ॥ २९ ॥

कालिकाभास।

विद्वान अथवा योगी किस भावसे रहें—उसीका यहां वर्णन किया जाता है। जहां लोग उनकी अवमानना करें, अनादर करें, अथवा भय दिखलावें वहीं अपनी महिमाका गोपन कर निवास

करनेमें उनका मंगल है। जो विद्वान अथवा योगियोंके प्रति इस प्रकारके अन्याय आचरण करते हो, उनको वशमें करनेके लिये अथवा उन्हें आश्चर्यित वा चमत्कृत करनेके लिये मोक्षाकाङ्क्षी पुरुष कभी अपनी विभूति प्रकाश न करें। क्योंकि उससे उन्हींका उत्कर्ष क्षीण होता है। सुतरां जो अपनी विभूति दिखलाते है—वे मोक्षोपयोगी साधक नहीं हो सकते। महाराज मनु भी कहते हैं—"उत्तम ब्राह्मण सम्मानको विषके समान त्याग करें।" साधारणतया देखा भी जाता है कि प्रशंसा उन्नतिकी विशेष हानिकारक हो जाती है ॥ २९ ॥

यो वाऽकथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।
ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३०

अन्वय: ।

यो वा अकथयमानस्य (तूष्णीम्भूतस्य) हि आत्मानं न अनुसंज्वरेत्, न वा ब्रह्मस्वम् उपहन्यात् तत् अन्नं सतां सम्मतम् ॥ ३० ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

कीदृशस्य तर्हि अन्नं भोज्यमित्याह—यो वा इति ।

अकथयमानस्य तूष्णीम्भूतस्य सर्व्वोपसंहारं कृत्वा पूर्णात्मना अवस्थितस्य आत्मानं नानुसंज्वरेत् न तापयेत्, ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा —ब्रह्मनिष्ठासाधनभूतं चैलाजिनपुस्तकादिकं नोपहन्याद्वा। तथा चोक्तम्—

"रत्नहेमादिकं नास्य योगिन: स्वं प्रचक्षते ।
कुशवल्कलचैलाद्यं ब्रह्मस्वं योगिनो विदु:" ॥ इति ।

अन्यदपि ब्रह्मस्वं ब्राह्मणस्वं नोपहन्याद्वा। तदन्नं तस्यान्नं सम्मतं सतां भोज्यत्वेन ॥ ३० ॥

कालिका ।

ईदृशेन साधकेन कीदृशान्नं भोक्तव्यमित्याह—यो वेति। य: पुमान् अकथयमानस्य तूष्णीम्भूतस्य स्वमाहात्म्यमप्रकाशयत आत्मानं

नानुसंज्वरेत् न पीड़येद्, यश्च ब्रह्मस्वं ब्राह्मणस्वं नोपहन्यान्नोपभुञ्जीत। वा समुच्चये। तदन्नं तस्यान्नं सतां भोज्यत्वेन सम्मतम्। असूयाहीनस्य श्रद्धापूर्व्वकं प्रयच्छत एवान्नं भोज्यमित्यभिप्रायः। तथा च स्मर्य्यते—'अश्नीयाद्विषमत्युग्रं ब्रह्मस्वं तु न कर्हिचिदि'ति ॥३०

मूलानुवाद।

जो तूष्णीभूत अर्थात् सहनशील मौनी विद्वान अथवा योगीके प्रति अन्याय आचरण नहीं करते—जो ऐसे लोगोंका कमण्डल अथवा दण्ड बलपूर्व्वक नहीं छीन लेते, उनका ही अन्न ग्रहण करने योग्य है ॥ ३० ॥

कालिकाभास।

विद्वान तथा योगी गृहस्थोंका आश्रय ले सकते हैं, ऐसा कहा गया है। किन्तु वे किस तरहके गृहस्थोंका आश्रय ले सकते हैं, इसीका यहां वर्णन किया जाता है।

उक्त श्लोकका निष्कर्ष निम्न लिखित है,—जो गृहस्थ द्वेषादि रहित होकर श्रद्धापूर्व्वक आतिथ्य सत्कार करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके ही निकट विद्वान अथवा योगी प्रतिग्रह स्वीकार कर सकते हैं ॥ ३० ॥

नित्यमज्ञातचर्य्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।
ज्ञातीनान्तु वसन्मध्ये नैव विद्येत किञ्चन ॥ ३१ ॥

अन्वयः।

ब्राह्मणः (विद्वान् योगी वा) नित्यम् अज्ञातचर्य्या मे (मया कर्त्तव्या) इति मन्येत। तु (किन्तु) ज्ञातीनां (स्वजनानाम् इन्द्रियाणां वा) मध्ये वसन् न किञ्चन विद्येत एव ॥ ३१ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—नित्यमिति। नित्यं नियमेन अज्ञातचर्य्या गूढ़चर्य्या मे मम कर्त्तव्येति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित्।

ज्ञातीनां पुत्रादिप्रभृतीनां मध्ये सन्निधौ वसन् नैव विद्येत प्रतिपद्येत किञ्चन किञ्चिदपि। कश्चनेति केचित्। पुत्रकलत्रादिकं परित्यज्य केवलः स्वात्मनिष्ठो गूढ़चर्य्यैव भवेदित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

"कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्व्वशः।

यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः॥" इति। तथा चाह वशिष्ठः—

"यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्"॥ इति।

अथवा, 'नित्यमज्ञातचर्य्या अज्ञाते चक्षुराद्यविषयभूते वाचामगोचरे अनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थिते अशनयाद्यसंस्पृष्टे पूर्णानन्दस्वरूपे सर्व्वान्तरे प्रत्यग्भूते ब्रह्मणि चर्य्या निष्ठा समाधिलक्षणा मे मम कर्त्तव्या, न पराग्भूतदेहेन्द्रियपुत्रमित्रकलत्रादौ स्थूलोऽहं कृशोऽहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहमित्येवमात्मिका कर्त्तव्या' इति मन्येत स ब्राह्मणो ब्रह्मवित्। तथा च श्रुतिः—"यच्चक्षुषा न पश्यति" इति। यस्मादेवं तस्मादज्ञात एव ब्रह्मणि निष्ठा कर्त्तव्या तस्मात्—

"क्रोधमानादयोऽनित्या विषयाश्चेन्द्रियाणि च।

ज्ञातयश्च समाख्याता देहिनस्तत्त्वदर्शिनः"॥

इति इन्द्रियादीनां ज्ञातिशब्देनोक्तत्वात् ज्ञातीनामिन्द्रियाणां मध्ये वसन् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् इति मन्यमानो विजानन्नपि नैवमात्मादिरूपेण विद्येत प्रतिपद्येत, तत्साक्षित्वादात्मनः। तथा च श्रुतिः—"अथ यो वेदेदं [illegible] स आत्मा" इति। देहद्वयतद्धर्म्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः॥ ३१॥

कालिका।

पूर्व्वोक्तं पुनरपि विवृणोति—नित्यमिति। नित्यं नियमेन अज्ञातचर्य्या गूढ़चर्य्या मे मम कर्त्तव्येति ब्राह्मणो मन्येत। तथा हि—"अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचर" इति स्मृतिः। स एव ज्ञातीनां पुत्र-

पौत्रप्रभृतीनां मध्ये सन्निधौ वसन् किञ्चिदपि न विद्येत प्रतिपद्येत।
उक्तं च स्मृतिकारैः—

"यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद: कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढधर्म्माश्रितो विद्वान् अज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवज्जड़वच्चापि मूकवच्च महीञ्चरेत्"॥ इति।

अन्यथा कैश्चिदयं श्लोको व्याख्यातः। ज्ञातीनामिन्द्रियादीनां मध्ये वसन् शृण्वन् स्पृशन् पश्यन् पिबन् अश्नन् जिघ्रन् मन्वानोविजानन्नपि ममत्वेन न विद्येत प्रतिपद्येत। इन्द्रियेषु ज्ञातिशब्दोरूढ़ः। तदुक्तं—"क्रोधमानादयोऽनित्या विषयाश्चेन्द्रियाणि च। ज्ञातयश्च समाख्याता देहिनस्तत्त्वदर्शिनः"॥ इति॥ ३१॥

मूलानुवाद।

विद्वान ज्ञानी अथवा योगीका अपने मनमें यही समझना चाहिये कि आत्मगोपन ही उनके अभ्युदयका गुप्त रहस्य है। यहां तक कि वे ज्ञातिवर्गोंके वीच रहकर भी इस रूपसे रहते है कि मानों वे कुछ भी नहीं जानते॥ ३१॥

कालिकाभास।

तन्त्रमतानुसार यह गुप्तावधूतोंका आचरण है। आत्मगोपन ही वीर्यसञ्चयका कारण है। आत्मप्रकाश करनेसे अथवा अपनी महिमा व्यक्त करनेसे अथवा अपना विभूतिबल दिखलानेसे योगियोंकी वीर्यहानि होती है। इसी लिए स्मृतियां कहती है—"विद्वान या योगी अपना भाव अथवा कार्यकलाप कभी प्रकाश न करें।" वे पुत्रकलत्रादि लोगोंके साथ सांसारिक जीवनमें किसी विषयकी अभिज्ञता नहीं दिखलाते। स्मृतिकारगण भी यही कहते है—विद्वान ब्राह्मण अज्ञातचरित्र रहेंगे, वे इस भावसे रहेंगे कि जड़बुद्धिके समान वे अच्छा बुरा शास्त्र अशास्त्र कुछ भी नहीं समझ सकते। मानो शास्त्र अशास्त्र कुछ भी नहीं समझते, इसी लिए

यथेच्छाचार भी नहीं कर सकते। कहनेका अभिप्राय यही है कि वे बालकोंके समान अप्रौढेन्द्रिय हो जाते हैं। शास्त्रानुसार चरित्र गठनके पश्चात् बालकोंके समान निर्मनस्त्व भावकी प्राप्ति योगकी द्वितीय भूमिका है। कोई कोई इस श्लोकको दूसरे तरहसे व्याख्या करते है। वे कहते है कि ज्ञातिशब्द इन्द्रियार्थमें रूढ़ है। शास्त्रोंमें भी कहा गया है कि देहियोंका क्रोधमानादि अनित्यविषय तथा इन्द्रियसमूह ज्ञाति कहकर बताए गए है। सुतरां श्लोकका अर्थ इस प्रकार हो जायगा। विद्वान अथवा योगी अशन-दर्शन-श्रवणादि इन्द्रियकार्य करते रहने पर भी कभी अपनी इन्द्रियोंके द्वारा उपरत नहीं होते। महामुनि जैगीषव्यके मतानुसार यही इन्द्रियविजय है ॥ ३१ ॥

को ह्येनमन्तरात्मानं ब्राह्मणो मन्तुमर्हति ।

निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्ज्जितम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः ।

को हि ब्राह्मण. [अन्यथा] एनं निर्लिङ्ग (सूक्ष्मम्) अचलं (कारक-व्यापार-रहितं) शुद्धं (सङ्गशून्य) सर्व्वद्वन्द्व-विवर्ज्जितं (सर्व्वभेदरहितम्) अन्तरात्मान मन्तुं अर्हति ॥ ३२ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

कस्मात् पुनरेवं न गृह्यत इत्याह—को ह्येनमिति ।

को हि निर्लिङ्गं सूक्ष्मम् अचलं क्रियाकर्त्तादिशून्यं शुद्धम् अविद्यादिदोषरहितं सर्व्वद्वन्द्वविवर्ज्जितम् अशनाया पिपासादिधर्म्म-विवर्ज्जितम्। अन्तरात्मानं प्रमात्रादिसाक्षिणम् आत्मानं मानाविषय-भूतम् एवम् उक्तेन प्रकारेण देहद्वयतद्धर्म्मतया 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि पश्यामि मूको वधिरः काणः सुख्यहं दुःख्यहम्' इति ब्राह्मणः सन् मन्तुमर्हति। तथा च सति ब्राह्मण्यमेव हीयेत इत्यर्थः। वक्ष्यति च—

"य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया" इति ॥ ३२ ॥

कालिका।

ईदृशीं चर्य्यां विना केनापि नायमात्मा लभ्य इत्याह क इति। को हि ब्राह्मण ईदृशीं चर्य्यां विना ज्ञातीनां सन्निधौ वसन् निर्लिङ्गं सूक्ष्ममनुमानाद्यगम्यमचलं क्रियाव्याप्तिरहितं शुद्धमसङ्गं सर्व्वद्वैत-विवर्ज्जितं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमेनमन्तरात्मानं पुरुषं मन्तुमर्हति न कोऽपि ज्ञातु योग्यो भवतीत्यर्थः॥ ३२॥

मूलानुवाद।

कौन ब्राह्मण (ऐसा हुए विना) उस निर्लिङ्ग अचल शुद्ध सर्व-द्वन्द्वरहित अन्तरात्माको समझ सकता है?॥ ३२॥

कालिकाभास।

अनित्य विषयोंमे आसक्त होनेसे ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती है, इसे ही सिद्ध करनेके लिये यह श्लोक लिखा गया है। पुत्रकलत्रादि लोगोंके बीच रहते हुए उसमें लिप्त रहकर कोई भी परमात्मासे अभिन्न उस अन्तरात्माको नहीं जान सकता। निर्लिङ्गादि गुण समूहोंके द्वारा अन्तरात्मा अथवा परमात्मा विशेषित किया गया है। निर्लिङ्ग शब्दसे यह समझना पड़ेगा कि वह (परमात्मा वा अन्त-रात्मा) अनुमानादि सभोसे अगम्य है। अचलशब्दके द्वारा उसके सभी तरहके कारकव्यापार बाधित हुए है। शुद्ध शब्द उसका अखण्डता, तथा एकरसताका लक्षण करता है। वह शुद्ध है—और उसके प्रति सवद्वन्द्वराहित्य ही उसका कारण है।

सुतरां—" सर्वद्वन्द्वरहित—समूचा पद ही हेतुगर्भविशेषण है। इससे यह जाना जाता है, कि उसमें सजातीयका भेद नहीं विजा-तीयका भेद नहीं, और तो क्या स्वगत भेद भी नहीं है। काश्मी-रादि पर्व्वतोंमें उत्पन्न दाख तथा वङ्गादि देशोंमें उत्पन्न दाख दोनोंके दाख होने पर भी दोनोंमे जो पार्थक्य देखा जाता है, उसको सजातीय-भेद कहते हैं। आम तथा आमड़ा दोनों ही फल होकर भी उनमें जो पार्थक्य है, वह विजातीय भेद है। आमके भीतरो

भागमें मिठास पाया जाता है और उसके उलटे उसके कच्चे हिस्सोंमें खटाई पाई जाती है। सुतरां फल एकके ही होने पर भी उसमें समरसता नहीं है। इसी लिये यह स्वगत भेदका उदाहरण है। किन्तु परमात्मा वा अन्तरात्मामें इस प्रकारका कोई भी भेद नहीं है, इसी लिये उसको शुद्ध सर्व्वद्वन्द्वरहित कहा गया है ॥ ३२ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ ३३ ॥

अन्वयः।

अन्यथा सन्तम् आत्मानं यः अन्यथा प्रतिपद्यते, तेन आत्मापहारिणा चोरेण किं पापं न कृतम्? ॥ ३३ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

यस्त्वेवं मनुते स पापीयानित्याह—योऽन्यथेति। योऽन्यथाऽज्ञानात् निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्व्वद्वन्द्वविवर्ज्जितं चिदानन्दब्रह्मात्मना सन्तं स्वात्मानम्, अन्यथा देहद्वयतद्धर्म्मात्मतया "कर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलः अमुष्यपुत्र. अमुष्यनप्ता ब्राह्मणोऽहम्" इत्येवमात्मानं प्रतिपद्यते किं तेन मूर्खेणानात्मविदा आत्मचोरेण आत्मापहारिणा न कृतं पापम्। महापातकादि सर्व्वं कृतं तेनेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"असूर्या" इति। 'ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरो भवेत्" इति स्मृतिः। तस्माद्विषयभूतदेहेन्द्रियादिष्वात्मभावं परित्यज्य अज्ञात एव वागाद्यगोचरे परमात्मनि निष्ठा कर्त्तव्येत्यर्थः ॥३३॥

कालिका।

यस्त्वेवं मनुते स पापीयानित्याह—योऽन्यथा सन्तमिति। योऽन्यथा अज्ञानात् सन्त षड्भावरहितमात्मानमन्यथा तद्विपरीतं परिणामशीलमित्यर्थः। प्रतिपद्यते मन्यते स आत्मापहारी। आत्मानमपहरतीति आत्मापहारी। कोऽसावेव? अविद्वानेव। कथं स आत्मानमपहरति? अविद्यादिदोषेण दोषगन्धविवर्ज्जितस्यात्मनस्तिरस्करणात्। आत्मापहारिणा तेन चोरेण किं पापं महापातकादि न कृतं

नाचरितम्; सर्व्वमेव कृतमित्यभिप्रायः। विद्यमानस्यात्मनो यत् कार्य्यं षड्भावविकाररराहित्यादिसंवेदनादिलक्षणं तदपहारिण एव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्मापहारिण उच्यन्ते॥३३

मूलानुवाद।

जो व्यक्ति आत्माको ऐसा न समझकर अन्यरूपमें जानता है वह आत्मापहारी है। और आत्मापहारीसे कौन सा पाप नहीं होता? ॥ ३३ ॥

कालिकाभास।

आत्माको निर्लिङ्ग अचल शुद्ध तथा सर्वद्वन्दरहित कहकर न समझनेका निन्दावाद यहां वर्णित होता है। जो षड्भावरहित आत्माको परिणामी मानता है, वह आत्मापहारी है। अर्थात् जो व्यक्ति पूर्व्वकथित आत्माका शुद्धत्व आदि गुण अपहरण अथवा अस्वीकार करता है और उसमें अविद्यादि दोषोंका आरोपण करता है, वह अविद्वान वा अज्ञानी तथा आत्मघाती है। आत्महत्याकी अपेक्षा और कोई भी जघन्य महापातक अथवा अतिपातक नहीं है। सुतरां जो आत्महत्या करता है वह क्या नहीं करता? अर्थात् वह सभी प्रकारके पापोंको करता है। यही इसकी ध्वनि है।

प्रधानतः नास्तिकोंको लक्ष्य कर ही उक्त युक्तिका व्यवहार किया गया है। वे लोग कहते है कि—मधु तथा चूना एकत्र होने पर जिस तरह उत्ताप (गर्म्मी) पैदा करता है, पञ्चभूत भी किसी विशेषभागानुसार निर्म्मित होकर जैवभाव उत्पादन करते हैं। और इस मूलसमष्टिके विश्लेषणके आरम्भसे होकर जैवभाव विश्लिष्ट होता है, पश्चात उसका और कोई अस्तित्वतक भी नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृतिके परिणाममें ही जीवोंकी सृष्टि तथा प्रकृतिके प्रतिपरिणाममें ही उसका ध्वंस होता है। अस्तु आत्मा नामका कोई भी पदार्थ नहीं—तथा सुकृत-दुष्कृत, धर्म्म अधर्म्म, पुण्य-पाप, न्याय-अन्याय, विचार-अविचार, उपकार-अपकार, भला-बुरा आदि सब कुछ केवल

जीवनयात्राके लिये लौकिक नियम माने गये है। इस तरह सूक्ष्म प्रकृतिसे भी सूक्ष्म आत्माकी प्राप्तिमें चिन्ताप्रणाली द्वारा वे यत्नवान नहीं होते और इसी कारण उनका जीवन वृथा ही व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार जीवन नष्ट कर देनेकी नितान्त हेय बताकर आचार्यने इस तरहका कटाक्ष किया है॥ ३३॥

अश्रान्तः स्यादनादानात् सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥३४॥

अन्वयः।

अनादानात् यः निरुपद्रवः (सन्) अश्रान्तः स्यात् सः ब्रह्मवित् कविः (क्रान्तदर्शी), [एवं] शिष्टः ब्राह्मणः शिष्टवत् न स्यात्॥ ३४॥

शाङ्करभाष्यम्।

अन्यथा देहद्वयमिन्द्रियादितद्धर्मानुपाददतः किं भवतीत्येतत् आह—अश्रान्त इति। यः अनात्मभूतदेहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन नोपादत्ते स पुरुषः अश्रान्तः स्यात् संसारश्रमयुक्तो न भवेत्, अशनायापिपासादेर्देहादिधर्मत्वात्। तथा च श्रुतिः—"अशनायापिपासे प्राणस्य" इति। देहद्वयाध्यासेन तद्धर्माध्यासो भवति। य एवमश्रान्ततया निरुपद्रवो भवति। क्रोधलोभभयहर्षादयो भूतदेहीया योगान्तराया उपद्रवाः, तद्धीनो निरुपद्रवः, स सम्मतः विद्वद्भिः शिष्टत्वेन संमतोऽपि शिष्टवन्न स्यात् न आचरेत् जड़वच्चरेत्। ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः॥ ३४॥

कालिका।

आत्मतत्त्वप्रतिपत्तुरुपायमाह—अश्रान्त इति। यः अनात्मभूतदेहेन्द्रियतद्धर्ममात्मत्वेन नोपादत्ते सोऽश्रान्तः संसारश्रमविहीन· अशनायापिपासादिदेहधर्मराहित्यात् सम्मतः शिष्टत्वेन विद्वद्भिः निरुपद्रवश्च "व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्व-दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासादय उपद्रवास्तद्हीनः स्यात्। एवं शिष्टोऽपि स ब्राह्मणो ब्रह्मवित्, अत एव

कविः क्रान्तदर्शी शिष्टवन्न स्यात् शिष्टत्वं न प्रकाशयेत् किन्तु जड़वच्चरेद् गूढ़चर्य्यत्वात्। ना शिष्टवदिति पाठे शिष्टो गुरुणानुशिष्टः अशिष्टवन्न स्यात्, अनुपदिष्टः यथा शास्त्रादिमर्य्यादामुपेक्षते तथा न स्यात् किन्तु शास्त्रादिमर्य्यादापरिपालनपरो भवेदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

मूलानुवाद।

जो अपनेमें अर्थात् अपनी आत्मामें अविद्यादि दोषोंका ग्रहण नहीं करते, वे संसारस्थित उपद्रवोंके बीचमें भी श्रान्तिका अनुभव नहीं करते। क्योंकि वे ब्रह्मवित् कवि हैं। ब्राह्मण इस प्रकार शिष्ट होकर संसारके निकट शिष्टत्व न दिखलावे ॥ ३४ ॥

कालिकाभास।

यहां तत्त्वज्ञानकी प्रशंसा करके आत्मगोपनका उपदेश दिया जाता है। जो आत्मामें अविद्यादिदोष ग्रहण नहीं करते अर्थात् अनात्म देहादिसे जो आत्मधर्म्मका आरोप नहीं करते, वे उपद्रवोंके बीचमें श्रान्तिका अनुभव नहीं करते अर्थात् संसारमें जितनी क्लेशदायक अवस्थाएं हैं, उनसे वे उपहत नहीं होते। क्योंकि वे जानते हैं कि ये सभी अवस्थामें मोह विशेषके फलमात्र हैं सुख भी संसारका एक उपद्रव विशेष है,—क्योंकि सुखके समयमें ही भावी दुःखका भी बीजः उत्पन्न हो जाता है। इसी लिये योगशास्त्र सुखको भी दुःखपक्षमें रखता है। जो ब्रह्मवित् है वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी है। ब्राह्मण इस प्रकार शिष्ट होकर भी अपना शिष्टत्व प्रकाश न करें। क्योंकि शिष्टत्व प्रकाश करने पर लौकिक गौरवकी वृद्धि होती है और लौकिक गौरवकी वृद्धि होने पर आत्मोत्कर्षमें हानि होगी। यहां मूलश्लोकमें "अशिष्टवत्"—पाठ रहनेसे समझना पड़ेगा कि शिष्ट होकर अनुपदिष्ट व्यक्तिके समान शास्त्रोंकी मर्य्यादा लङ्घन न करेंगे ॥ ३४ ॥

यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्य्यं स्योपभोजनात्॥ ३५ ॥

अन्वयः।

यथा वै श्वा नित्यं स्वं वान्तं अश्नाति, एवं [विद्वांसः योगिनो वा] अभूतये (अमङ्गलाय) स्ववीर्य्यस्य उपभोजनात् वान्तम् अश्नन्ति ॥ ३५ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीमगूढचारिणं कुत्सयन्नाह—यथेति। "मूढा श्वाना इति प्रोक्ताः श्वा च श्वाल" इति दर्शनात् यथा श्वालाः श्वानो वा मूढा वा वान्तम् उद्गीर्णमश्नन्ति, एवं ये शिष्टाः ब्रह्मविदः स्वमाहात्म्यं ख्यापयन्तः अगूढचारिणो वर्त्तन्ते, ते वान्तमुद्गीर्णमश्नन्ति स्ववीर्य्य-स्योपभोजनात्। यदिदं वान्ताशनं तद् अभूतये अनर्थायैवेत्यर्थः। तस्माद् गूढः सन् अशिष्टवदेव समाचरेदिति ॥ ३५ ॥

कालिका।

स्वोत्कर्षप्रकाशं निषेधति—यथेति। यथा वै श्वा नित्यं स्वं वान्तमश्नाति वान्तावलेही भवति, एवं ते सन्नयासिन. अभूतये अनर्थाय स्ववीर्य्यस्य उपभोजनादुपसेवनात् पाण्डित्यादिकं प्रकाश्य भिक्षा-मिच्छन्तो वान्तं स्वोद्गीर्णमश्नन्ति। शिष्टत्वप्रकाशप्रवृत्तौ प्रतिपक्ष-भावनं कर्त्तव्यमिति श्लोकतात्पर्य्यम्। श्वाला इति पाठान्तरे च नास्ति तिरोहितमिव किञ्चन ॥ ३५ ॥

मूलानुवाद।

जो विद्वान वा ज्ञानी वा योगी लोक एवं समाजमें अपना वीर्य्य दिखलाकर अधःपतनके लिये उसका फल उपभोग करता है, वह कुत्तेकी तरह वमन (कै-उलटी)का आहार करता है ॥ ३५ ॥

कालिकाभास।

यहां विद्वान अथवा योगियोंको अपने माहात्म्य प्रसिद्धिमें आस-क्तिकी निन्दा लिखी जाती है। वीर्य्य शब्दसे विद्वानोंके ब्रह्मज्ञान अथवा योगियोंकी विभूतिका लक्ष्य किया गया है। जो लोक समाजमें

आदर वा प्रतिपत्ति पानेके लिये ब्रह्मज्ञानका प्रचार करते हैं, अथवा योगबल दिखलाते फिरते हैं, उनका पतन अवश्यम्भावी है। कुत्ता जिस प्रकार विषसदृश अपने उगले हुये को खाकर अपने शरीरका पुष्टिसाधन नहीं कर सकता, बल्कि और भी उसके विष-भागको ग्रहण करके शरीरका अनिष्ट ही करता है, उसी प्रकार ये भी अपने माहात्म्यका प्रचार करके अपने सञ्चित बलको उन्नत नहीं कर सकते, बल्कि प्रचारजनित गौरवादिका अनुभव करके उसका (बलका) अपकर्ष ही करते हैं। इससे यही उपदेश मिलता है कि शिष्टत्व प्रकाश करनेकी प्रवृत्ति आ जानेपर प्रतिपक्षभावनाके द्वारा उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। अपनी महिमाका प्रचार कर उसका फल भोगना, श्वानवृत्तिके समान हेय है इस प्रकारकी चिन्ता ही का नाम प्रतिपक्ष भावना है।

विभूति प्रकाश करना योगियोंके पक्षमें यदि हेय है, तो फिर योगशास्त्रोंमें उनका उल्लेख ही क्यों किया गया है? इस प्रश्नके उठने पर कहना पड़ेगा—कि योगशास्त्रमें विभूतिके द्वारा धनमानादिके अर्जन करनेके लिये कोई आदेश नहीं है, बल्कि योगी योगमार्गका कौन सा स्थान वा स्थल पा चुका है, यह जान जानेसे उसे उत्साह होगा, इसी लिये योगशास्त्रोंमें विभूतियोंका उल्लेख किया गया है। उनकी साधना शास्त्रानुसार कितनी दूरतक साधित हो चुकी है, यह भी विभूति होके द्वारा योगी स्वयं परीक्षा-कार ले सकेंगे—इसी लिये शास्त्रोंमें उनका उल्लेख हुआ है॥ ३५॥

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः।
ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्या विद्यात् तान् ब्रह्मणस्तनुम्॥ ३६॥

अन्वयः।

ये द्विजाः मानुषे वित्ते (धनजनादिषु) अनाढ्याः [किन्तु] वेदेषु (वेदप्रतिपाद्यधर्मेषु) आढ्याः ते दुर्द्धर्षाः (गुणादिविषये न चालिताः) दुष्प्रकम्प्याः (न च संसरणशीलाः)। तान् ब्रह्मण स्तनुं विद्यात्॥३६

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं योगिन: प्रशंसयन्नाह—अनाढ्या इति । अनाढ्या अबहुमता असक्तात्मान: मानुषे वित्ते जायापुत्रवित्तादिषु, आढ्या वेदेषु वेदप्रतिपाद्याहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यशमादिसाधनेषु ये द्विजास्ते दुर्द्धर्षा: दुष्प्रकम्प्याश्च । विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम् । ब्रह्मस्वरूपभूतान् इत्यर्थ: ॥ ३६ ॥

कालिका ।

योगिन: प्रशंसयन्नाह—अनाढ्या इति । ये द्विजा मानुषे वित्ते अनाढ्या दरिद्रा धनजनमानाद्युपगात्यागिन इत्यर्थ: । किन्तु वेदेषु वेदादिमोक्षशास्त्रप्रतिपाद्यनित्यानित्य-वस्तुविवेक--शमदमादिसम्पत्ति-दृष्टानुश्रविकविषयवैराग्यमुमुक्षुत्वादिविषयेषु । तदुक्तं वाशिष्ठे—"मोक्षद्वारे प्रतीहारा श्चत्वार: परिकीर्त्तिता" इति । यद्वा वेदेषु वेदवेदान्तादि-वेद्यनिर्म्ममत्वादिषु । तदुक्तं पौराणिकै:—'श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभि: । ममेति मूलं दु:खस्य न ममेति च निर्वृति: । निर्म्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसङ्गति: । योगात् सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानान् मुक्ति: प्रजायत ॥" इति । निर्वृति: सुखम् । आढ्या: सम्पन्ना स्ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्याश्च । गुणविषयैरविद्यादि-दोषैर्वा न चालिता इति दुर्द्धर्षा, न च ते संसरन्तीति दुष्प्रकम्प्या: । तान् ब्रह्मणस्तनुं विद्यात् । स्मर्य्यते हि "ब्राह्मीयं क्रियते तनु:" इति । अन्यथा मृत्योस्तनुं विद्यादित्याशय: । उक्तं च—'अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् । मृत्युमापद्यते लोभात् सत्येनामृत-मश्नुते ।' इति ॥ ३६ ॥

मूलानुवाद ।

जो सांसारिक व्यापारोंमें अपटु है किन्तु वेदविद्यामें कुशल है वे अत्यन्त दुर्द्धर्ष तथा परम दुष्प्रकम्प्य हैं । उनके शरीरको ब्रह्ममय जानना चाहिये ॥ ३६ ॥

कालिकाभास।

यहां योगबलादि समन्वित विद्वान ज्ञानियोंकी प्रशंसा की गयी है। उक्त श्लोकका निष्कर्ष निम्नलिखित है।—जो सांसारिक धन-जन-मानादि व्यापारके सम्बन्धमें दरिद्र है किन्तु नित्यानित्यवस्तु-विवेक शमदमादिसम्पत्ति सकल फलवैराग्य तथा मुमुक्षुत्वादि वेद-प्रतिपाद्य नियमोंसे युक्त है, वे परम दुर्द्धर्ष अर्थात् वे रजस्तम: आदि गुणोंके द्वारा धर्षित अथवा अविद्यादि दोषोंके द्वारा विचलित नहीं होते और भी वे परम दुष्प्रकम्प्य अर्थात् संसारके दुखत्रयोंके अभि-घातसे विताड़ित न होकर जीवन्मुक्तके समान स्थिर रहते हैं।

वेदप्रतिपाद्य नित्यानित्य वस्तुविवेकादिके सम्बन्धमें वशिष्ठ भगवान कहते हैं—"मोक्षद्वारपर चार द्वारपाल है—" कहनेका अभिप्राय यह है कि इन चारोंको सिद्ध किये विना मोक्ष नहीं हो सकता। पौराणिक लोग भी कहते हैं कि निर्ममत्व, वैराग्य, योग तथा ज्ञान यही मोक्षके चार पूर्व्वपूर्व्व वृत्त हैं। अर्थात् निर्ममत्वके होनेसे सभी विषयोंसे वैराग्य होगा, वैराग्यके होनेसे योगबल होगा, योगके सिद्ध होने पर ज्ञान होगा, और ज्ञानके हो जाने पर मोक्ष होगा।

यद्यपि प्रथमोक्त दार्शनिकमत भी शेषोक्त पौराणिक मतसे विभिन्न दिखलाता है, तथापि सूक्ष्मदृष्टिसे दोनों मतोंको विचारनेपर जान पड़ेगा कि इस तरहके भेदक्रम केवल अवान्तर विशेष है। दार्शनिक लोग कहते हैं कि जिज्ञासा उत्पन्न होनेके पहले जो चार साधन आवश्यक है, उनमें नित्यानित्यवस्तुविवेक ही क्रमानुसार पहले पहल आता है। पौराणिकोंने कहा है, निर्ममत्व ही साधन-चतुष्टयकी प्रथम सीढ़ी है। वस्तुत: इस जगह शब्दोंमें भेदके रहनेपर भी कोई मतभेद नहीं दीखता। क्योंकि क्या नित्य है और अनित्य है? इस विचारके हो जानेपर फिर नित्य वस्तु ही सिद्ध होती है। और फिर नित्यवस्तुविवेक सिद्ध हो जानेपर

मिथ्यावस्तुओं पर ममता नहीं रह जाती। इसी लिये नित्या-नित्यवस्तुविवेकको निर्म्ममत्व कहा गया है। इतनी दूरतक स्थिर हो जाने पर भी दोनो मतोंके क्रम विषयमें कुछ तारतम्य है। दार्शनिक लोग कहते हैं कि क्या नित्य क्या अनित्य है, इसके स्थिर हो जाने पर नित्य वस्तु पानेके लिये चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है। अतएव—"शान्तो दान्त उपरत स्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्"—इस श्रुतिके अनुसार शम अर्थात् अन्तरिन्द्रिय संयम, दम अर्थात् बहिरिन्द्रिय संयम, उपरति अर्थात् निवृत्तिमूलक संन्यास तितिक्षा अर्थात् सुखदुखादि विषयकी सहिष्णुता तथा समाहितता अर्थात् प्रमादादि वृत्ति निरुद्ध करके ध्येय वस्तुका ध्यान—इन्हीं कई अन्तरङ्ग उपायोंका श्रद्धाके साथ सम्पादन करनेपर चित्तशुद्धि होगी और चित्तशुद्ध होनेपर मिथ्यावस्तुमें अनुराग नहीं रहता—इसी लिये शमादि सम्पत्तिके बाद ऐहिक तथा पारलौकिक विषयोंका दृष्ट अथवा श्रुतफलभोगमें वैराग्यका उदय होता है। सभी वस्तुओंसे विरक्त होनेके बाद नित्यवस्तुमें सम्पन्न होनेके लिये जो तीव्रवासना होती है वही मुमुक्षुता है। इस तरहकी वासना होनेपर जिज्ञासावश ज्ञानोपयोगी श्रवण मनन निदिध्यासनके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, इससे फिर संसारमें आवागमन नहीं होता।

पौराणिक लोग यह कहते है कि, वैराग्य निर्म्ममत्वकी पराकाष्ठा है। सुतरां निर्म्ममत्वके बाद वैराग्यका अनुशीलन परमावश्यक है। मनुष्य सकल विषयोंसे विरक्त होकर योगयुक्त होता है। इस विषयमें—"अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।"—यह दार्शनिकसूत्र ही प्रमाण है। इसी लिये वैराग्यमें अभ्यस्त हो जानेपर वृत्तियोंके समूहका निषेध करके योगाभ्यास किया जाता है। तत्पश्चात् क्रमशः "ऋतम्भरा प्रज्ञाके उदय होनेपर"—"धर्म्ममेघ समाधि" होती है तभी तत्वज्ञानका आविर्भाव होता है। यहीं पुरुषार्थचतुष्टयकी समाप्ति होती है।

इसके बाद वेदान्त मतमें जिस प्रकार अविद्यानिवृत्तिवशतः संसारसे मुक्ति होती है ऐसा माना गया है इसी प्रकार योगशास्त्रानुगत पौराणिकगण अविद्याको दो भागोंमे कल्पना करके कहते है कि प्रथमतः चित्तविमुक्ति एवं शेषतः गुण विमुक्तिके होनेपर कैवल्य होता है। अतएव दोनो मतोंमें और किसी तरहका अवान्तर भेद रहनेपर भी परमार्थ विषयका कोई भी भेद उपपन्न होता नहीं दीखता ॥ ३६ ॥

सर्व्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन।
न समानो ब्राह्मणस्य यस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः।

यः कश्चित् इह सर्व्वान् सु-इष्टकृतः देवान् विद्यात् (साक्षात् करोति) सः ब्राह्मणस्य (विदुषः) न समानः। [हि] यस्मिन् (स्विष्टे) [विद्वान्] स्वयं प्रयतते ॥ ३७ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

किञ्च ब्रह्मविन्महिमैव —सर्व्वानिति। सर्व्वानग्न्यादीन्। स्विष्टकृतः सुष्ठु इष्टं कुर्व्वन्तीति। तथा च श्रुतिः—"स्विष्टं कुर्व्वन्तीति। तथा च श्रुतिः—"स्विष्टं कुर्व्वन् स्विष्टकृत्" इति। देवान् प्रत्येकमुद्दिश्य त्यागार्थं विद्यात् य इह कश्चन सर्व्वदेवतायाज्यपि ब्राह्मणस्य न समानो ब्रह्मविदा न समान इत्यर्थः। नैतदाश्चर्य्यम्—यस्मिन् देवताविशेषे हविष उद्देशत्यागेन फलार्थं प्रयतते स्वयं यजमानः 'इदमग्नये, इदमिन्द्राय' इति सोऽपि हविष्पतिर्योऽग्न्यादिदेवताविशेषो न समानो ब्रह्मविदा, किमु वक्तव्यं देवपशुर्यजमानो न समान इति। तथा च मोक्षधर्म्मे—

ब्राह्मणस्य न सादृश्ये वर्त्तते सोऽपि किं पुनः।
इज्यते येन मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः ॥ इति।

तथा च मनुः—'ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किञ्चिदिह विद्यते'। इति ॥ ३७ ॥

कालिका ।

क्रियासाध्यफलाद् ब्रह्मज्ञानं श्रेष्ठमित्याह—सर्व्वानिति। सुष्ठी-भनमिष्टं कुर्व्वन्तीति स्विष्टकृत स्तान् सर्व्वान् देवानग्न्यादोन् यः कश्चिद् यज्ञकर्त्ता विद्यात् साचात् कुर्य्यात् सोऽपि ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदः समानो न भवति। तत्र हेतुः—यस्मिन् स्विष्टे निमित्ते यजमानः स्वयं प्रयतते यत्नवान् भवति।

यजमानो ब्रह्मविदा न समानः। नैतदाश्चर्य्यम्। कुतः? यतो-यस्मिन् देवे यजमानः क्रियासाध्यफलार्थं प्रयतते सोऽपि देवः स्वयं ब्रह्मविदो न समान इति। यद्वा यतो यत् कृतकं तदनित्यमिति क्रियासाध्यं स्विष्टमनित्य ब्रह्म तु स्वत एव सिद्धमिति ब्रह्मज्ञानस्य नित्यत्वात् स्विष्टं न ब्रह्मज्ञानसमानमिति दिक् ॥ ३७ ॥

मूलानुवाद ।

जो समस्त स्विष्टकृत देवगणको जानते है, वे भी विद्वान ब्राह्मणके समान नहीं हैं। क्योंकि विद्वान ब्राह्मण यत्परो नास्ती (जिसके बाद और कुछ नहीं, ऐसे) इष्टसंसाधनमें ही यत्नवान रहते है ॥ ३७ ॥

कालिकाभास ।

क्रियासाफल्यकी अपेक्षा ब्रह्मज्ञानकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं। जो लोग सुन्दर रूपमें अपना इष्ट अर्थात् अभोष्ट दान करते हैं वे ही स्विष्टकृत देवता हैं। जैसे कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, पवन, प्रभृति देवगण यज्ञमें आहुति लेकर यजमानको अभीष्टसिद्धि करते हैं अतः वे उनके स्विष्टकृत देवता हैं। जिन यजमानोंने यज्ञोंमें समस्त स्विष्टकृत देवताओं की आराधना कर उनमेंसे अपनी स्वाभीष्ट क्रियाफलका लाभ किया है, वे भी विद्वान ब्राह्मणोंके समान

नहीं हैं। क्योंकि विद्वान ब्राह्मण मोक्षरूप उत्कृष्ट साधनमें तत्पर (संलग्न) रहते हैं।

इस श्लोककी एक दूसरे तरहकी व्याख्या भी की जा सकती है। जिन यजमानोंने यज्ञादिकोंके द्वारा समस्त स्विष्टकृत देवताओंका साक्षात्कार किया है, वे भी विद्वान ब्राह्मणोंके समकक्ष नहीं हो सकते।—क्योंकि स्विष्टकृत देवगण स्वय ही विद्वान ब्राह्मणोंके समान नहीं है। कहनेका अभिप्राय यह है कि देवतागण मनुष्योंकी अपेक्षा शक्तिशाली होनेपर भी उन्हें अपने २ कामोंमें व्यापृत रहनेके कारण वे मनुष्योंकी अपेक्षा स्वाधीन नहीं हैं। कल्प-क्षयके विना देवताओं की मुक्ति नहीं हो सकती, किन्तु मनुष्यने ऐसी अवस्था (स्थान) पायी है कि आकल्प वह संसारमें भ्रमण भी करता रह सकता है, और विद्याके द्वारा सांसारिक वन्धनोंको काट कर मुक्त भी हो सकता है। इसी लिये एक पक्षमें (बातमें) देवताओंके मनुष्योंकी अपेक्षा वलशाली होनेपर भी, मनुष्य ही देवताओंके अपेक्षा सौभाग्यशाली हैं ॥ ३७ ॥

यमप्रयतमानन्तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत नावमानेऽनुसंज्वरेत् ॥ ३८ ॥

अन्वयः।

यम् अप्रयतमानं तु मानयन्ति [सः विद्वान्] मानितः (सन्) मान्यमानः न मन्येत। अवमाने न अनुसंज्वरेत् (व्याकुली-भवेत्) ॥ ३८ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—यमिति। यं ब्रह्मविदम् अप्रयत-मानं तूष्णीभूतं सर्व्वोपसंहारं कृत्वा स्वे महिम्नि व्यवस्थितं गूढ़चारिणं केचिद्विद्वांसः स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञाः ब्रह्मविदिति ज्ञात्वा मानयन्ति पूज-यन्ति चेत्, स तैः मानितः पूजितोऽपि विद्वान् न 'मान्यमानः अहम्'

इति मन्येत। तथा, स्थितप्रज्ञलक्षणानभिज्ञाः अज्ञ इति मत्वा अवमानं कुर्व्वन्ति चेत् तस्मिन् अवमाने निमित्ते न अनुसंज्वरेत् न अनुतप्येत ॥ ३८ ॥

कालिका।

पूर्व्वोक्तं ब्रह्मविदः समाचारं पुनर्विवृणोति—यमिति। यं ब्रह्मविदमप्रयतमानं निरारम्भं सर्व्वमुपसंहृत्य स्वे महिम्नि व्यवस्थितं गूढचारिणमित्यर्थः। केचिद् विपश्चितः स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञाः मानयन्ति ब्रह्मविदिति ज्ञात्वा पूजयन्ति स प्रज्ञास्थैर्य्यं चिकीर्षुस्तैर्मानितः पूजितोऽपि मान्यमानोऽहमिति न मन्येत। तथा स्थितप्रज्ञलक्षणानभिज्ञा अविद्वानिति मत्वा अवमानं कुर्व्वन्ति चेत् तर्हि तस्मिन्नवमाने नानुसंज्वरेन्नाकुलीभवेत्। श्रूयते च—"यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते"। इति। स्मर्य्यते च—"न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियमि"ति ॥ ३८ ।

मूलानुवाद।

सम्मानके लिये यत्नवान नहीं होने पर भी यदि कोई सम्मान प्रदान भी करे तो भी विद्वान् योगी अपनेको मान्यमान नहीं समझते। और यदि कोई उनका अपमान भी करे तो भी वे दुःखित वा क्षुब्ध नहीं होते ॥ ३८ ॥

कालिकाभास।

विद्वान योगियोंका आचार फिर भी कहा जाता है। पहले कहा गया है कि विद्वान योगी अपने सम्मानके लिये अपनी विद्या अथवा योगबलका प्रकाश नहीं करते। अब कहा जाता है कि यदि वे आत्मगोपन भावमें छिपे भी हो, और कोई लक्षणोंमे पहचाननेवाला पण्डित उनके योगबल अथवा विद्याको जानकर उनका सम्मान भी करे तो भी वे अपनेको मान्यमान समझकर गौरव

अनुभव नहीं करते। क्योंकि सम्मानमें उपहृत होने (पड़ने) पर का वासनाका उदय होगा, और वासनासंस्कार सञ्चित होनेसे मोक्षकी सम्भावना नहीं रहेगी। इसी लिये श्रुतियां कहतीं है—"हृदयसे समस्त कामनाओंके छूट जाने पर मरणशील व्यक्ति ब्रह्मत्व पाकर अमर हो जाता है। और यदि कोई मूर्ख उनकी अवमानना भी करे तो भी वे उससे व्याकुल वा क्षुब्ध नहीं होते, और अप्रिय व्यापार आ पडनेपर उद्विग्न वा दुःखित न होते॥ ३८॥

लोकस्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः॥ ३९॥
अधर्मनिपुणा मूढ़ा लोकाः शास्त्रविवर्जिताः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति एवं मन्येदमानितः॥ ४०॥

अन्वयः।

विद्वांस इह मानयन्ति [किन्तु तत्र दर्पं न कुर्य्यात्]। हि (यतः) निमिषोन्मेषवत् सदा लोकस्वभाववृत्तिरिति मानितो मन्येत। अधर्म्म-निपुणा मूढाः शास्त्रविवर्ज्जिताः लोका मान्यं न मानयिष्यन्ति (इति) एवं अमानितः मन्येत्॥ ३९। ४०॥

शाङ्करभाष्यम्।

किं तर्हि मानितेन अवमानितेन वा मन्तव्यम् इत्याह श्लोक-द्वयेन—लोकेति। यदिदं विद्वांसो ब्रह्मविदं मानयन्ति इति तत्तेषां निमेषोन्मेषवत् स्वभाववृत्तिः स्वाभाविकी वृत्तिः इति मन्येत॥ ३९॥

तथा, अमानितो जनैरवज्ञातो विद्वानेवं मन्येत—अधर्म्मविदुषो मूढाः विवेकहीनाः लोकाः शास्त्रविवर्ज्जिताः न मान्यं मानार्हं मानयिष्यन्ति, तथा अमान्यमपि मानयिष्यन्ति इत्येतत् अविदुषां स्वभावः इति मन्येत, अमानितोऽपूजितो विद्वान्॥ ४०॥

टीका।

विद्वान स्वभावादेव मान्यं मानयतीति दर्पं न प्राप्नुयात्।

अविद्वांश्च स्वभावादेव मान्यं न मानयतीति नानुतप्येत। तावुभावु-पेक्षयावित्याह—लोकस्वभाववृत्तिरिति।

विद्वांस इह संसारे मान्यं मानार्हं ब्रह्मचारिणमिति यावन्मान-यन्ति किन्तु तत्र दर्पं न प्राप्नुयात्। हि यतो मानितः सन् लोकस्य विदुष एषा निमिषोन्मेषवत् स्वभाववृत्तिः स्वभावप्रवृत्तिरिति मन्येत। लोकस्वभाववृत्तिर्लोकमामान्यप्रवृत्ति। आयाति ब्रह्मचारिणि विदुषां प्राणा ऊर्द्धमूत्क्रामन्ति, तानेव ते मानादिप्रदर्शनेन सुस्थान् कुर्व्व-न्तीति दर्शनात् स्वभाववृत्तिरित्युक्तम्। अधर्म्मचारिणो मूढ़ा निर्विवेकाः शास्त्रविवर्ज्जिताः शास्त्रानभिज्ञाः स्वभावादेव मान्यं मानार्हं ब्रह्म-चारिणं न मानयिष्यन्तीत्येवममानितो मन्येत् मन्येत, किन्तु तत्र नानुतप्येत। स्वभावप्रवृत्तावेतावुभावुपेक्षयावित्यत्रोक्तम्। ३९॥ ४०॥

मूलानुवाद।

विद्वान सम्मानित होकर मनमें सोचते हैं कि विद्वान विद्वानको मान्य समझते हैं, और विद्वान अपमानित होनेपर भी मनमें यही सोचें कि अधार्मिक तथा मूढ लोग विद्वानोंकी मर्यादा नहीं समझते। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आखोंमें निमेष उन्मेष (पलक खोलना और बन्द करना) स्वभावसिद्ध है, ठीक उसी तरह विद्वान तथा अविद्वानोंका आचरण भी उनके स्वभावसिद्ध ही रहता है॥ ३९—४०॥

कालिकाभास।

विद्वान स्वभावसे ही विद्वानोंका मान करते हैं, उसमें दर्प अथवा अभिमान नहीं। अविद्वान् तथा अधार्म्मिक विद्वानोंकी मर्य्यादाकी रक्षा नहीं करता, और यह उसका भी स्वाभाविक धर्म्म है, अस्तु इसमें भी दुःख करनेकी कोई बात नहीं। स्वभावसे ही आखोंमें निमेष और उन्मेष होता है किन्तु उसमें उसकी कोई भी विचित्रता नहीं। ठीक इसी तरह विद्वान अथवा मूर्खोंके

इस प्रकारके आचरणमें सुख अथवा दुःख अनुभव करनेकी कोई बात नहीं ॥ ३९।४० ॥

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद्विदुः ॥ ४१ ॥

अन्वयः।

मानं च मौनं च सदा वै सहितौ न वसतः। हि मानस्य अयं लोकः, मौनस्य असौ (परलोकः)। [कोऽसौ ?] तद्विदुः (ब्रह्म विदुः) ॥ ४१

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं मानमौनयोर्भिन्नविषयत्वमाह—न वा इति। न वै मानं च मौनं च सहितौ एकत्र वसतः सदा। अयं प्रत्यक्षादिगोचरो लोको—लोक्यत इति प्रपञ्चो मानस्य विषयः। असौ परलोको मौनस्य। कोऽसौ तद् विदुः। तथा चाह भगवान्—"ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" इति। तथा चानुगीनाम्—"ओं तत्सद्विष्णवे चेति मन्त्रग्रन्थानि पदानि वै"। इति। तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म मौनस्य विषय इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—मानात् संसारप्राप्तिः, मौनेन ब्रह्मप्राप्तिरिति। उक्तं च हिरण्यगर्भे—

अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृतिः।
ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिहेतुर्मौनमिति स्मृतम् ॥ इति ॥ ४१ ॥

कालिका।

मानार्थिनां परलोको दुःसम्पादः परलोकार्थिनां च मौनिनामिह लोको दुःसम्पाद इति मानमौनयो भिन्नविषयत्वमाह—न वायिति। मानस्य क्लीबत्वमार्षम्। मुने रुत्पन्नविद्यातिशयस्य भावो मौनं युक्तितोऽनात्मदृष्टितिरस्कारः। तच्च—अहमात्मा परं ब्रह्म न मत्तोऽन्यदस्ति किंचनेति मनसैव तत्त्वानुसन्धानपरं भवति। मौनं हि बालवदुपाददानः पुरुष स्तदेकनिष्ठाख्यां विद्याकाष्ठां लभते। नात्र

मौनशब्दादाश्रमविशेषस्य परामर्श: । आश्रमाश्च चतुर्व्विधा: ब्रह्मचर्य्य-गार्हस्थ्यवानप्रस्थभिक्षुकभेदात् । तत्र ब्रह्मचारी चतुर्व्विधो गायत्रो ब्राह्म: प्राजापत्यो वृहन्निति, ते च द्विविधा नैष्ठिक उपकुर्व्वाणश्चेति । गृहस्थोऽपि चतुर्व्विधो—वार्त्तावृत्ति: शालीनवृत्तिर्यायावरो घोर-सन्न्यासीति । यद्वा द्विविध: कृतदारोऽकृतदार श्चेति । कृतदारोऽपि द्विविध: साग्नि निरग्निश्चेति । साग्निरपि द्विविध: श्रौताग्नियुत: स्मार्त्ताग्नियुक्तश्चेति । वानप्रस्थोऽपि द्विविध: अश्मकुट्टी दन्तोदूखलिक-श्चेति, यद्वा सदारोऽदारश्चेति । "पुत्त्रेषु दारान् निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वे" तिमानववचनात् । भिक्षुरपि द्विविधो विविदिषासन्न्यासी विद्वत्सन्न्यासी चेति । तत्र यथा तीव्रायां पिपासायामुत्पन्नायां पाना-दन्यो व्यापारो न रोचते, पाने च विलम्बो न सोढुं शक्यते, तथा यदा संसारो न रोचते श्रवणमननादिषु च त्वरा महती सम्पद्यते तादृशी विविदिषा सन्न्यासहेतु: । यत्र श्रवणमनननिदिध्यासनै: परतत्त्वं निश्चीयते स विद्वत्सन्न्यास: । तं च याज्ञवल्क्य: सम्पादयामास । वृहदारण्यके विद्वत्सन्न्यास एव श्रूयते—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा: पुत्त्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ती"ति । नैतद्वाक्यं विविदिषासन्न्यासपरमिति वाच्यम् । पूर्व्वकालवाचिनो 'विदित्वेति' क्त्वाप्रत्ययस्य ब्राह्मणशब्दस्य च वाधप्रसङ्गात् । न चात्र ब्राह्मणशब्दो जातिवाचक: । वाक्यशेषे पाण्डित्य-बाल्यमौनशब्दाभिधेयै: श्रवणमनननिदिध्यासनै: साङ्गं ब्रह्मसाक्षात्-कारमभिप्रेत्य "अथ ब्राह्मण" इत्यभिहितत्वात् । यद्वा कुटीचकवहू-दकहंसपरमहंसभेदैर्भिक्षुश्चतुर्व्विध: । एतेषां मध्ये योऽपि कोऽपि सञ्जातविद्यो मौनी भवतीति दर्शनात् मौनशब्देन कोऽपि आश्रम-विशेषो नोपदिष्ट । मानं च मौनं च सहितावेकत्र सदा नित्यं न वसत: । सदा न वसतं इत्युक्तो क्वचिदेव वसत इति वोध्यम् । अश्व-पतिकैकयजनकादिषु तयोरेकत्र सद्भावात् ।

ततो हेतुत्वेन सामान्यवस्तुगतिमाह—अयमति । अयं लोक ऐहिको विषयो मानस्य भवति, असावामुष्मिकस्तु मौनस्यैव । ऐहि-

कार्थिनां मानिनां परलोको दुःसम्पादः, परलोकार्थिनां च मौनिनामिहलोको दुःसम्पाद इत्यभिप्रायः। कोऽसावेव ? तद्विदु स्तत्पदवाच्यं ब्रह्मविदुः ॥ ४१ ॥

मूलानुवाद।

मान तथा मौन सर्व्वदा एकत्र नहीं रहते। क्योंकि मान जगत्प्रपञ्चका विषय है, एवं मौन प्रपञ्चातीत वस्तुका विषय है। ऐसा ही जानना उचित है ॥ ४१ ॥

मानियोंके लिये ब्रह्मप्राप्ति कठिन है एवं मौनियोंके लिये लौकिक सम्मानप्राप्ति दुस्साध्य है। इसी लिये यहां मान तथा मौनकी विभिन्नता दिखलायी जाती है। मान अर्थात् लौकिक सम्मान। और मौन शब्दसे केवल वाक् संयम ही उद्दिष्ट नहीं होता। शास्त्रार्थके आयत्त तथा अभ्यस्त करने पर पण्डित होता है, और पण्डित निदिध्यासनके द्वारा शास्त्रोंका तत्त्वदर्शन कर लेने पर विद्याके आधिक्यसे मुनि होता है। अब यही मुनि विद्यातिशय पाकर मुक्तिके द्वारा अनात्मदृष्टि छुड़ानेके लिये वाक्संयमकी सहायतासे जिस भावका अवलम्बन करता है, वही (भाव) मौन है। उस अवस्थामें वे यही चिन्ता करते है कि—"मैं ब्रह्ममय हूं, जगत् ब्रह्ममय है, अतः मुझसे अलग किसी वस्तुकी पृथक्सत्ता हो ही नहीं सकती। इस प्रकार क्रमानुरोधिनी धारावाहिक चिन्ता परिपक्क होकर जगत तथा ब्रह्मके सम्बन्धमें जिस समय विद्या अथवा ज्ञानकी पराकाष्ठा होती है, वैसे पण्डित विद्वान अथवा मुक्तयोगीके नामसे प्रसिद्ध हैं। योगके विना ब्रह्ममें सम्पूर्ण समाहित होना असम्भव है। इस लिये अथवा, ब्रह्ममें सम्पूर्ण प्रतिष्ठित होनेपर उस अवस्थाको योग कहा जाय इस लिये, विद्वानको मुक्तयोगी कह सकते हैं, और मुक्तयोगीको भी विद्वान कह सकते हैं। इसीका उत्तरार्द्ध सप्तम श्लोकमें "आत्मयोग" कह कर उल्लिखित किया गया है। अस्तु

यहां अथवा ग्रन्थके किसी उत्तरभागमें मौन शब्द किसी आश्रम-विशेषके नामसे परामृष्ट नहीं हुआ है ।

शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास वा भिक्षु-नामक चतुर्विध आश्रम निर्द्दिष्ट हुए हैं। पुन: उनमें गृहस्थाश्रम भी चार तरहका है—यथा वार्त्तावृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर तथा घोर सन्यासो। तन्त्रमतानुसार इसी घोर सन्यासीको गुप्तावधूत कहते है। किसीके मतसे कृतदार तथा अकृतदार भेदसे गृहस्थाश्रम दो प्रकारका है। अब कृतदार गृहस्थ भी दो प्रकार का हो सकता है,—यथा साग्नि एवं निरग्नि। फिर साग्निक गृहस्थ भी दो प्रकारके हो सकते है,—यथा श्रौताग्नियुक्त तथा तथा स्मार्त्ताग्नियुक्त। अश्मकूट एवं दन्तोदूखलिक भेदसे वानप्रस्थ दो प्रकारका कहा गया है। कोई कोई वानप्रस्थको भी सदार एवं अदार भेदसे ही द्विविध बतलाते हैं। क्योंकि मनुने कहा है कि "स्त्रीको अपने पुत्रके निकट रखकर अथवा अपने साथ लेकर वनगमन करना"। भिक्षु भी दो तरहके है,—विविदिषा सन्यासी और विद्वत् सन्यासी। प्रबल प्यासमें जिस प्रकार जल पीनेके अतिरिक्त और किसी विषय पर रुचि नहीं होती, एवं जल पीनेमें भी विलम्ब सह्य नहीं होता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानके लिये जिस समय संसारमें रुचि नहीं रहती, एवं श्रवण मननादिमें विलम्ब करना असह्य हो जाता है, उसके लिए यदि कोई व्यक्ति सन्यास ग्रहण करे तो उसको विविदिषा सन्यासी कहते हैं। और श्रवण-मनन एवं निदिध्यासनके द्वारा परतत्त्वका आभास ग्रहण-पूर्व्वक जिस समय कोई सन्यास ग्रहण करता है तो उसको विद्वत् सन्यासी कहते हैं। योगी याज्ञवल्क्य एक विद्वत् सन्यासी थे। विद्वत् सन्यास सम्बन्धमें वृहदारण्यक वचन है—"इस आत्माको जान कर ब्राह्मण जिस समय पुत्रादि वासनासे व्यथित होता है, उस समय वह भिक्षाचर्य्या (सन्यास)का अवलम्बन कर लेता है।" यह वचन विविदिषासन्यासके लिए है, ऐसा नहीं कहा

जा सकता। क्यों कि पूर्व्वकालवाचक 'जानकर" शब्द इस प्रकारके उपपत्तिका बाधक होता है। ब्राह्मण शब्द भी यहां जातिवाचक नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यके अन्तमें "पाण्डित्य, बाल्य, तथा मौन" शब्दोंका प्रयोग हुआ है। कोई कोई कहते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस भेदसे भिक्षु (सन्यासी) भी चार प्रकारके है। इन सब आश्रममे जिस किसीमें विद्यातिशय होनेसे हो वह मौनी हो जाय इससे तो मौन शब्दसे कोई आश्रम विशेष परामृष्ट नहीं होता।

मान तथा मौन सर्व्वदा एकत्र नहीं रहते—ऐसा कहनेसे यह जान पड़ता है, कि कभी कभी वे (मान और मौन) एकत्र रहते है। सम्भवत: केकय एवं जनकादिक ब्रह्मवित्तम राजर्षि लोगोंको कथा स्मरणकर आचार्यने इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग किया है ॥ ४१ ॥

श्री र्हि मानार्थसंवासात् सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्ल्लभा श्री र्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४२ ॥

अन्वयः।

हे क्षत्रिय। मानार्थसंवासात् या श्री: सा चापि परिपन्थिनी। हि (यत:) प्रज्ञाहीनेन ब्राह्मी श्री: सुदुर्ल्लभा ॥ ४२ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं मानार्थसंवासे अपवर्गाभावं दर्शयति—श्रीरिति। हे क्षत्रिय। श्रीर्हि मानार्थसंवासात् मानविषयसंवासात् मानगोचरे प्रपञ्चे वर्त्तमानस्य स्वर्गपश्वादिसाधनभूतं कर्म्मानुतिष्ठत: श्रीर्हि भवति। सा चापि श्री: परिपन्थिनी श्रेयोमार्गविरोधिनी। तथा च मोक्षधर्म्मे—"निबन्धिनी रज्जुरेषा" इति। य एवं श्रिया अभिभूतो मूढ़: सन् विषयेषु प्रवर्त्तते तेन विद्याहीनेन ब्राह्मी ब्रह्मानन्द-लक्षणा श्री:। तथा च हिरण्यगर्भे—

या नित्या चिद्घनाऽनन्ता गुणरूपविवर्ज्जिता ।
आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते ॥

सा च दुर्ल्लभा श्रवणायापि न शक्या। तथा च श्रुति:—"श्रवणायापि बहुभि:" इति ॥ ४२ ॥

कालिका ।

अभिमानतत्त्वज्ञानयोर्विरोध उक्त:। इदानीं मानसहकारिमौनश्रियोरपि विरोधं दर्शयति—श्रीरिति ।

हे क्षत्रिय । मानार्थस्य मानादिविषयस्य संवासादधिष्ठानाद् या श्रीर्लक्ष्मीर्धनजनाभिजनैश्वर्य्यरूपा सा चापि परिपन्थिनी श्रेयोमार्गविरोधिनी अतएव योगिनामनिष्टकरी भवति। य एवं श्रियाऽभिभूतो मूढ़: सन् विषयेषु प्रवर्त्तते, तेन प्रज्ञाहीनेन ब्राह्मी ब्राह्मणस्य योग्या श्री ऋग् यजु:सामात्मिका सुदुर्ल्लभा लब्धुमशक्या। श्रुतिश्च—"ऋच: सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सतामि"ति। हैरण्यगर्भाश्च—"या नित्या चिद्घनानन्ता गुणरूपविवर्ज्जिता। आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते"। इति ॥ ४२ ॥

मूलानुवाद ।

हे क्षत्रिय। मानार्थ कालयापन करके प्रज्ञाहीन व्यक्ति जो श्री लाभ करता है उसके लिये ब्रह्मप्राप्ति एकदम प्रतिकूल है। क्यों कि प्रज्ञाहीनके निकट ब्राह्मी श्री नितान्त ही दुर्लभ है ॥४२॥

कालिकाभास ।

ऐहिक तथा पारत्रिक सम्पत्तिमें विरोध दिखलाया जाता है योगी, धन-जन-मान-मर्य्यादादिक ऐश्वर्य्योंका लोभ करनेसे मोक्षाधिकारी नहीं होते, इसी मन्तव्यसे यह श्लोक लिखा गया है। जो वेद प्रतिपाद्य ब्रह्मविषयमें तन्मय न होकर अनित्यविषयोंके भोग एवं अपनी अपनी इष्टदेवताओंकी क्रमानुरोधिनी ब्रह्मोपासनाका ही आचरण करते हैं, वे मोक्षाधिकारी न

होकर भोगाधिकारी ही होते हैं। इसीसे पार्थिवी—श्री को ब्राह्मी श्री की परिपन्थिनी कह कर उल्लेख किया गया है। वेदहृदय वेदान्त ब्राह्मी श्री प्रदान करता है, इसी लिये श्रुतियां कहती हैं—ऋक्, यजुः, साम, धार्मिक लोगोंके लिये अमृतरूपा श्री है। इस विषय पर योगियोंकी एक सदुक्ति है उसका अनुवाद लिखा जाता है।—जो परा, शुद्धा, चिन्मयी तथा सनातनी एवं जो निर्गुणा, निरूपा तथा आनन्दमयी है वही ब्राह्मी श्री के नामसे अभिहित होती है ॥ ४२ ॥

> द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति सन्तो
> बहुप्रकाराणि दुराचराणि
> सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः
> षण्मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥ ४३ ॥

अन्वयः।

सन्तः दुराचराणि बहुप्रकाराणि द्वाराणि सम्यग् वदन्ति। सत्यार्ज्जवे ह्रीः दमशौचविद्याः षट् मानमोहप्रतिबन्धकानि [सुरः] ॥ ४३॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि दर्शयति—द्वाराणीति। द्वाराणि ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि सन्तः सम्यक् प्रवदन्ति बहुप्रकाराणि दुराचराणि दुःखाचरणानि। कानि तानि? सत्यं, यथार्थभाषणं भूतहितं च। आर्जवम्, अकौटिल्यम्। ह्रीः, अकार्य्यकरणे लज्जा। दमः, अन्तःकरणोपरतिः। बहिःकरणोपरतिरिति केचित्। शौचं मलकलमषप्रक्षालनम्। विद्या ब्रह्मविद्या। षडेतानि मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीगोविन्द-
भगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशङ्करभगवतः
कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

कालिका ।

ब्राह्म्याः श्रियः कारणानि दर्शयति—द्वाराणीति। सन्त ऋषयो वहुप्रकाराणि दुराचराणि दुःसंरक्ष्याणि द्वाराणि ब्रह्मलक्ष्मीप्राप्तिमुखानि सम्यक् प्रवदन्ति। कानि तानि? सत्यादीनि षडेतानि मानमोह-प्रतिबन्धकानि मानस्य च मोहस्य च प्रतिरोधकानि। सत्यं वाङ्-मनसो र्यथार्थत्वम्। अतएव परत्र स्वबोधसदृशबोधजननाय वागु-च्चारिता सा चेन्न वञ्चिका तर्हि सत्या। यदा तु दृष्टार्थविपरीतबोधने मनस स्तात्पर्य्यं तदा यथार्थापि न सत्या। यथा द्रोणाचार्य्येण स्वपुत्राश्वत्थाममरणमायुष्मन् सत्यधनाश्वत्थामा हत इति पृष्टस्य युधिष्ठिरस्य प्रतिवचनं हस्तिनमभिसन्धाय सत्यमश्वत्थामा हत इति। तत्र हस्तिहननविषये वाक्यस्य सत्यत्वेऽपि मनसो न सत्यत्वम्। दृष्टविपरीतद्रोणपुत्रहननबोधने मनस स्तात्पर्य्यात्। या च वागुक्ता भ्रान्ता सा न सत्या। अज्ञाननिमित्तकपापान्तरवद् भ्रान्तिनिमित्तका सत्यस्यापि पापत्वात्। अपिच सत्यं परापकारफलं सत्याभासं न तु सत्यम्। तथा दस्युभिः सार्थगमनं पृष्टस्य सत्यतपसः सार्थगमनाभि-धानमिति। उक्तं च—"यथार्थकथनं यच्च सर्व्वलोकसुखप्रदम्। तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्य्ययम्"॥ इति। प्रकृतेऽपि सत्य-शब्देनाभिप्रेतं सत्यं ब्रूयादसत्याच्च निवर्त्तेत, निवृत्तावपि भूतोपघात-प्रसङ्गे तदपि ब्रूयादिति। ऋजोर्भाव आर्ज्जवं मनसः सारल्यम्। तदपि बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। ह्री जुगुप्सित-करणेऽज्ञानशङ्का। कुत्-सितात् कर्म्मणो यच्चित्तनिवारणं स दमो मदविपर्य्ययः। मदांश्च वक्ष्यति—"अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रातिकूल्यं तमोऽरतिः। लोकद्वेषो-ऽभिमानश्च विवादः प्राणि-पीड़नम्॥ परिवादोऽतिवादः स्यात् परितापोऽक्षमाऽधृतिः। असिद्धिः पापकृत्यं च हिंसा चेति प्रकी-र्त्तिताः॥" इति। शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति। तत्र मृज्जला-दिभिर्मध्यगोमूत्रयवाग्वाद्यभ्यवहरणोपवासादिभिर्व्वा बाह्यं, चित्तस्य सत्त्वस्वभावस्य च मदमानरागद्वेषादिरूपमलानां मैत्र्यादिभिः प्रक्षा-लनमाभ्यन्तरमिति विशेषः। विद्याऽपि द्विविधा पराऽपरा चेति। श्रुतिश्च

—"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा चेतो"ति। ब्रह्म प्रेप्सुना परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इति श्रुत्यभिप्राय:। तत्र परोक्षं शास्त्रजन्यं ज्ञानमपरोक्षं योगजन्यमिति विशेष:। न हि केवलै: सत्यार्ज्जवादिभिरन्तरेण विद्यां ब्रह्मत्वं लभ्यत इति विद्याया उपादानम्। तथा हि श्रूयते—"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामा: परागता:। न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांस स्तप-स्विन:।" इति ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या-
मुद्योगपर्व्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमार संवादे
श्रीसनत्सुजातीये कालिकाख्यायां
टीकायां कालीघट्टस्थ-श्रीकालिका-
महादेवीसेवाभृत्कुलोद्भव—
श्रीगुरुपद-शर्म्म-कृतायां
प्रथमोऽध्याय: ॥ १ ॥

मूलानुवाद।

सत्य, आर्ज्जव, ह्री, दम, शौच, तथा विद्या ये ही छ: मान तथा मोहके प्रतिबन्धक हैं। ऋषिगणने इन्हीं छ: को कष्टसाध्य ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार कहकर वर्णन किया है ॥ ४३ ॥

कालिकाभास।

आचार्य ब्रह्मसुख लाभ करनेके लिये उपाय दिखलाते हैं। सत्यादिका आचरण नहीं करनेसे ब्रह्मलक्ष्मी नहीं पायी जा सकती —इसीसे सत्य प्रभृतिको उसका द्वार कहा गया है। यह सब गुण रहनेसे बुद्धि शुद्ध होती है और उससे उस समय मनमें पार्थिव मान अथवा अनित्य वस्तुगत मोहका अधिकार नहीं रहता। इसी लिये यह मानादिका प्रतिबन्धक है।

वाक्य तथा मनकी एकताके विना सत्यका आचरण नहीं किया जा सकता असत्य फलका आश्रय न कर दूसरेके मनमें अपने ज्ञानको

मुताबिक ख्याल कराना अर्थात् अपने बोधके समान ज्ञान कराना ही सत्यता है। यदि दूसरेके मनमें अपनेसे दूसरे प्रकारका ज्ञान उत्पादन किया जाय तो उसको सत्यमें गणना नहीं की जा सकती—वक्ताका कहनेका यहां यही अभिप्राय है। इसी हेतु महाराज युधिष्ठिरको हाथीको लक्ष्यकर "अश्वत्थामा हत" ऐसा कहने पर भी वाक्य एवं मनमें अनैक्य प्रयुक्त होनेके कारण पापभागी होना पडा था।

जो कुछ भ्रमवश कहा जाय वह भी सत्य नहीं है। वह भी अज्ञानमें किये गये पापके समान ही निर्द्धारित हुआ है। राज-नीतिकी अपेक्षा धर्मनीति बलवान् है—इससे राजधर्म भी इसी नीतिसे प्रवर्त्तित हुआ है। इसीसे शासनधर्म्मकी विधि वा व्यवहार न जान कर कोई अपराध करने पर भी दण्ड पानेसे बच नहीं सकता। शास्त्रानुसार लोकका अहितकारी सत्य भी सत्य नहीं कहा जा सकता वह तो केवल सत्याभास मात्र है। और सत्याभास तो पापजनक होता ही है। इसी कारण सत्यतपा ऋषि चोरोंसे पूछनेपर उनको यथार्थ सम्बाद बतानेसे भी पापभागी बने थे।

किसी समय एक धनिक की सालङ्कारा कन्या अनेक रक्षकोंसे युक्त होकर अपने पतिगृह जा रही थी। रास्तेमें चोरोंने उसके दलपर आक्रमण किया। रक्षकोंके चोरोंके साथ लाठी लठौवल (मारपीट) करते समय वह कन्या छिपकर अपनी पालकीसे निकल भागी।' बहुत दूर जाने पर उसे एक चौरास्ता मिला किन्तु वहां कोई भी नहीं था सिवा एक तपस्वीके जो अपने सन्मुख अग्निकुण्डमें अग्नि प्रज्वलित कर तपस्या कर रहे थे। वह कन्या उनकी शरणमें जाकर अपनी अवश्यम्भाविनी विपत्ति कथा निवेदनकर पीछे रखखी हुई लकड़ियोंके ढेरके बीच जा छिपी। कुछ देर बाद रक्षकोंको परास्तकर चोरोंका दल उस कन्याको खोजते खोजते उसी चौरास्तेपर आया। किन्तु वहांसे कन्या

किस रास्ते भागी इसका निश्चय न कर सकनेके कारण उन लोगोंने उस सन्यासीसे पूछा कि साधुजी। एक स्त्री यहांसे किस रास्ते गई है, जरा जल्दी बताइए; अब सन्यासी अपने मनमें विचारने लगे—यदि सत्य बात बताई जाय, तो एक निरीह अबलाका धन, मान, प्राण आदि सब कुछ छिन जायगा—और यदि कुछ भी न बोलूं तो कन्याके प्रति हमारी सहानुभूति अनुमान कर ये हमारी कुटीका अनुसन्धानकर उसको ले जायेंगे, फिर मैं इस शरणापन्न बालिकाकी रक्षा न कर सकूंगा, और यदि कुछ झूठी बात कह दूं तो मैं स्वयं ही तपोभ्रष्ट होता हूं। परन्तु ऐसे समयमें अधर्म्म होनेपर भी सत्यका परित्याग करना ही उचित है—इत्यादि बहुत कुछ विचारकर सन्यासी बोले:—"बच्चा। एक बालिकाको इस रास्ते जाते तो देखा था।" चोरोंने उस कन्याकी खोजमें उसी ओर का रास्ता लिया। इधर कन्या भी अब विपद्मुक्त हुई। धर्मतः सन्यासी यहां सत्यके परित्याग करनेपर भी पुण्यभाजन हुए, और तज्जनित पाप उनका स्पर्श नहीं कर सकता। इन्हीं सब कारणोंसे शास्त्रोंनें सत्यका संज्ञा निर्णय करते हुए कहा है—कि—जो लोक-हितकर यथार्थभाषण है वही सत्य है, और जो उसके विपरीत है वह सत्यपदका अधिकारी नहीं हो सकता।

आर्जव अर्थात् सरलता। यह भी बाहरी तथा भीतरी भेदसे दो प्रकारकी है। ह्री अर्थात लज्जा। निन्द्य काम करने पर लोग मुझको मूर्ख कहेंगे—इस प्रकारकी आशङ्का ही लज्जा है। कुत्सित कामोंके आचरणार्थ जो मानसिक प्रवृत्ति होती है, उसको रोकना "दम" कहलाता है। बाह्येन्द्रिय सम्बन्धमें जिस प्रकार शम-शब्दका प्रयोग होता है, वैसे ही अन्तरिन्द्रिय सम्बन्धमें दम शब्दका भी प्रयोग किया जाता है। यह दम शब्द मद शब्दका ठीक विपरीत वा परिवर्तित रूप है तथा विरुद्धार्थक है। आचार्य्य भी इसके आगे मदशब्दका उल्लेख करेंगे। शौच भी बाहरी तथा भीतरी भेदसे दो प्रकारका माना गया है।—मिट्टी, पानी आदिके द्वारा, वा गोमूत्र

सेवनद्वारा अथवा उपवासादिके द्वारा जो शौच अनुष्ठित होता है, उसको बाह्य अथवा बाहरी शौच तथा, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षादिके द्वारा चित्तको मैल धोनेके लिये जिस शौचका अनुष्ठान किया जाता है, वही आभ्यन्तर अथवा भीतरी शौच है।

परा तथा अपरा भेदसे विद्या भी दो तरह की कही गयी है। ग्रन्थपाठादि जनित ज्ञानका नाम अपरा विद्या है। और यही परोक्ष ज्ञान है। ब्रह्मविचारणासिद्ध अथवा योगानुभव जनित ज्ञानको परा विद्या कहते हैं। शास्त्राभ्यास करनेपर जो ज्ञान अर्जित होता है वह परोक्ष ज्ञान है, अस्तु उसको अनुमानसिद्ध कहेंगे, किन्तु, ब्रह्मविचारणा अथवा योगके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् ज्ञान कहेंगे। इसी दृष्टिसे विद्याका परत्व अथवा अपरत्व व्यवस्थापित हुआ है। शास्त्रोंको पढ़कर तत्प्रतिपाद्य विषय आँख, कान आदि इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत होनेपर उसका असली ज्ञान परोक्ष ही रहेगा। नास्तिक लोग प्रत्यक्षवादी होते हैं, किन्तु उनका भी ज्ञान परोक्ष है इसमें उनको भी सन्देह नहीं। यह सब ज्ञान परोक्ष क्यों हुआ यह पीछे कहा जायगा। विद्याके विना केवल सत्यता, ऋजुता प्रभृति गुणोंके द्वारा मुक्ति नहीं होती इसीसे अन्तमें विद्या-शब्द लाया गया है। किन्तु इस पर भी कहना ही पड़ेगा कि सत्यादि गुणके विना परा विद्या कभी अधिगत नहीं हो सकती। छान्दोग्योपनिषद कहती है, जहां सकाम कर्म्म नहीं जा सकता, जहां दक्षिणादि विधिविहित, याग, यज्ञ, व्रत प्रभृति पहुंचा नहीं सकते, जहां अविद्वान योगी भी नहीं जा सकते, वहां उपासक विद्याको सहायतासे सरलतासे जाता है।" इस श्रुति अथवा उपनिषदके इस वाक्यका तात्पर्य यही है कि—सकाम उपासना, सकाम कर्म्म अथवा वेदान्तवेद्यब्रह्म व्यतीत योगसिद्धि की उत्पत्ति, आयु, तथा भोगोंके उत्कर्षका साधन करता है, किन्तु विचारजनित अथवा योगजनित ब्रह्मज्ञान मोक्षका कारण होता है।

शास्त्राभ्याससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष अर्थात् अनुमान सिद्ध है, और ब्रह्मविचारणाजनित अथवा योगजनित संस्कार जिस ज्ञानका उत्पादन करता है वह अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् ज्ञान है, इस सिद्धान्तको अवलम्बन करके वेदोंने अपरा-विद्या तथा पराविद्याको संज्ञा निर्णीत की है। हमने भी पहले इस प्रकारकी प्रतिज्ञाका आभास दिया है। इससे कोई कोई अपने मनमें सोचेंगे कि मनः प्रचारतत्वमें अथवा सांख्यादि कई शास्त्रोंमें ज्ञानकी परोक्षता रहने पर भी पदार्थविज्ञानादि कितने ही शास्त्रोंको प्रत्यक्षता है, इस लिये उनका ज्ञान कभी परोक्ष हो हो नहीं सकता। जो आँख कान आदिके द्वारा अनुभव कर रहा हूं उसके परोक्ष हो जाने पर फिर प्रत्यक्ष शब्द अवश्य ही निरर्थक हो जायगा। अतएव आधुनिक विज्ञानादि शास्त्र अपरोक्ष अथवा साक्षात् ज्ञानके प्रतिपादक है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

इस प्रकारके पूर्व्वपक्ष होने पर हम लोग कहेंगे कि इन्द्रिय प्रणालीके द्वारा जो भी कोई ज्ञान उपलब्ध क्यों न हो उसको परोक्ष कहना पड़ेगा। पदार्थविज्ञान अथवा रसायनादि शास्त्रोंकी प्रत्यक्षता व्यवहारतः सिद्ध होने पर भी प्रकृतपक्षमें उसकी कोई तात्त्विकता नहीं है। क्योंकि हम लोग जिन सब इन्द्रियोंके द्वारा उसके प्रतिपाद्यविषय समूहको ग्रहण करते हैं, वे कभी वस्तुओंका स्वरूपप्रकाश करनेमें क्षम नहीं हो सकते। मैं किसी मरुभूमिको एक ओरसे कुछ दूर देखता हूं कि वृक्ष नहीं है किन्तु जल है और जलमें एक वृक्षको छाया विराज रही है। जलको ओर अग्रसर होता हूं तो देखता हूं कि वृक्षकी छाया जो क्षुद्र थी वह अब और क्षुद्रतर होती जा रही है। उसके बाद एक दूसरे समीपवर्त्ती स्थानसे देखता हूं कि जल नहीं, वृक्षकी छाया नहीं, कुछ भी नहीं है, सिर्फ वालुका धू धू करती तप्त हो रही है। फिर भी कुछदूर आगे जा कर देखता हूं कि जल अथवा जलके बीच की छाया नहीं है, किन्तु वालुकाका

अन्तिम परिणाम सत्य निकला, और सचमुच ही एक छोटा वृक्ष है, और उसके और भी समीपतरवर्ती स्थानपर जाकर देखता हूं कि जो छाया पहले क्षुद्र दिखलाती थी और बाद जो एक क्षुद्र वृक्षके समान जान पड़ता था वही अब वहां एक विशाल वृक्ष है। पहले स्थानसे इस वृक्ष तक आनेमें मुझे बहुत ही कम समय लगा है किन्तु इसके बीच ही में मेरी चक्षु इन्द्रिय कितने ही अभिनय कर चुकी। माथा न रहनेपर भी शिरदर्दके समान पहले जल न रहनेपर भी तथा वृक्ष नहीं दिखानेपर भी तरङ्गित जलमें वृक्षोंकी छाया दिखलायी थी। दूसरी तथा तीसरी अवस्थाओंमें वृक्षकी छायाको क्रमशः क्षुद्रसे क्षुद्रतर बनाकर जल तथा छाया दोनों ही का लोप ही जानेका अनुभव किया गया। उसके बाद जलादिके बदले एक क्षुद्र वृक्षकी सृष्टि हुई, और अन्तमें एक विशाल वृक्ष दिखलाया— इस थोडेसे समयमें ही मुझे इतने अभिनय दृश्योंकी प्रतीति जिस जिस समय जो जो देखता था उस समय तद्गत ज्ञानको सत्य ही समझता था, किन्तु अन्तमें वालुकाराशि और वृक्ष देखकर पहलेका सभी ज्ञान खण्डित हो गया। वह चक्षुरिन्द्रिय है, वही वालुका है, और वही वृक्ष सब कुछ तो वही वर्त्तमान हैं किन्तु नाना प्रकारके ऐसे ऐसे अनुभव क्यों? क्या मेरी इन्द्रियोंकी अशक्ति ही इतने तरह तरहके ज्ञानोंका कारण है, अथवा सूर्य्यकिरण तथा वालुकादिका वस्तुधर्म ही उसका कारण है?

पदार्थ विज्ञान निबंन्धकी सहायतासे कहेंगे कि वस्तुधर्म ही उनका कारण है। तपी हुई वालुकाराशिके निकट वायुमण्डलके ऊपरसे वृक्ष प्रतिहत सूर्यकिरण आनतभावसे अर्थात् तिरछेरूपसे दर्शकोंके चक्षु गोलकपर पड़ती है, और प्रतिविम्बके नियमानुकूल अथवा ऐनेकी तरह आंखोंमें गई हुई सूर्यकिरणने समसूत्रपातसे मानों बढकर एक कल्पित स्थानपर इस वृक्षकी छाया निर्म्मित की थी। और वालुकासन्निहित वायुस्तर सूर्यकी किरणोंके घनत्वको क्षण क्षण परिवर्त्तन करता है।

इसीसे तथा दर्शकोंके मनमें जल संस्कारकी विद्यमानता भासमान रहनेके कारण एक कल्पित तरङ्गयुक्त जलमय आस्तरण (चादर) अनुभूत हुआ था। और यह सब दृश्य वस्तुधर्म्मानुसार ही संघटित हुआ था, तथा जो जो संघटित होता गया था चक्षुरिन्द्रियोंने उन्हीं सबको ग्रहण किया, अस्तु किसी प्रकार भी अशक्तिकी कल्पना बिलकुल निष्प्रयोजन है। यही पदार्थ विज्ञानका सिद्धान्त भी है।

हमलोग कहेंगे—वस्तुधर्म चाहे कुछ भी क्यों न हो—किन्तु यहां इन्द्रियोंकी अशक्ति वशत: ही कल्पित जल तथा छायाकी सृष्टि हुई है। यह बात सच है कि वृक्षप्रतिहत सूर्यकिरणें बालुका-सन्निहित वायुपटल पर प्रवेशपूर्व्वक वक्रीभाव धारण कर नेत्रगोलकोंमें पहुंची हैं किन्तु चक्षुरिन्द्रियने वक्रीभावसे सूर्यकिरणका अनु-सरण न कर सकनेके कारण उसकी अशक्तिकी पूर्तिके लिये ही ऐनेकी तरह बालुकागर्भमें मायावृक्षका निर्माण किया। दर्शकोंके मन इन्द्रियमें जल संस्कार निरुद्ध नहीं इस लिये बालुका-सन्निहित उतप्त वायुस्तरका घनत्व परिवर्त्तनने ही जल तथा उनका तरंग ज्ञानका दय कराया है।

यदि साक्षात् सूर्य किरणोंका अनुसरणकर चक्षुरिन्द्रिय वृक्षको देख सकती है, और यदि तरंगित जलसंस्कारका पदार्थ, मनइन्द्रि-यको निवारण करनेमें पर्याप्त होता, तो फिर दर्शक कवि कल्पित-जलादिका अनुभव नहीं करता। इन सब कारणोंके वश कहना पडेगा कि इन्द्रियों की अशक्तिने ही "दर्शकोंके मनमें कितने ही प्रकारके कपोलकल्पित अनुभवों की सृष्टि की है। अस्तु, ऐसी हालतमें इस प्रकारके दृष्ट विषयोंमें दर्शकोंकी कोई प्रत्यक्षता नहीं है इस लिये उसका ज्ञान भी परोक्ष हुआ इसमें कोई संदेह नहीं है। मृग-तृष्णामें इस तरहकी वस्तुगति होनेपर भी अपरापर विषयोंमें दर्शकका प्रत्यक्षज्ञान सम्भव पर होनेके कारण कोई कोई पीछे सिद्धान्त करते हैं, इसी लिये अन्यान्य उदाहरण गृहीत होते हैं।

हम लोग प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यको देखते हैं,—किन्तु सूर्य को जिस स्थानपर देखता हूं वह केवल एक कल्पित स्थान है। जो मध्याह्नकालमें अत्यन्त अल्पसमयके लिए भी उनको अपने स्थान-पर अवस्थान करते देखता हूं वह भी विपरीत (उलटा) ज्ञान है इसका प्रमाण पीछे दिया जायगा। पदार्थविज्ञानज्ञाता पण्डित लोग जानते है कि अन्तरिक्षमण्डलसे पृथ्वीके वायुमण्डलमें सूर्य्य-किरणें प्रवेश कर वक्रीभाव धारण करती है। एक मण्डलसे दूसरे मण्डलान्तरमें जाकर सूर्य्यरश्मि पदार्थान्तरमें पड जाती है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्यों कि वायुमण्डलसे होकर जलमण्डलमें सूर्य्यरश्मि प्रवेशकर पथच्युत होती है, यह सदा सबका अनुभव-सिद्ध है। इसी लिए जलके बीच एक चान्दीके टुकडेके समान कोई चीज रहनेसे मालूम होती है, मानो वह उगती जाती है अथवा निकली आती है। रश्मि सूर्य्यसे आकर वायुमण्डलमें प्रवेशपूर्व्वक तिरछेरूपमें नजर आती है, और चक्षुरिन्द्रिय तदनुसार अनुभव करनेमे अशक्त होनेके कारण उसकी अशक्तिके पूरणार्थ चक्षुसन्निहित रश्मिका समसूत्रगात रूपसे मायाकल्पित स्थानमें सूर्य्यका सन्निवेश कराती है। इसी लिए जिस समय सूर्य्य चक्रवाल (क्षितिज)के ऊपर नहीं आते—उस समय हमलोग उनको आकाशपटमें उदित देखते हैं। अथ च सन्ध्याके पहले जब वे चक्रवाल (क्षितिजरेखा)के नीचे जा चुके हों (डूब चुके हों) तब भी हमलोग आकाशपटमें उनकी विद्यमानता अनुभव करते है। इस विषयमें पदार्थविज्ञानवेत्ता लोग जानते हैं कि सूर्य्यकिरण एक मन्डलसे होकर मंडलान्तरमें जाती हुए वक्रीभूत हो जाती है , इसी लिये ऐसा भ्रम होता है। दार्शनिक लोग समझते हैं कि अतद्रूपप्रतिष्ठाका कारण दर्शकोंका सूर्य्यदर्शन विपर्य्ययज्ञानका एक उदाहरणके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। एक स्थानमें स्थित सूर्यको एक अन्य कल्पित स्थानमें सन्निवेश करा-कर चक्षुरिन्द्रियकी सत्यदर्शनमें अशक्ति एवं उसी अशक्तिके

पूरणार्थ उसके मायाशक्तिकी विद्यमानता स्वतःसिद्ध हुई है। अस्तु इस प्रकार सूर्यका दर्शन करके कोई भी प्रत्यक्षका अनुभव नहीं-कर सकता। ऐनेमें अपना मुख देखकर जिस प्रकार अपने मुख-दर्शनमें किसीको प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता, अथवा अदृष्टपूर्व्व व्यक्तिकी तस्वीर या फोटो अथवा गढ़ी हुई पत्थरकी मूर्ति देखकर जिस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानपर अधिकार नहीं होता, ठीक उसी तरह कल्पित स्थानपर सूर्यको देख सूर्यदर्शनमें किसीको भी प्रत्यक्षज्ञानकी सम्भावना नहीं होती। अतएव सूर्यदर्शनसे हमलोगोंको प्रत्यक्ष नहीं होता इस लिये उसको परोक्ष अथवा अनुमानसिद्ध ज्ञान कहना पड़ेगा।

मैंने दर्पणमें अपना मुख देखा। मनमें विचार हुआ कि मुखकी अविकल प्रतिकृति अवश्य ही दर्पणमें पड़ी। अपना मुख स्वयं न देखनेपर भी विचार कर देखा कि मुखके साथ प्रतिकृतिका किसी प्रकारका सादृश्य नहीं है। मेरी दाहिनी आंख प्रतिकृतिके बाईं ओर है, और मेरी बांई आँख प्रतिकृतिमें दाहिनी आँख हैं—बस इसी तरह मेरा सर्वाङ्ग शरीर अङ्गप्रत्यङ्ग सब का ही स्थान विपर्यय हो गया है। तथापि सब ही चीजोंका समान विपर्यय हुआ है इससे मैंने मुखकी प्रतिकृति अनुमानसे जानी। दर्पणमें मेरे मुखकी जो प्रतिकृति दिखलाई है, उसमें मुखकी स्वरूपता नहीं। अतः उससे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता—और मैं स्वय अपना मुख देख नहीं सकता इसी लिए प्रतिकृति देखकर मुखका अनुमान करता हूं, इस लिये वह परोक्ष ज्ञानके विषयीभूत हुआ। अतएव चक्षुद्वारा देखने पर भी प्रत्यक्षता नहीं होती, यह दार्शनिक सिद्धान्त विचारमूलक तथा युक्तिनिष्पन्न है इसमें सन्देह नहीं।

केवल दर्पण गत प्रतिबिम्ब ही क्यों? स्वस्थान प्रतिष्ठित मध्याह्न कालके सूर्य्यको ही लीजिये, अथवा संसारकी किसी वस्तुको लीजिए, किन्तु उसके सम्बन्धमें हम लोगोंके चाक्षुष ज्ञान रहनेपर भी वह अनुमान सिद्ध होनेके कारण परोक्ष ही है। चाक्षुष ज्ञानका

परोक्ष क्यों कहा जाता है इसके समझनेके लिये जिस चक्षुयन्त्रकी सहायतासे हमलोग चाक्षुष ज्ञान अनुभव करते हैं, उस चक्षुयन्त्रको गठन प्रणाली तथा क्रियाफल जानना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा करनेसे केवल इन्द्रियका स्वभाव ही उपलब्ध होगा ऐसी बात नहीं बल्कि योगिगण किस कारण वृत्तिनिरोधके पक्षपाती हुए, अथवा उपनिषदादि शाङ्कर सम्प्रदायने किस कारण नित्यानित्य वस्तु-विवेकके द्वारा इन्द्रियगणका अनित्य पक्षमें निक्षेप किया है आदि सबका आभास पाया जायगा।

हमलोग जिस अवयवको चक्षु कहते हैं वह चक्षुस्थानोंके दोनों वृद्धाङ्गुष्ठोंके परिमित होती है। उसका आकार प्रायः वर्त्तुल तथा सुश्रुत ऋषिके मतानुसार वह सकल भूतोंके अंशसे उत्पन्न हुआ है। चक्षु प्रधानतः प्रायः ग्यारह भागोंमें विभक्त है। उससे पपनियोंके साथ पलक ही पहला भाग है। यह सामने रहकर धूलि प्रभृति बाह्य पदार्थोंसे आँखको बचाता है। इसके पीछे योजकत्व है। पलकोंसे रोके जानेपर भी यदि धूलि प्रभृति अक्षिगोलकमें पड़ जांय तो यही योजकत्व उसको हटाकर बाहर कर देता है। ये दोनों ही द्वारपालका काम करते हैं। इसके बाद कितने ही व्यूहतन्तु निर्म्मित शाङ्गत्वक अथवा स्वच्छावरणी हैं। सम्मुखस्थित ये स्वच्छा-वरणी सुश्रुतमें श्वेतमण्डलके नामसे बतायी गयी है। श्वेत-मण्डलके पीछे तारकामण्डल है। इस तारकामण्डलको ही प्राचीन कालमें कृष्णमण्डल कहते थे। श्वेतमण्डलकी स्वच्छताके लिये कृष्णमण्डलको उसका अंश मानना उचित है, किन्तु स्थान वा स्थितिके ख्यालसे एकके पीछे दूसरा स्थित है। इसके मध्यभागमें एक सच्छिद्र कनीनिका है। यही कनीनिका मणि अथवा उज्ज्वल रत्नके अभावमें सूचिविद्ध आलोक लेख्य यन्त्रकी तरह काम करती है। इसके केन्द्रस्थानसे होकर ज्योति अक्षिमुकुर (नेत्रमणि) पर पड़ती है। अक्षिमुकुरको कोई कोई (नेत्र) मणि अथवा दीसो-पल भी कहते हैं। यह स्वच्छ, दोनों ओरसे झुका, तथा खोलने

पूरणार्थ उसके मायाशक्तिकी विद्यमानता स्वत:सिद्ध हुई है। अस्तु इस प्रकार सूर्यका दर्शन करके कोई भी प्रत्यक्षका अनुभव नहीं-कर सकता। ऐनेमें अपना मुख देखकर जिस प्रकार अपने मुख-दर्शनमें किसीको प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता, अथवा अदृष्टपूर्व्व व्यक्तिकी तस्वीर या फोटो अथवा गढ़ी हुई पत्थरकी मूर्ति देखकर जिस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानपर अधिकार नहीं होता, ठीक उसी तरह कल्पित स्थानपर सूर्यको देख सूर्यदर्शनमें किसीको भी प्रत्यक्षज्ञानकी सम्भावना नहीं होती। अतएव सूर्यदर्शनसे हमलोगोंको प्रत्यक्ष नहीं होता इस लिये उसको परोक्ष अथवा अनुमानसिद्ध ज्ञान कहना पडेगा।

मैंने दर्पणमें अपना मुख देखा। मनमें विचार हुआ कि मुखकी अविकल प्रतिकृति अवश्य ही दर्पणमें पडी। अपना मुख स्वयं न देखनेपर भी विचार कर देखा कि मुखके साथ प्रतिकृतिका किसी प्रकारका सादृश्य नहीं है। मेरी दाहिनी आंख प्रतिकृतिके बाईं ओर है, और मेरी बांई आँख प्रतिकृतिमें दाहिनी आँख हैं—बस इसी तरह मेरा सर्वाङ्ग शरीर अङ्गप्रत्यङ्ग सब का ही स्थान विपर्य्यय हो गया है। तथापि सब ही चीजोंका समान विपर्य्यय हुआ है इससे मैंने मुखकी प्रतिकृति अनुमानसे जानी। दर्पणमें मेरे मुखकी जो प्रतिकृति दिखलाई है, उसमें मुखकी स्वरूपता नहीं। अत: उससे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता—और मैं स्वयं अपना मुख देख नहीं सकता इसी लिए प्रतिकृति देखकर मुखका अनुमान करता हूं, इस लिये वह परोक्ष ज्ञानके विषयीभूत हुआ। अतएव चक्षुद्वारा देखने पर भी प्रत्यक्षता नहीं होती, यह दार्शनिक सिद्धान्त विचारमूलक तथा युक्तिनिष्पन्न है इसमें सन्देह नहीं।

केवल दर्पण गत प्रतिविम्ब ही क्यों? स्वस्थान प्रतिष्ठित मध्याह्न कालके सूर्य्यको ही लीजिये, अथवा संसारकी किसी वस्तुको लीजिए, किन्तु उसके सम्बन्धमें हम लोगोंके चाक्षुष ज्ञान रहनेपर भी वह अनुमान सिद्ध होनेके कारण परोक्ष ही है। चाक्षुष ज्ञानका

परोक्ष क्यों कहा जाता है इसके समझनेके लिये जिस चक्षुयन्त्रकी सहायतासे हमलोग चाक्षुष ज्ञान अनुभव करते हैं, उस चक्षुयन्त्रकी गठन प्रणाली तथा क्रियाफल जानना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा करनेसे केवल इन्द्रियका स्वभाव ही उपलब्ध होगा ऐसी बात नहीं बल्कि योगिगण किस कारण वृत्तिनिरोधके पक्षपाती हुए, अथवा उपनिषदादि शाङ्कर सम्प्रदायने किस कारण नित्यानित्य वस्तु-विवेकके द्वारा इन्द्रियगणका अनित्य पक्षमें निक्षेप किया है आदि सबका आभास पाया जायगा।

हमलोग जिस अवयवको चक्षु कहते हैं वह चक्षुस्थानोंके दोनों वृत्ताङ्गुष्ठोंके परिमित होती है। उसका आकार प्रायः वर्त्तुल तथा सुश्रुत ऋषिके मतानुसार वह सकल भूतोंके अंशसे उत्पन्न हुआ है। चक्षु प्रधानतः प्रायः ग्यारह भागोंमें विभक्त है। उससे पपनियोंके साथ पलक ही पहला भाग है। यह सामने रहकर धूलि प्रभृति बाह्य पदार्थोंसे आँखको बचाता है। इसके पीछे योजकत्व है। पलकोंसे रोके जानेपर भी यदि धूलि प्रभृति अक्षिगोलकमें पड जांय तो यही योजकत्व उसको हटाकर बाहर कर देता है। ये दोनों ही द्वारपालका काम करते है। इसके बाद कितने ही व्यूहतन्तु निर्मित शाङ्गत्वक अथवा स्वच्छावरणी हैं। सम्मुखस्थित ये स्वच्छा-वरणी सुश्रुतमें श्वेतमण्डलके नामसे बतायी गयी है। श्वेत-मण्डलके पीछे तारकामण्डल है। इस तारकामण्डलको ही प्राचीन कालमें कृष्णमण्डल कहते थे। श्वेतमण्डलकी स्वच्छताके लिये कृष्णमण्डलको उसका अंश मानना उचित है, किन्तु स्थान वा स्थितिके ख्यालसे एकके पीछे दूसरा स्थित है। इसके मध्यभागमें एक सछिद्र कनीनिका है। यही कनीनिका मणि अथवा उज्ज्वल रत्नके अभावमें सूचिविद्ध आलोक लेख्य यन्त्रकी तरह काम करती है। इसके केन्द्रस्थानसे होकर ज्योति अक्षिमुकुर (नेत्रमणि) पर पड़ती है। अक्षिमुकुरको कोई कोई (नेत्र) मणि अथवा दीप्तो-पल भी कहते हैं। यह स्वच्छ, दोनों ओरसे झुका, तथा खोलने

और बन्द करनेमें सामान्यत: उपयोगी होता है। इसके भीतर तथा बाहर एक प्रकारका जलके समान तरल रस होता है। इन्हीं सब पदार्थों के भीतर होकर किरणगुच्छ (ज्योति) मणिके पश्चात्स्थित एक प्रकारके स्वच्छ रसमें प्रवेशपूर्व्वक उसके पीछे लगी एक अत्यन्त कोमल चित्रपट (पर्दे) पर पड़ता है। और उसके पड़ते ही द्रष्टव्य वस्तुका एक प्रतिविम्ब अङ्कित हो आता है। इस चित्रपटके पीछे एक काला परदा है, और उसके पीछे घमलक सम्पूर्ण अक्षिमण्डलको ग्रथित किए हैं। काला रंग सब रंगोका अभाव होनेके कारण चित्रपटमें अनेक प्रकारके रंगोका ज्ञान करानेमें समर्थ होता है। यह चित्रपट एक कोमल अर्द्धस्वच्छ झिल्लिक पदार्थ है और इसको दर्शनस्नायुकी विस्तृतिके नामसे प्रमाणित किया जाता है। माथेके साथ दर्शनस्नायुओंके संयोगके कारण चित्रपटस्थित इस प्रतिविम्बका अथवा वर्णगत विभिन्न विभिन्न कम्पनोंका सन्निकर्षरूप (इन्द्रियगोचररूप) स्पर्श—चैतन्य-बुद्धिमें उत्पन्न हो जाता है। चक्षुयन्त्रकी गठनप्रणाली तथा उसके भिन्न भिन्न अंशोकी कार्य्यकारिताको इतना ही जान लेनेसे हम-लोग चाक्षुष ज्ञानका स्वभाव समझ सकते है।

अक्षिमण्डलस्थ चित्रपटपर वस्तुओंका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह स्पर्शचैतन्यका कारण है। किन्तु यह क्षुद्र प्रतिबिम्ब चित्रपटके ऊपर विपरीत (उलटे) भावसे पडनेके कारण चक्षुष्मानका ज्ञान भी वस्तुओंके सम्बन्धमें विपरीत (उलटा) हो जाता है। वड़के छोटे बीजसे जिस प्रकार वड़का ही विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है और किसी दूसरे चीजका नहीं, उसी प्रकार उलटे प्रतिबिम्बसे सीधा ज्ञान न होकर उलटा ही ज्ञान होगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। और इस बात को पदार्थविज्ञानी पण्डित लोग भी मानते हैं। वस्तुसे ज्ञानका वैलक्षण्य होनेपर ज्ञान एवं वस्तुके अन्तरालमें किसी तरह की अपेक्षिता नहीं होनेके कारण संस्कार-वश हम लोग दोनोंका भेद नहीं समझ सकते। सापेक्ष ज्ञानका

अभाव होनेसे किसी प्रकारके परिणामका अनुभव नहीं होता यह दूसरे दूसरे उदाहरणोंमें भी समर्थित होता है। पृथ्वीकी दैनिक गतिके साथ हम लोग प्रति घण्टा प्राय: ५०० कोसके हिसाबसे १५०।' अंशपर घूम रहे है। पृथ्वीको वार्षिकगतिसे युक्त होकर इस समय प्राय: ३२४०० कोसके हिसाबसे भूकक्षाके एक स्थानसे दूर हट जाते है; और अभिजित नक्षत्राभिमुख सम्पूर्ण सौर जगतका पीछा करनेके कारण इस समय हम लोग १८००० कोसके हिसाबसे सौर कक्षाके एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुंच जाते है। किन्तु सापेक्ष ज्ञानका अभावनिबन्धन इन तीनों गतियोंका कोई परिणाम न अनुभव करके मनमें विचारते हैं कि हम लोग स्थिर भावसे अथवा अपने निजी भाव (गति) से ठहरे हुए हैं। सौर जगत अभिजित नक्षत्रके पीछे दौडा जा रहा है ऐसा करनेके बाद कोई इसे पाश्चात्य सिद्धान्त मान ले, इस लिये पृथ्वीकी गतिके विषयमें किस प्रकारका अनुमान करना पडेगा. उसके जवाब लिए—श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धका यह वचन उद्धृत किया जाता है।—"यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वात्। एवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेन ध्रुवं मेरुञ्च प्रदक्षिणत: परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्य्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्॥"

वस्तुओंका स्वरूप स्थगितकर विपरीत ज्ञान उत्पादन कराना ही इन्द्रियोंका स्वभाव है। हम लोग भूपृष्ठपर स्थित होकर नियत शून्यमें भ्रमण कर रहे है किन्तु इन्द्रियां हम लोगोंमें उसके विपरीत ज्ञान उत्पादन करके पृथ्वीको स्थिर तथा सूर्य्यको ही गतिशील दिखलाती है। केवल इतना ही नहीं है और भी विशेषता है। वास्तविकमें हम लोग पश्चिमसे पूरबको जा रहे है, इसीसे सूर्य्य ही को हम लोग पूरबसे पश्चिम की ओर जाते देखते हैं। अस्तु बाहर जो घटना संघटित होती है मन इन्द्रिय उसके

ठीक विपरीत ज्ञानका अवलम्बन करता है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

इसमें केवल इन्द्रियोंका ही दोष हो ऐसी बात नहीं है। एक बात यह है कि उनकी अशक्ति भी ज्ञानान्तर अथवा विपरीतज्ञानका उद्भावन करती है। मृगतृष्णावाले उदाहरणमें हमलोगोंको उसका एक प्रमाण मिल चुका है। महर्षि गौतमने भी न्यास दर्शनमें प्रत्यक्षज्ञानके स्वरूप निर्णयार्थ इन्द्रियोंकी त्रैरूप व्यभिचारिता लक्ष्य करके कहा है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम-मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" अर्थात् वस्तुओंके साथ इन्द्रियोंके सन्निकर्षके लिये जो ज्ञान होता है वह अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी, तथा व्यवसायात्मक होने पर भी उसको प्रत्यक्ष ही कहते हैं। भगवान वात्स्यायन उसकी भाष्यमें कहते हैं—"ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्नि-कृष्यन्ते तत्रेन्द्रियार्थसन्नि [illegible] मिति ज्ञानमुत्पद्यते। तच्च प्रत्यक्षत्वं प्रसज्यते इत्यत आह—अव्यभिचारीति।" अर्थात् ग्रीष्मकालकी पार्थिव गरमीके लिए सूर्य्यकिरणसमूह संसृष्ट तथा स्पन्दमान होकर दूरगत द्रष्टाके आँखोंसे सन्निकृष्ट अर्थात् गोचरीभूत होकर जलज्ञान उत्पादन करता है। प्रत्यक्षताको इसी तरहके भ्रान्त-ज्ञानको निवारण करनेके लिए आचार्यने "अव्यभिचारी" शब्दका व्यवहार किया है। किन्तु न्यायशास्त्र जिसको अव्यपदेश्य अव्य-भिचारी तथा व्यवसायात्मक प्रत्यक्षज्ञान कहकर ग्रहण करते हैं वह व्यवहारतः सत्य होने पर भी तात्विक वा परमार्थिक नहीं है। इसीसे योगशास्त्रने उसका ग्रहण नहीं किया बल्कि वृत्तिनिरोधका पक्षपाती बना। जो इन्द्रिय वस्तुसम्बन्धी प्रत्यक्षज्ञानके उत्पादक हैं वे वस्तुस्वरूप ग्रहणमें भ्रान्त विपर्यस्त तथा असमर्थ है यही यहां हमलोगोंका प्रतिपाद्य विषय हो रहा है। मृगतृष्णामें नेत्रेन्द्रिय की भ्रान्ति दिखलाई जा चुकी है। सूर्य्यादिके गति दर्शनमें उसका विपर्यय दिखलाया गया, और अब यहां

उसको वस्तुके यथार्थ ज्ञानोत्पादनमें असमर्थता दिखलाई जाती है।

सूर्यकी शुभ्र ज्योति हमलोग नित्य ही देखा करते हैं। ज्योतिकी शुभ्रता अथवा उज्वलता वा श्वेततामें किसीको सन्देह नहीं। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय उसको शुभ्रता दिखलाती है और मन उसकी उज्वलता ग्रहण करता है। किन्तु प्रकृतपक्षमें शुभ्र कहकर कोई मौलिक वर्ण ही नहीं है। सब वर्णों (रंगों) के अभावसे जिस प्रकार कालापन (कृष्णत्व) होता है, उसी प्रकार अनुपातविशेषमें सभी मौलिक वर्णों (रंगों) का मिल जाना ही शुभ्रत्व होता है। यदि एक स्वच्छ तीनतह कांचके बीचमें होकर सूर्य्यकी कुछ किरण (ज्योति) जाय तो धूमैला, काला, नीला, हरा, पीला, नारंगी, लाल यही सात रङ्गका आविर्भाव होगा। उसमें श्वेत नामका कोई रंग ही नहीं। इसका कारण यह है कि श्वेत रंग मौलिक रंग नहीं है। वह केवल मिलानेमें ही बनता है। कार्यमें कारण छिपा रहता है वह स्वतःसिद्ध है। शुभ्रवर्णकी ज्योति वा किरणमें धूमैला आदि सात रंग नहीं रहने पर फिर उसमेंसे धूमैला वगैरह रंग विश्लिष्ट नहीं होता, अस्तु यहां धूमैला वगैरह सात रंग कारण तथा शुभ्रत्व वा श्वेतत्व उनका कार्य परिगणित किया गया है। इन्द्रियां यदि वस्तुओंके स्वरूपग्रहण करनेमें पर्याप्त होती तो आँखे सूर्यकिरणमें सूक्ष्म कारण देखतीं और कारणोंको देखकर स्थूलकार्यमें कभी गन्ध न होतो। हमलोगोंकी नेत्रेन्द्रिय सूक्ष्म ग्रहणमें अशक्त होनेके कारण तथा उसकी अपनी अशक्ति मायाके द्वारा पूर्ण कराई जानेके कारण सात मौलिक वर्णोंसे एक काल्पनिक वर्णकी सृष्टि करती है। जो सूर्यकिरणके विषयमें कहा गया वह चन्द्रकिरण अथवा अग्नि आलोकके विषयमें भी प्रयुक्त हो सकेगा।

सूर्य्यकिरणमें सात रंगोंका सद्भाव है यह केवल अभिनव पदार्थविज्ञानका कथन नहीं है। प्राचीन वेदिक युगमें भी यह ज्ञान था। योगिगणको सूर्यमें संयम करके प्रज्ञालोकमें सूर्यकिरणका

तत्व पाया था। इसी कारणसे वे सूर्यको सप्ताश्व करते थे। अश्व शब्दका अर्थ घोडा होने पर भी यहां किरणका निरतिशय वेगके कारण अश्व शब्द किरण अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसीसे निरुक्ति-कार महर्षि यास्कने घोटकार्थ अश्वशब्दका उल्लेख करनेके बाद कहा—"अश्नुवतेऽध्वानं महाशना भवन्तीति च।" यहां चकारका भिन्नक्रम होनेके कारण अश्वशब्द घोडेके द्योतनार्थ प्रयुक्त हुआ है ऐसा अभिप्राय नहीं है। सप्तशब्दके द्वारा जो धुमैला आदि सात रंग कहे गये हैं वह इससे सहजमें ही मालुम हो जाते है। अग्निपर्याय वाचक शब्द सप्तजिह्व अथवा सप्तज्वाल भी उसका प्रमाण मिलता है।

'अश्व' किरण-शब्दका पर्याय है ऐसा रूप स्वीकार करनेपर सप्ति-शब्दकी अर्थसङ्गति होती है—और नहीं तो घोटकार्थ होनेसे वे अपार्थक हो जाता है। सप् धातुका अर्थ है एकत्र होना। सूर्यकिरणमें सात मौलिक वर्ण एकत्र होकर अत्यन्त वेगके साथ गमन करते है इस लिये वैदिक युगमें उनको सप्ति करते थे। और भी देखा जाता है कि सूर्यकिरणें जगतको धारण अर्थात् पोषण करती है इस लिए किरणार्थक अश्वशब्द दधिक्रा-शब्दमें प्रयुक्त हुआ है। महर्षि यास्क प्रणीत निरुक्त ग्रन्थ देखनेहीसे इस प्रकारका पर्याय दीख पडेगा।

वैदिक ऋषिगणने किरणोंके सात रंग देखकर उनके सम्बन्धको एक एक अभिमानिनी देवताओंका चिन्तन किया था। और केवल कर्म्म कारणाश्रित प्राकृत लोगोंकी उपासनाके लिए एक एक वर्णको अधिष्ठात्री देवताओंके अश्वरूप वाहनकी कल्पना की थी। अश्व तथा वर्णका इस प्रकार रूपक होनेसे अनेक अश्ववाचक शब्द वर्णवाचक शब्दका पर्याय हो गया है। और अनेक किरणवाचक शब्द भी अश्ववाचक शब्दका पर्यायरूप माना गया है। निम्न-लिखित वाक्य इस बातका प्रमाण वा साक्षी देता है। यथा :— **'हरिरिन्द्रस्य'** अर्थात् इन्द्रका कपिल वर्णका वाहन, 'रोहिताऽग्नेः'

—अर्थात् अग्निका रक्तवर्ण वाहन,—'हरित आदित्यस्य'—अर्थात् आदित्यका हरितवर्ण वाहन,—'श्यावा: सवितु:'—अर्थात् सविताका श्यामवर्ण वाहन इत्यादि। और विद्याके द्वारा श्वेतरूपमें सब रूप देखे जानेके कारण वेदोंने कहा है—'विश्वरूप बृहस्पते:'—अर्थात् रूपके बृहस्पतिके वाहन होते हैं।

अग्निसे निकले हुए ..... भी धूमैला आदि इन सात रंगोके विद्यमान रहनेके कारण अग्निको सप्तार्चि, अथवा सप्तज्वाल कहते है। हवन करने पर अग्नि यजमानके होम किए गये अग्रभागको देवोद्देशसे वहन करते है, इस लिए अग्निका नाम 'वह्नि' भी रखा गया है। यही 'वह्नि' सप्तज्वाल अथवा सप्तार्चि शब्दका पर्याय है, और निरुक्तकार कहते है कि अश्वशब्द भी वह्निशब्दका पर्याय है। इससे भी अश्वशब्दका पर्याय 'किरण-शब्द'का होना दृढ़ीभूत होता है। केवल इतना ही नहीं, सात विचित्र वर्णोंको लेकर अग्निका आलोक बढता या चलता है, इस लिए उसको सुपर्ण भी कहा करते है। किरणमें सात रंग होनेके कारण सूर्य्यका नाम जिस प्रकार सप्ताश्व है, शाम्भवी विद्यामें अग्नि भी उसी तरह सप्तजिह्वके नामसे परिचित हैं। मुण्डकोपनिषदके समान तन्त्रशास्त्र भी अग्निका वर्ण (रंग) रूप, सातजिह्वा अथवा अर्चिपर सात अधिष्ठात्री देवताओंकी कल्पना करते हुए उसका ऐसा रूप नामनिरुक्तिमे बतलाया गया है:— "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता चैव सुधुम्रवर्णा। उग्रा प्रदीप्ता च स्फुलिङ्गिनी च सप्तैव लोला: कथिताश्च जिह्वा॥" आज भी तान्त्रिक बृहद्होममें इन सात जिह्वाओंकी पूजा विहित है।

यद्यपि वैदिक युगके बाद वाले लौकिक कोषकारगण सर्वज्ञ योगियोंका रहस्य उद्घाटन नहीं कर सकनेके कारण अश्ववाच ; और वर्णवाचक शब्दोंके पर्याय सम्बन्धमे कभी कभी विभिन्नता कर दिये हैं, तथापि प्राचीन अश्वमेध आदिसे तान्त्रिक होमतक समस्त उपासनापद्धतिके देखनेसे यही सिद्धान्त होता है कि

सूर्यसंयमके द्वारा भुवनज्ञ योगी ऋषिगणके निकट मूल आलोक-तत्त्व भी कभी कभी अविदित नहीं था अर्थात् पूर्णतया ज्ञात था।

नेत्रोंके गठनानुसार प्रतिबिम्बका विपर्ययप्रयुक्त ज्ञानका विपर्यय होता है, इस लिये तथा दर्शनशक्तिका प्रतिबिम्बगत किरणको अनुशरणमें असमर्थता निबन्धन उसको स्थानान्तरमें द्रष्टव्य वस्तुकी एक छायाभूति (फोटो) दिखलाती है, इस लिए नेत्रेन्द्रियकी प्रतारणामूलक कार्यकारिता प्रतिपादित हो जाती है। अत एव परमार्थ दृष्टिसे चक्षुरिन्द्रियके द्वारा साक्षात् दर्शन नहीं होता, इस लिए योगादिशास्त्र उसको परोक्ष अर्थात् अनुमानसिद्ध ज्ञान ही बतलाया है। स्थालीपुलाक न्यायानुकूल यहां सिर्फ चाक्षुष ही ज्ञानका उदाहरण दिखाया जाना जानकर भी वस्तुत: कर्णादि अन्यान्य इन्द्रियोंके द्वारा जो जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह व्यवहारत: सत्य होने पर भी परमार्थत: भ्रान्तिमूलक है। इन्ही सब कारणोंसे योगीगण इन्द्रियवृत्तियोंको रोककर और वेदान्तिक लोग इन्द्रियव्यापारको अनित्यपक्षमें छोडकर सिर्फ ज्ञानबलसे तत्त्व-निरूपण करनेकी चेष्टा करते थे। आचार्यने भी तत्त्वदृष्टि अव-लम्बन करके बुद्धिजनित समस्त ज्ञानको आध्यासिक बतलाया है। बुद्धिजनित आध्यासिक ज्ञानमात्र ही परोक्ष है, और वह अपरा विद्याके अन्तर्गत है। और मनोबुद्धि इन्द्रियादिकी सहायता विना वस्तुओंका जो तत्व साक्षात्कार प्राप्त हो जाय तो उसको परा विद्या कहते हैं। और यही अपरोक्ष ज्ञान है ॥ ४२ ॥

यह परम प्रखरभानु मूढ़ अज्ञानियोंका सुखद सुफलं चारु चारजिज्ञासुओंका।
तप विपिन तपोंका ब्रह्मविज्ञानियोंका रुचिर शुभ बसेरा शुद्ध सन्यासियोंका॥
सकल सुतकथोंके चार अध्यायमेंका प्रथम रुचिरगीताऽध्यात्म विद्याभरेका।
[illegible] केशरीकान्तजीका अनुदित यह हिन्दी शेष होता सटीका ॥ १ ॥

श्री सनत्सुजातीय अध्यात्मशास्त्रको प्रथम अध्यायकी
हिन्दी टीका समाप्त हुई।

द्वितीयोऽध्यायः।

धृतराष्ट्र उवाच—
कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनम्?
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम्।
मौनेन विद्वानुत याति मौनम्?
कथं मुने! मौनमिहाचरन्ति॥ १॥

अन्वयः।

विद्वन्। (ब्रह्मज्ञ), कस्य एष मौनः (कस्य हेतो विधेरर्थवादस्य वा श्रुतौ मौनशब्द एष प्रयुक्तः)? कतरत् नु (संप्रश्ने) मौनम्? मौनभावं प्रब्रूहि। मुने, विद्वान् मौनेन उत मौनम् याति? इह कथं मौनम् आचरन्ति [विद्वांसः]॥ १॥

शाङ्करभाष्यम्।

अयं मानस्येत्यादिना मौनमाहात्म्यं प्रदर्शितं श्रुत्वा प्राह धृतराष्ट्रः—कस्येति। कस्य कीदृशस्य एष पूर्व्वोक्तो वागाद्युपरमलक्षणो मौनो भवति?। कतरन्नु एतयोरसम्भाषणात्मस्वरूपयोः मौनम्? प्रब्रूहि हे विद्वन्, इह मौनभावम्। मौनेन तूष्णीम्भावेन विद्वानुत याति मौनं ब्रह्म, आहोस्विदन्येन? कथं मौनमिहाचरन्ति?॥ १॥

कालिका।

पूर्व्वाध्याये मौनमुक्तमधुना प्रश्नपूर्व्वकं तद्विवरीतुमध्यायान्तरमारभते—कस्येति। मौनमस्यास्तीति मौनो मुनिरेव। अर्श आदिभ्योऽच्। कस्य हेतो विधेरर्थवादस्य वा मुनिशब्द एष श्रुतावुद्दिष्ट इत्येकः प्रश्नः। श्रुतिश्च—"तस्माद् ब्राह्मणः 'पाण्डित्यं निर्व्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्व्विद्याथ मुनिः। अमौनञ्च मौनं च

निर्व्विद्याथ ब्राह्मण:"। इति। तत्र सन्दिह्यते मौनपाण्डित्यशब्दयो-र्ज्ञानार्थत्वात् पाण्डित्यं निर्व्विद्येति विहितमेव ज्ञानमथ मुनिरित्यनूद्यते न वेति। प्रत्यक्षकाव्येनाज्ञानमस्यादकक्रियापदप्रटितविधि-लक्षणश्रवणाभावात्। विधिलक्षणं च—"कुर्य्यात् क्रियेत कर्त्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमम्। एतत् स्यात् सर्व्ववेदेषु नियतं विधि-लक्षणम्"॥ इति। सिद्धान्तस्तु पाण्डित्यशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वात् मुनिशब्दस्य तदतिशयगामित्वादर्थभेदाच्च पण्डितशब्देन मुनिशब्दस्या-प्राप्ते विद्यावतो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवदेव विधिरपूर्व्वत्वादाश्रयि-तव्य:। यद्यपि बालेन विधे: पर्य्यवसानमित्यत्र विधिप्रत्ययो न न श्रूयते, तथापि अपूर्व्वत्वात् मुनित्वस्य विधेयत्वमङ्गीकरणीयमथ मुनि: स्यादिति। यथा "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेने"त्यादिना 'शान्तो दान्त' इत्यादिना च यज्ञादि: शम-दमादिश्च विधीयते, तथा च "तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डत्यं निर्व्विद्य"-त्यादिना पाण्डित्यं बाल्यं मौनमिति त्रितयं विधीयते इति। द्वितीयश्लोकतात्पर्य्येण तदुत्तरं वक्ष्यति च सनत्सुजातो वाङ्मनसा-तीतपदप्राप्तिर्मौनस्य विधेयत्वेन भवतीति। कतरन्नु मौनमिति द्वितीय: प्रश्न:। पूर्व्वाध्याये वर्णितमिदं मौनं "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यत्र श्रवणप्रतिष्ठार्थादेव मननात् प्रोक्तमथवा यदर्थान्तरभूतमुपासनालम्बनस्य पुन: पुन: संशीलनं तद्भावनारूप-मिति प्रश्नाभिप्राय:। एतदुत्तरमपि द्वितीयश्लोकतात्पर्य्येण वक्ष्यति चाचार्य्यो मौनं पाण्डित्यातिरिक्तं श्रवणप्रतिष्ठार्थमननाख्यादन्यं तत्समनियतं मन:प्राणेन्द्रियनिग्रहरूपं निदिध्यासनमिति। 'प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावमि'ति तृतीय: प्रश्न: मौनस्य स्वलक्षणं ब्रूहीति भाव:। एतदुत्तरमपि ततश्च वक्ष्यति मौनं बाह्याभ्यन्तरप्रपञ्चयोरभान-मिति। 'मौनेन विद्वानुत याति मौनमि'ति चतुर्थ प्रश्न:। उत संप्रश्ने। मौनं कायमनोवाक्यानामगोचर: परमात्मा तम्। 'अवाकी अनादर: परमात्मेति' श्रुति:। मौनेन प्रागुक्तेन विद्वान ब्रह्मभावं प्राप्नोति न वेति प्रश्नाभिप्राय:। उत्तरं ततश्च वक्ष्यति त्रैगुण्यविषया-

त्मकवेदपरिकल्पितचित्तप्रविलयेन मौनसंज्ञं ब्रह्मभावं प्राप्नोतीति। 'कथं मुने मौनमिहाचरन्तो'ति पञ्चमः प्रश्नः। उत्तरं ततश्च वक्ष्यति समुत्खातद्वैतभानेन ते तन्मयत्वमाचरन्तो भान्तीति ॥ १ ॥

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्रने कहा:—किस मतलबसे तथा किस मौन की बात आप कह रहे हैं। हे विद्वन्! संसारमें मौन भाव कितने प्रकारके हैं वह हमे बतलावे। क्या विद्वान् लोग मौनके द्वारा परमेश्वर रूप जो मौन वस्तु हैं उनको भी पासकते है। हे मुनि! संसारमें मौनका किस प्रकार आचरण किया जाता है ॥ १ ॥

कालिकाभास।

प्रथमाध्यायमें मौनके विषयमें कुछ कहा जा चुका है, किन्तु इस दूसरे अध्यायमें उसी मौनका प्रश्नपूर्व्वक विवरण किया जायगा वेदमें जो मुनिशब्दके द्वारा मौनभाव उक्त हुआ है वह क्या विधिहेतुसे हुआ है अथवा अर्थवादहेतुसे? और यही हमलोगोंका प्रथम प्रश्न है। वेदान्तर्गत वृहदारण्यक कहते हैं—शास्त्रादि पाठपूर्व्वक पाण्डित्य लाभ करके बालकोंके समान सरल, निरभिमान, ज्ञानपिपासु, और अप्रौढ़ेन्द्रिय अर्थात अजातकाम होना ही ब्राह्मणोंका कर्त्तव्य है। शेषोक्त बाल्यभावमें तथा प्रथमोक्त पाण्डित्यभावमें सिद्ध होनेके बाद मुनि होता है। प्रथमोक्त अमौनरूप पाण्डित्यमें तथा शेषोक्त मौन-रूप मुनिभावमें लब्धप्रतिष्ठ होनेके बाद, ब्राह्मण ब्रह्मिष्ठ होते हैं।"—इसी वचनके अनुकूल ब्राह्मण लोग पाण्डित्य लाभ करके मुनि होते थे, और उसके बाद मौनभावसे मन ही मन आत्मानुसन्धानपूर्व्वक ब्रह्मवित्तम होते थे। इस प्रमाणका कौन सा अंश विधि अर्थात् आव-श्यक कर्त्तव्य नियम है? और कौन सा विधिकी प्रशंसा वा स्तुति-वाद है? अथवा उक्त वचनका सम्पूर्णांश ही विधि है? इसी विषय-पर धृतराष्ट्रको सन्देह उत्पन्न हुआ था। उन्होंने मनमें विचार किया—पाण्डित्यलाभ करके बाल्यभाव ग्रहण करना विधिरूपमें

प्रतीयमान होता है, किन्तु पण्डित अतिशय ज्ञानी होनेपर मुनि हो जाते है, और उससे भी अधिक ज्ञानी होनेपर ब्रह्मवित्तम हो जाते हैं, इस से क्या मुनिशब्द पण्डित शब्दका अर्थवाद अर्थात् प्रशंसा-वाद नहीं हो सकता ? अथवा पण्डित होकर बाल्यभाव धारण करेंगे'—यह जिस प्रकारकी विधि है,—बाल्यभावके बाद मुनि-होंवेंगे, और मुनि होकर मौनावलम्बन पूर्व्व ब्रह्मवित्तम होंगे यह भी क्या ठीक उसी प्रकारकी विधि है। उपर्युक्त वेदवचनमें मुनि वा ब्राह्मणशब्दके बाद विधि घटित कोई क्रियापद नहीं है, इस लिये ही धृतराष्ट्रके मनमें इस प्रकारका संदेह हुआ है। क्योंकि मीमांसा-शास्त्र कहते हैं—"करना उचित है,—किया जाय,—करनेयोग्य वा कर्त्तव्य है,—होना चाहिए"—इत्यादि इस तरह परामर्शाश्रित अथवा आदेशसूचक क्रियापद नहीं रहनेसे शास्त्रोंमें वेद विधिरूपसे गण्य नहीं है। इनका सिद्धान्त यह है कि योगविभाग—की नीतिको अनुसरण करके वेदवचनका अर्थ करना पड़ेगा। यथा—'पाण्डित्यलाभ करनेके बाद बालकोंके समान होना उचित है'—इस विधिभागसे समझना होगा कि प्रथमतः पण्डित बनना होगा, और पण्डित होनेके बाद पाण्डित्याभिमान त्याग करनेके लिए सरल बाल्यभावका आश्रय लेना होगा। फिर दूसरी जगह वेदोंमें कहा गया है—"अपरा तथा परा दोनों ही प्रकारके विद्याका लाभ करना परम कर्त्तव्य है; परा विद्या पानेसे ब्रह्मिष्ठ हो सकता है, इस लिए वेदोंने परा विद्याकी प्रशंसाकी है। किन्तु पराविद्या पानेके लिए अध्यासमूलक अपरा विद्याको त्याग कर मुनिकथित मौनकी सहायतासे निर्गुण उस कारण ब्रह्मका अनुसन्धान करना होता है अर्थात् उसके सम्बन्धमें निर्व्विकल्प ध्यान किया जाता है। अत एव इससे यह जान पड़ता है, कि, अपरा विद्या लाभ करके पण्डित तो होगा किन्तु पाण्डित्यका अभि-मानादि दोष रखना नहीं होगा और उसके बाद बुद्धिशुद्ध होने पर अध्यासमूलक अपरा विद्याका परित्याग करके परा विद्याके लिए

मुनिधर्म्म अवलम्बनपूर्व्वक ब्रह्मविषयका निदिध्यासन करे। यही इस वेदवचनका तात्पर्य है। इस लिये ब्राह्मणोंके लिए तो मुनि होना विधि ही है ऐसा ही जानना होगा। वह कभी भी पण्डितों का अर्थवाद, अर्थात् प्रशंसावाद वा स्तुतिवाद नहीं हो सकता। अस्तु मौन अवलम्बनपूर्व्वक ब्रह्मतत्व चिन्तनके द्वारा ब्रह्मिष्ठ होना किसी शास्त्रीय विधिनिषेधके विषयीभूत नहीं। सप्तभूमिकात्मक योगमें जिस प्रकार पहली चार भूमिकाओंमें पुरुषप्रयत्न देखे जानेके कारण वह विधिनिषेधके विषयीभूत होता है, किन्तु उसके बाद वाली तीन भूमिकाओंमें अर्थात् चित्तविमुक्ति गुणविमुक्ति तथा कैवल्यमें पुरुषार्थताकी कोई भी बात नहीं है, उसी तरह वेदान्तमें मौनावलम्बन पुरुषप्रयत्नसापेक्ष होनेके कारण विधिके विषयीभूत है, किन्तु ऐसा करनेसे ब्रह्मिष्ठता स्वयं होती है इससे उसकी विधि कल्पना अनावश्यक है। इन्हीं सब कारणोंके वश धृतराष्ट्रने प्रथम ही प्रश्न किया—"मौन किस लिये ? अर्थात् वेदोक्त मौनभावमें कौन सी विधिपरता अथवा स्तुतिपरता समझानी होगी ? द्वितीय श्लोकस्थ तात्पर्यके द्वारा आचार्य वाङ्मनसातीत पदप्राप्ति को ही मौनका विषय कह कर उसका उत्तर प्रदान किया है।

"किस मौनकी बात कहते हैं"—यही दूसरा प्रश्न है। इस प्रश्नको स्फुटित करने पर उसका रूप ऐसा हो जायगा—श्रोतव्य, मन्तव्य इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार शास्त्र अथवा गुरुके निकट जा कर जो गुरुसे सुना जाय उसका मनन करनेके लिए जो वाक्संयम किया जाता है, क्या वही मौन है ? अथवा उपासनाके लिये आत्म-विषयक भावनाका पुन: पुन: संशीलन ही मौन है। द्वितीय श्लोकके तात्पर्यके द्वारा आचार्य इसका उत्तर देंगे कि श्रवणप्रतिष्ठार्थ मननके बाद मन, प्राण तथा इन्द्रियगणोंको रोक कर वाङ्मनसा-तीत पदप्राप्तिके लिए जो निदिध्यासनके रूपमें अनुष्ठान किया जाता है वही मौन है।

'मौनभाव किस प्रकारका होता है अर्थात् मौनका स्वरूप

कैसा है'—यही तृतीय प्रश्न है। इसका उत्तर आचार्य दूसरे श्लोकके तात्पर्य्यके द्वारा कहेंगे कि—चक्षु कर्णादि पञ्चेन्द्रियोंके निकट जिस समय बाह्य प्रपञ्चोंका भान नहीं रह जाता, अर्थात् ये सब बाह्यवस्तुएं जिस समय अनुभूत नहीं होतीं, तथा मन इन्द्रिय जिस समय आभ्यन्तरिक चेष्टा, इन्द्रिय प्रवर्त्तन अथवा स्मृतिगत विषयोंकी पैत्तिक प्रत्यक्षताका अनुभव नहीं कर सकता उसी समय उसको प्रकृत वा स्वाभाविक मौन कह सकेंगे। आकार मौनमें भावका आदान प्रदान होता है। और काष्ठ मौनमें आदान प्रदान न रहने पर भी स्वगत विषयसमूहका भाव वर्त्तमान रहता है किन्तु इस मौनमें बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयसमूहोंको छिपा कर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। शाक्तोपासना विशेषमें "मनोन्मनी" की इसी मौनकी अधिष्ठात्री देवताके रूपमें उपासना करनी होती है। इच्छामूलक क्रिया विना ज्ञान सुगम नहीं है। और ज्ञानके नहीं होनेसे इस प्रकारका मौन अधिगत नहीं होता, इस लिए इसको पीठशक्ति कहते है। इस मौनमे अपरा विद्याका संस्कार भ्रष्ट हो कर जिस अवस्थाविशेषमें बदल जाता है, उसी अधिष्ठात्री देवताको तन्त्रशास्त्रने परापरा बतलाया है। और इस अवस्थाविशेषके बाद ही साधक ब्रह्मसे अभिन्न महाप्रेत सदाशिव प्रसन्न होते हैं। प्रसङ्गवश शाक्तोपासनाकी पीठपूजाका रहस्य भी उद्घाटित किया गया, किन्तु अधिकारीको छोड़ कर यह दूसरोंके विषयीभूत नहीं हो सकता।

मौनके द्वारा परमेश्वररूप मौनको, पा सकते हैं कि नहीं? यही चौथा प्रश्न है। अपने अभिप्रेत मौनके द्वारा कायमनोवाक्यसे अगोचर परमेश्वरको पा सकते हैं कि नहीं? उक्त प्रश्नको इस प्रकार समझना चाहिए। वेद परमेश्वरको अवाकी तथा अनादर कहते हैं। और इसी कारण आचार्य भी उसको मौन कहते हैं। अभावका ज्ञान होते ही कामना उत्पन्न होती है और कामनाकी परितृप्तिके लिए हम लोग काम्यवस्तुका आदर करते हैं।

परमेश्वर सर्वात्मक है इस लिए उसका कोई अभाव नहीं। और इसी लिए उनको कोई कामना भी नहीं है। इसी कारण वेदोंने उनको आप्तकाम अथवा पूर्णकाम कहा है। कामनाके अभावमें प्रयुक्त काम्यवस्तुका उनके निकट आदर नहीं है, इससे वेद उनको अनादर कहते है। वाक्प्रवृत्तिको व्यक्त करनेके लिए अथवा भावोंका आदान प्रदान करनेके लिए हमलोग वाक्यन्त्रका व्यवहार करते हैं। किन्तु उनसे अलग वस्तुओंकी अविद्यमानताके कारण वे हमलोगोंके समान किसी वस्तुके अभाव अथवा प्रयोजनका बोध नहीं करते इस लिए वेद उनको अवाकी अर्थात् मौन कहते है।—'नादेवो देव यजेत्'—अर्थात् शुद्धदेवभावात्मक हुए विना देवताकी पूजा करनी उचित नहीं—ऐसी धर्मनीतिका अवलम्बन करके आचार्य द्वितीय श्लोकस्थ तात्पर्यके द्वारा उत्तर देंगे कि तदुपयुक्त निष्काम मौनके साथ उपासना करनेसे जीव परमेश्वरमें प्रवेश करता है। इससे ऐसा समझना होगा कि वेदोंका त्रैगुण्यविषयात्मक (ब्रह्म) कर्मकांडके द्वारा मुक्त नहीं हो सकता।

संसारमें मौन किस प्रकार आचरित होता है, अर्थात् ससीम-क्षुद्रमानव किस तरहसे मौन आचरण करके असीम परमेश्वरमें सुसम्पन्न हो सकता है यही पञ्चम प्रश्न है। इसका उत्तर आचार्य द्वितीय श्लोकके द्वारा कहेंगे कि—जिस रूपसे साधक ब्रह्ममय होकर विराज है, अर्थात् जिस प्रकारसे साधकका द्वैतभान सम्पूर्ण-रूपसे निर्मूल हो जाता है उसी प्रकारसे मौनका भी अनुष्ठान करना चाहिए॥ १॥

सनत्सुजात उवाच।

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथ मौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथाऽयं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन्॥ २॥

अन्वयः।

यत: (यस्माद् हेतो:) मनसा सह वेदा एनं (परमात्मानं) न अनुप्रविशन्ति (अनुकूलतया न विशन्ति) तत: (तस्मात्) अथ (कात्स्र्न्ये) मौनं (परमात्मा) [एव]। राजन्, यत्र वेदशब्द उत्थित: (यस्मिन् परमात्मनि शास्त्रार्थ उद्दिष्ट:) [तत्र] सोऽयं (मौनो) तन्मयत्वेन (भगवत्प्रधानत्वेन) विभाति (अशेषविशेष-भगवद्गुणविशिष्टो भाति) ॥ २ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

एवं पृष्ट: प्राह भगवान्—यत इति। यतो यस्माद्वेदा मनसा सह एनं परमात्मानं नानुप्रविशन्ति। तथा च श्रुति:—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इति। ततस्तस्मादेव कारणात् स एव वाचामगोचर: परमात्मा मौनम्। यद्येवं किं लक्षणस्तर्हि परमात्मा तत्राह—यत्रोत्थितो वेदशब्द:—यस्मिन्नर्थे निमित्तभूते समुत्थितो वेदशब्द:, शास्त्रादिकारणं ब्रह्मेत्यर्थ:। अथवा यस्मिम् संवेदनाख्ये उत्थितो वाचकत्वेन प्रयुक्तो वेदशब्द इत्यर्थ:। तथा च वेदशब्दप्रतिपाद्य: संविद्रूपोऽयं परमात्मा। यदि वाचामगोचर: परमात्मा, कथमेतदवगम्यते संविद्रूप: परमात्मेति ?। तत्राह—स परमात्मा तन्मयत्वेन ज्योतिर्मयत्वेनैवास्माकं विभाति राजन्। एवमेवास्मदनुभवो नात्र विश्वास: कर्त्तव्य इत्यर्थ:। अथवा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु ज्योतिर्मयत्वेन प्रतीयते। तथा च श्रुति:—"तद्देवा ज्योतिषाम्" इति। तथा च भगवान्—'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: पर-मुच्यते' इति ॥ २ ॥

कालिका।

एवं पृष्टो भगवान् सनत्सुजात: पञ्चानामपि प्रश्नानामुत्तरं तन्वन्नाह—यत इति। यतो यस्माद्धेतोरेनं परमात्मानं मनसा सह वेदा नानुप्रविशन्ति। "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"। इत्येवमादिश्रुते:। "यतो-

ऽप्राप्य निवर्त्तन्ते वाचश्च मनसा सह" इत्येवमादिस्मृतेश्च। नानुप्रविशन्ति कार्त्स्न्येनेति शेषः। यथा दृष्टोऽपि हिमालयः कार्त्स्न्येनादर्शनाददृष्टः कथ्यते। अन्यथा—तदेव ब्रह्मत्वं विद्धीति व्याकुप्येत्। एषा हि श्रुतिर्दर्शयति यद्यपि वेदो नेदन्तया ब्रह्म विषयीकरोति तथापि स सर्वमविषय ब्रह्मात्मस्वरूपं प्रतिपादयन् मायाकल्पितज्ञातृज्ञेयविभागं निवर्त्तयतीति। वेदा एनमनुप्रविशन्तीत्युक्ते सति निदिध्यासनाख्ययोगादेर्व्यर्थतावोधकत्वाद् यावज्जीवमहं मौनीति वाक्यवदप्रामाण्यं स्यादिति नानुप्रविशन्तीत्युक्तम्। नैतावता तु वेदपाठविधेरानर्थक्यम्। स्वभावप्रवृत्तविकल्पबुद्धिविमुखीकरणद्वारेण हि सत्यार्थावगतिप्रयोजनात्। तत स्तस्माद्धेतोरथ कार्त्स्न्ये मनःशब्दयोरगोचरः स एव परमात्मा मौनम्। एतेनेतत् सिध्यति—वाङ्मनसातीतपदप्राप्तिर्मौनस्य विधेयत्वेन भवतीति। मौनं बाल्यपाण्डित्यातिरिक्तं श्रवणप्रतिष्ठार्थमननाख्यादन्यत् तत्सम-नियतं मनोवागादिवाह्येन्द्रियनिग्रहरूपं निदिध्यासनमिति च। तदेव क्रमाद् वाह्याभ्यन्तरप्रपञ्चयोरभानमिति च। त्रैगुण्यविषयात्मकवेदपरिकल्पितचित्तप्रविलयेन मौनी मौनसंज्ञं ब्रह्मभावं यातीति च। अतः श्लोकार्द्धतात्पर्य्येण प्रश्नचतुष्टयस्य प्रतिवचनं सुष्ठूक्तम्। पञ्चमप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह—यत्रेति। तथा यत्र भूमब्रह्मात्मनि वेदशब्दः शास्त्रार्थ उथित उद्दिष्टस्तत्रेत्यध्याहारः, सोऽयं मौनी तन्मयत्वेन विभाति प्रकाशते। एतदुक्तं भवति—गलिताखिलद्वैतभाने मौनी ब्रह्मभावमाचरन् तिष्ठतीति। तथाहि दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रं—"चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा। गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः।" इति॥ २॥

मूलानुवाद।

जिस कारणसे वेदादिशास्त्र मनके साथ—(पढ़े जाकर ओत-प्रोतभावसे) परमेश्वरमे प्रविष्ट नहीं होते, वह कारण मौन है। हे राजन। जिस परमेश्वरके उद्देशमें सर्वजनविदित वेदशब्द

प्रयुक्त व्यवहृत होता है, उसी परमेश्वरमें मौनी तन्मय होकर विराजता है॥ २॥

कालिकाभास।

इस श्लोकके: तात्पर्यसे सब उत्तर समझना होगा। क्योंकि प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें कहा गया है। वेद कहते हैं—जो वाक्यके द्वारा उच्चारित नहीं हो सकते, किन्तु जिनके द्वारा वाक्य उच्चारित हो रहे हैं, उनको ही ब्रह्म समझना। स्मृतियां भी कहती है,—वाक्यसमूह मनके साथ जाकर भी जिसको (ओतप्रोतभावसे) नहीं प्राप्त कर सकते, और वैसा न पाकर जहांसे (जिनके निकटसे) लौट आते हैं, उन्हींको ब्रह्म समझना।"—इन तरहकी श्रुति स्मृतियोंका अभिप्राय यही है कि केवल पाण्डित्य अथवा केवल वाक्योंके बलसे मुक्ति नहीं हो सकती। इस लिये निर्विकल्पज्ञानसे उनकी उपासना करना परम आवश्यक है। इसी लिये आचार्यने कहा है कि वेदादिशास्त्र परमेश्वरमें अनुप्रविष्ट नहीं होते, अर्थात् ये मुक्तिप्रदान करनेमें पर्याप्त नहीं है। भगवान भी कहते है,—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"। वेद अनुप्रवेश नहीं करते अर्थात् ओतप्रोतभावसे समग्र ब्रह्मविषयपर अधिकार नहीं करता, ऐसा मतलब समझना होगा। जिस प्रकार कोई हिमालयका अति सामान्य अंश देखने पर भी कहता है—"और क्या देखा है? कुछ तो नहीं देखा" उसी प्रकार वेदादिशास्त्र ब्रह्मका सामान्य आभास देते है, अस्तु ऐसा कहा गया है। "वेद ब्रह्मविषयमें पहले अनुप्रवेश नहीं करते" इस प्रकारका अर्थ सङ्गत नहीं है, क्योंकि इस तरहका अर्थ करने पर "उनको ब्रह्म जानना" इस श्रुतिसे विरोध होता है। यद्यपि वेदादि शास्त्रसमूह "यही ब्रह्म है" कहकर साक्षात् भावसे किसी वस्तुको किसीके हाथमें समर्पण नहीं करते, तथापि उसके ज्ञाता, ज्ञान, तथा ज्ञेयका मायाकल्पित अनित्य विभागको प्रतिपादनकर ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग दिखला देते है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और

भो "अनुप्रवेश करता है" ऐसा कहने पर भी योगादि शास्त्रको व्यर्थताके लिये प्रयुक्त इस तरहके वाक्योंका प्रमाण नहीं रहता। यदि कोई कहे कि "मैं यावत् जीवन मौन रहता हूं या रहूंगा" तो जिस तरह उस मनुष्यको उक्ति असत्य बोध होती है, उसी तरह "वेद अनुप्रवेश करते हैं" यह कथन भी मिथ्याके समान ही ज्ञात होता है। क्योंकि लोग यही सिद्धान्त करेंगे कि केवल वेदादि शास्त्रोंका पढ़ने ही मुक्ति होती हो तो ज्ञानयोगादि प्रवर्त्तक श्रुतियोंका उल्लेख नहीं रहता। इस प्रकारके विचार करने पर वेद पढ़नेकी विधि अनर्थक होती जान पडती है, ऐसा भी शब्द कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि बुद्धि स्वभावतः वैकल्पिक है, इस लिए सङ्कल्पसे उसकी दृढता सम्पादन करनेके लिए मत्यानुकूल वेदादिका पाठ आवश्यक कर्त्तव्य है, ऐसा निर्द्धारित होता है।

"वह कारण मौन है"—अर्थात् मैं जिस मौनकी बात कहता हूं वह केवल श्रवण प्रतिष्ठार्थक मौन नहीं है, और ऐसा कि वह केवलमात्र निदिध्यासन नामक मौन भी नहीं। मेरे अभिलषित मौनमें निदिध्यासन इतना प्रगाढ होगा कि उससे बाह्य तथा आभ्यन्तरिक प्रयत्नसमूहका मान तिरोहित होकर एकमात्र ब्रह्मसे अभिन्न स्वीय इष्टदेवताकी ही उपलब्धि होगी। श्लोकान्तर्गत तात्पर्यके द्वारा इस प्रकारसे चार प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है। उसके बाद पञ्चम प्रश्नका उत्तर कहते हैं। जिस ब्रह्मका उद्देश-मौनी तन्मय होकर करके वेदमन्त्रादिका साधन किया जाता है, उसी ब्रह्ममें विराजता है। इससे यह ध्वनि निकालती है कि द्वैतज्ञानका अपनयन करके उपासक मौनभावका आचरण करें।

दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रकी मौन प्रशंसा यहां उल्लेखयोग्य मालूम होती है। उसमें संसारकी वटवृक्षके रूपमें कल्पना की गयी है। तथा जीवात्माकी अनादिकालसे भोग जर्जरित होनेके कारण वृद्ध

कहा गया है। और परमेष्ठि गुरु परमात्माको षड्भाव रहित होनेसे तथा यौवनोचित सम्पूर्ण बल सामर्थ्य आदिसे युक्त रहनेके कारण युवा कहा गया है। जो मौन की सहायतासे परमात्माको पहचाननेकी चेष्टा करते है—परमात्मा उनको मौनभाव होमें सब तत्वोंको समझाकर (छिन्न करके) संशयरहित कर देते है प्रकृत पद्यमें भी हम लोग मौन अवलम्बन करके अन्तर्हित संशयसमूहोंकी विचित्र मीमांसा करके जिस प्रकार आत्मनिष्ठ होते है—वैसे तर्कान्वित कोलाहलसे कभी नहीं हो सकते। इसीसे वेद कहते हैं—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः"—प्रवचन अर्थात बुद्धि जनित तर्क।

प्रथम श्लोकमें पांच प्रश्न किया गया है—उसका उत्तर द्वितीय श्लोकके तात्पर्यको मर्म्मानुसार समझनेसे मालूम होगा। यहां प्रश्न तथा उत्तरका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

१ प्रश्न :—वेदमें जो मुनि अथवा मौनशब्दका व्यवहार किया जाता है वह क्या विधि है अथवा पाण्डित्यका ही प्रशंसावाद है ?

उत्तर :—पाण्डित्यातिशय हुए विना मुनि नहीं हो सकता, यह बात सच है, किन्तु मुनियोंको मौनभावके विना—"सोऽहं"—ज्ञानादि नहीं होता; इस लिये मुनि होना मौन अवलम्बन करना विधि रूपमें ही परिगणित किया है।

२। प्रश्न :—आप किस मौनकी बात कहते हैं ?—

उत्तर :—जिस मौनमें उपासक ब्रह्ममय हो जाता है, अर्थात जिससे उसको सोऽहंआदि ज्ञान उत्पन्न होता है, मैं उसी मौनकी बात कहता हूं॥

३। प्रश्न :—मौनभाव कैसा होता है ?

उत्तर :—जिस समय पाण्डित्यका अभिमान नहीं रहता, जिस समय रूपरस आदि इन्द्रियकार्य भावनाके उत्कर्षके लिए स्वतःशान्त हो जाते हैं, उसी समय जान ले कि उस व्यक्तिको मौनभाव आया है।

४। प्रश्न :—मौनके द्वारा क्या मौनरूप परमेश्वर पाया जा सकता है?

उत्तर :—मन सारे इन्द्रियोंका परिचालक है, इस लिए कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य अपने आप नहीं कर सकती। उस मनके साथ ही वेदादि-शास्त्रका साधारण पांडित्य उसका दर्शन अथवा अनुभव नहीं कर सकता। कहनेका अभिप्राय यह है कि लोकपांडित्यके द्वारा उनका दर्शन नहीं मिल सकता। इसी लिए मौन अवलम्बन-पूर्व्वक निर्विचारादि ध्यानसे उनको आयत्त करना होता है। यह—अस्त्र मस्त्रेणशाम्यति" इस न्यायके उदाहरण स्वरूप है। नीतिसारमें कहा गया है—"विषं विषेण व्यथते, वज्रं वज्रेण भिद्यते। गजेन्द्रो दृष्टसारेण गजेन्द्रेणैव बध्यते"—लोग भी प्रचलित भाषामें कहते हैं—"हीरेसे हीरा कटता है"—उपासनासे ऐसा ही नियम समझना होगा। उनका अनुकरण किए विना उनको नहीं पा सकते है। वे निरिन्द्रिय, निर्गुण तथा मौन है, इस लिए उपासक भी वृत्ति निरोधकरके गुणाधिकार प्राप्त करते हुए मौनकी सहायतासे उपासनामें उनके स्वभावका अनुशीलन करते है॥

५। प्रश्न :—मौन कैसे आचरित होता है, अर्थात् मौनका आचरण कैसे किया जाता है।

उत्तर :—नीरव अर्थात् निस्तब्ध वा एकान्त स्थानमें द्वैतज्ञानका उत्पादन करके मौनाचरण किया जाता है।

क्रमशः इन्हीं पाँच प्रश्नोंके पाँच उत्तर दिये गये हैं॥ २॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचो यजूंष्यधीते यः
सामवेदञ्च यो द्विजः।
पापानि कुर्व्वन् पापेन
लिप्यते किं न लिप्यते॥ ३॥

अन्वयः।

यो द्विजः पापानि (दुःखफलानि कर्म्माणि) कुर्व्वन् ऋचः यजूंषि सामवेदं च (समग्रान् वेदान्) अधीते, [स द्विजः] पापेन (कर्म्म-फलेन) लिप्यते, न किं वा लिप्यते ? ॥ ३ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं वेदस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—ऋच इति। यः पापानि कुर्व्वन् ऋग्वेदादीनधीते स तेन वेदाध्ययनेन पूयते न वा ? एतदहं त्वां पृच्छामीत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

कालिका।

वेदस्वभावपरिज्ञानाय पृच्छति धृतराष्ट्रः ऋच इति। यो द्विजः पापानि कुर्व्वन् वेदानधीते स तदध्ययनेन पूयते न वेति प्रश्नाभिप्रायः। ऋग्यजुःसामरूपाणां लक्षणानि जैमिनिः सूत्रयामास—"तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्द" इति। तद्विषये विचारो न्यायविस्तरेऽभिहितः। ऋच इति। पादादीना-मसङ्कीर्णलक्षणत्वात् "पादबन्धनार्थेन चोपिता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः"। ऋग्वेदस्य प्राथम्यं पुरुषसूक्ते स्पष्टीकृतं—"तस्माद् यज्ञात् सर्व्वहुत" इति। छन्दोगा अपि प्राथम्येन सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवं समामनन्ति—"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्व्वेदं सामवेदमाथर्व्वणं चे"ति। तैत्तिरीयाश्चाहुः—"यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते तच्छिथिलम्। यदृचा तद्दृढमि"ति।

यजूंषीति। वृत्तगीतिवर्ज्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि। यजुर्व्वेदमन्त्रेषु कानिचित् यजूंषि काश्चन ऋचः। तत्र ऋचां नियताक्षरपादावसानानामावश्यकं छन्दः कात्यायनेनोक्तम्। यजुषां षड्त्तरशताक्षरावसानानामेकाक्षरादीनां पिङ्गलेन "दैवेकमि"त्या दिनोक्तम्। तदधिकानां नास्ति छन्दःकल्पना।

सामवेदश्चेति। गीतिरूपा मन्त्राः सामानि। सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। उक्तं च—"गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरप्रयत्नजन्या

स्वरविशेषेणाभिव्यञ्जिका सामशब्दाभिलप्या सा नियतप्रमाणा ऋचि गीयते। तत्सम्पादनार्थः "अयस्तगच्छरविकारो विश्लेषो विकर्षण-मभ्यासो विरामः स्तोभ" इत्येवमादयः सर्व्वे सामवेदे समाम्नायन्त एव। तच्च न्यायविस्तरे स्पष्टीकृतम् ॥ ३ ॥

मूलानुवाद ।

जो ब्राह्मण ऋक्, यजुः तथा सामवेदका अध्ययन करते हैं, क्या वे पाप करने पर पापमे लिप्त होते है अर्थात् पापके भागी होते है कि नहीं ॥ ३ ॥

कालिकाभास ।

अब राजा वेदका सामर्थ्य जाननेके लिए प्रश्न करते हैं कि जो व्यक्ति वेदादि शास्त्रोंको पढता है, और पाप भी करता है, वह पापमें लिप्त होता है कि नही, यही प्रश्नका तात्पर्य है। ऋक् आदिका लक्षण पूर्व्व मीमांसामें इस प्रकार वर्णित है—अर्थानुसार जिन सब मन्त्रोंको पादव्यवस्था देखी जाती है, उनको ऋक् कहते है, और जो ऋकसमूह गानमें उपयुक्त है, वे ही साम हैं, और इनके अलावा सब मन्त्र यजु नामसे प्रसिद्ध है। यह सब जैमिनि-सूत्रके न्यायमालामें आनुपूर्व्विक तथा विस्ताररूपसे वर्णित हुआ है।

पुरुषसूक्तमें देखा जाता है कि पहले पहल ऋग्वेदका आविर्भाव होता है। छान्दोग्य उपनिषदका सनत्कुमार-नारद-संवाद भी इसमें प्रमाण है। तैत्तिरीय सम्प्रदायवाले भी इसका समर्थन करते है।

वृत्तगीतिवर्ज्जित गद्यात्मक मन्त्र ही यजुः है। यजुर्वेदमें भी ऋक् हैं, किन्तु गद्यात्मक मन्त्रोंकी संख्या अधिक रहनेके कारण उसको यजुर्वेद कहते हैं। ऋक् यजुः आदिका लक्षण वगैरह कात्यायनऋषि तथा पिङ्गलाचार्य दोनों हीने विशेष रूपसे वर्णन किया है।

जो गेय है वही साम है। सामवेदमें हजार तरहके गान-

प्रयत्न प्रदर्शित है। वक्ताके आभ्यन्तरीण प्रयत्न विशेषमें ऋक आदि अभिव्यक्त होनेहीसे वह सामके नामसे प्रसिद्ध होता है। गान करनेके लिए ऋकके किसी किसी अंशमें जो विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभादि दिखलाई देते हैं, वे सब सामवेदमें प्रदर्शित हुए है। यथा,—"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये निहोता सत्सि बर्हिषि"—भरद्वाज ऋषि दृष्ट यह मन्त्र ऋग्वेदान्तर्गत षष्ठ मण्डलकी एक ऋचा है। इसमें अष्टाक्षरयुक्त पादत्रयकी व्यवस्था है, इस लिये इसका छन्द गायत्री है। दर्शपूर्णमास यज्ञके सामिधेनी प्रकरणके आग्नेयक्रतुमें यह आश्विनशस्त्ररूपमें प्रयोग किया जाता है। गार्हपत्य तथा आहव-नीय इन्हीं दोनों अग्निके सम्बन्ध कालमें भी पढे जाते है इन्हीं सब कारणोंसे इनको आग्नेयी ऋक कहते हैं। सामवेदमें वह ऋक बहुत तरहसे गायी गयी है। उसमें सामवेदके गेयगाननामक ग्रन्थमें इस ऋकका उच्चारण इस प्रकार वर्ण विकारादिके साथ लिखा गया है। यथा,—"ओग्नायि। आयाहि वोई तोयाई। तोयाई। गृणानोह। व्यदातोयाई। तोयाई। नायि हो तासा। त्साई। वा औ होवा। होषो।"—और सामवेदके आरण्यगान-नामक ग्रन्थमें उनका अन्यरूप विकारादि दिखलाया गया है। मनन करना ही मन्त्रका उद्देश्य है, इस लिए मनन अवलम्बन किए जाते हैं। अभी भी देखा जाता है कि अनेक साधक गानके द्वारा साधन करते हैं। किन्तु जो ज्ञानकांडमें विचार अथवा योगादिके द्वारा मनन प्रतिष्ठा करके निदिध्यासनका अवलम्बन करनेमें समर्थ हैं, उसके लिए क्रियाकांडमें इन सब नियमोंका उल्लेख नहीं किया गया है।

गद्यपद्य गानके इस वेदविभागमें स्मरणकर श्लोक लिखा गया है। इस लिए इससे अथर्ववेदका प्रामाण्य अस्वीकृत नहीं होता है। ऋक, यजु:, साम कहनेसे वेदोंका चतुष्टयत्व व्याहत नहीं होता, इसके विषयमें पीछे कहा जायगा ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच—

नैनं सामान्यृचो वापि
यजूंषि चाविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्म्मणः पापान्न
ते मिथ्या ब्रवीम्यहम ॥ ४ ॥

अन्वयः ।

ऋचो यजूंषि सामानि वापि च एनमविचक्षणं (मनोनिग्रहासमर्थं) पापात् कर्म्मणः न त्रायन्ते (न रक्षन्ति) । अहं ते न मिथ्या ब्रवीमि ॥ ४ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—नैनमिति । यः पापानि कुर्व्वन् ऋग्वेदादीन् अधीते नैनं प्रतिषिद्धचारिणम् ऋग्वेदादयो वेदाः पापात् कर्म्मणः त्रायन्ते न रक्षन्ति । न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्, एवमेवैतत्, नात्राविश्वासः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

कालिका ।

एवं पृष्टो भगवान् प्रश्नोत्तरमाह—नैनमिति । यः पापानि कुर्व्वन् वेदादीनधीते तमविचक्षणं निग्रहासमर्थं वेदाः पापात् कर्म्मणो न त्रायन्ते रक्षन्ति । अहं ते मिथ्या न ब्रवीमि । अत्र विश्वासः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ४ ॥

मूलानुवाद ।

सनत्सुजात बोले,—अविचक्षण पापाचारीको ऋक यजुः अथवा साम कभी उसको पापकर्मोंके फलभोगनेसे नहीं बचाते । और इस बातमें कभी कोई सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

कालिकाभास ।

आचार्य प्रश्नोंका उत्तर देते है । जो पाप करके वेदादि पाठरूप धर्म्मकार्य करते हैं अथवा जो वेदादि पठनरूप धर्म्मकार्य करके

पाप करते है, वे दोनों हो अपने कर्म्मका फल भोग करेंगे। किन्तु जिस अवस्थामें पापका संश्लेष नहीं होता वह पीछे कहा जायगा ॥ ४ ॥

न छन्दांसि वृजिनं तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्त्तमानम्।
छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले
नीड़ं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥ ५ ॥

अन्वयः।

छन्दांसि (वेदाः) एनं वृजिनं (पापकारिणं) मायाविनं (धर्म्मध्वजिनं) मायया वर्त्तमानं (कपटाचारिणं) न तारयन्ति (न रक्षन्ति)। [किं करोतीति चेत्] जातपक्षाः शकुन्ता (पक्षिणः) नीडं (स्वाश्रयम्) इव अन्तकाले छन्दांसि एनं प्रजहति (त्यजन्ति) ॥५॥

शाङ्करभाष्यम्।

किं कुर्व्वन्ति चेत्, तत्राह—न छन्दांसीति। छन्दांसि ऋगादयो वेदा एनं वृजिनं :धर्म्मनास्तिकं पापकारिणम् अधीतवेदवेदाङ्गमपि मायाविनं धर्म्मध्वज मायया वर्त्तमानं मिथ्याचारिणं न तारयन्ति न रक्षन्ति। किं करिष्यन्तीति चेत्—यथा शकुन्ताः पक्षिणो जातपक्षाः सन्तो नीड स्वाश्रयं त्यजन्ति, एवं छन्दांसि अन्तकाले मरणकाले एनं स्वाश्रयभूत प्रजहति परित्यजन्ति ॥ ५ ॥

कालिका।

अधुना दार्ष्टान्तिकेन योजयति। छन्दांसि वेदा एनं वृजिनं पापकारिणं मायाविनं धर्म्मध्वजिनं मायया वर्त्तमानं कपटचारिणं न तारयन्ति रक्षन्ति किं करिष्यन्तीति चेत्? यथा शकुन्ताः पक्षिणोजातपक्षाः सन्तो नीड़ं स्वाश्रयं त्यजन्ति, तथा छन्दांसि वेदा अन्तकाले मरणसमये तमधीतवेदं स्वाश्रयभूतं प्रजहति परित्यजन्ति न रक्षन्तीत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

मूलानुवाद।

ऐसे कपटी धर्मध्वजीको रचा वेद कभी नहीं करते। जिस तरह पाँख उत्पन्न हो जाने पर जिस प्रकार पक्षी अपना घोंसला त्याग देते है, वेद भी उसको अन्तकालमें उसी तरह परित्याग करते हैं ॥ ५ ॥

कालिकाभास।

पापाचरणकी निन्दा लिखी जाती है। वेदका पाठ वा पढ़नेका धर्मकार्य्य पापकर्मोंके फलभोग करनेसे नहीं बचाते। जो हृदयमें कपट रखकर बाहर धर्मका भान करता उसको धर्मध्वजी कहते हैं। मूलके शेष भागमें आचार्यने दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकोंकी योजना की है। अन्तकालमें अर्थात् मरने वख्त अथवा भोगकाल आने पर ऐसा समझना चाहिए। धर्मकार्य उसको (कपटीको) पाँख जनम गये हुए पक्षीके समान परित्याग कर देते है ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

न चेद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

अन्वयः।

वेदाः चेद् वेदविदं त्रातुं न शक्ताः, अथ कस्माद् ब्राह्मणानां (ब्रह्मविदाम्) अयं सनातनः (अनादिः) प्रलापः (शास्त्र-कोलाहलः) ॥ ६ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

एवमुक्तः प्राह धृतराष्ट्रः—न चेदिति। 'कर्म्मोदय' इत्यादिना नित्यानां काम्यानां च पितृलोकादिप्राप्तिहेतुत्वेन संसारानर्थहेतुत्वस्य च दर्शितत्वात् न वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ताश्चेत्, अथ कस्माद्धेतोरयं प्रलापः वेदाध्ययनादिरूपः। संसारानर्थहेतुत्वेन वेदाध्ययनतदर्थविचारतदर्थानुष्ठानानि न कर्त्तव्यानि इत्यर्थः ॥ ६ ॥

कालिका।

तत्र धृतराष्ट्रस्य प्रतिप्रश्नो न चेदिति। यदि वेदा वेदविदं त्रातुं न शक्ताः, कथं तर्हि अनादिकालादारभ्य ब्राह्मणानां माहात्म्यप्रख्यापकोऽनर्थक 'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते" इत्यादिवाक्यसन्दर्भः प्रवृत्त इति प्रश्नाभिप्रायः। प्रलापो वाक्यसन्दर्भः ब्राह्मणानां ब्रह्मविदाम्। सनातनोऽनादिः॥ ६॥

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्रने कहा,—हे विचक्षण! वेदविद ब्राह्मणोंको वेद यदि परित्राण करनेमें समर्थ नहीं हो, तो फिर किस लिए अनादिकालसे ब्राह्मणोंके इस प्रकारका (माहात्म्य प्रख्यापक) प्रलाप चलते हैं?॥ ६॥

कालिकाभास।

राजा आचार्य्यके उत्तरमें पुनः प्रतिप्रश्न करते है यदि वेद जाननेवालोंकी रक्षा वेद नहीं कर सकते, तो—"ऋगादिपूत ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें पूजित होते हैं"—इस प्रकार वेद माहात्म्य प्रख्यापक वाक्य सन्दर्भ क्यों प्रचलित हुए?॥ ६॥

सनत्सुजात उवाच।

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति॥ ७॥

अन्वयः।

हे महानुभाव! तस्य एव नामादिविशेषरूपैरिदं जगत् भाति। (अतः) वेदाः तद्विश्ववैरूप्यं प्रागुदाहरन्ति, (पश्चाद्विश्ववैरूप्यं) निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्।

भवेदयं प्रलापी यद्येष एव वेदार्थः स्यात्, अन्य एव स्वर्गादिः परमपुरुषार्थो मोक्षाख्यो वेदार्थः, इतरस्य च कर्म्मराशेः उपासनायाश्च तत्प्राप्तिसाधनज्ञानसाधनान्तःकरणशुद्धिसाधनत्वेन पारम्पर्य्येण पुरुषार्थत्वादेव वेदप्रतिपाद्यत्वम्। तथाहि तमेव परमात्मानं परमपुरुषार्थं दर्शयति वेदः—"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः"—इत्यादिसन्दर्भेण। अत्र स्वर्गादिलोकानाम् अपुरुषार्थत्वमनानन्दात्मकत्वम् अविद्यावद्विषयत्वेन दर्शयित्वा—"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" इत्यात्मविदः कृतार्थत्वं दर्शयित्वा—इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यन्ति" ॥ इत्यात्मविदोऽमृतत्वप्राप्तिम् अनात्मविदः आत्मविनाशमनर्थप्राप्तिं च दर्शयित्वा—"यदेतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" इत्यादिभिर्वाक्यैः तत्स्वरूपतदर्थतद्दर्शनतत्फलानि भूयो भूयो दर्शयित्वा, 'कथमेनं रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणं विषयाभिषक्तं मोचयित्वा परमपदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये मोक्षाख्ये स्थापयिष्यामि' इति मत्वा तत्प्राप्तिसाधनज्ञानसाधनविविदिषासाधनत्वेन यज्ञदानादीनि दर्शयति वेदः—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति। तस्मात्तदर्थत्वेनैव यज्ञादीनां पुरुषार्थत्वम्। इतरत्र तु पुनः स्वर्गादौ श्येनयागादीनामिवापुरुषार्थत्वम्। संसारानर्थहेतुत्वात्। तथा च श्रुतिः—"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति" इति। यस्मादेवं मोक्षतत्साधनप्रतिपादकत्वेन संसारानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं वेदानाम्, तस्माद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता एवेत्येतत्सर्व्वमभिप्रेत्याह—श्लोकत्रयेण। तत्र प्रथमेन परम पुरुषार्थं परमात्मानं दर्शयति—तस्यैवेति। तस्यैव परमात्मनो मायापरि-

कल्पितैर्नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति। हे महानुभाव। कथ-मेतदवगम्यते तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भातीति? "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति मायानिर्म्मितं बहुरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्यग्रूपम् "तदेतद्ब्रह्मापूर्व्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" इत्यादिना प्रव-दन्ति वेदाः। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं च" इत्यादिना तस्यैव मूर्त्तामूर्त्तात्मकम् आत्मवज्जगत्स्वरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्य-ग्रूपम् "नेति नेति" इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इति वियदादि धरित्र्यन्तं तस्यैव कार्य्यं निर्दिश्य कोशोपन्यासमुखेन तस्यैव सम्यग्रूपम् "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्या-दिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा—"अधीहि भगव" इत्यादिना नामादि-प्राणान्तं जगन्निर्दिश्य "यत्र नान्यत् पश्यति" इत्यादिना तस्यैव सम्य-ग्रूपं भूमानं तमसः परं स्वे महिम्नि व्यवस्थितं प्रवदन्ति वेदाः। न केवलं वेदा अपि तु मुनयोऽपि तद्ब्रह्मविश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीत-स्वरूपम् उदाहरन्ति। तथा चाह भगवान् पराशरः—

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंमितम्॥ इति।
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः॥ इति च॥ ७॥

कालिका।

प्रत्युत्तरमाह—तस्यैवेति। भवेत् खलु प्रलापो यदि स्थूलं कर्म्मैव केवलं वेदानां प्रतिपाद्यम्। कर्म्म हि तेषां न मुख्यार्थः। मुख्यार्थस्तु ब्रह्मज्ञानं येन मोक्ष उपलभ्यते। मोक्षप्राप्तिसाधनं ब्रह्म-ज्ञानं ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिसाधनं चित्तशुद्धिस्तदुत्पत्तिसाधनं तपआदि-कर्म्म चेति पारम्पर्य्येण दर्शयन्ति वेदा जन्यजनकत्वादिसम्बन्धं पुरु-षार्थतायाः। अतो मोक्षसाधनप्रतिपादकत्वेन संसारानर्थनिवृत्ति-हेतुत्वं वेदानामिति वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ताः। किञ्च यत्प्रभवत्वेन वेदो मान्य स्तं वेदो[illegible]चित्तशुद्धिब्रह्मज्ञानादिमार्गानुष्ठानेनाजानतो

वेदाध्ययनं निष्फलं भवति। एतदेव सर्व्वमभिप्रेत्य श्लोकत्रयं प्राह भगवान् सनत्सुजातः।

अयमेव श्लोकार्थः स्वाभिप्रेतः। हे महानुभाव। 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्चे''ति श्रुति स्तस्यैव पूर्व्वपर्य्यायविशेषितस्यैव नामादिविशेषरूपैरित्थंभूतैरिदं जगद् वियदादिधरित्र्यन्तं विश्वगोलकं भाति विराट्पुरुषस्यावयव इव प्रतीयते। अतो वेदा अध्यारोपप्रसङ्गेन तद्विश्ववैरूप्यं प्रागुदाहरन्ति, पश्चादपवादप्रसङ्गेन तदेव विश्ववैरूप्यं ब्रह्मण एकांशात्मकमिति निर्द्दिश्य "त्रिपादस्यामृतं दिवो''ति श्रुतेः सम्यक् कोशोपन्यासमुखेन प्रवदन्ति निर्द्दिशन्ति नेति नेतीत्यादिना तस्यामृतात्मकान् त्रीनंशानिति शेषः। "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चः प्रपञ्च्यते" इतिन्यायात्। इति ॥ ७ ॥

मूलानुवाद।

सनत्कुमारने कहा,—हे महानुभाव! संसारमें जो कुछ नाम या रूपके विषयीभूत प्रतीयमान होते हैं, वे सब उनकी आंशिक महिमा है। इस लिए वेद भी पहले विश्ववैरूप्य ही का उदाहरण देकर पीछे उनका स्वरूप निर्द्देश पूर्व्वक सम्यक् तत्व बतलाते हैं ॥ ७ ॥

कालिकाभास।

राजाने प्रतिप्रश्न किया था, उसीके प्रतिवचन (उत्तर) रूपमें सप्तमसे लेकर दशम श्लोक तक लिखा गया है। आचार्यका अभिप्राय इस प्रकारका है, स्थूलकर्मोंके वेदोंसे प्रतिपाद्य होने पर वेदगत सन्दर्भ निरर्थक तथा प्रलापवत् हो जाते हैं, यह सच है, किन्तु स्थूल कर्म ही वेदोंके मुख्यार्थ नहीं है। जो ब्रह्मज्ञान मोक्षका साधक है वही वेदोंका मुख्यार्थ तथा प्रतिपाद्य विषय है। मोक्षके विना पुरुषार्थताका साफल्य नहीं है, और मोक्ष लाभ करनेके लिए ब्रह्मज्ञानको आवश्यक है, ब्रह्मज्ञानके लिए चित्तशुद्धि की आवश्यका है, और फिर चित्तशुद्धिके लिए तपस्या

आदि कर्म आवश्यक हैं। इसी लिए वेदोंमें गौणार्थक कर्म-समूहोंका जन्य-जनकत्व आदि सम्बन्ध दिखलाया है। वेद-पाठ भी एक कर्मविशेष है, इस लिए कर्मलाभ भी अवश्य होता है, किन्तु पापोंके (विनाश करनेके) उद्देश्यसे पाठ करनेसे वेद उसको पापोंसे रक्षा नहीं करते। क्योंकि दोनों तरहसे फलभोग ही होता है। इस लिए फलको आकांक्षा न करके जो वेद पाठादि शुभ कर्म करते हैं, उनको वेद पाठादि कर्म भी चित्तशुद्ध करके पापसे रक्षा करते हैं। क्योंकि निष्काम होकर कर्म करनेसे पहले तो पापोंमें प्रवृत्ति ही नहीं होती, उसके बाद अज्ञातभावसे पाप किए जाने पर भी संकल्पके अभाव तथा विद्यातिशयके कारण वह (पाप) स्वतः विनष्ट हो जाता है। इन सब असली तत्वोंके उद्घाटन करनेके कारण वेद धार्मिकोंके लिए निरतिशय मान्य है। अस्तु उसका रहस्य विना बूझे जो वेद अध्ययन करते हैं, वे पापोंके फलभोगसे मुक्त नहीं हो सकते। और इसीसे उनका वेदाध्ययन निष्फल हो जाता है। हमारे आचार्य भी मनमें इन सब बातोंका पूर्णरूपसे विचार कर लेनेके बाद प्रत्युत्तर देनेमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार है,—श्रुतियां कहती हैं, मूर्त तथा अमूर्त भेदसे ब्रह्मको दो अवस्था बोधगम्य होती है। उनके मूर्तावस्थाके प्रयुक्त हम लोग भी आकाश आदिसे लेकर धरती तक सम्पूर्ण वस्तुओंको विश्वब्रह्माण्डके अवयव रूपसे देखते हैं। किन्तु प्रकृत पक्षमें यह सब पदार्थ ब्रह्मको छोड़करके और कुछ भी नहीं इसीसे वेदोंने पहले पहल अध्यारोप प्रसङ्गमें विश्व-भेदका उदाहरण दिखलाकर उसके बाद अपवाद प्रसङ्गमें "नेति" "नेति"के द्वारा उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन पूर्व्वक "एतद् वै तत्" "एतद् वै तत्" इत्यादि वाक्योंके द्वारा उनका अमूर्तकारणरूप निर्देश किया है। अध्यारोपमें भी अपवादके विना निष्प्रपञ्च

पश्चित नहीं होता। इस लिए ब्रह्मनिरूपणमें यह न्याय प्रयुक्त होता है ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

अन्वयः।

तदर्थं (भगवत्प्रीत्यर्थम्) एतत् तप उक्तम्। इज्या [चोक्ता]। ताभ्यां (भगवद्विषयकतपोयज्ञाभ्याम्) असौ विद्वान् पुण्यमुपैति। पुण्येन (विद्याप्रवर्त्तकनिष्कामकर्म्मणा) पापं विनिहत्य पश्चात् स ज्ञानविदीपितात्मा जायते ॥ ८ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीमीश्वरार्थमनुष्ठीयमानानां तत्प्राप्तिसाधनज्ञानापेक्षित-शुद्धिद्वारेण पारम्पर्य्येण पुरुषार्थत्वम्, अन्येषां संसारानर्थहेतुत्वे-नापुरुषार्थत्वं दर्शयति श्लोकद्वयेन—तदर्थमिति। यद्विश्वरूपविपरीत-रूपं ब्रह्म तदर्थमुक्तं वेदेन। किम्? तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि, इज्या ज्योतिष्टोमादिः। किं ततो भवतीति चेत्—ताभ्याम् इज्यातपोभ्याम् असौ पूर्व्वोक्तविनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्म्मानुतिष्ठन् पुण्यमुपैति प्राप्नोति कर्म्मजन्यापूर्व्वसंयुक्तो भवति। तेन पुण्येन पापं विनिहत्य क्षपयित्वा पश्चादुत्तरकालं स क्षपिताशेषकल्मषो जायते ज्ञानविदीपितात्मा ज्ञानप्रकाशितचित्सदानन्दोऽद्वितीयब्रह्मस्वरूपो भवति ॥ ८ ॥

कालिका।

इदानीं परमेश्वरार्थमनुष्ठीयमानानां कर्म्मणां चित्तशुद्धिद्वारेण मोक्षप्राप्तिसाधनत्वं दर्शयति—तदर्थमिति। तदर्थं परमेश्वरार्थमुक्तं प्रवृत्तम्। वेदाख्यं ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितमित्यवधारणात्। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादियजमानव्यापाररूपं चित्तशुद्धेः पूर्व्ववृत्तं कर्म्म। उक्तं च—"विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।

शरीरशोषणं प्राहु स्तापसा स्तप उत्तमम्"। इति। इज्या ज्योतिष्टोमादियागकर्म्म। ताभ्यां तप इज्याभ्यामसौ विद्वान् पुण्यमुपैति प्राप्नोति। तप इज्याद्यनुष्ठानात् कर्म्मजन्यापूर्व्वसंयुक्तो भवतीत्यभिप्राय:। तेन पुण्येन पापं विनिहत्य क्षपयित्वा विपाप्मा भूत्वेति यावत्। पश्चादुत्तरकालमेव स ज्ञानविदीपितात्मा जायते पुरुषनिश्वासन्यायेन ज्ञानप्रकाशितात्मतत्त्वो भवतीत्यर्थ:। श्रुतिरपि तपआदिकर्म्मणां विद्यासाधनत्वं प्रतिपादयति—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"—इत्येवमाद्या। स्मृतिश्च—"कषायपक्ति: कर्म्माणि ज्ञानं तु परमा गति:। कषाये कर्म्मभि: पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते"। इति ॥ ८ ॥

मूलानुवाद।

इसी लिए वेदोंमें तपस्या आदि कर्म बतलाये गए हैं। तपस्या इत्यादि कर्मके द्वारा विद्वान पुण्यार्जन करते हैं, और फिर उस पुण्यके द्वारा पाप संस्कार दूरकर आत्मतत्वज्ञ होते हैं ॥ ८ ॥

कालिकाभास।

तपस्या आदि कर्म चित्तशुद्धिके लिए है, चित्तशुद्धि ब्रह्मज्ञानके लिए है, और ब्रह्मज्ञान मुक्तिके लिए है। इस प्रकारके क्रमबद्ध सम्बन्धको जो जानते हैं, उन्हींको तत्वज्ञ कहा गया है। इस प्रकार जो कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं वही निष्काम हैं। भगवत्के प्रेममें जो कुछ किया जाता है वह भी निष्काम है, क्योंकि उसमें कोई चित्तमल नहीं रहता। कामनापूर्व्वक पुण्यकर्म्म करनेसे पुण्यफलका भोग करना होगा और अनुष्ठित अथवा अनुष्ठीयमान पापका भी फल भोगना पड़ेगा। सकाम तथा निष्काममें यही विभिन्नता है।

इस लिये अर्थात् भोगके लिए नहीं, किन्तु ज्ञानोपयोगिनी चित्तशुद्धि होगी इस लिए तपस्या, कृच्छ्रचान्द्रायण तथा सान्तपनादि चित्तशुद्धिके लिए पूर्व्वोक्त कर्म्म हैं। इज्या अर्थात् याग,

यज्ञ तथा होमादि संसारमें कोई भी कर्म वृथा नहीं है। सत् अथवा असत् चाहे जैसा भी कोई काम क्यों न हो, उसका संस्कार आत्मा-पर पड़ता ही है। और कभी न कभी उसका फल भी भोगना ही पड़ता है। निष्काम कर्मोंके फल भोगनेमें प्रयुक्त हुए विना मोक्षकी ओर बढ़नेसे उसका संस्कार पाप संस्कारका प्रतिबन्धक हो जाता है। जैसे एक दुर्वृत्त आन्तरिक साधुके सत्संग करनेसे अपनी दुर्वृत्तता को छोड देता है, क्योंकि प्रबल सुसंस्कार कुसंस्कार का उच्छेदन कर देता है। किन्तु जो दुर्वृत्त आन्तरिक भावसे साधुसङ्ग नहीं करता वह अपनी दुर्वृत्तताका फल अवश्य भोगता है और साधुके सत्सङ्गजनित क्षीण पुण्यकर्मका भी फल भोग करता है, क्योंकि उसका सुसंस्कार उसके कुसंस्कारकी अपेक्षा प्रबलतर नहीं है। इसी तरह सकाम कर्मसंस्कार पाप संस्कारकी अपेक्षा प्रबलतर नहीं है, इस लिए वह पापभोगके प्रतिबन्धक न होकर स्वतन्त्र भावसे अपना ही फल प्रदान करते हैं।

वेदने भी तपस्या आदि कर्मोंके विद्यासाधनत्व प्रतिपादन करनेके लिए कहा है—यज्ञ, दान, तपस्या आदि श्रुतिविहित कर्म कभी व्यर्थ होकर नाश नहीं होते, क्योंकि उनके द्वारा ब्राह्मणको ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी पिपासा उत्पन्न होती है। अर्थात् कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि और चित्तशुद्ध होनेसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती है। स्मृतियां भी कहती हैं,—अग्नि जिस तरह जलाकर सोनेकी कालिमा दूर करके विशुद्धता सम्पादन करता है, कर्म भी उसी तरह तपाकर (भोग कराकर) पाप संस्कारको विनाश करके ज्ञानका उद्घाटन करता है॥ ८॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान्-
अथान्यथा वर्गफलानुकांक्षी ।

अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व्व-
मसुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम्॥ ९॥

अन्वयः।

विद्वान् ज्ञानेन आत्मानम् उपैति। अथ अन्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी [सन्] अस्मिन् (इह संसारे) कृतं तत् सर्व्वं (कर्म्मफलं) परिगृह्य अमुत्र (परलोके) भुङ्क्ते। [ततः] पुनर्मार्गम् (संसारमार्गम्) एति (प्राप्नोति) ॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्।

अथ ज्ञानेन चात्मानं परमात्मानमुपैति प्राप्नोति विद्वानात्मवित्। अन्यथा पुनरीश्वरार्थं कर्म्माननुष्ठानेनाक्षपिताशेषकल्मषो ज्ञानी न भवति। तदा वर्गफलानुकांक्षी इन्द्रियफलानुकाङ्क्षी स्वर्गादिफलानुकाङ्क्षी सन्, अस्मिन् लोके कृतं तद् यज्ञादिकं परिगृह्य सर्व्वममुत्र परलोके तत्फलमुपभुङ्क्ते। ततः कर्म्मशेषेण पुनरेति मार्गं संसारमार्गम्। तथा च श्रुतिः—"तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" इति॥ ९॥

कालिका।

सामान्यतश्चित्तशुद्धौ कर्म्मापेक्षामुक्त्वा इदानीं तत्फलप्राप्तिमाह—ज्ञानेनेति। उपास्तेरयं चरमक्रम.।

अथ निष्कामेण कर्म्मणा चित्तशुद्धिस्तदनन्तरं ज्ञानेन विद्वान् आत्मानं प्रत्यगात्मानमुपैति प्राप्नोति। अन्यथा पक्षान्तरे च वर्गफलानुकाङ्क्षी भोगाभिलाषो सन् तत्कृतं पुण्यं पापं वा परिगृह्य गृहीत्वा सर्व्वं शुभमशुभं वा अमुत्र भवान्तरे भुङ्क्ते। ततः कर्म्मशेषेण पुनर्मार्गं संसारमार्गमेति प्राप्नोति। "तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" इति श्रुतेः॥ ९॥

अनुवाद।

(निष्कामकर्मरहस्यवित्) विद्वान ज्ञानके द्वारा परमात्माको पाता है। और सकामकर्मी भोगप्रद अपूर्व्व लेकर स्वर्गादिमें

इन्द्रियोंका तृप्तिसाधन करते है, और उसके बाद फिर भी भोगके निमित्त संसारमें प्रत्यावर्त्तन कराते है ॥ ९ ॥

कालिकाभास।

चित्तशुद्धि कर्मों की अपेक्षा रखती है, यह साधारणत या उल्लेख करके अब आचार्य उसके फल विचारमें प्रवृत्त होते हैं। उपासनाकी चरम सीमा भगवत् प्राप्ति है यही शास्त्रोंमें कहा गया है। सकाम कर्म भी उपासना है, किन्तु उससे भगवत् प्राप्तिरूप निश्रेयस साधित नहीं होता। इस लिए निष्कामकर्म ही प्रशंसित होता है। निष्काम कर्मके द्वारा चित्तशुद्ध होनेपर ज्ञान प्रकृत होता है, और ज्ञानके द्वारा विद्वान अर्थात निष्कामकर्मरहस्यवित् परमात्माको पाता है। और निष्काम कर्मको नहीं करके यदि कोई सकामकर्म करता है वह पापपुण्य दोनों ही को लिए हुए परलोकमें उनका फल भोग करता है। और भोगकी समाप्तिके बाद अपने कर्मका अवशिष्टांश लेकर पुनः इसी कर्म्मी संसारमें प्रवेश करता है। इसी लिए वेदोंमें कहा गया है कि "कर्म्मफल भोग करनेके बाद कर्म्मी संसारमार्गमें आगमन करता है। गोतम प्रणीत धर्म्मसूत्रमें यही सब बातं विशेषरूपसे आलोचित की गई है ॥ ९ ॥

अस्मिंल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते।
ब्राह्मणानां तपस्त्वृद्धमन्येषां तावदेव तत् ॥ १० ॥

अन्वयः।

अस्मिन् लोके (कर्म्मभूमौ) तपः (सकामं कर्म्म) तप्तम् (आचरितम्), फलं (तत्कर्म्मफलम्) अन्यत्र (लोकान्तरे) भुज्यते। ब्राह्मणानां (ब्रह्मविदां) तु (किन्तु) तप ऋद्धं (समृद्धं) भवति। अन्येषाम् (अनात्मविदां) तत् (तपः) तावदेव (शास्त्रोक्तपुण्यजनकमेव) ॥ १० ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं विद्वदविद्वदपेक्षया कर्म्मणां फलवैषम्यमाह—अस्मिन्निति।

अस्मिन् लोके यत् तपस्तप्तं तस्य फलम् अन्यत्र, अमुष्मिंल्लोके भुज्यत इति तावत् सर्व्वेषां समानम्। ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां पुनरयं विशेषः। तपः त्वृद्धम् अतीव समृद्धं फलवृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" इति। अन्येषामनात्मविदां वैषयिकाणां तावदेव तत्र समृद्धं भवति, यस्य कर्म्मणो यत्फलं श्रुतं तावन्मात्रफलसाधनं न फलसमृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थ. ॥ १० ॥

कालिका।

अधुना विद्वदविद्वत्तपसोः फलभेदमाह—अस्मिन्निति। लोकेऽस्मिन् यत् तप स्तप्तं तस्य फलमन्यत्र भवान्तरे भुज्यते। एतत् सर्व्वेषां समानम्। ब्राह्मणानां ब्रह्मज्ञानसम्पन्नानां पुनरयं विशेषः। ऋद्धं शुद्धं तपो ब्राह्मणानामात्मविदां विदुषां वा समृद्धं भवतीत्यध्याहारः। श्रुतिश्च—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"। इति। स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नु ते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा" ॥ इति च। मीमांसकाश्च—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्म्मावबोधनं नामे'ति। अन्येषां वैषयिकाणामविदुषां वा तत् तप ऋद्धं तावदेव। अयं भावः—यस्य तपसो यत् फलं श्रुतं तन्मात्रफलसाधनं न तु समृद्धमिति। उक्तं च त्रिकाण्डमण्डने—"यद्वाऽध्ययनसंसिद्धविज्ञानरहितोऽपि सन् नातीवाधिक्रियाशून्यो भर्त्तृयज्ञादिदर्शनात्" इति। यदेव विद्यया करोतीतिश्रुतावपि तरप्प्रत्ययप्रयोगाद् विद्याहीनस्य च तपसो वीर्य्यवत्त्वावगमाद्दृढत्वं गम्यते ॥ १० ॥

मूलानुवाद।

इस लोकमें तपस्या करनेसे परलोकमें उसका फलभोग करना होता है, संसारका साधारण नियम यही है। किन्तु सकाम कर्म्मोंका तपस्याफल शास्त्रोंमें जिस प्रकार उक्त हुआ है, उसको

भोग करना ही पड़ता है, और निष्काम कर्मोंका तपस्याफल समृद्ध होता है, यही भोगके तारतम्यकी विशेषता है ॥ १० ॥

कालिकाभास।

एक ही कर्म्म विभिन्न भावसे आचरित होनेसे विभिन्न फल होता है, इस लिए विद्वान् तथा अविद्वान्‌की तपस्याकी फल वर्णन किया जाता है। अगर यहां कोई तपस्याकी जाय तो उसका फल परलोकमें अवश्य फलता है। यह पहले ही वर्णित साधारण नियम है, किन्तु जो साधक ब्रह्मवित् होनेके लिए निष्काम भावसे तपस्या करता है, उसका तपस्याफल समृद्ध होता है अर्थात् उस तपस्याका जो फल बताया गया है, उसकी अपेक्षा अनेक गुण अधिक बढ़ जाता है। वेद भी कहते हैं—"जो विद्या, श्रद्धा, तथा निष्काम ज्ञानके सहारे किया जाता है, वह वीर्य्यवत्तर होता है अर्थात् बलवान हो जाता है। विद्याके सहारे कृत कर्मका जो फल है वह बढ जाता है—इसको मीमांसक लोग भी स्वीकार करते हैं। निरुक्तकार यास्क ने एक वेदमन्त्रको उद्धृत करके दिखलाया है, कि—"वेदादि मन्त्रशास्त्र पढ़कर जो उसका रहस्य नहीं समझ सकते, वे केवल व्यर्थ ही पुस्तकका भार वहन करते हैं (ढ़ोते हैं) और जो उसका रहस्य जानकर कर्म्म करते हैं, वे ज्ञानके द्वारा पाप संस्कारको दूरकर चिरकालतक स्वर्ग भोगते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।"

जो कामनाके साथ कर्म्म करते हैं, वे कोई फल न पावें ऐसी बात नहीं। क्योंकि जिन जिन तपस्या आदि कर्म्मोंका जो जो फल शास्त्रोंमें विहित है, उनको वही वही फल मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस लिए त्रिकाण्डमण्डनमें कहा गया है कि विज्ञानहीन मनुष्यका कर्म्ममें अधिकार नहीं है, किन्तु ऐसी बात कभी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकती। देखिए ऋत्विक् तो यज्ञ करता है, और यजमान उसको दक्षिणा देकर यज्ञफलका भोग करता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि मन्त्रार्थ अथवा धर्म्मरहस्य

न जानकर भी कर्म्म करनेसे यजमान शास्त्रोक्त फल पाता है और यही शास्त्रमर्यादा है। और श्रुतियोंने जो कहा है कि मन्त्रार्थविद् अथवा धर्म्मरहस्यविद् की तपस्या वीर्यवत्तर होता है, इससे भी यह समझना होगा कि मन्त्रार्थ अथवा धर्म्मरहस्य विना जाने भी कर्म्म करनेसे यजमान शास्त्रोक्त फल पावेगा। "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि वेदोक्त मन्त्रस्थित "वीर्यवत्तर" शब्दका "तरप्" प्रत्यय ही इस तरहका प्रमाण दे रहा है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

कथं समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम्।
सनत्सुजात! तद्ब्रूहि कथं विद्याम तद्वयम्॥ ११॥

अन्वयः।

सनत्सुजात, कथं तपः ऋद्धमपि समृद्धं (सत्) केवलं (कैवल्य-साधकं) भवति ? कथं तद्वयं विदाम ? तत् (एतत्सर्व्वं) ब्रूहि ॥११

शाङ्करभाष्यम्।

श्रुत्वैवमाह धृतराष्ट्रः—कथमिति। श्लोकोऽयं स्पष्टार्थः ॥ ११ ॥

कालिका।

तप एवं कथं द्वैविध्यं प्राप्नोतीति पृच्छति—कथमिति। ऋद्धं शुद्धमेकं तपस्तत् समृद्धं सत् कथमपि केवलं भवति ? हे सनत्-सुजात! तत् कथं विदाम वयमिति ब्रूहि। कैवल्यसाधनत्वात् केवलमित्युच्यते ॥ ११ ॥

भाषानुवाद।

धृतराष्ट्रने कहा,—एक ही कर्म्म ज्ञानियोंके प्रति किस प्रकार सफल होता है और अज्ञानियोंके प्रति अन्यथा हो जाता है, यह मुझको समझाकर कहें ॥ ११ ॥

कालिकाभास।

एक ही कर्म्मका फल भिन्न भिन्न हो जाया करता है, यह किस प्रकार सम्भवपर हो सकता है, यही यहां पूछा गया है। तपो

मात्र ही शुद्ध हैं, किन्तु शुद्धतपस्या शुद्धतर होकर किस प्रकार कैवल्य साधक होती है, यही श्लोकका अभिप्राय है ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच ।

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति नान्यथा ॥ १२ ॥

अन्वयः ।

तु (पादपूरणे) निष्कल्मषं (रागादिवर्ज्जितम्) एतत् तपः केवलं परिचक्षते। एतत् तप ऋद्धम् अपि समृद्धं (ज्ञानोपेतं सत्) [केवलं] भवति। अन्यथा न ॥ १२ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—निष्कल्मषमिति। यदेतन्निष्कल्मषं तपः तत्केवलं परिचक्षते। केवलं बीजमित्युक्तम्। सर्व्वस्यास्य प्रपञ्चस्य बीजं निमित्तं यत् तत्केवलमित्युक्तम्। आह चोशनाः—

गुणसाम्ये स्थिते तत्त्वं केवलं त्विति कथ्यते ।
केवलादेतदुद्भूतं जगत् सदसदात्मकम् ॥ इति ।

तदेव केवलं तपः समृद्धमप्यृद्धं भवति नान्यथा। यदा निष्कल्मषं न भवति सकल्मषं स्यात्तदा समृद्धमप्यृद्धं न भवति ॥ १२ ॥

कालिका ।

"ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वानि"ति पूर्व्वप्रतिज्ञा स्थूणानिखननन्यायेन निश्चलीक्रियते। ज्ञानोपेतं रागादिवर्ज्जितं निष्कामं तपः समृद्धं सदात्मानं प्रापयति न तु तपः सकामं विद्यादिहीनमिति स्वाभिप्रायमुद्घाटयन्नुत्तरमाह—निष्कल्मषमिति।

कल्मषं कामादि विद्यादिराहित्यं च, तद्रहितं निष्कल्मषं निष्कामं ज्ञानाद्युपेतमित्यर्थः। एतत् तपः कैवल्यसाधनत्वात् केवलमित्युच्यते। एवंविधेन तपसा बुद्धिः पुरुष इव शुद्धा भवति।

यत्रोक्तं—"सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमि"ति। ऋद्धं स्वभावतः शुद्धमेतच्छास्त्रविहितं तपः कैवल्यसाधनत्वेन समृद्धमप्युच्यते। समृद्धि-रतिशयविशेषः कश्चित्। अन्यथा यदा सकल्मषं विद्याहीनं सकामञ्च तदा तप ऋद्धमेव स्यात् न तु समृद्धम्। तत्र हि—'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः"। इत्ययं श्लोकस्तपः सकामं विद्यादिहीनञ्च निन्दन् निष्कामं विद्याद्युपेतं प्रशंसति। तप ऋद्धमपि शास्त्रविहिततत्तत्-फलभाक् स्यात्। तथा हि—"ते नोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोप-निषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्-करणात्, वीर्य्यवत्तरमिति तरप्प्रत्ययप्रयोगाच्च विद्याविहीनं तप-आदिकर्म्म वीर्य्यवदिति ज्ञायते॥ १२॥

मूलानुवाद।

तपस्या निष्कल्मष अर्थात् अनुराग आदि मनोमलसे वर्जित हो तो उसको केवल कहते है। ऐसी ही विशुद्ध तपस्या समृद्ध होती है। अन्यरूप तपस्या समृद्ध नहीं होती॥ १२॥

कालिकाभाष्य।

विद्वान ज्ञानके द्वारा परमात्माको पाता है, इस पूर्व्वोक्त प्रतिज्ञा को स्थूणानिखननन्यायसे बद्धमूल किया जाता है। मन्त्रादिके रहस्यको जाननेवाला वैराग्यके सहारे कर्म करे तो उसीका कर्म समृद्ध होता है, और वही भगवत प्राप्तिमें साधक होता है, तथा तद्व्यतीत दूसरों तरहसे अनुष्ठित कर्म भोगजनक होता है। इसी अभिप्रायका उद्घाटन करके आचार्य यहां उत्तर प्रदान करते हैं।

अनुराग आदि मनोमल ही कल्मष हैं। और उनके अभाव को ही निष्कल्मष कहते हैं। अस्तु निष्कल्मष अर्थात् निष्काम। इसप्रकारको तपस्या कैवल्य साधक है। इस लिए उनको केवल कहते है केवल एक पदार्थके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए इस

अवस्थाका नाम कैवल्य पड़ा। ब्रह्मज्ञानमें कर्तृ कर्मादि कारक-व्यापार नहीं रहता—इस लिए वह भी केवल कहा गया है।

अस्तु योगका कैवल्य तथा वेदान्तका ब्रह्मात्मैक्यज्ञान परमार्थतः विभिन्न नहीं है। ज्ञान तथा वैराग्यकी सहायतासे तपस्या आदि कर्म करनेसे बुद्धि पुरुषके समान शुद्ध तथा स्वच्छ होती है यह सांख्यशास्त्र प्रतिपादन करता है। इस लिए पतञ्जलि भगवान् कहते हैं—"सत्व अर्थात बुद्धि तथा पुरुषकी शुद्धताके समान होनेसे कैवल्य होता है'—क्योंकि उस समय और कोई परस्परका अध्यास नहीं होता। यदि दोनों वस्तु सम्पूर्णरूपसे शुद्ध तथा स्वच्छ हों तो फिर किसमें किसका प्रतिबिम्ब पड़ेगा? स्थूलजगतमें भी इस बातको वैज्ञानिक सत्यता है। आकाशका प्रतिबिम्ब आकाशपर नहीं पडता, क्योंकि दोनों हो आकाश समानरूपसे शुद्ध तथा स्वच्छ हैं। तब जिस समय इन्द्र धनुष प्रभृति देखे जाते हैं तो जानना चाहिए कि आकाशमें मलरूप मेघ आदिका आविर्भाव हुआ है। वेदान्तदृष्टिसे भो देखनेपर इस बातमें हेरफेर न होगा क्योंकि अविद्या हो अध्यासका कारण होतो है, अस्तु अविद्याके हट जानेपर फिर और अध्यासकी कोई सम्भावना न रह जायगी। इस प्रकारकी वस्तु गति मान लेनेपर अविद्या रहित पुरुष ब्रह्म सम्पन्न हो जाता हैं ऐसा वेदान्त सम्प्रदायका मत है। और जब बुद्धि पुरुषके समान स्वच्छ तथा शुद्ध हो जाती है, तो कैवल्य होता है—ऐसा योग सम्प्रदायका मत है। इससे इन दोनों सम्प्रदायोंमें किसी प्रकारका पार्थक्य नहीं देख पड़ता।

शास्त्र कहते है—"विद्या आदिके सहारे जिस स्थानपर पहुंचा जा सकता है, वहां सकाम यागयज्ञादि कर्म तथा विद्याहीनको तपस्या कभी नहीं पहुंचा सकते। इस प्रकार शास्त्रवचन भी सकामकी निन्दा करते हुए निष्काम ही की प्रशंसा करते हैं। विद्या आदिके साथ किए गये कर्म वीर्यवत्तर होते है, यह श्रुति-वचनोंमें भी पहले हो कहा जा चुका है॥ १२॥

तपोमूलमिदं सर्व्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय।
तपसा वेदविद्वांसः परंत्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

अन्वयः।

इदं सर्व्वं तपोमूलम्। वेदविद्वांस स्तपसा परेत्य (मृत्योरनन्तरम्) अमृतं (मुक्तिम् (आप्नुयुः। यद्मां पृच्छसि (तदिदमितिशेषः) ॥ १३ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

तदेव प्रशंसति—तपोमूलमिति। स्पष्टार्थः ॥ १३ ॥

कालिका।

अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते तपः—इति। इदं सर्व्वं तपोमूलम्। एतावता जगत्प्रपञ्चप्रतिपादकश्रुतिभागार्थ उक्तः। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्नि"ति श्रुतिः। तपसा कैवल्यसाधनेन ब्रह्मज्ञानेन वेदविद्वांसः परेत्य प्रेत्य भवान्तरे अमृतं मुक्तिं प्राप्नुयुः समवाप्नुयुः। श्रुतिश्च—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति ॥ १३ ॥

मूलानुवाद।

तपस्या ही जगत्का मूल है। इसी लिए विद्वान् तपस्याके द्वारा मृत्युके बाद अमृतत्वका लाभ करते है। हे क्षत्रिय! यही आपके प्रश्नका उत्तर है ॥ १३ ॥

कालिकाभास।

उपासना तथा उसका फलानुवाद संग्रह करके श्लोक लिखा गया है। तपस्या ही संसारका जड है, इस बातके द्वारा जो सब श्रुतियां जगत् प्रपञ्चका निर्द्देश करती है, उसका लक्ष्य किया गया है। पुरुषसूक्तमें कहा गया है कि,—"देवतागणने यज्ञके द्वारा यज्ञका सम्पादन किया था और उससे पहले पहल धर्मका आविर्भाव हुआ।" यज्ञ कहनेसे केवल यागाङ्गभूत हवनादि कर्म ही नहीं

समझा जाता। यज्ञोंके भेद अनेक हैं, और वे सब भगवान वासुदेवने गीतामें विशदरूपसे वर्णन किये हैं। ब्रह्ममें भवनकी जो इच्छा होती है, वह भी यज्ञविशेष है। उसी यज्ञके द्वारा उन्होंने हिरण्यगर्भ नामक विराटपुरुषका सृष्टि सम्पादन किया। इस विश्वब्रह्माण्डमें जो कुछ है, सब ही उस विराट् पुरुषका अवयव है। यह विराट्पुरुष महत्तत्व अथवा सामान्याऽहङ्कार है। जिस समय विश्वकी समग्र वस्तुओंकी सम्भाव्यता उनमें निहित रहती है, उस समय वे भी बहु-भवनका संकल्परूप यज्ञ करके केवल विशेषाहङ्काररूपमें बहुविध जीवोंमें परिणत होते हैं यही नहीं बल्कि समस्त चिदचिदात्मक जगत्में विभक्त होकर सृष्टि यज्ञ सम्पादन करते हैं। कारणके विना कार्य नहीं होता, अस्तु विश्वके समग्र जीव भी पुनः उनके अनुवर्त्ती होकर अपने अपने प्रतिरूपमें अर्थात् स्वगत आकृतिमें विभक्त हो जाते हैं। श्रुतियां भी कहती हैं,— "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः"।— सृष्टि प्रपञ्चका इस तरहका क्रम देखकर विद्वान् भी प्रतिलोम क्रमके द्वारा ज्ञानवैराग्यादि अवलम्बनपूर्व्वक मौनावस्थामें विश्वको सभी वस्तुओंका प्रतिसञ्चार करते हैं, और स्वयं अंशांशि भावसे अथवा तादात्म्यज्ञानसे ब्रह्मचिन्तन करके मोक्ष पाते हैं। इन सब कारणके वश श्रुतियोंमें भी कहा है कि—"ज्ञानके विना मुक्त होनेका और दूसरा पन्थ (मार्ग) नहीं है॥" १३॥

धृतराष्ट्र उवाच।

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः।
सनत्सुजात! येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम्॥ १४॥

अन्वयः।

सनत्सुजात! येन इदं सनातनं गुह्यं (ब्रह्म) विद्यां तत् निष्कल्मषं तपः श्रुतम्। (इदानीं) तपसः कल्मषं ब्रूहि॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्।

श्रुत्वैवमाह राजा—कल्मषमिति। अस्यार्थः—'निष्कल्मषं तपसैतत् केवलं परिचक्षत' इति श्रुतस्य तपसः कल्मषं ब्रूहि हे सनत्सुजात। येन निष्कल्मषेण तपसेदं गुह्यं सनातनं ब्रह्माहं विद्यामिति ॥ १४ ॥

कालिका।

ननु निष्कल्मषं तपः श्रुतं तत्र किं तत् किल्विषं यद्रहितेन तपसा सनातनं गुह्यं ब्रह्म विद्यां जानीयामिति पृच्छति—कल्मषमिति। श्लोकोऽयमतिरोहितार्थ ॥ १४ ॥

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्रने कहा,—जो निष्कल्मष तपस्याके द्वारा इस गुह्य सनातन ब्रह्मको उपलब्धि करता है, वह तो हमने सुना। अब तपस्यामें कल्मष क्या होता है, वह भो कहिए ॥ १४ ॥

कालिकाभास।

तपोमलका भेद पूछते हैं ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच।

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि च सप्त राजन्।
ज्ञानादयो द्वादश चाततानाः
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

अन्वयः।

राजन्! यस्य (तपसः) क्रोधादयः द्वादश दोषा स्तथा च सप्त नृशंसानि, ये च शास्त्रे आततानाः ज्ञानादयो गुणा द्विजानां विदिताः [तान् ब्रवीमीति शेषः] ॥ १५ ॥

शाङ्करभाष्यम।

एवं पृष्ठः प्राह भगवान्—क्रोधादय इति। क्रोधादयो यस्य

तपसो द्वादश दोषाः कल्मषाः, तथा नृशंसानि च सप्त हे राजन्, यस्य तपसो दोषाः, तथा ज्ञानादयो द्वादश चातताना: विस्तीर्य्यमाणाः शास्त्रे वेदशास्त्रे ये विदिता गुणा द्विजानां तान् गुणान् दोषांश्च वच्यामीत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

कालिका ।

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—क्रोधादय इति । हे राजन् । क्रोधादयो यस्य तपसो द्वादश दोषा नृशंसानि च सप्त दोषास्तथा ये च शास्त्रे आतताना विस्तीर्य्यमाणा ज्ञानादयो द्वादश गुणा द्विजानां विदितास्तान् ब्रवीमीति वाक्यशेषः ॥ १५ ॥

मूलानुवाद ।

सनत्सुजात बोले:—क्रोधादि द्वादश दोष तथा नृशंसता आदि सात दोष तपस्याके कल्मष बताये गये हैं। और ज्ञान आदि जो १२ बारह तपोगुण शास्त्रोंमें वर्णित हैं और जिनको ब्राह्मण लोग जानते भी हैं—उन सबको बतलाता हूं ॥ १५ ॥

कालिकाभास ।

दोष तथा गुण दोनोंका उल्लेख करके प्रश्नको न्यूनता संशोधित की गयी है ॥ १५ ॥

क्रोधकामौ लोभमोहौ विधित्सा-
ऽकृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्षा जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

अन्वयः ।

क्रोधकामौ लोभमोहौ विधित्सा अकृपाऽसूये मानशोकौ स्पृहा ईर्षा जुगुप्सा चैते द्वादश मनुष्यदोषा नराणां सदा वर्ज्याः ॥ १६ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

क्रोधादीन् दर्शयति—क्रोध इति । क्रोधो नाम कामप्रति-

घातादुत्पद्यमानस्ताड़नाक्रोशनादिहेतुः, कामहानिहेतुकश्चान्तःकरण-विक्षोभो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः १, कामः स्त्राद्यभिलाषः २, लोभः परद्रव्येच्छा, न्यायार्जितस्य स्वकीयस्य द्रव्यस्य तीर्थविनियोगासामर्थ्यं वा ३, मोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता ४, विधित्सा विषयरसान् वेत्तुमिच्छा ५, अकृपा निष्ठुरता ६, असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् परगुणादिष्वक्षमा वा ७, मानः आत्मबहुमानत्वम् ८, शोकः इष्टार्थ-वियोगजोऽन्तःकरणविक्षोभो रोदनचिन्तनादिलिङ्गोऽप्रतिकारविषयः ९, स्पृहा विषयभोगेच्छा १०, ईर्षा परश्रियामसहिष्णुता ११, जुगुप्सा परगुणानपह्नोतुमिच्छा, वीभत्सा वा १२, एते क्रोधादयो द्वादश दोषाः तपसः कल्मषरूपाः सदा वर्ज्या महागुणेन ब्राह्मणेन। महा-गुणो ब्रह्मप्राप्तिगुणस्तेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणेन महागुणसमन्वितेन वर्ज-नीया इत्यर्थः। उक्तं च नाममहोदधौ—

> महद् ब्रह्म इति प्रोक्तं महत्वान्महतामपि।
> तत्प्राप्तिगुणसंयुक्तो महागुण इति स्मृतः॥ इति।

अथवा [illegible] स्वभावसिद्धः। तथा चोक्तं भगवता—'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञान-मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'। इति॥ १६॥

कालिका।

द्वादश दोषानाह—क्रोधकामाविति। दुःखाभिज्ञस्य दुःख-स्मरणात् तत्साक्षात्कारतो दुःखे तत्साधने च या जिहासा स क्रोधः। मनःप्रचारतत्त्वविदो विदन्ति काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतं क्रोधत्वेन परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येष काम एवेति। द्वेष इत्यस्य तान्त्रिकी संज्ञा।

सुखाभिज्ञस्य सुखस्मरणात् तत्साक्षात्काराद्वा सुखे तत्साधने च सुखविषयको य इच्छाविशेषः स कामः। राग इत्यस्य तान्त्रिकी संज्ञा। एतस्मिन् महावैरिणि निवारिते विपर्य्यासप्रत्ययरूपाऽ-[illegible] इति दिक्। लोभो धनव्ययभीरुत्वं पर-

द्रव्येच्छा वा। विधित्सा इदमदः करिष्यामीति वासना। डुधाञ् धारण इत्यस्य रूपम्। विवित्सेति पाठे विषयरसान् वेत्तुमिच्छा। अकृपा निर्द्दयत्वम्। निवारितायामस्यां मैत्राद्युपलक्षितचित्तपरिकर्म्मोपचयः स्यात्। असूया परगुणस्तवामर्षणं गुणिनां गुणेषु दोषाविष्करणं वा। एषापि चित्तपरिकर्म्मयोगं वारयति। मान आत्मनि पूज्यता-बुद्धिः। उक्तं च—"सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिवे"ति। शोक इष्टार्थनाशे मनोवैक्लव्यम्। जुगुप्सा परनिन्दा बीभत्सता वा। एते द्वादश दोषाः कैवल्यात् पुरुषं भ्रंशयन्ति। अतस्ते सदा नराणां वर्ज्जाः ॥ १६ ॥

मूलानुवाद।

क्रोध, काम, लोभ, मोह, विधित्सा, अकृपा, असूया, मान, शोक, ईच्छा, ईर्षा तथा जुगुप्सा ये ही बारह दोष मनुष्योंको सदा त्यागनो चाहिए ॥ १६ ॥

कालिकाभास।

बारह तपस्याके मल अथवा दोष गिनाये जाते है। दुखाभिज्ञ व्यक्तिको दुखका स्मरण अथवा साक्षात्कार करानेके लिए दुःख अथवा दुःखसाधन परित्याग करनेके लिए जो इच्छा अथवा प्रयत्न देखा जाता है, उसे ही क्रोध कहते हैं। मन प्रचारतत्व वित् पण्डित लोग कहते हैं, कि काम ही किसी कारणसे प्रतिहत होकर क्रोधके रूपमें परिणत हो जाता है। अस्तु क्रोध काम ही का रूपान्तर मात्र है। योगशास्त्रमें उसका पारिभाषिक नाम द्वेष रखा गया है। सुखाभिज्ञ व्यक्तिके सुखके स्मरणार्थ प्रयुक्त अथवा सुखके साक्षात्कारार्थ प्रयुक्त उससे अथवा उसको साधनमें सुखविषयक जो इच्छा विशेष देखी जाती है उसको काम कहते हैं। योगशास्त्रमें इसका पारिभाषिक नाम—"राग"—है, और लोग इसको अनुराग कहते हैं। इन्हीं प्रधान शत्रुओंके निवारित हो जानेसे अहमिका क्षीण होकर दुर्व्वल हो जाती है। व्ययकातरता अथवा परद्रव्यका

अयथाभावसे (असत्य वा अन्यायभावसे) ग्रहण करनेकी इच्छाको ही —"लोभ"—कहते है। ऐसा करूंगा वैसा करूंगा इत्यादि ऐसी कुछ वासनाओंके उदय होनेसे उसको विधित्सा कहते है। विधित्साके स्थानमें विवित्सा ऐसा पाठ रखनेसे अर्थमें भेद पड जाता है। क्योंकि रूप, रस, शब्द, गन्ध आदि विषय रसको ग्रहण करनेकी इच्छाको विवित्सा कहते हैं। अकृपाशब्दसे निष्ठुरता समझी जाता है। यह दोष निवारित होनेसे योगशास्त्रोक्त मैत्र्यादि नामक चित्तका परिकर्म उपचित होगा। दूसरेके गुण वा प्रशंसाको न सह सकने अथवा गुणीके गुणमें दोष निकालनेका ही नाम असूया है। यह भी चित्त संस्कारका प्रतिबन्धक है। भगवान् मनुने भी कहा है कि —"ब्राह्मण मानको विषको समान त्याग करें।"—अभीष्ट वस्तुके नाश हो जानेपर मनमें जो विकलता उत्पन्न होती है, उसीको शोक कहते हैं रूप, रस, शब्द तथा गन्ध आदि विषयोंमें जो आदर देखा जाय उसीको स्पृहा कहते है। चैत्तिक विषयमें ऐसा आदर देखने-पर उसको भी स्पृहा कहते हैं। अपने साथ दूसरेके गुण सामान्यको नहीं सह सकने ही का नाम स्पर्द्धा है। गोभत्सना अथवा पर निन्दाको जुगुप्सा कहते हैं। ये ही बारह दोष मुक्तिके प्रति-बन्धक हैं ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

अन्वयः।

मनुजर्षभ! लुब्धकः (व्याधः) मृगाणामन्तरं (छिद्रं) लिप्समान इव तेषां (दोषाणाम्) एकैकः (यः कश्चन) मनुष्यान् पर्युपास्ते (परिधावति) ह (पादपूरणे) ॥ १७ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

तेषां सदा वर्ज्यत्वे हेतुमाह—एकैकमिति। यथा मृगाणामन्तरं छिद्रं लिप्समानो रन्ध्रान्वेषणपरो लुब्धको मृगयुरनुवर्त्तते। यथा

च छिद्रं लब्ध्वा तान् हन्ति, तथा तेषां मनुष्याणां रन्ध्रान्वेषणपरा एते क्रोधादय एकैकं मनुष्यं पर्य्युपासते। अथवा, मनुष्यान् पर्य्युपासते, इति पाठः। तस्मिन् एकैकं पृथक् पृथक् मनुष्यान् पर्य्युपासत इति योजना। तथा छिद्रं लब्ध्वा तान् घ्नन्ति। तस्मादेतेषु एकोऽपि दोषो विनाशकारणम्। यस्मादेवं तस्मात् सदा वर्ज्या इत्यर्थः। उक्तं च हिरण्यगर्भे—

यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः।
उपद्रवकरास्तद्वत् क्रोधाद्या दुर्गमा नृणाम्॥ इति। १७॥

कालिका।

एतेषां वर्ज्जने हेतुमाह—एकैक इति, तेषामेकैकः यः कश्चनापि मनुष्यान् नाशयितुं समर्थः किं नु कतिपयसमुदायः सर्व्वसमुदायो वेति श्लोकाभिप्रायः।

यथा मृगाणामन्तरं छिद्रं लिप्समानो रन्ध्रान्वेषणपरो लुब्धको व्याधो मृगयुर्व्वानुवर्त्तते छिद्रं च लब्ध्वा तान् हन्तीत्यध्याहारः, तथा तेषामेकैकः यः कश्चन मनुष्यान् पर्य्युपास्ते परिधावति नाशयति वा। किं वा तत्र वच्मि यत्र कतिपयसमुदायः सर्व्वसमुदायो वा भवतीति ध्वनिः। मनुजर्षभेति सम्बुद्धौ। हः प्रसिद्धौ॥ १७॥

मूलानुवाद।

हे राजेन्द्र!—छिद्रान्वेषणकारी व्याध जिस तरह मृगोंको मारता है, उसी तरह इनमें प्रत्येक (दोष) ही मनुष्यको विनाश करनेमें समर्थ है। अगर बारहों एकत्र हो जाँय तो फिर कहने को कौन बात है? १७॥

कालिकाभास।

दोष वर्ज्जनका कारण दिखलाया जाता है। व्याध मृगोंको अतर्कित अवस्थामें खोज खोजकर मारता है। और उक्त बारह दोषोंमें से कोई एक दोष भी मनुष्यको विचार विकल्प देखते ही

बस उसका अनिष्ट करता है। इस तरह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकों की योजना समझनी पड़ेगा ॥ १७ ॥

सम्भोगसंविद्विषमोऽतिमानी
दत्तानुतापी कृपणोऽबलीयान्।
वर्गप्रशंसी वनिताञ्च द्वेष्टा
एतेऽपरे सप्त नृशंसरूपाः ॥ १८ ॥

अन्वयः।

सम्भोगसंविद्विषम, अतिमानी, दत्तानुतापी, कृपणः, अबलीयान्, वर्गप्रशंसी, वनितां च द्वेष्टा, एते अपरे सप्त नृशंसरूपाः [भवन्ति] ॥ १८ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं नृशंससप्तकमाह—सम्भोगसंविदिति। सम्भोगे विषयसम्भोगे संविद् बुद्धिर्यस्य वर्त्तते स सम्भोगसवित् १, विषमिव परेषाम् उपद्रवं कृत्वा एधमानो वर्द्धमानः, अथवा, द्विषमेधमान इति पाठान्तरम्। द्विषं द्वेष्यं कर्म्म कृत्वा प्राणिनां तद्द्वारेण एधमान इति २, दत्तानुतापी दानं दत्त्वा अनुतापं करोतीति दत्तानुतापी ३, कृपणः यत्किञ्चिदर्थलवलाभमात्रलोभात् सर्व्वावमानं सहते यः स कृपणः ४, अबलीयान् ज्ञानबलवर्जितः ५, वर्गप्रशंसी इन्द्रियवर्गप्रशंसी ६, वनितां द्वेष्टा अनन्यशरणां भार्यां यो द्वेष्टि सः ७, एते परे पूर्व्वोक्तेभ्यः क्रोधादिभ्यः सप्त नृशंसरूपाः ॥ १८ ॥

कालिका।

अधुना नृशंसरूपान् दोषानाह—संभोगसंविद्विषम इति। विषयसम्भोगेषु संविद्बुद्धिस्तया विषमो दुर्व्यवस्थितः। अतिमानी अत्यन्तं दर्पवान्। दत्तानुतापी दानं कृत्वापि लोभवशान् मम धनं नष्टमिति सन्तापवान्। कृपणोऽनात्मवित्। यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रयोगस्तद्विधत्वादनात्मविदप्राप्त-

पुरुषार्थतया कृपण उच्यते। श्रुतिश्च—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपण" इति। अबलीयान् बलहीनः। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य" इति श्रुतेर्बलहीनत्वं दोषविशेषः। वर्गप्रशंसी इन्द्रियप्रशंसी। वनिताश्च द्वेष्टा परिणीतां भार्य्यामनन्यशरणां यो द्वेष्टि सः। शेषं सुगमम्॥ १८॥

मूलानुवाद।

भोगासक्त, अत्यन्तमानी, दत्तानुतापी, कृपण, दुर्ब्बल, इन्द्रियप्रशंसाकारी तथा वनिताद्वेषी यही सात प्रकारके मनुष्य नृशंस है। इनके आचरणको नृशंसता कहते है और यह नृशंसता तपस्याके लिए प्रतिबन्धक स्वरूप है॥ १८॥

कालिकाभास।

रूप रस शब्द गन्ध आदि विषयोंमें निरतिशय आसक्त होकर जो मनुष्य दुर्व्यवस्थित हो जाता है, वह तपस्याके लिए अनुपयुक्त है। अत्यन्त मानसे दर्प अर्थात् अहंकार उत्पन्न होता है। इस लिए यह भी तपस्यामें अन्तराय स्वरूप है। दान करके पीछे अनुताप वा पश्चात्ताप करनेसे जानना चाहिए कि दाता मनहोमन लोभके वशीभूत है। लोभ भी तपस्याके प्रतिकूल होनेके कारण वर्ज्जनीय है। जो मनुष्य सामान्य धनत्याग नहीं सह सकता उसको लोग कृपण कहते हैं। पण्डित लोग तो संसारीको भी कृपण कहते हैं। क्योंकि कृपण जिस प्रकार सामान्य धनसुखके लिए दान धर्म्मादिके सुखसे वञ्चित रहता है,—संसारान्ध व्यक्ति भी सामान्य सांसारिक सुखके लिए परमार्थ सुखसे वञ्चित हो जाता है। इसीसे श्रुतियोंने कहा है:—"भगवानका स्वरूप विना पहचाने ही जो इहलोकका परित्याग करता है वही कृपण है"—कृपणता वैराग्यके प्रतिकूल है। और वैराग्य तपस्याके अनुकूल है—अस्तु कृपणता तपस्याके प्रतिकूल हुई। दुर्व्बल शब्दसे शारीरिक तथा मानसिक बलको लक्ष्य किया जाता है। श्रुतियां कहती है—"बलहीन कभी

परमात्माको नहीं पा सकता। क्योंकि देहस्थैर्य तथा चित्तस्थैर्यके विना योग आदि सिद्ध नहीं होते। इन्द्रियकार्योंमें अत्यन्त अनुराग रहनेसे चित्तसंयम वगैरह दुर्लभ हो जाता है। इस लिए वह भी वर्जनीय है। धर्मपत्नीके प्रति विद्वेष करनेसे धर्मकी हानि होती है। गृह्योक्त विवाहमन्त्र ही इसके प्रमाण हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतञ्च
अमात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया।
यज्ञश्च दानञ्च धृतिः शमश्च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ १९ ॥

अन्वयः।

ज्ञानं सत्यं दमः श्रुतम् अमात्सर्य्यं ह्रीः तितिक्षा अनसूया यज्ञः दानं धृतिः शमः च एते [गुणाः] ब्राह्मणस्य द्वादश महाव्रताः ॥१९॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं ज्ञानादयो द्वादश उच्यन्ते—ज्ञानं चेति। ज्ञानं तत्त्वार्थसंवेदनम् (१), सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च (२), दमो मनसो-दमः (३), श्रुतम् अध्यात्मशास्त्रश्रवणम् (४), मात्सर्य्यं सर्व्वभूतेष्वसहमानता तदभावोऽमात्सर्य्यम् (५), ह्रीः अकार्य्यकरणे लज्जा (६), तितिक्षा द्वन्द्वसहिष्णुता (७), अनसूया परदोषानाविष्करणम् (८), यज्ञः अग्निष्टोमादिर्महायज्ञश्च (९), दानं ब्राह्मणादिभ्यो धनादिपरित्यागः (१०), धृतिः विषयसन्निधाविन्द्रियनिग्रहः (११), शमः अन्तःकरणोपरतिः। बहिःकरणोपरतिरिति केचित् (१२), एते ज्ञानादयो महाव्रताः परमपुरुषार्थसाधनभूता ब्राह्मणस्य वर्णिताः, ये "ज्ञानादयो द्वादश चाततानाः" इति पूर्व्वं प्रस्तुताः, ते वर्णिताः ॥ १९ ॥

कालिका।

ब्रह्मसुखप्राप्तिसाधनानि प्राह ज्ञानमिति। ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकः। तत्र पराशर आह—"तत् प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म्म चोक्तं महामुने। आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञान मथोच्यते" ॥ इति।

सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वं यत् प्रागेव व्याख्यातम्। उक्तं च—"यथार्थकथनं यच्च सर्व्वलोकसुखप्रदम्। तत्सत्यमितिविज्ञेयमसत्यं तद्विपर्य्ययम्" ॥ इति। कुत्सितात् कर्म्मणो बहिरिन्द्रियसंयमो दमः। ब्रह्मविविदिषायां जातायां ज्ञानोत्पत्तौ शमदमादेनामन्तरङ्गोपायतां श्रुतिरेवाह—"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येदि"ति। श्रुतं शास्त्रावधारणम् यद्वा वेदवेदान्तादिमोक्षशास्त्रश्रवणम्। अमात्सर्य्यं मत्सरः परगुणासहिष्णुस्तदभावराहित्यम्। ह्रीर्जुगुप्सितकरणे ह्यन्नताशङ्का। तितिक्षा द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वं च जिघत्सा-पिपासे शीतोष्णे वा। यद्यपि शीतोष्णादिवज्जिघत्सापिपासयोः परस्परं न विरोधस्तथापि तत्र पारिभाषिकद्वन्द्वता बोध्या। अनसूयेति। असूया परगुणस्तवामर्षणम्, गुणिनां गुणेषु दोषाविष्करणं वा तदभावः। यज्ञ इति। "यज्ञो वै विष्णुरिति" श्रुतेर्यज्ञशब्द आत्मनामसु यास्केन पठितः। यज्ञः परमेश्वरस्तदाराधनार्थं यदेव क्रियते स च यज्ञः। आराधनपरो यज्ञो द्विविधः—कर्म्मयज्ञो ज्ञानयज्ञश्चेति। तत्र कर्म्मयज्ञादयश्चित्तशुद्धेरारम्भका न तु साक्षाज्ज्ञानस्य। चित्तशुद्धिमन्तरेण ज्ञानं न प्रादुरस्तीति नियमात् ते गौणा उच्यन्ते। मुख्यास्तु ज्ञानयज्ञादयो ज्ञानस्यैवारम्भकत्वात्। दर्शपूर्णमासचातुर्म्मास्याग्निहोत्रगवामयनसत्रवाजपेयज्योतिष्टोमादयः कर्म्मयज्ञाः बहुविधाः सन्ति, वेदद्वारेणैव तेऽवगताः। द्वावुपायौ ज्ञानयज्ञस्य योगपूर्व्वको विचारपूर्व्वक श्चेति। तदुक्तं वासिष्ठे—"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव। योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्। असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः। प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः॥" इति। तत्र विजातीयप्रत्ययान्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहो योगः प्रथम उपायो यं हिरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे साक्षिदर्शने तेषां निरोधातिरिक्तोपायासम्भवात्; द्वितीयस्तु साक्षिणि साक्षं सर्व्वं मायाविजृम्भितं कल्पितत्वान्न विद्यत एव, विद्यते तु साक्षी परमार्थसत्यः केवल इति विचारो यमेव ब्रह्मविद उपेयुः। मुख्याश्च ब्रह्मविदो

गोलोकपतिप्रजापतिवशिष्ठशक्तिपराशरव्यासशुकगौड़पादगोविन्दशङ्कर-पद्मपादहस्तामलकत्रोटकसुरेश्वरप्रभृतयो ये ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्त्तृ-संज्ञां लेभिरे।

दानमिति। श्रद्धया सत्पात्रे द्रव्याणां प्रतिपादनं दानम्। तदङ्गानि च दाता प्रतिग्रहीता श्रद्धादेयं धर्म्मयुक् देशकालाविति। उपकारकरणरूपेण न तु दानप्रतिग्रहरूपेण दीयमानं ब्राह्मणव्यतिरिक्तविषये क्षत्रियादौ यत्तदेवानृशंस्यमुच्यते। यावन्मात्रमानृशंस्य-कृतं फलं श्रुतं तत्र तावन्मात्रं नात्युत्कृष्टम्। जातिमात्रोपजीविनि ब्राह्मणे तु प्रतिग्रहरूपेण दत्ते प्रतिग्रहफलं चानृशंस्यफलञ्च। एवं प्रक्रान्ताध्ययने ब्राह्मणे दानादेर्लक्षगुणफलं व्यवस्थापितम्। अध्यापयितरि वेदान्तविदि ब्राह्मणे दानफलस्य संख्याश्रुतिर्न वर्त्तते। तत्र मानवं वचनं—"सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे"॥ इति।

दानं पुनस्त्रिविधं सात्त्विकं राजसिकं तामसिकञ्चेति। इमां गुणदृष्टिमाश्रित्य तत्र भगवान् वासुदेवश्चाह—"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्। यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्"॥ इति।

दानं पुनश्चतुर्व्विधं नित्यं नैमित्तिकं काम्यं विमलमिति पौराणिकाः। अहन्यहनि प्रयोजनमनपेक्ष्य यद्दानमनुपकारिणे प्रदीयते तन्नित्यम्। तत्र प्रमाणम्—"अहन्यहनि यत्किञ्चिद् दीयतेऽनुपकारिणे। अनुद्दिश्य फलं तत् स्याद् ब्राह्मणाय च नित्यकम्"॥ इति। दानं जात्यवच्छिन्नं चतुर्द्दश्यां पुण्येऽहनि दास्यामीति, देशावच्छिन्नं वाराणस्यां दास्यामीति वा, यदा समाचरितं तन्नैमित्तिकम्। तथा हि वृद्धवशिष्ठः—"ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रादिप्रसवेषु च। दानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि तदिष्यते"॥ इति। स्वाभीष्टप्राप्त्यर्थं प्रत्युपकारार्थं वा यत् प्रदीयते तत् काम्यम्। परमेश्वरप्रीणनार्थं धर्म्मबुद्ध्या

वेदान्तविदि ब्राह्मणे यत् प्रदीयते तद्विमलम्। "यदीश्वरप्रीणनार्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते। चेतसा धर्म्मयुक्तेन दानं तद्विमलं शिवम्"। इत्युक्तः। धृतिरिति। अत्यन्तापद्यपि या शक्तिर्मनःप्राणेन्द्रियक्रिया उच्छास्त्रप्रवृत्ते र्निरुणद्धि सा धृतिः। सैव त्रिविधा सात्त्विकी राजसी तामसीति। इह धृतिः सात्त्विकी राजसी वा बोध्या। धृतिलक्षणं गीतायामुक्तम्—"धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ यया तु धर्म्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्ज्जुन। प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी"॥ इति। अन्तरिन्द्रियसंयमः शमः। 'शान्तो दान्त उपरत' इति श्रुतिः। एते ज्ञानादयो महाव्रताः पुमर्थसाधनभूताः शास्त्रे ब्राह्मणस्य वर्णिताः॥ १८॥

मूलानुवाद।

ज्ञान, सत्य, दम, वेदवेदान्तादिशास्त्र श्रवण, अमात्सर्य, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति तथा शम येही बारह ब्राह्मणोंके लिए पुरुषार्थ साधनके उपाय हैं॥ १८॥

कालिकाभास।

ब्रह्मप्राप्तिका साधन कहते है। ज्ञान अर्थात् नित्य तथा अनित्य वस्तुओंका विवेक। भगवान् पराशरने कहा है—कि ज्ञान तथा कर्म दोनों ही साक्षात् अथवा परम्परासे ब्रह्मप्राप्तिके कारण हैं, और ज्ञान वेदादिशास्त्रोंसे तथा विवेकसे उत्पन्न होता है। सत्यशब्दकी पहले ही व्याख्या हो चुकी है। वहिरिन्द्रिय संयमका नाम दम है, और अन्तरिन्द्रिय संयमका नाम शम है। शम दम आदि जितने ज्ञानोत्पत्तिके अन्तरंग उपाय हैं वे सब वेदोंमें भी कहे गये हैं। यथा—शान्त, दान्त, उपरत अर्थात् वैराग्य युक्त तितिक्षु समाहित होकर अपने अन्तःकरणमे प्रत्यगात्माका दर्शन करे। श्रुतियोंमें ही श्रद्धाका भी उल्लेख है—इस लिए वेदान्तमें पांचके जगह सम्पत् छः बताये गये हैं। यही छः स्पत वैदान्तिक साधना

चतुष्टयका तृतीय साधन माना जाता है। शास्त्रावधारणका नाम अथवा वेद वेदान्तादि मोक्षशास्त्रोंके श्रवणका नाम श्रुत रखा गया है। दूसरोंके गुणको सह सकनेका ही नाम अमात्सर्य हैं। घृणित कार्य करनेपर—हमको लोग मूर्ख कहेंगे—इत्यादि आशंकाका ही नाम लज्जा है। तितिक्षा अर्थात द्वन्दसहिष्णुता। क्षुधा-तृष्णा अथवा शीत ग्रीष्म ऐसे परस्पर विरोधी मिथुनका नाम द्वन्द है। यद्यपि शीत ग्रीष्मके समान क्षुत्पिपासामें परस्पर विरुद्धता नहीं देखी जाती तथापि उक्त दोनों शब्दसे ही पारिभाषिक द्वन्दता समझनी होगी। दूसरेके दोष अथवा दूसरेके छिद्रका अन्वेषण नहीं करने ही का नाम अनसूया है। यज्ञशब्दसे यज्ञपुरुष परमेश्वर ही समझा जाता है। क्योंकि श्रुतियोंने कहा है। कि —"विश्वात्मक विष्णु ही यज्ञ है"—। अर्चनापर यज्ञ ज्ञान तथा कर्मके भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। उनमें कर्मयज्ञ चित्त-शुद्धिका आरम्भक है। चित्तशुद्धिके विना ज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं होता इस लिए यह यज्ञ गौण है। और ज्ञान यज्ञसे साक्षात् ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है अस्तु उसको मुख्य कहते हैं। दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निहोत्र, गवामयनसत्र वाजपेय तथा ज्योतिष्टोम आदि बहुत तरहके कर्मयज्ञ वेदोंमें बताये गए हैं। ज्ञानयज्ञ योगपूर्व्वक अथवा विचारपूर्व्वक किया जाता है। भगवान् वशिष्ठ कहते हैं— "योग तथा ज्ञानके भेदसे चित्तनाशके दो उपाय हैं। वृत्तिनिरोध ही का नाम योग है। तथा सम्यक्‌रूपसे अवेक्षण अथवा विचारका नाम ज्ञान है। किसी किसीके लिये योग सरल है तथा किसी किसीके लिए तत्वनिश्चय सरल है इस लिए परम शिवने इन दोनोंको ही ब्रह्म प्राप्तिका उपाय कहा है।"—योगमें विजातीय प्रत्यय दूरीभूत होकर सजातीय प्रत्ययोंका प्रवाह चलता है। योगीकी इष्टभावना ही सजातीय प्रत्यय है किन्तु उसमें अन्य भावनाके आनेसे ही उसमें विजातीय प्रत्यय बहने लगते है। यह ही ब्रह्मप्राप्तिका प्रथम उपाय कहा गया है। प्राचीन कालमें

हिरण्यगर्भ आदिने योग ही का आश्रय लिया था, क्योंकि साचि-दर्शनमें निरोधको छोडकर ग्रहण नहीं करते थे। अस्तु यही प्राचीन तथा प्रथम उपाय है।

साचि स्वरूप आत्मामें कल्पित समस्तरूप रस आदि इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु मिथ्या तथा माया विजृम्भित है, अतएव उनकी यथार्थ सत्ता ही नहीं है, किन्तु साची परमात्मा ही परमार्थत: सत्य तथा केवल अर्थात् अद्वितीय विराजमान है, और इस प्रकारका विचार करना ही द्वितीय उपाय है। ब्रह्मविद् लोगोंने इस द्वितीय उपायका अवलम्बन करके ब्रह्म लाभ किया था। नारायण, पद्मभव अर्थात् प्रजापति, वशिष्ठ,शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, माण्डूक्यउपनिषद्को गौड़पाद कारिकाके प्रणेता गौडपाद, गोविन्द, तथा उनके शिष्य भगवान् शङ्कराचार्य और उनके शिष्य पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटक तथा सुरेश्वराचार्य प्रभृति ब्रह्मविद् इसी मार्गके परिचित थे और ये ही अद्वैत ब्रह्मविद्या सम्प्रदायके कर्ताके नामसे प्रसिद्ध हैं। यह बात आज भी शाङ्कर मठके शान्तिमन्त्रमें उच्चारित होती है। शान्ति-मन्त्र इस प्रकार है:—"नारायणं, पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्द-योगीन्द्रमथास्य शिष्यम्। श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्। तं त्रोटकं वार्त्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि॥"

श्रद्धाके साथ सत्पात्रको द्रव्य देनेको दान कहते हैं। दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, देय वस्तु, देश तथा काल यही छ: दानके अङ्ग है। ब्राह्मणके अतिरिक्त दूसरे व्यक्तिको उपकार निमित्त जो दिया जाता है उसको आनृशंस्य कहते है। दान तथा आनृशंस्यमें इतना ही भेद है कि स्वस्वत्वका त्याग करनेसे शास्त्रोंमें जैसा फल बत-लाया गया है वह सब आनृशंस्यमें मिल जाते है किन्तु दानमें उससे कई गुने अधिक पाया जाता है। इसी लिए मनुने कहा है,—"सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे॥"

दान सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है। भगवान् वासुदेवने गीतामें इन सभी दानोंका विशेष विवरण दिखलाया है।

पौराणिक लोग कहते है कि दान नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा विमल भेदसे चार प्रकारका होता है। विना प्रयोजन हो अनुपकारी व्यक्तिको प्रतिदिन जो दिया जाता है वही नित्य दान कहलाया है। जो दान देशगत अथवा पात्रगत हो उसे नैमित्तिक दान कहते हैं। काशीक्षेत्रमें अथवा हरद्वारमें दान करना देशगत नैमित्तिक दानका उदाहरण है। संक्रान्ति अथवा अमावस्याके समय दान करनेको कालगत नैमित्तिक दान कहेंगे। हिन्दूको दूंगा, यवनको नहीं दूंगा अथवा ब्राह्मणको दूंगा ब्राह्मणेतर व्यक्तिको न दूंगा इत्यादि ऐसे दानको पात्रगत नैमित्तिक दान कहेंगे। वृद्ध वशिष्ठ कहते है,—ग्रहण, संक्रान्ति, विवाह अथवा यात्रा आदिके समय जो नैमित्तिक दान व्यवस्थापित किया गया है, वह रातमें भी किया जा सकता है।

किसी अभीष्टसिद्धिके लिए अथवा प्रत्युपकारके लिए जो दान दिया जाता है उसको काम्य दान कहते हैं। इष्टप्रीतिके लिए धर्मबुद्धिसे ब्रह्मवित् पण्डितको जो दान दिया जाय वही विमल दान है। अत्यन्त आपत्कालमें भी मन प्राण तथा इन्द्रियादिको उन्मार्गमें प्रवृत्ति होनेसे रोककर साम्यभावमें रखनेके लिए जिस शक्तिका प्रयोग किया जाय उसको धृति कहते हैं। गीतामें सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदसे तीन प्रकार की धृति वर्णित है। ज्ञान आदि बारह गुण पुरुषार्थ साधनके लिए महाव्रतके नामसे शास्त्रोंमें बताए गये है। मानवजन्म पा कर जो कुछ सर्व्वोत्कृष्ट हितके लिए किया जाय वही तो पुरुषार्थ है, एवं उसके अनुष्ठानके लिये जो उपाय अवलम्बन किये जांय उनको पुरुषार्थ-साधन कहते हैं। मोक्ष ही तो पुरुषार्थ है, और मोक्ष पानेके लिए जितने उपाय हैं उनको उसका साधन कहा गया है ॥ १८ ॥

यस्त्वेतेभ्योऽप्रवसेत् द्वादशभ्यः
सर्व्वामिमां पृथिवीं स प्रशिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाऽविमुक्ताः
क्रमाद्विमुक्ता मौनभूता भवन्ति ॥ २० ॥

अन्वयः ।

एतेभ्यः द्वादशभ्यः यः अप्रवसेत् (प्रवासं न करोति) स इमां सर्व्वां पृथिवीं प्रशिष्यात् । [उक्तगुणानां मध्ये ये] त्रिभिः (गुणैः) द्वाभ्यां (गुणाभ्याम्) एकतो वा (गुणेन) अविमुक्ताः (विशिष्टाः) [ते] मौनभूताः (सन्तः) क्रमाद् विमुक्ताः (संसारमुक्ताः) भवन्ति ॥ २० ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं गुणस्तुतिं करोति—यस्त्विति । यस्त्वेतेभ्यः पूर्व्वोक्तेभ्यः अप्रवसेत् प्रवासं न करोति तैरेव समन्वितो भवेत्, सर्व्वामिमां पृथिवीं प्रशिष्यात् प्रशास्ति, आत्मवशां करोति । य एतेषां मध्ये त्रिभिर्द्वाभ्याम् एकत एकस्माद्वा, अविमुक्ता एतेषामन्यतमेनापि समन्विताः, त एते क्रमेण विमुक्ता विशिष्टज्ञानिनो भूत्वा मौनभूता ब्रह्मविदो भवन्ति ॥ २० ॥

कालिका ।

अधुना ब्रह्ममुखप्राभिमानिनां गुणस्तुतिं करोति—य इति । यस्तु एतेभ्यः पूर्व्वोक्तेभ्यः अप्रवसेत् प्रवासं न करोति तैः समन्वितो भवतीति यावत्, स सर्व्वामिमां पृथिवीं प्रशिष्यात् प्रशास्ति आत्मवशां करोतीतिभावः । श्रुतिश्च—'यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति स सर्व्वांश्च लोकान् प्राप्नोति सर्व्वांश्च कामानि"ति । किं वा वक्तव्यं द्वादशभ्य', उक्तगुणानां मध्ये त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वा येऽविमुक्ता समन्विता स्ते क्रमेण मौनभूता अहमात्मा परं ब्रह्म न मत्तोऽन्यदस्ति किंचन इति मनसैवानुसन्धानं मौनं तद्भूताः सन्तो विमुक्ताः कृतकृत्या भवन्ति । मौनेन नामानात्मविषयतिरस्करणस्य पर्य्यवसानाद्

ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते ततो जीवन्मुक्ता भवन्तीत्यभिप्राय:। श्रुतिश्च—"अमौनं च मौनं च निर्व्विद्याऽथ ब्राह्मण" इति। त्रिकं द्विकमेकं वा ज्ञानादिमध्यात् स्वयं बोद्धव्यमिति स्फुटतया न दर्शितम्॥ २०॥

मूलानुवाद।

जो इन बारहों गुणोंसे च्युत नहीं होते वे सम्यक्‌रूपसे सम्पूर्ण पृथ्वीका प्रशासन करते हैं। इन सब गुणोंमें तीन और दो भी ऐसे हैं कि उनमें एक गुणसे भी शोभित होनेसे मनुष्य मौनावलम्बन धारण करके क्रमश: संसारमुक्त हो जाता है॥ २०॥

कालिकाभास।

पूर्वोक्त गुणों की प्रशंसा की जाती है। उक्त बारह गुणोंसे सुशोभित होनेसे सम्पूर्ण पृथ्वीका प्रशासन करते हैं, अर्थात् पृथ्वीको किसी वस्तुसे वे उपहत नहीं होते, क्योंकि वे ब्रह्म भावापन्न हो जाते है। वृहदारण्यकमें कहा गया है कि—सूर्य चन्द्र आदि सब ही पदार्थ ब्रह्मके प्रशासनमें अधिष्ठित हैं। छान्दोग्यउपनिषद्‌में भी कहा गया है कि—"सब ही वस्तु ब्रह्मकी स्वीय महिमामें प्रतिष्ठित होकर विराजते हैं। मूलके पृथिवी शब्द लक्षणके द्वारा विश्वकी सभी अचित् वस्तुको भी प्रगट करता है।

इस गुण समष्टिके यदि किसीको तीन अथवा दो अथवा एक भी गुण आयत्त हो जांय तो वह मौनावलम्बन पूर्व्वक क्रमश: संसारमुक्त हो जाय॥ २०॥

दमोऽष्टादशदोष: स्यात् प्रातिकूल्यं कृते भवेत्।
अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रातिकूल्यं तमो रति:॥ २१॥
लोकद्वेषोऽभिमानश्च विवाद: प्राणिपीड़नम्।
परिवादोऽतिवाद: स्यात् परितापोऽक्षमाऽधृति:॥ २२॥
असिद्धि: पापकृत्यं च हिंसा चेति प्रकीर्त्तिता:।
एतैर्दोषैर्व्विमुक्तो य: स दम: सद्भिरुच्यते॥ २३॥

अन्वयः ।

दमः अष्टादशदोषः स्यात् (अष्टादश दोषा यस्येति)। [किं दोषत्वमिति चेत्] कृते (एतेषामन्यतमे आचरिते) [दमस्य] प्रतिकूल्यं (विरोधः) भवेत्। [के ते ?] अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रातिकूल्यं (धर्मादौ प्रतिकूलता) तमो रतिः लोकद्वेषः अभिमानः विवादः प्राणिपीडनं परिवादः अतिवादः परितापः अक्षमा अधृतिः असिद्धिः पापकृत्यं हिंसा चेति प्रकीर्त्तिताः। य एतैः दोषैः विमुक्तः सः (गुणः) सद्भिः दम उच्यते ॥ २१—२३ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं दमदोषानाह श्लोकत्रयेण—दम इति। दमोऽष्टादशदोषः, अष्टादशदोषसमन्वितो भवति। किमितेषां दोषत्वमिति चेत्, प्रातिकूल्यं कृते भवेत्। एतेषामन्यतमे कृते दमस्य प्रातिकूल्यं कृतं भवेत्। के ते—अनृतम् अयथार्थवचनम् १, पैशुनं परदूषणवचनम् २, तृष्णा विषयाशा ३, प्रातिकूल्यं सर्व्वेषां प्रतिकूलता ४, तमः अज्ञानम् ५, अरतिः यथालाभेनासन्तुष्टिः, अथवा रतिः स्त्रीसंभोगेष्वभिरतिः ६।

लोकद्वेषो लोकानामुद्वेगाचरणम् ७, अभिमानः सर्व्वत्राप्रणतिभावः ८, विवादः जनकलहाचरणम् ९, प्राणिपीडनं स्वदेहपूरणाय प्राणिहिंसा १०, परिवादः समक्षे परदूषणाभिधानम् ११, अतिवादः निरर्थकोऽतिप्रलापः १२, परितापः वृथा दुःखचिन्तनम् १३, अक्षमा द्वन्द्वासहिष्णुता १४, अधृतिः इन्द्रियार्थेषु चपलता १५।

असिद्धिः धर्म्मज्ञानवैराग्याणाम् १६, पापकृत्यं प्रतिषिद्धाचरणम् १७, हिंसा अविहितहिंसा १८, इति दमदोषाः प्रकीर्त्तिताः। एतैरनृतादिभिर्दोषैर्विमुक्तो यो गुणः स दम इति सार्द्धद्विश्लोकैः रुच्यते ॥ २१—२३ ॥

कालिका ।

इदानीं ब्रह्मसुखप्राप्तिसाधनप्रतिरोधकदमदोषानाह श्लोकत्रयेण—

दम इत्यादिना। दमोऽष्टादशदोष: स्यात् दमोऽष्टादशदोषसमन्वितो भवेत्। दमसाधने अष्टादश दोषा अन्तरायरूपा दृश्यन्त इति भाव:। किं तत्र दोषफलमिति चेत्? तद्दोषाणामन्यतमे क्षते दमस्य प्रातिकूल्यं प्रतिकूलता भवेत्। के ते दोषा:? अनृतादि-हिंसान्ता:। अनृतं वितथं वच:। पैशुनं गुणिनामविज्ञाततद्दोषावि-ष्करणम्। क्रोधजमेवैतत् पापम्। तदुक्तं—"पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यामर्यार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणो-ऽष्टक:"॥ इति। तृष्णा भोगलिप्सा। तत्प्रतिबन्धापगमे चित्तस्य स्वाभाविकसत्त्वाधिक्यनिमित्तिक: सुखस्वभावता स्वत एवाविर्भवति। "ते ये शतं प्रजापतेरानन्दा: स एको ब्रह्मण आनन्द: श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये"ति श्रुति:। तथाहि वचनं शब्दार्थचिन्तामणिधृतम्— "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम्॥" इति। उक्तं च ययातिना पूरौ यौवन-मर्पयता—"या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्। तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञ: सुखेनैवाभिपूर्य्यते"॥ इति। प्रातिकूल्यं सर्व्वेषां धर्मादौ विघ्नाचरणम्। तमोऽविद्या। रतिरिष्टार्थसंयोगजा क्रीड़ा, अरतिरिति पाठे तु तत्प्रसङ्गिन इष्टवियोगात् मनसि व्याकुलीभाव:।

लोकद्वेषो लोकानामुद्वेगाचरणम्। अभिमानोऽहंकार:। मदर्था एव अमी विषया:, मत्तो नान्योऽत्राधिकृत: कश्चिदस्त्यतोऽहमस्मीति योऽभिमान: सोऽसाधारणव्यापारत्वादहंकार:। तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति कर्त्तव्यमेतन्मयेति। अनात्मनि चाभिमाने आत्म-ख्याति नं पुरुषार्थेतीति स दमस्य दोषपक्षे निक्षिप्त:। विवादो वैरम्। प्राणिपीड़नं स्वतुष्ट्यै प्राणिद्रोह:। परिवादो रहसि परदोषाविष्करणं राजद्वारादौ वा स्वप्रशंसार्थमद्दिष्टानामपि निन्दा। स खलु क्रोधं विना रागमात्राज्जात इति कामजो दोष-विशेष:। तदुक्तं—"मृगयाक्षो दिवास्वप्न: परिवाद: स्त्रियो मद:। तौर्य्यत्रिकं वृथाटा च कामजो दशको गण:"॥ इति। अतिवादो निर्म्मर्य्यादं वचनम्, नातिवादी स्यादिति शास्त्रनिर्देशात्। शास्त्रं

च—'न निन्दां न स्तुतिं कुर्यान्न कञ्चिन्मर्म्मणि स्पृशेत्। नातिवादी भवेत् तद्वत् सर्व्वत्रैव समो भवेत्' ॥ इति। परितापोऽतिदुःखित्वम्। अक्षमेति। क्षमा क्षान्ति यतो बृहस्पतिराह—"बाह्ये चाध्यात्मिके च व दुःखे चोत्पादिते क्वचित्। न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्त्तिता" ॥ इति। तत्र पौराणिकाश्चाहु—"आक्रुष्टोऽभिहते यस्तु नाक्रोशेन्न च हन्ति वा। अदुष्टैर्व्वाङ मनःकाये स्तितिक्षा या क्षमा स्मृता"। इति। तदभावोऽक्षमा। अधृतिरिति। या शक्ति मनः-प्राणेन्द्रियक्रिया उच्छास्त्रमार्गप्रवृत्ते निरुणद्धि सा धृति स्तद्-भावोऽधृतिः।

असिद्धिरिति। सिद्धेर्विरोधोऽसिद्धिः। सिद्धयश्चाष्टौ, तत्र त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तये तिस्रः प्रमोदमुदितमोदमाना मुख्या स्तदुपायतया गौण्य इतराः। विहन्यमानस्य दुःखस्य त्रित्वात् तदवघातास्त्रय इति पुरुषार्थतासाधनत्वेन तिस्रो मुख्याः।

गौणेषु सिद्धिषु प्रथमा तावदध्ययनं वेदादीनां यामाचक्षते तार-मिति। तत्कार्य्यं शब्दो यतस्तज्जनितं वेदार्थज्ञानं भवतीति कार्य्ये कारणोपचारात् सा सिद्धि द्वितीया सुतारमुच्यते। ऊहस्तर्को मनसि नित्यानित्यवस्तुविवेकरूपो या सिद्धि स्तृतीया तारतारमुच्यते। मननेन हि स्वयं परोक्षितमपि सिद्धान्तं श्रद्धत्ते विनैव गुरुशिष्यब्रह्मचारिभिः संवादमिति सुहृदां गुरुशिष्यब्रह्मचारिणां संवादकानां प्राप्तिः सुहृत्-प्राप्ति र्या सिद्धिश्चतुर्थी रम्यकमुच्यते। दाने चित्तशुद्धि स्ततो ज्ञान-मिति दानञ्च सिद्धिः सदा प्रमुदितमुच्यते। 'ब्राह्मणा विवि-दिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने'ति श्रुतिः। ननूहादिभि-रेव कथं सिद्धिरुच्यते तप आदेभिरणिमाद्यष्टसिद्धेः सर्व्वशास्त्र-प्रसिद्धत्वात्? ऊहनादिभिन्नात् तप आदेः कुत स्तात्त्विको सिद्धिः, यतो विपर्य्ययस्य हानं विनैव या सिद्धि र्भवति सा संसारा-परिपन्थित्वात् सिद्ध्याभास इत्यवधारणात्। एता या सिद्धयस्तासां विरुद्धा असिद्धिः।

पापकृत्यं प्रतिषिद्धाचरणम्। हिंसेति। प्राणवियोगादिप्रयोजन-

व्यापारो हिंसा। सा च स्वयं कृता कुरु कुर्व्विति प्रयोजकव्यापारेण कारिता साधु साध्वित्यनुमोदिता चेति त्रिधा। त्रैविध्यमेतच्च परस्पर-व्यामोहनिवारणाय शास्त्रमुपदिशति। अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत न मया स्वयं निष्पादितेति नास्ति मे पापमिति। तदुक्तं—"भोक्तानुमन्ता संस्कर्त्ता क्रयविक्रयिहिंसकाः। उपहर्त्ता घातयिता हिंसकाश्चाष्टधाधमाः" ॥ इति। तत एकैका हिंसा कारणभेदात् पुनस्त्रिधा भवति—धनमांसादिलोभेन, अपकृतमनेनेति क्रोधेन, यज्ञाद्यर्थहिंसया निर्द्दोषो धर्म्मो मे भविष्यतीत्येवं मोहेन चेति। लोभ-क्रोधमोहाश्च मृदुमध्यतीव्रत्वेन त्रिप्रकाराः। मृदुमध्यतीव्राः पुनस्त्रिप्रकाराः—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रो मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र इति। एवं लोभो नवविधस्तथा क्रोधमोहाविति तत्पूर्व्विका हिंसाः सप्तविंशतिधा भवन्ति। अतः कृता कारितानुमोदिता चेति प्रत्येकं सप्तविंशतिधेति हिंसाया एकाशीतिभेदा भवन्ति। ताः सर्व्वाः प्राणिनां वधबन्धक्लेशव्यापारत्वात् दु[illegible]। ननु, कथं तासां तत्फलकत्वमिति चेत्। अधर्मात स्तमःसमुद्रेकाद्धिंसकः प्रथमं वध्यवीर्य्यं बलान्नियमयति ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। हन्तापि ततस्तद्विधं दुःखं प्राप्नोति। वध्यस्य वीर्य्यक्षेपाद्धन्तुरस्यापि स्त्रीपुत्रधनादिकं कार्य्याक्षमं भवति, तथा वध्यस्य शस्त्रपातादिना दुःखमनुभवति। अपि च वध्यस्य प्राणवियोजनात् कर्त्ता रोगमयीं मरणावस्थामापन्नो मरणमिच्छन्नपि विपाकभोग्यत्वात् तदलभमानः कथं कथमपि जीवति। स्मृतिरप्याह—"यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्। वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि" ॥ इति।

ननु, 'विधात्रैव भक्षणार्हा भक्षयितारश्च निर्म्मिता' इति हिंसायां प्राणिनां कामचार, स्वाभाविक एव। तथा हि प्राणसंवादोपनिषदि श्रूयते—"स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति। यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुः"। स्मृतिश्च तत्र—'प्राणस्यान्नमिदं सर्व्वं

प्रजापतिरकल्पयत्। स्थावरं जङ्गमं चैव सर्व्वं प्राणस्य भोजनम्'॥ इति। हिंसा च यावन्नाचरिता तावद्विहितं प्राणस्य भोजनं नोपपद्यत इति हिंसाया अनिष्टानुबन्धित्वं न युक्तमिति चेत्? न, सैव श्रुतिः सर्व्वभूतानां वृत्त्यर्थमुद्दिष्टा। विश्वस्य भूतिसंवर्द्धनाय सर्व्वे प्राणिनो नित्यं मत्स्या इव परस्परं भक्षयन्तीत्यत्र न हिंसादोषः, प्रजापतेरैकत्वेन जगत्कल्पितत्वात्। स्मृतिश्च तत्र श्रुतिसौहार्द्दात् 'प्राणस्यान्नमिदं सर्व्वमि'त्यनेन न्यायप्राप्तमर्थानुवादमुदाहरति न तु प्राणिवधं चोदयति, हिंसाया अचोदितत्वात्।

हिंसायाः पापफलत्वात् सर्व्वदा सर्व्वथैव सा परिहार्य्या। योगशास्त्रेऽप्यहिंसा महाफलेति प्रतिपादनाय यमादयः प्रथमं प्रतिपाद्यन्ते। ते पुनरहिंसानिर्म्मलीकरणाय योगिभिरुपादीयन्ते। तदुक्तं—"स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमान स्तामेवावदातरूपामहिंसां करोती"ति। मोक्षधर्म्मेऽपि—"यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्। एवं सर्व्वमहिंसायां धर्म्मार्थमपि धीयते॥" इति।

अतः शरीरस्थितिनिर्व्वाहार्थमल्पसत्त्वा हन्यन्त इति स्थितिविहितं विज्ञाय भूरिसत्त्वानां निष्ठुरतामभिद्रोहं च विहाय सत्त्वबहुला ऊर्द्ध्वस्रोतसो योगिनो व्रीहियवशाकादिना प्राणान् बिभ्रति, तथा च भूतोपघातभीरव स्ते भूरीष्टानुबन्धो यज्ञः परपीडावर्ज्जनेनैव सम्पादयितव्य इत्यतोऽपि विरक्तास्तपःस्वाध्यायध्यानवन्त आत्मानमुपयन्ति। त आहु र्यद्यपि हिंसा यज्ञाङ्गभूता दैवानुष्ठानं तथापि सात्त्विका स्ततोऽपि निवर्त्तेरन्निति। अतो वृहन्मनुः प्राह—"हिंसा चैव न कर्त्तव्या वैधहिंसा तु राजसी। ब्राह्मणैः सा न कर्त्तव्या यतस्ते सात्त्विका मताः॥" इति। ये तु मनुष्या रजोबहुलास्तेषां शास्त्रीया हिंसाप्रवृत्तिरल्पस्वल्पा दृश्यते। श्रुतिश्च तान् सत्त्वनिकायतत्त्वे समुन्निनीषन्तीति केवलं क्रत्वर्थमेव तेषां हिंसा नियम्य प्रोक्षितपशुवधमभ्यनुजानाति। तत्रापि यस्य बुद्धौ सत्त्वसचिवं रजो वर्त्तते स पशुवधोप-

याचितकेन फलसम्पत्तिरिति मन्यमानः पिष्टमयीं पशुप्रतिकृतिं कृत्वा कूष्माण्डादिकं वानुकल्प्य विधाय देवताभ्य उपहरति, न तु प्राणिनां वधबन्धनक्लेशादीन् कदापि चिकीर्षति। तत्र हि आथर्व्वणिकाः शिष्टानां सदाचाराश्च प्रमाणम्। एवं दत्तादिकर्म्मणा तेषां भवति चित्तशुद्धिस्ततो जिज्ञासा प्रवर्त्तते। तदनन्तरं ते भूतोपघातपरात् कर्म्मणो विरक्ता विद्यया योगेन वा तपःस्वाध्यायध्यानवन्त आत्मन्येवात्मानं पश्यन्ति। श्रुतिश्च—"ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति।

ये तु मनुष्या स्तमोवहुला स्ते पिशाचाः श्रुतिविगर्हिता आत्मसुखेच्छया देवताद्युद्देशं विनैव पशून् व्यापाद्य तन्मांसभक्षणे प्रवृत्ताः-वैधहिंसातिरिक्तहिंसाया एव प्रतिषेधात् तेषां वलवदनिष्टसाधनत्वं भवति।

ननु, "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत, वायव्यं श्वेतच्छागलमालभेत" "तस्माद्यज्ञे वधोऽवध" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिश्चोदितायाः कथं वैधहिंसाया अनिष्टानुवन्धित्वम्। अपि च विध्यथप्रेरणया यज्ञाङ्गभूतहिंसानामनिष्टानुवन्धित्वानाक्षेपात् तन्न युक्तम्। "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन"॥ इत्यादिस्मृतेरेकवाक्यतया वैधहिंसाया अनिष्टानुवन्धित्व कथमपि न समुपपन्नं भवति।

नैवम्। "मा हिंस्यात् सर्व्वा भूतानी"ति श्रुतिनिषेधेन हिंसाया अनिष्टसाधनत्वं ज्ञाप्यत इति प्रभूतपुण्यप्रापककर्म्मणि पशुयागेऽपि पशुहिंसनस्य वलवदनिष्टानुवन्धित्वमुपपद्यते। अनिष्टस्य विशेषस्तु तत्र प्रधानकर्म्मण्यावापगमनम्। यथा धान्यवीजैः सहोत्पन्नानां तृणवीजानां तैः सह कुसूलप्राप्तिः, कुसूलस्थितानां तेषां धान्यवीजैः सहैवावापप्राप्तिर्न स्वातन्त्र्येण, तथा प्रधानकर्म्मणा यागादिना सहैव तदङ्गपशुहिंसादीनां स्वफलदानोन्मुखत्वम्। यद्यपि प्रधानोपकारो यागादीनां तदङ्गत्वेन विधानात्, तथापि "मा हिंस्यात् सर्व्वा भूतानी"ति निषेधादनर्थसाधनत्वमपि तत्कार्य्यसत्र। यत्रेदमुक्तं भगवता

पञ्चशिखेन—"स्वल्प: सङ्कर: सपरिहार: सप्रत्यवमर्ष: कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गत: स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यती"ति। एतदुक्तं भवति—पशुवधादिपापेन क्रत्वपूर्व्वस्य स्वल्प एव सङ्कर: स्यात्। सोऽपि स्वल्पेनैव प्रायश्चित्तेन परिहर्त्तुं शक्यत्वात् सुपरिहर:। प्रमादत: प्रायश्चित्ताकरणेऽपि सप्रत्यवमर्ष:। बहुसुखमध्येऽल्पदु:खदत्वात् सहनयोग्यो भोजनानन्तरीयकदु:खवत्। अत: कुशलस्य यागादेरपकर्षाय हेयत्वेन नालं समर्थ:। कस्मादिति प्रश्ने यजमानस्य पुण्यवत उत्तरम्। कुशलं यागादिजन्यं पुण्यं मे बह्वस्ति यत्रायं सङ्कर: पुण्यफले स्वर्गे अल्पमपकर्षमल्पदु:खसंभेदं करिष्यति स्वर्गादल्पं दु:खमित्यभिप्राय:। अत: पुण्यावापगताया हिंसाया अनिष्टहेतुत्वमुपपद्यते। अपि च पुण्यावापगतहिंसास्वपि युधिष्ठिरादीनां प्रायश्चित्तश्रवणादनिष्टहेतुत्वमेव युक्तम्। यच्च "वधोऽवध" इति तदेव वधाभासतापरं बोध्यम्।

यदुक्तं विध्यर्थे[illegible]या श्रुतौ यज्ञाङ्गभूतहिंसानामनिष्टानुबन्धित्वानाक्षेप इति त[illegible]शुहिंसाया यागोपकारकत्वान्न तु पशुयागानामनिष्टानुबन्धित्वाभावात्। "आततायिनमायान्तमि"त्यादिकं नीतिशास्त्रं राजधर्म्मप्रकरणीयत्वेन तच्च "मा हिंस्यात् सर्व्वाभूतानी"त्यध्यात्मशास्त्राद् दुर्व्वलम्। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—"अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्म्मशास्त्रमिति स्थिति:"। इति। अध्यात्मशास्त्रं तावदाततायिवधे पापयोनितां स्पष्टमभिधत्ते। तथा हि श्रीमद्भगवद्गीता—"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिन:। तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् सबान्धवान्"। इति। अत आततायिवधे हन्तुर्न राजदण्डार्हता किन्तु दुरितोत्पत्तिरेव। न च पशुसमालम्भने श्येनाभिचारप्रवर्त्तकवेदस्य प्रमाण्यमस्तीति वाच्यम्। "श्येनेनाभिचरन् यजेते"त्यत्र श्येनस्य शत्रुवधरूपेष्टसाधनत्वेऽपि दुरितोत्पत्तौ वेदस्याप्रामाण्यापातादभिचारस्य मन्वादिभिरुपपातकगणे पठितत्वेन यजमानस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वध्रौव्यात्।

ननु, 'अपवादं परित्यज्य उत्सर्गः प्रवर्त्तत' इतिन्यायात् "मा हिंस्यात् सर्व्वा भूतानी"ति सामान्यविधि "रग्नीषोमीयं पशुमालभेत" "वायव्यं श्वेतच्छागलमालभेत" वेति विशेषविधिना बाध्यते। यद्येवं कथं तर्हि वैधहिंसाया अनिष्टानुबन्धित्वम्?

'मा हिंस्यादि'ति निषेधेन हिंसाया अनिष्टसाधनत्वमवगम्यते न तु यागानामनुपकारित्वमपि, 'पशुमालभेते'ति विधिना च हिंसाया यागोपकारित्वमुच्यते न तु यागानामनिष्टसाधनत्वाभाव इति इयमेव श्रौतविधिप्रत्ययार्थः। अतः पशुसमालम्भन इष्टसाधनत्वं सदपि अनिष्टानुबन्धित्वं तेन च बाध्यते, न च सर्व्वभूतहिंसनाभावे यदनिष्टाननुबन्धित्व तेन बलवदिष्टसाधनत्वं भवतीति विषयभेदप्रसङ्गात् तत्र नास्ति कश्चिदपि विरोधः। विरोधे हि बलीयसा दुर्ब्बलं बाध्यते किन्तु भिन्नविषयत्वात् तद्विषययोः कोऽपि न विरोधः। अतो हिंसा हि यजमानस्य दोषमुत्पादयति, यागस्य चोपकरोतीति श्रुतिस्मृतिचोदिताया अपि वैधहिंसाया अनिष्टानुबन्धित्वं युक्तमुक्तम्। एतैरनृतादिहिंसान्तैर्दोषैर्व्विमुक्तो यो गुणः स दम इति सञ्ज्ञिकच्यते। दम इत्युपलक्षणं तेन शमादेः संगृहीतत्वात्। शमदमादेर्ज्ञानोत्पादनं च प्रसिद्धम्। तथा हि मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे—"गुणाः शमादयो ज्ञानाद्दमादिभ्यस्तथाज्ञता। परस्परं विवर्द्धन्ते ते पद्मसरसी इव"॥ इति॥ २१—२३॥

पूर्वपीठिका। इन बारह गुणोंकी प्राप्ति दमके आयत्त हुए विना दुर्लभ है इसी लिए आचार्यने उनके अठारह विघ्नोंका उल्लेख किया है।

मूलानुवाद।

दम साधन करनेमें अठारह प्रकारके बाधारूप दोष आ सकते हैं। इनमें कोई भी दो आ पड़नेसे दम साधनमें विघ्न होगा अठारह प्रकारके दोष निम्नलिखित हैं।—१—अनृत अथवा असत्य २— पैशुन, ३—तृष्णा, ४—प्रातिकूल्य, ५—तम, ६—रति, ७—

सामाजिक द्वेष, ८—अभिमान, ९—विवाद, १०—प्राणिपीडन, ११—परिबाद १२—अतिवाद, १३—परिताप, १४—अक्षमा, १५—अधृति, १६—असिद्धि, १७—पापकृत्य, १८—हिंसा, ॥ विचक्षन साधुजन कहते हैं कि इन सब दोषोंसे मुक्त जो दम है वही असली दम है ॥ २१—२३ ॥

कालिकाभास ।

गोविन्दभट्टके मतानुसार कुल्लूकभट्ट कहते है—"मनको दमन करनेको दम कहते है।" किन्तु यह लौकिक अर्थ है, ।—"शान्तो दान्त उपरत तितिक्षु: समाहितो भूत्वा"—इत्यादि श्रुतियोंसे क्रम आरोपित होकर लौकिक व्यवहारमें शान्त शब्दसे बाह्येन्द्रिय संयम तथा दान्त-शब्दसे मन अथवा अन्तरिन्द्रिय संयम, ऐसा अर्थ माना जाता है। किन्तु इस श्रुतिसे प्रकृतपक्षमें कोई क्रम नहीं जाना जाता। अस्तु शम तथा दम शब्दोंका पार्थक्य निर्देश करने लिए शम शब्दसे अन्तरिन्द्रिय संयम तथा दम शब्दसे वहिरिन्द्रिय संयम ऐसा अर्थ मानना पड़ेगा। क्यों कि यही प्राचीन मत भी है। इसी लिये अपरोक्षानुभूति ग्रन्थमें शंकराचार्यने शम तथा दम शब्दोंका इस प्रकार स्वरूप निर्णय किया है।—"सदैव वासना—त्याग: शमोऽयमिति शब्दित:। निग्रहो बाह्य वृत्तीनां दम: इत्यभिधीयते"—॥ वेदान्तसारमें सदानन्दने भी इसी मतका अनुसरण किया है। इस लिए हम लोग उक्त मतानुसार ही पहले दम शब्दका अर्थ करते है।

दम अर्थात् वहिरिन्द्रिय संयम किये विना अन्य गुणोंपर पीछे व्याघात पहुँचता है। इस लिए निर्दोषभावसे दमानुशीलन उपदिष्ट हुआ है। अनृत अर्थात मिथ्या कथन। गुणोंके चरित्रमें अज्ञात दोषका आविष्कार करना ही पैशुन है। महर्षि मनुने उसकी क्रोधज पापोंमें गणना की है। तृष्णा अर्थात भोग लिप्सा। तृष्णाके छूट जानेपर चित्तका स्वाभाविक सत्वगुण तथा अनुमित सुख आवि-

भूत होता है। वेद कहते हैं—"निष्काम श्रोत्रिय जो आनन्द भोगते है, यद्यपि वह (आनन्द) ब्रह्मानन्दका एक सामान्य अंश है, तथा वह प्रजापतिके सम्पूर्ण आनन्दोंसे तनिक भो न्यून नहीं है।" शब्दार्थ चिन्तामणिमें एक वचन उद्धृत किया गया है, उसका भावार्थ इस प्रकार है—"तृष्णाके नाश होनेपर जो सुख होता है, उसके सोलहवें भागसे भो सांसारिक काम सुख अथवा पारलौकिक दिव्य सुखको अपेक्षा बहुत अधिक है।"—महाभारतके ययाति संवादमें इस प्रकार कहा गया है—"तृष्णाको जो मूर्ख नहीं त्याग सकता, वह तृष्णा जो जोर्ण शरीरमे रहकर जोर्ण नहीं होती,—बुद्धिमान उसो तृष्णाको परित्यागकर कितने ही सुखोंसे परिपूर्ण होकर आनन्द करते है ॥"—

'प्रातिकूल्य'—अर्थात धर्मादिमे विघ्न अथवा अन्तराय। तमः अर्थात् अविद्या अथवा अज्ञान। रति अर्थात इष्टार्थके लिए संयोग क्रीड़ा। अरति ऐसा पाठ रहनेपर भी इस प्रसंगपर इष्टवियोग निमित्त मनको व्याकुलताके भावको जन्माता है। उद्वेगाचरण ही लोक द्वेष वा सामाजिक द्वेष है। अभिमान है अर्थात् अहंकार। विश्वके रूप रस आदि विषय समूह हमारे ही भोग्य हैं क्योंकि दर्शन आदि व्यापारमें मुझको जो सुखभोग अथवा दुःखभोग होता है, उसमें किसो दूसरेका कोई अधिकार नहीं रहता। अस्तु हमारी पृथक् सत्ता है ऐसे असाधारण अहंकारका ही नाम अभिमान है। इस अभिमान हो का आश्रय लेकर बुद्धि कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके लिए प्रयत्न अथ वा निर्द्धारण करता है। अभिमान प्रयुक्त अनात्मवस्तुमें अख्याति होती है इस लिए उसको दमगुणके दोष पक्षमें निक्षिप्त किया है। क्योंकि जो तत्वज्ञानके विरोधी हैं, उनको परमपुरुषार्थको साधनता हो ही नहीं सकती। विवाद अर्थात कलह वा झगडा। अपने सन्तोषके लिए दूसरे जोवोंके प्रति निष्ठुर व्यवहार करनेको ही प्राणिपोडन कहते हैं। किसीके पीछे उसके अज्ञात दोषोंके प्रचार करनेका नाम परिवाद है। प्रकारके

आचरण करनेवाला व्यक्ति सोचता है कि ऐसा करनेसे मेरे गुणकी प्रशंसा होगी। स्वगुण प्रशंसाके लिए अनुरागके विना परिवादकी चेष्टा नहीं होतीं इस लिए मनु महाराजने उसको कामज दोष बतलाया है। दूसरे की मर्यादाको उल्लङ्घन करके वाक्यप्रयोग करनेसे उसको अतिवाद कहेंगे। शास्त्रोंने अतिवादी होनेका निषेध किया है। अत्यन्त दुःखित होनेको परिताप कहते है। क्षमा अर्थात् क्षान्ति। बृहस्पति कहते हैं,—बाह्य अथवा आध्यात्मिक दुःखके उपस्थित होनेपर भी क्रोध आदिका उदय न हो तो ऐसी अवस्थाविशेषको क्षमा कहेंगे। शास्त्रोंने यह भी कहा है कि, "दण्ड पानेपर भी जो व्यक्ति आक्रुष्ट नहीं होता, अथ वा मन, वचन अथवा शरीरसे प्रतिघात करनेकी चेष्टा नहीं करता, उसी व्यक्तिकी तितिक्षाको सज्जन लोग क्षमा कहते हैं। इस तरहकी अवस्थाके विपर्य्यय होनेको अक्षमा कहते हैं। धृति की व्याख्या पहले ही हो चुकी है। और उसके (धृतिके) विपरीतको अधृति कहते हैं।

जो सिद्धियोंके विरुद्ध हो वही असिद्धि है। सिद्धिको समझने हो से असिद्धिको भी समझ सकते हैं। अस्तु सिद्धि हो का भेद शास्त्रानुसार वर्णन किया जाता है। सिद्धियां आठ प्रकार की हैं। उनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, तथा आधिभौतिक दुःखोंके अत्यन्त निवृत्तिके लिए प्रमोद, मुदित तथा मोदमान नामक तीन योगज सिद्धि ही मुख्य हैं और उनके लाभ को सरलताके लिए जिन पांचको उपायस्वरूप ग्रहण करते है अथवा आश्रय लेते है वे गौण हैं। विहन्यमान दुःख तीन प्रकारके है, इस लिये योगशास्त्रोंमें सिद्धिके भी तीन भेद या क्रम बतलाये गये हैं। वे अनुभूतिसापेक्ष हैं। इन तीनोंको पानेके लिए जो पांच सिद्धियां उपायरूपसे ग्रहण की जाती है, उनमें वेद आदि शास्त्रोंके अध्ययनगत स्थूल विषयपरिचयके हीं—"तार" नामक प्रथम सिद्धि कहते है। शब्दोंका अध्ययन तथा अध्यापन एक कार्य्यविशेष है, इस लिये तथा उसके ज्ञानके आरम्भक होनेके कारण कार्य्यमें कारणका उपचार होनेसे

द्वितीया शब्द-सिद्धि "सुतार" नामसे प्रसिद्ध है। शब्दजनित ज्ञानके आरम्भ होने पर प्रतिज्ञाके लिए उदाहरण, उपनय, तथा निगमादि न्यायके द्वारा अधीत विषयसमूह मन ही मन परीक्षा करके संशय निवारण करने ही को "तारतार" नामक तृतीय सिद्धि कहते हैं। संशयात्मक विषयोंके सिद्धान्तोंके मन ही मन स्थिर हो जाने पर भी दूसरोंसे समर्थन किये जानेके विना अपने सिद्धान्तमें आस्था नहीं होती, अस्तु सुहृत्-प्राप्ति-रूप चौथे सिद्धिको "रम्यक" कहते हैं। वस्तुतत्त्व विचार किए जाने पर उसको आयत्त करनेके लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है। वैराग्यके विना चित्तशुद्धि नहीं होती, और दानमें कथञ्चित् वैराग्य तथा आनन्द दोनों ही होता है, अस्तु दानविषयक सिद्धिको "सदाप्रमुदित" कहते हैं।

यदि कोई कहे कि तपस्या आदिके द्वारा जिनसे अणिमा-लघिमा आदि ऐश्वर्य पाये जांय वे ही शास्त्रप्रसिद्ध सिद्धियां है। अत एव पूर्वोक्त विषयसमूह सिद्धिरूपसे बड़े नहीं हो सकते, तो मुझे कहना ही पड़ेगा कि अध्ययन, शास्त्रज्ञान, मनन, सुहृत्प्राप्ति तथा दानादिके विना तपस्या किये जानेपर प्रकृत मोक्षोपयोगिनी सिद्धिकी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि तत्वनिश्चयके विना सिद्धिको कभी प्रकृत सिद्धि अर्थात् मोक्षोपयोगिनी सिद्धि नहीं कह सकते। वह तो सिद्धिका केवल आभास मात्र होगा।

पापकृत्य अर्थात् निषिद्धाचरण। हिंसा शब्दसे जीवको पीड़ा देनेसे लेकर उसका करना प्राणनाश तक समझा जाता है। किन्तु यहां उसका प्राणनाशार्थ ही युक्तिनिष्पन्न है। क्योंकि पहले श्लोक ही में "प्राणिपीडन"—दमगुणके दोषपक्षमें निक्षिप्त हो चुका है। हिंसा स्वयंकृत हो सकती है—अथवा दूसरेसे भी करायी जा सकती है। अथवा दूसरेसे किए जाते हुए काममें उत्साह देकर अनुमोदित भी किया जा सकता है। हमने स्वयं हत्या नहीं की, दूसरेने साक्षात्‌रूपसे किया है, इत्यादि ऐसे ऐसे मोहोंके पीछे मूर्ख लोग भ्रष्ट होते

है। इसी लिये शास्त्रोंने सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपसे हिंसाको विश्लेषण करते हुए इन सब बातोंको बतलाया है। हिंसाके पापमें कौन कौन लिप्त होता है, वह—'भोक्तानुमन्ता"—इत्यादि श्लोकमें बताया जायगा।

लोभ, क्रोध तथा मोहवश हरेक प्रकारोंकी हिंसा त्रिविध हो सकती है। अस्थि मांस चर्म आदिके बेचनेसे लाभ होगा ऐसी बुद्धिसे जीव हत्या करनेका लोभ ही हिंसाका कारण होगा। अपकार आदिको नहीं सह सकनेपर जो हिंसाकी जाती है वह क्रोधज हिंसा है। देवताके उद्देश्यसे पशुओंको बलि देनेसे शुक्लधर्म होता है—इस प्रकारका मोह भी हिंसाका कारण हो सकता हैं।

लोभ क्रोध तथा मोह, मृदु, मध्य तथा तीव्र भेदसे पुनः तीन तीन प्रकारके होते है। मृदु, मध्य तथा तीव्रतामें भी तीन तीन भेद करनेसे सब मिलाकर नौ (९) भेद होते है। यथा—मृदु मृदु—मध्यमृदु—तीव्रमृदु। मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्रमध्य। मृदुतीव्र—मध्यतीव्र—तीव्रतीव्र। अस्तु स्वयं की गयी,—करवायी गयी, तथा अनुमोदन की गयी हिंसासे लेकर अन्त तक ३+३+९=८१ अर्थात् इक्यासी प्रकारकी हिंसा हुई। हिंसा चाहे किसी प्रकारकी क्यों न हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके लिये न्यूनाधिक कई पापोंका फल भोगना ही पड़ेगा।

इस विषयमें कोई ऐसा भी पूर्व्व पक्षमें कह सकते हैं कि जब भक्षयिता तथा भक्ष्य दोनों ही विधाताके रचे है तो फिर जीव जीवका आहार करे यह एक स्वाभाविक धर्म हुआ। छान्दोग्य-उपनिषद्के प्राण संवादमें भी सुना जाता है कि जीव मात्र ही एक दूसरेके परस्पर आहार हैं। स्मृतियां भी कहती है—"जीवके प्राणधारणके लिए प्रजापति ब्रह्माने स्थावर-जङ्गमात्मक पदार्थोंकी सृष्टि की।"—फल मूल बीज आदिमें भी जीवका संयोग है। अतएव जीवोंका जीवन धारण जीवोंके उपर ही निर्भर करता हुआ देखा जाता है। अस्तु हिंसामें पापकी कल्पना करना उचित

नहीं। और जब महत्तत्वनामक एक ही हिरण्यगर्भसे प्राणिसमूह विभक्त हुए हैं तो फिर जीव जीवका भोजन करके उसका ही एकत्व प्रतिपादन करता है। अतएव श्रुति-स्मृतियोंने साधारण वस्तुगतिका अर्थानुवाद करके उसका ही उदाहरण दिखलाया है- और व्यर्थ प्राणिवधके लिए कभी उत्साह नहीं दिलाया क्योंकि व्यर्थ ही प्राणियोंका वध करना कभी उत्साहित नहीं किया जा सकता।

यदि कोई पूर्व्वपक्ष ऐसा करें तो कहना पड़ेगा कि हिंसा को व्यर्थताका निरूपण करना सर्वथा कर्त्तव्य है। व्यर्थ प्राणिवध यदि कभी उत्साहित नहीं किया जा सकता तो अपरिहार्य जीव नाशको छोड़कर किसी दूसरी तरहकी हिंसा न्यायविरुद्ध तथा धर्मविरुद्ध होगी इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। इसी लिए योगशास्त्रोंने अहिंसाका महाफल दिखलाकर पहले ही यम आदिका ग्रहण किया है। योगी भी अहिंसाके परिमार्ज्जनके लिए यमादिको ग्रहण करते है। योगशास्त्रके व्यासभाष्यमें कहा गया है कि—"ब्राह्मण जितना ही अधिक व्रत आदिका अनुष्ठान करते हैं उतना अधिक प्रमादकृत हिंसाचरणसे निवृत्त होकर अहिंसा धर्मकी निर्मलता साधन करते हैं"—महाभारतके मोक्षधर्ममें भी बतलाया गया है कि—"जिस प्रकार हाथीके पांव (पदचिन्ह) तले सब जन्तुओंका पदचिन्ह अन्तर्भूत हो जाता है, उसी प्रकारसे अहिंसामें भी सब ही धर्म आहित (सम्मिलित) रहता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस तरह हाथीका पांव सर्व जन्तुओंके पांवसे बड़ा होता है, अत एव हाथीके पद चिन्हके अन्दर सभी जानवरोंके पदचिन्ह समा जाते है, अर्थात बाहर नहीं निकलते उसी तरह अहिंसा भी सब धर्मोंसे श्रेष्ठ धर्म है इस लिए इसमें सब धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। लोभवश अथवा क्रोधवश हिंसा करना तो दूर रहे योगी-लोग धर्मवश यज्ञाङ्ग हिंसाको भी करना नहीं चाहते। अस्तु फल-मूल बीज आदिके रूपको सभी वस्तुओमें नितान्त अल्प जैव विकाश

है, सिर्फ उन्हींके द्वारा अपने शरीरकी परिस्थितिको सम्पादन करके जिनमे विशेष जैव विकाश है उनके प्रति कभी हिंसाका आचरण नहीं करते। इसी लिए योगशास्त्रने तपस्या, स्वाध्याय, तथा ध्यानादिके द्वारा आत्मदर्शनका उपदेश दिया है। योगी लोग कहते है, यद्यपि यज्ञाङ्गभूत पशु हिंसा देवताओंके उद्देशसे विहित है, तथापि जिनकी प्रकृति सात्विक हो वे इस प्रकारके कार्योंसे निवृत्त रहेंगे। वृहन्मनुने भी कहा है—"वृथा हिंसा कोई कर्त्तव्य नहीं वैध हिंसा राजसिकधर्म है, किन्तु ब्रह्मवित् किसी तरहकी हिंसा न करेंगे क्योंकि वे सत्वगुणमें प्रतिष्ठित है।"—और ऐसा भी कहा जाता है कि जब मनुष्यके समान धार्मिक जीव संसारमें और कोई नहीं है तो फिर उस मनुष्यके निकट भी यदि एक दुर्व्वल असहाय पशु दयाका पात्र न हो तो फिर वह दयाकी भिक्षा और किससे करे? और ब्रह्मवित् सर्वात्मक ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होकर किसके लिए तथा किसके प्रति हिंसाका आचरण करेंगे? जो मनुष्य रजोवहुल प्रकृतिके होते है उनकी शास्त्रीय हिंसामें थोडी बहुत प्रवृत्ति होती है। श्रुतियां भी कहती है—'साधारण हिंसावृत्तिको निवारण करके सत्वगुणमें आजानेपर कभी न कभी मनुष्य अवश्य समुन्नत हो सकता है। इस लिए यज्ञीय हिंसा अनुज्ञात हुई है। जिन सब रजोगुणान्वित पुरुषोंमें सत्वगुणका कुछ कुछ प्राधान्य है, और इस प्रकारके पुरुष जब पशुवलिमें विशेष फल मानें तो वे देवोद्देशसे पशुवध न करके कूष्माण्ड अथवा बकरेकी पशुप्रकृति बनाकर वलि करते हैं। शिष्ट लोग कहते है कि यज्ञसे चित्तकी शुद्धि होती है और उसके वाद ब्रह्मको जाननेकी इच्छा होती है। इस प्रकारकी ब्रह्म जिज्ञासा होनेपर पुरुष पशुवधादिके समान यज्ञकर्मसे विरक्त होकर निर्मल योगके द्वारा अपनी अन्तरात्माका साक्षात्कार करते है। वेदोमें भी कहा गया है कि यज्ञ, दान तथा तपस्या द्वारा ब्रह्म विविदिषा प्रवर्तित होती है॥

जो लोग साधारणतः तमोबहुल होते हैं वे आत्मसुखके लिए देवोद्देशके विना (अलावा हो) पशुवधमें प्रवृत्त होते हैं॥ वैधहिंसाके विना दूसरी हिंसाके प्रतिषेधके कारण उनको जवर्दस्ती हिंसासे उनका अनिष्ट होता है।

योगियोंके सिद्धान्तके विषयमें मीमांसक लोग कहते हैं कि—"अग्नि तथा चन्द्रमाके उद्देशसे पशु आलम्भन अर्थात पशुहनन करना"—"वायुके उद्देशमें श्वेत बकरेको हत्या करना"—"उसी कारणसे यज्ञमें पशुवध वध नहीं कहा जा सकता"—इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंके द्वारा जो वैध हिंसा अनुमोदित हुई है उसका अनिष्ट फल किस प्रकार सम्भवपर होगा? और विधियोंसे जो हिंसा परामृष्ट हुई है, तथा जिस हिंसासे पापफल अथवा निन्दावादका उल्लेख नहीं किया गया है, वह कभी किसी रूपमें पापजनक नहीं हो सकती। स्मृतियां जब ऐसा भी कहती हैं कि आततायीको मारनेमें दोष नहीं होता है अस्तु उसको देखते ही मारना, तो फिर वैध हिंसा करनेसे क्या कोई पाप हो सकता है?

इसके उत्तरमें योगी लोग कहते हैं कि यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है। "किसी जीवको हिंसा न करना"—इस प्रकारका श्रुति निर्द्देश होनेपर हिंसाका अनिष्ट-साधन, ज्ञापित होता है। अस्तु अनन्त पुण्यजनक यज्ञोंमें पशु हिंसासे कितने ही अनिष्टफल होंगे। तो फिर अनिष्टफलमें विशेषता यही है कि धानके साथ घासके वीजकी तरह वह (पाप वा अनिष्ट) पुण्यके साथ मिश्रित रहता है।

इसी लिए भगवान पञ्चशिखाचार्यने एक श्रौत वाक्य उद्धृत किया है। वाक्य इस प्रकार है—"यज्ञमें जो पाप होता है वह अल्प, क्षमार्ह, प्रायश्चित्तादिके द्वारा परिहृत होने लायक, तथा वह बहुतसे पुण्यके साथ मिश्रित रहकर भोजननान्तरीयक दुःखके समान यजमानको कातर नहीं कर सकता।" और "वधोऽवध" इत्यादि जो स्मृतियांमें दिखलाई गई हैं उनसे भी वधका आभास ही समझना होगा।

"विधियोंके द्वारा जो हिंसा परामृष्ट हुई है'—"स्मृतियोंने आततायीको वध करनेका आदेश दिया है"—इत्यादि जो कुछ कहे गये हैं उनके विषयमें यही कहना है कि—यज्ञके द्वारा बहुत पुण्य होता है, इस लिए हिंसाजनित सामान्य पापका उल्लेख नहीं किया गया, और आततायी-वध-विषय राजधर्मगत रहनेके कारण अध्यात्म शास्त्रोंमें उपेक्षणीय है। [illegible] आततायीके वध-करनेमें भी पाप होता है यह भगवत् गीतामें अर्जुनकी उक्तिके ही पढनेसे ज्ञात हो जाता है। अस्तु आततायीका वध करने पर कोई राजदण्ड नहीं होने पर भी उसमें पाप होता है और पापका फल होता है इसमें कोई सन्देह नहीं। और श्येनयज्ञमें जीवहत्या-विषयक श्रुतिके द्वारा भी हिंसा समर्थित नहीं होती क्योंकि उससे जिस तरह शत्रुवधरूप इष्ट साधित होता है उसी तरह हिंसाजनित पाप भी अवश्य ही होता है। स्मृतिशास्त्रोंमें उसकी उपपातक नामसे गणना की गई है।

"किसी भूतकी (जीवकी) हिंसा न करना" "अग्नि तथा चन्द्रमाके उद्देशसे पशुहत्या करना" इत्यादि विशेष श्रुतियोंके द्वारा बाधित हुआ है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पशु-बलिके द्वारा यज्ञपूर्ण होगा, और हिंसा करने हीसे पाप होगा इत्यादि ऐसे विषयभेदप्रयुक्त दोनों ही श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं होता। इससे यह जान पडता है कि यज्ञमें पुण्य होगा किन्तु हिंसामें कुछ पाप भी होगा। यह पापकी अपेक्षा पुण्य बहुत ही अधिक होगा।

स्मार्त्त रघुनन्दन भट्टाचार्य्यने तिथितत्त्वमें वैध हिंसाका विचार किया है तत्त्वकौमुदीमें वाचस्पति मिश्रने अहिंसाका ही समर्थन किया है। रघुनन्दन भट्टने वाचस्पतिकी युक्तिका प्रणिधान करके वधहिंसाका समर्थन किया। पर फिर भी वाचस्पतिका मत खण्डित नहीं हुआ। "मा हिंस्यात्" तथा—"अग्निषोमीयं पशु-मालभेत" इत्यादि विरुद्ध श्रुतियोंका सामञ्जस्य करनेके लिए पहले-

को उत्सर्गविधि तथा शेषवालेको विशेषविधि कह कर मीमांसा की गयी है, तथा वैध हिंसाका पापराहित्य दिखलाया गया हैं। उसके अनुसार ही रघुनन्दनका सिद्धान्त भी युक्तियुक्त होता है। यज्ञादि कर्म्मोंसे मुक्ति नहीं होती वह केवल भोगप्रधान है, इसी लिये सांख्ययोगने प्रतिपाद्य विषयमें भिन्नत्व दिखला कर विरुद्ध श्रुतियोंका सामञ्जस्य रखते हुए, यज्ञ तथा यज्ञाङ्गभूत हिंसा दोनों ही का परित्याग किया है। इस प्रकारके न्यायानुसार वाचस्पतिका सिद्धान्त भी युक्तिनिष्पन्न होता है। शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि—"जिस देशमें, जिस समय, जिस कारणसे, जो कुछ धर्म्म कह कर अनुष्ठित होता है वही धर्म्म देशान्तर, कालान्तर, अथवा निमित्तान्तरसे अधर्म्म कहाकर परित्यक्त होता है।" आचार्यका कथन जितना ही सारगर्भ है उतना ही औदार्यमय भी है। भागवतमें लिखा है—"भक्ष: सुराया विहितो न पानं तथा पशोरालभनं न हिंसा।" गौड़के तान्त्रिक लोग इसका इस तरह अर्थ कहते हैं। "शास्त्रीय सुरापान अथवा सोमपान सामान्य पान कह कर गण्य नहीं हो सकता, तथा वेद आदि शास्त्रविहित पशुघात हिंसापादवाच्य भी नहीं हो सकता।" वृन्दावनके वैष्णवगण इसका अर्थ इस प्रकार कहते हैं—"शास्त्रोंमें जहां जहां सुरापानकी विधि देखी जाती है, वहां वहां गलाध:करण (निगलनेके) के बदले आघ्राणमात्र ही लेना ऐसा समझना चाहिए, तथा शास्त्रोंमें जहां जहां आलम्भन आदि शब्दोंका प्रयोग किया गया है, वहां वहां हत्याके (बदले) स्थानमें त्यागमात्र ही लेना उचित है। अस्तु गौड़देशका प्रचलित धर्म्म वृन्दावनमें पापजनक समझा जाता है, किन्तु इतना ही होनेसे कोई किसीसे खण्डित नहीं होता है? यहां भी हम लोग यही कहेंगे, कि भोगमूलक प्रवृत्ति धर्म्मके लिये मीमांसा शास्त्रोंमें यज्ञ आदि कर्म्म तथा तत्कर्म्माङ्गभूत बलिदान भी विहित ही माना गया है। और मोक्षमूलक निवृत्तिधर्म्मके लिए सांख्ययोगादि दर्शनोंमें वह परित्याग किया गया है। अस्तु एकके परि-

त्याग अथवा ग्रहण वा समर्थन करनेसे दूसरा खण्डित नहीं हो सकता।

उत्तरमीमांसाके "अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्" अर्थात् "शास्त्रानुसार हिंसासाध्य यज्ञोंमें पाप नहीं होता" यह सूत्र तथा उसका शाङ्करभाष्य पूर्व्वमीमांसाका समर्थन करता है। क्योंकि पूर्व्वमीमांसा अहिंसाविषयक श्रुतिको उत्सर्गविधि अर्थात् साधारण नियम बतलाते हुए वैध हिंसामें पाप नहीं ऐसा कहा है। तदनुसार रघुनन्दनका सिद्धान्त निर्दोष है इसमें फिर कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यागादि कर्म्म भोगप्रद होते है, और भोगका अन्त होनेसे कर्म्मानुशयी जीव संसारमें पुन. प्रत्यावर्त्तन करता है इसमें भी कोई सन्देह नहीं। अस्तु योगीगणने यागादि कर्म्मोंसे विरक्त होकर पूर्व्वोक्त दो प्रकारकी श्रुतियोंका बिषयभेद निरूपण किया है, इस लिए उसमे कोई दोष नहीं होता। क्योंकि कर्म्मसे जिनको वैराग्य है, उनको कर्म्माङ्गभूत हिंसामे किसी तरह अनुराग हो ही नहीं सकता। इस लिये वाचस्पति मिश्रका सिद्धान्त तथा रघुनन्दनका सिद्धान्त दोनों ही निर्दोष होते है ॥२१—२३॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः।
विपर्य्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः॥ २४ ॥

अन्वयः।

अष्टादशदोषः मदः स्यात्। षड्विधः त्यागः भवति। त्यागानां ये] विपर्य्ययाः स्मृताः [ते] एते मददोषाः उदाहृताः ॥ २४ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं मददोषानाह—मद इति। एतेऽनृतादिहिंसान्ता ये दमदोषत्वेन स्थिताः स्मृताः, त एते विपर्य्ययाः स्मृताः सत्यादिरूपत्वेन स्मृताः मददोषा मदनाशकरा .उदाहृताः। त एते सत्या-पैशुन्यातृष्णाप्रातिकूल्यातमोऽरतिलोकाद्वेषानभिमानाविवादाप्राणि---

हिंसाऽपरिवादानतिवादापरितापक्षमाधृतिसिद्ध्यपापकृत्याहिंसा इत्येते मदनाशकरा उदाहृता: ॥ २४ ॥

कालिका।

दमस्य विरोधो दमाभाव इह मदशब्देनोक्त:। अतो ये मददोषास्ते दमस्य गुणा इत्याह—मद इति। अयं भाव:—अनृतादिहिंसान्ता ये मददोषत्वेन स्मृता: प्रोक्ता स्तेषां विपर्य्यया मददोषा मदनाशकरास्तथा वक्ष्यमाणस्य षड्विधत्यागस्य च विपर्य्यया: षट् ये खलु पुत्रैषणा धनैषणा इष्टादिदैवकार्य्याकरणं पूर्त्तादिपितृकार्य्याकरणं विषयैषणा सुखैषणा चेत्येते मददोषा उदाहृता इति। तत: साकल्येन चतुर्विंशतिर्मददोषा एते भवन्ति।

ऋतमवितथं वच:। अपैशुन्यं गुणिनां दोषे उपेक्षा। अतृष्णा भोगे स्पृहाशून्यता। अप्रातिकूल्यमप्रतिकूलता धर्म्मादौ। अतमो विद्या नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्व्विका। रति: सत्क्रियाभिलाष:। लोकाद्वेषो लोकान् प्रति सदाचार:। अभिमान अनात्मदर्शनम्। अविवाद: सौहार्द्दम्। अप्राणिपीडनं प्राणिनामनभिद्रोह:। अपरिवाद: परदोष उपेक्षा। अनतिवाद: समर्य्यादं वच:। अपरितापोऽनतिदु:खित्वमीर्षात्यागो वा। क्षमा, धृति:, सिद्धिश्च प्रागेव व्याख्याता। अपापकृत्वं प्रतिषिद्धकार्य्यासमाचरणम्। अहिंसा कायवाङ्मनोभि: सर्व्वदा भूतानामनभिद्रोह:। इति ॥ २४ ॥

मूलानुवाद।

दम गुणके विरोधी जो अठारह दोष गिनाये गये है उनको मद कहते है। अस्तु दम मदका विपरीत हुआ और अक्षरोंमें भी ठीक उलटा ही है। शास्त्रोक्त जो छ: त्यागके छ: विपर्य्यय है, उनको भी मद ही कहते है ॥ २४ ॥

कालिकाभास। पर स्लोके द्रष्टव्य।

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत्।

तेन दु:खं तरन्त्येव भिन्नं तस्मिन जितं कृते ॥ २५ ॥

अन्वयः।

षड्‌विधः त्यागः श्रेयान् तृतीयः तु दुष्करो भवेत्। तेन (तृतीयेन त्यागेन) भिन्नम् (आध्यात्मिकादिभेदभिन्नं) दुःखं तरन्ति एव। तस्मिन् (तृतीये त्यागे) कृते [सति, सर्व्वं] जितं [भवति]॥ २५॥

शाङ्करभाष्यम्।

'त्यागो भवति षड्‌विध' इत्युक्तं तत्राह—श्रेयानिति। षड्‌विधेषु त्यागेषु तृतीयत्यागो दुष्करः दुःखसम्पाद्यः। तृतीयेन तेन त्यागेन दुःखम् आध्यात्मिकादिभेदभिन्नं तरत्येव, तस्मिन् त्यागे कृते सर्व्वं जितं भवत्येव॥ २५॥

कालिका।

आत्मतत्त्वविदामिष्टत्वात् त्यागं लक्षयति श्रेयांस्त्विति। षड्‌विध एव त्यागः श्रेयान् प्रशस्ततरः। तृतीयो वक्ष्यमाणस्तु त्यागः षड्‌विधेषु दुष्करो दुःसम्पाद्यः। तृतीयेन त्यागेन दुःखमाध्यात्मिकादिभेदभिन्नं तरन्त्येव लोका इति शेषः। दुःखमिति। आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्चेति दुःखत्रयम्। अध्यात्मशब्देन कर्म्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिवायुपञ्चकं मनआद्यन्तःकरणचतुष्टयञ्च प्रोच्यते। अत आध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसञ्चेति। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं ज्वरातीसारविसूच्यादिकं, मानसं कामक्रोधलोभमोहशोकादिनिबन्धनम्। आन्तरोपायसाध्यत्वात् सर्व्वमाध्यात्मिकं दुःखम्। वाह्योपायसाध्यं च दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। अधिभूतशब्देनेन्द्रियगोचरमुच्यते। अतएव पशुपक्षिमनुष्यादिनिमित्तं दुःखमाधिभौतिकम्। अधिदैवशब्देन—"दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः। चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शम्भुश्च करणाधिपाः॥" इति निर्द्दिष्टा इन्द्रियाधिदेवता उच्यन्ते। अत स्तत्सम्बन्धि दुःखं शीतोष्णवातवर्षाग्रहादिनिमित्तमाधिदैविकम्। कामत्यागेन तेषां दुःखानां संभेदो भवति। श्रुतिश्च—"यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्यत्र

ब्रह्म समश्नुत” इति। तस्मिन् त्यागे कृते सर्व्वं जितं भवति। ससंस्कारकामत्यागेन सर्व्वदु:खनिवृत्तिरूपो मोक्ष: सिद्ध्यति इत्यभिप्राय: ॥ २५ ॥

मूलानुवाद।

दो दो करके तीन प्रकारके त्याग है। उनमें तृतीय त्यागद्वय अत्यन्त कठिन है। किन्तु उसीके द्वारा दु:खकी आभ्यन्तरिक निवृत्ति होती है ॥ २५ ॥

कालिकाभास।

मिथ्या आदिसे लेकर हिंसा पर्य्यन्त जितने दमदोष गिनाये गये है वे सब मद है, अस्तु दम दोषके विपर्यय सब मद नाशक हैं। अतएव शब्दत: तथा अर्थत: दमके विपरीत मद ही होता है। जिस प्रकार हिंसा एक मद दोष है, क्योंकि हिंसा जिस तरह दम दोषका नाश करती है अहिंसा भी उसी तरह मद दोषोंका नाश करती है। और वक्ष्यमाण छ: त्यागोंके जिस समय छ: विपर्यय होते है, उस समय वे भी मद नामसे ही पुकारे जाते है। षड़विध त्यागोंके विपर्यय इस प्रकारके होंगे :— १। पुत्रकी एषणा अर्थात् अभिलाषा अथवा अन्वेषण करना। बृहदारण्यकमें बतलाया गया है कि ब्रह्मलाभ करनेके लिए पुत्रैषणाका त्याग करना होगा। संसारमें (सांसारिक) जितने प्रकारके सुख है, वे भाविदु:खके बीज है, इसी लिये श्रुतियोंने सुखके अन्वेषणका निषेध किया है। इस-लिए योगी लोग परवैराग्यके सहारे सुख तथा दु:ख दोनों ही को त्यागकर मोक्ष पथके पथिक होते हैं। २। धनकी एषणा अर्थात् धनमें निरतिशय आसक्ति। बृहदारण्यकके चतुर्थ ब्राह्मणमें धनके लिए एषणा वा अतिशय आसक्तिको त्याग करनेका उपदेश दिया गया है। जो धनकी क्षति नहीं सह सकते उनको कृपण कहते है। कृपण व्यक्ति धनरक्षाके लिए तथा क्षुद्र सुखलाभकी आशामें दासजनित महान

सुखसे वञ्चित रह जाते है, इस लिए शास्त्रोने अतिशय तथा अनुचित धनरक्षाका वर्जन किया है। ३ इष्ट अर्थात् यज्ञ आदि कार्य्य नहीं करना। वृहद् आरण्यकके चतुर्थ ब्राह्मणमें कहा गया है कि—"यज्ञके द्वारा ब्राह्मणोंको चित्तशुद्धि होती है। और चित्त शुद्ध होने पर वे मुनि होते हैं।" ४। पूर्त्त आदि दान-कार्य्य न करना। यह भी वृहदारण्यकमें कहा गया है कि दानके द्वारा ब्राह्मणोंकी चित्तशुद्धि होती है। इत्यादि। ५—६—कामत्याग अर्थात् रूप, रस, शब्द, गन्ध, आदि स्थूल विषयोंमें अनुराग तथा इस अनुरागका सूक्ष्म संस्कार इन दोनोंका अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा नहीं त्याग करना। पञ्चम तथा षष्ठ विपर्य्यय है। शेषके इन दोनों विपर्य्ययोंको अभ्यास तथा वैराग्य योगके अवलम्बन पूर्व्वक त्याग न कर सकनेपर फिर त्रिविध दुःख नाशकी सम्भावना नहीं हो सकती।

त्रिविध दुःख अर्थात आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। अध्यात्मशब्दसे पञ्च कर्म्मेन्द्रिय पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, प्राण आदि पञ्च वायु, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार आदि अन्तःकरण चतुष्टय समझा जाता है। अत एव आध्यात्मिक दुःख शारीर तथा मानस भेदसे दो प्रकारके हो सकते है। वात पित्तादि वैषम्यके कारण जो दुःख होता है वह शारीरिक दुःख है,तथा काम क्रोध आदिके कारण जो दुःख होता है वह मानसिक दुःख है। आन्तरोपाय साध्य होनेके कारण इनको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। जो इन्द्रियगोचर हो वह अधिभूत है। अतएव पशुपक्षि मनुष्यादिजनित दुःखको आधिभौतिक दुःख कहेंगे। अधि दैव शब्दसे शास्त्रोंमें दिगादिन्द्रिय देवतासमूह निर्दिष्ट होता है। अतएव तत्सम्बन्धि शीतोष्ण, वातादि, निमित्त दुःखको आधिदैविक दुःख कहेंगे। पर वैराग्यके द्वारा कामविषय तथा उसका संस्कार त्याग कर सकनेसे इन सब दुःखोंका आत्यन्तिक नाश होता है। अर्थात् समस्त माया प्रपञ्चको जीतकर योगी ब्रह्मलाभ करता है॥ २४-२५॥

अर्हते याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यः।
इष्टापूर्त्तं द्वितीयं स्यान्नित्यं वैराग्ययोगतः ॥ २६ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो महान् ॥ २७ ॥

अन्वयः।

राजेन्द्र! अर्हते याचमानाय यः पुत्रान् वित्तं [वा] ददाति [तस्य यद्दानं तत् एकम्]। य इष्टापूर्त्तम् (इष्टं पूर्त्तं च) [करोति तस्य दान] द्वितीयं स्यात्। नित्यं (सदा) वैराग्ययोगतः कामत्यागः (प्राक् यतमानादिवैराग्ययोगेन कामविषयत्यागः ततः कामसंस्कारत्यागः) [यः] स तृतीय इति स्मृतः। एतैः अप्रमादी भवेत्। सः (अप्रमादः) च महान् अष्टगुणः [स्यात्] ॥ २६ । २७ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

त्यागषट्कं दर्शयति—अर्हत इति। अर्हते दानयोग्याय याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददातीति यत् तदेव त्यागद्वयं षण्णां मध्ये प्रथमम्। इष्टापूर्त्तं द्वितीयं स्यात्। इष्टं श्रौते कर्म्मणि यद्दानम्। पूर्त्तं स्मार्त्ते कर्म्मणि। इष्टं देवेभ्यो दत्तम्, पूर्त्तं पितृभ्य इति केचित्। नित्यं वैराग्ययोगतः विशुद्धसत्त्वस्यानित्यत्वादिदोषदर्शिनो विरक्ततया धनादिपरित्यागः कामत्यागश्च राजेन्द्र, स तृतीय इति स्मृतः'।

किमेभिर्भवतीत्याह—अप्रमादीति। य एतैः षड्भिस्त्यागैः समन्वितः सोऽप्रमादी भवेत्। सः अप्रमादीऽष्टगुणः अष्टभिर्गुणैः समन्वितो भवति ॥ २६ । २७ ॥

कालिका।

त्यागषट्कं दर्शयति—अर्हत इति। अर्हते दानयोग्याय याचमानाय पुत्रान् यो ददाति यथा दाताकर्णस्तस्य त्याग एकः। एवं यो वित्तं ददाति यथा परशुरामो यत्रेदमुक्तं—"त्यागःसप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिरि"ति तस्य त्यागोऽपरः। एतदेव त्यागद्वयं

षसां मध्ये प्रथमम्। एवंविधे त्यागे ह्युत्साह एव स्थायी भाव:। कर्णो वा परशुरामो वा सर्व्वस्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितां हर्ष-धृत्यादिभि: सञ्चारिभि: पुष्टिं नीतां दानवीरतां भजते। इष्टापूर्त्तं समाहारद्वन्द्वः पूर्व्वपददीर्घश्च। श्रौते कर्म्मणि दानमिष्टं स्मार्त्ते तु पूर्त्तम्। उक्तं च—"वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। अन्न-प्रदानमाराम: पूर्त्तमित्यभिधीयते। एकाग्निकर्म्महवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्याञ्च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते॥" इति। एतदेव त्यागद्वयं द्वितीयम्। तत्र युधिष्ठिरो धर्म्मवीरो दानवीरतामिमां भजते। यत्रेदमुक्तं—"राज्यं च वसु देहश्च भार्य्या भ्रातृसुताश्च ये। यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्म्माय सदोद्यतम्"॥ इति। नित्यं सदा वैराग्ययोगेन: कामत्यागो यतमानादिवैराग्ययोगेन विषयत्याग स्तत: परवैराग्ययोगेन तत्संस्कारत्यागश्चेति इयं तृतीयम्। षसां यत् द्विकत्रयं तत्र तृतीयद्विकत्यागो दुष्कर:। परवैरा-ग्येन तत्त्वज्ञाननिष्पत्तेः। तथा हि वेदान्ताभिहितो योग:—"त्याग: प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्। त्यागो हि महतां पूज्य: सद्यो मोक्षमयो यत:"॥ इति। एतै: षड्भि स्त्यागै: मनुष्योऽप्रमादी भवेत्। अप्रमादश्च तथा महान् अष्टभिर्गुणैर्युक्तो भवति॥ २६। २७॥

मूलानुवाद।

तीनों त्यागद्वय प्रकाशित किये जाते है। यह सब मिलकर छ: होते है। यथा:—१—जो पात्र विशेषको पुत्र तथा धन दानकर सकते हैं—उसका (शक्तिका) त्याग सबसे प्रथम त्याग है। २—जो इष्टकार्य तथा पूर्त्तकार्य करते हों उसका त्याग। ३—जो सदा वैराग्यके सहारे काम तथा उसके संस्कारका त्यागकर सकते है—उस त्यागको ही पूर्व्वोक्त तृतीय त्याग कहते है। इन त्यागोंका अनुशीलन करनेसे मनुष्य प्रमादरहित होकर निम्न लिखित आठ शुभ गुणोंसे सुशोभित होता है॥ २६। २७॥

कालिकाभास।

प्रथम त्याग युगलमें पुत्रैषणा तथा वित्तैषणके वर्जनका उपदेश दिया गया है। यह पुत्रशब्द उपलक्षक है, क्योंकि लोकबलकी वासना न रखे यही इसका असली अभिप्राय है। वित्तशब्दसे सब तरहकी धन सम्पत्ति समझी जाती है। दाताकर्ण तथा परशुरामजी ऐसे त्यागके उदाहरण हैं। क्योंकि दाता कर्णने पुत्र त्याग किया था, और परशुरामजीने राज्य आदिके भोगका त्याग किया था। अयोध्यापति रामचन्द्र तथा धर्मराज युधिष्ठिरमें उक्त दोनों प्रकारके त्याग वर्त्तमान हैं। क्योंकि धर्मके लिए उन्होंने स्त्री पुत्र राज्य आदि सर्वस्व हो का परित्याग किया था। वैराग्यशब्दसे यतमानादि तृतीय तथा वशीकारादि दोनों ही तरहके पर, अपर वैराग्य समझने चाहिए। क्यों कि कामशब्दसे रूप आदि स्थूल विषय, काम तथा कामका संस्कार ऐसा अर्थ नहीं करनेसे उपरोक्त छहोंकी पूर्ति दुर्घट होगी। काम अर्थात योगशास्त्रोक्त पारिभाषिक राग। इसका लौकिक अर्थ अनुराग है। यत मान आदि वैराग्यमें रूप रस आदि स्थूलविषयक काम परित्यक्त होनेपर भी वशीकार वैराग्यके विना कामके हेयत्व अथवा उपादेयत्वमें बुद्धिशून्यता नहीं होती, इस लिए मूलके वैराग्यशब्द दोनों प्रकारके अपर-वैराग्यको लक्ष्य करता है। काम तथा काम संस्कारका नाश अत्यन्त कष्ट साध्य है। इस लिये पूर्व्वश्लोकमें आचार्यने उसके त्यागको अत्यन्त दुष्कर बतलाया है।

पुत्र आदि लोक वासना, धन आदि सम्पत्ति वासना, याग यज्ञ व्रत आदिमें अश्रद्धा, दान अथवा श्राद्धादि कार्योंमें अनिच्छा, भोगमें अनुराग तथा उसका संस्कार इन्हीं छहोंका त्याग करसकनेसे मनुष्य वक्ष्यमाण आठ शुभ गुणोंसे सुशोभित होता है॥ २७॥

सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्य्यञ्च तथाऽसंग्रहमेव च॥ २८॥

अन्वयः।

सुगमैव पदयोजना ॥ २८ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

के ते ? तान् दर्शयति—सत्यमिति। सत्यं यथार्थभाषणं (१)। ध्यानं चेतसः कस्मिंश्चित् शुभाश्रये मण्डलपुरुषादौ तैलधारावत् संतताविच्छेदिनी प्रवृत्तिः (२) समाधानं प्रणवेन विश्वाद्युपसंहारं कृत्वा स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थानम् (३)। चोद्यं कोऽहं कस्य कुत इत्यादि वा (४)। वैराग्यं दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णता (५)। अस्तेयम् अचौर्यम् आत्मनो द्रव्यस्य वा (६)। आत्मचौर्यमुक्तम्—

> योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
> किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ इति।

ब्रह्मचर्य्यम् अष्टाङ्गमैथुनत्यागः (७)। तथा चोक्तम्—

> दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्त्तनं गुह्यभाषणम्।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीतं ब्रह्मचर्य्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥ इति।

असंग्रहः अपरिग्रहः पुत्रदारगृहादीनाम् (८)। एतत्परि-पालयेत् ॥ २८ ॥

कालिका।

अष्टौ गुणान् दर्शयति—सत्यमिति। सत्यं प्रागेव व्याख्यातम्। ध्यानं तैलादिधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपा ध्रुवा स्मृतिः। 'स्मृत्युपलम्भे सर्व्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ततः समाधानं प्रवर्त्तते। शास्त्रं च विवेकादिभ्य एव ध्रुवानुस्मृतेर्निष्पत्तिमाह—तल्लब्धिर्विवेक-विमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्य इति। शास्त्रं विवेका-दीनां स्वरूपाणि चाह। सत्त्वशुद्धिरेव विवेकः। तत्र निर्व्वचनम्—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिरि"ति। विमोकः

कामत्यागो यः प्राग् व्याख्यातः। "शान्त उपासीते"ति श्रुतिः। अभ्यासः स्थितिनैश्चल्यम्। निर्वचनं च स्मार्त्तमुदाहृतं स्वयं भगवता "सदा तद्भावभावित" इति। क्रिया यज्ञादीनामनुष्ठानम्। "तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति निर्व्वचनात्। सत्यार्ज्जवदयादानाहिंसानभिध्याः कल्याणानि। प्रमाणं च तत्र—"सत्येन लभ्य स्तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोक" इत्येवमाद्याः श्रुतयः। शोकादिस्मृते दैन्यं मनसोऽवसाद स्तद्विपर्य्ययोऽनवसादः। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य" इति श्रुतिः। [illegible] नुद्धर्षः। उद्धर्षः स्मृतिविरोधमाक्षिपतीत्यवधारणात् तत्त्याग उक्तः।

यमादिभिर्ध्यानं निर्म्मलं भवति, ध्यानेन मनो निर्म्मलं भवति। निर्म्मले च मनसि ब्रह्मापरोक्षज्ञानफलं समाधानम्। "आत्मानमेव लोकमुपासीते"ति श्रुतिर्ध्यानविषयं हि नियोग दर्शयति।

ध्यानञ्च सूत्रितं पतञ्जलिना—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमि"ति। एतदुक्तं भवति—यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य चैकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायाम् आलम्बनीकृतं तदालम्बनतया निरन्तरमेकप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानमिति। स च प्रवाहोऽविच्छिद्य जायमानो ध्यानं भवति। तदुक्तं—"विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां सम्भवप्रत्ययक्रमात्। परिशिष्टं च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत्"। इति।

आरब्धकार्य्याणां सुखदुःखमोहात्मिका या वृत्तयः सन्ति ता स्थूला अभिव्यक्तावस्था ध्यानेन प्रतिवद्धा भवन्ति, किन्तु या अनारब्धकार्य्याणां सूक्ष्मा अनभिव्यक्तावस्था स्ताः पुनः समाधानेन हातव्या इत्यत आचार्य्यः समाधानं लक्षयति। समाधिरेव समाधानम्। ध्यानमेव ध्येयैकगोचरतया यदा साक्षिणि निर्भासते, तथा चित्तस्य ध्येयस्वरूपावेशेनाहमिदं चिन्तयामीत्येवंप्रकारवृत्त्यन्तरानुदयात् प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव भवति, तदा समाधान मित्युच्यते।

समाधानस्य च द्वैविध्यं सम्प्रज्ञातमसम्प्रज्ञातमिति। तत्र सम्यग्विपर्य्ययशून्यत्वेन प्रकृष्टं ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन तत् सम्प्रज्ञानम्।

तच्च त्रिविधं ग्राह्यभानं ग्रहणभानं ग्रहीतृभानमिति। ततः चित्तं ग्राह्यग्रहणग्रहीतृसमापन्नमुपाश्रयभेदात् स्फटिक इव तत्तदालम्बनोपरक्तं [illegible]। [illegible] निर्भासते ग्राह्यभानं च चतुर्व्विधं सवितर्कं निर्व्वितर्कं सविचारं निर्व्विचारमिति। यदा स्थूलं विग्रहादिकमाश्रित्य पूर्व्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते तदा समाधानं सवितर्कम्। तदेव शब्दार्थज्ञानानां परस्परतादात्म्यगोचरा ये विकल्पा स्तैः सङ्कीर्णं भवति। विग्रहादिस्थूलावलम्बने तु पूर्व्वापराभिसन्धानशब्दार्थोल्लेखराहित्येन भावना क्रियमाणा निर्व्वितर्कम्। तच्च शब्दार्थसङ्केतस्मृति. प्रलये सति तत् कार्य्यस्य विकल्पस्य प्रलयादर्थमात्रेणैव निर्भास्यमान भवति। व्यवसेयव्यवसायकारणत्वेनानुगतं यत् सूक्ष्मं तन्मात्रादिप्रकृतिपर्य्यन्तं तत्र देशकालधर्म्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्त्तते तदा सविचारम्। तदवलम्बने तु देशकालधर्म्मावच्छेदं विना धर्म्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्व्विचारम्। एवं पर्य्यन्तं समाधानं ग्राह्यभानमिति व्यपदिश्यते। यदा रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा चितिशक्तेः सूक्ष्मभूम्यारोहेण भाव्यमानस्य सत्त्वस्य साक्षात्कार आनन्दविषयत्वादानन्दः प्रवर्त्तते। तदनुगतं समाधानं सानन्दम्। अत्र कृतपरितोषाः पुरुषादर्शनाद् विदेहा उच्यन्ते। ग्रहणभानमिदं समाधानम्। ततःपरं रजस्तमोलेशेनानभिभूतं शुद्धसत्त्वप्रधानमहत्तत्त्वं देहादिभिन्नोऽस्मीत्येतत्वस्मात्राकारमालम्बनीकृत्य या भावना ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकात् प्रवर्त्तते तदनुगतं समाधानं सास्मितमित्युच्यते। अस्मिन्नेव बद्धधृतयः पुरुषमपश्यन्तः प्रकृतौ लीनत्वात् प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। ग्रहीतृभानमिदं समाधानम्। अतो ग्रहीतृभानपूर्व्वकमेव ग्रहणभानं, तत् पूर्व्वकञ्च सूक्ष्मग्राह्यभानं, तत्पूर्व्वकञ्च स्थूल-ग्राह्यभानमिति चतुरवस्थमिदं सम्प्रज्ञातं सबीजं बहिर्वस्तुबीजत्वात्। तत्र चित्तचाञ्चल्यदोषापत्तेः पूर्व्वपूर्व्वोपासनात्यागापत्तेश्च पूर्व्वपूर्व्वभूमिकात्यागेनोत्तरोत्तरभूम्यारोहः सम्प्रज्ञाते कार्य्यः। अतो वितर्कादिक्रम औत्सर्गिक एकपदे चित्तस्य परम-

सूक्ष्मे प्रवेशासम्भवात्। तदुक्तं—"स्थूले विनिर्ज्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे निवेशयेत्"॥ इति।

समाधानेन यदा विविधक्लेमप्रतिलम्भकरागद्वेषादिधर्म्मकालुष्यं निवर्त्तते पापादिसंभिन्नत्वाच्च शुक्लो धर्म्म उपजायते, तदा रजस्तमःक्षये पुरुषमात्राकारो य, खलु मैत्र्यादिचतुष्टयोपलक्षितं तत्त्वज्ञानं जनयति। तत्त्वज्ञानं दृश्यस्य मिथ्यात्वं दृग्वस्तुनश्च सत्यत्वं बोधयतीति तत् प्रज्ञारोहणमुच्यते। तथा हि वैयासिकी गाथा—"प्रज्ञाप्रासादमारुह्ये"ति। तत्त्वसाक्षात्कृतचित्तस्य येषा प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा। सैव संस्कारनाशेन यत् समाधानं निर्बीजमुत्पादयति तदसम्प्रज्ञातम्।

धारणाध्यानादित्रयं यदैकविषयं भवति तदा प्रातिस्विकसंज्ञोच्चारणसौकर्य्यात् त्रयस्य तान्त्रिकी संज्ञा 'संयम' इति। धारणा ध्यानं समाधिरित्येतत् त्रयस्य फलं योगो य ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेरुपायः। श्रुतिरपि योगमार्गं प्रतिपादयति "यच्छेद् वाङ्-मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं नियच्छेन् महति तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि"॥ इति। वाक्संयमेन मनोवृत्तिमात्रशेषो भवेत्, मनोव्यापारांश्च ज्ञातृत्वोपाधावहङ्कारे संयत्य विशेषाहङ्कारे संयत्य विशेषाहङ्कारमात्रो भवेत्, ततस्तं विशेषं सर्व्वानुस्यूते हिरण्यगर्भाख्ये सामान्ये नियम्य महत्तत्त्वमात्रं परिशेषयेत्, ततस्तमपि तत्कारणेऽव्यक्ते नियच्छेदेवं शेषतः कारणात्मकमव्यक्तं शुद्ध आत्मनि नियम्य योगी कृतकृत्यो भवेदिति श्रुतितात्पर्य्यम्। योगाय मनो निरुद्ध्यात् निरोधे च द्वावुपायौ भवतोऽभ्यासो वैराग्यं चेति। ईश्वरप्रणिधानाद् योगसिद्धिः क्षेपीयसी भवति। प्रणवजपेन चेश्वरस्य भावनं तत् प्रणिधानम्। तद्भावनं च द्विविधमेकं प्रकृतिकार्य्येभ्यो विविक्ते ब्रह्मचैतन्य आत्मतत्त्वचिन्तनं चापरमंशांशिककार्य्यकारणशक्तिशक्तिमदादिभिस्तप्तायःपिण्डवदविभागलक्षणेनाभेदेनाहं ब्रह्म "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति। योगपाटवेन चित्तं निरुद्धं निर्व्वृत्तिकतया चैकाग्रतां त्यक्त्वा निरिन्धनाग्निवदुपशाम्यति, ततः शुद्धसत्त्वमात्र-

णान्तःकरणेन परमात्माभिन्नं प्रत्यक्चैतन्यं साक्षात्कुर्व्वन् परमानन्दघने तुष्यति, विरमति च देहेन्द्रियसङ्घातात् तद्भोग्याद्वा।

निरुद्धे हि चेतसि पुरुषः सर्व्वविकारायोग्यत्वात् स्वस्वरूपभूतब्रह्मात्मैक्यज्ञानेनैव निखिलद्वैतानुपरक्तस्वप्रकाशपरमानन्दरूपाय अमृतत्वाय कल्पते। अपि च तदा सर्व्ववृत्तिनिरोधेन ज्ञाननिरोधो न शङ्कनीयः पुरुषमात्रविषयत्वात्। षड्भावापन्नं सर्व्वं वस्तुजातं पुरुषान्तं नश्यति, पुरुषस्तु षड्भावातिरिक्तत्वान्न विनश्यति। श्रुतिश्च —"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिरि"ति सर्व्वबाधावधिं परिशिनष्टि। न च स्वव्यवहारे दीप इव स्वप्रकाशज्ञानरूपः पुरुषः समाधौ ज्ञानान्तरमपेक्षते। तथा हि श्रूयते—"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति"॥ इति। एतेनैतदुक्तं भवति—पुरुषो हि स्वप्रकाशज्ञानरूपः सर्व्वभासकस्य च तस्य स्वभानार्थं नान्यापेक्षा वर्त्तत इति।

ननु वृत्तिनिरोधेन स्वरूपप्रतिष्ठा भवितुमर्हतीति चेत्, मूर्च्छितस्यापि ततो न विशेषः। मैवं वोचः। सरागवृत्तिनिरोधः स्वरूपप्रतिष्ठायै न कल्पते। सूक्ष्मप्राणदेहसम्बन्धावस्थितिर्मूर्च्छा। निमित्तं च तस्या अभिघातादिर्नतु परमात्मसन्दर्शनम्। नासति परमात्मदर्शने सरागवृत्त्युच्छेदः स्यात्। श्रुतिश्च—"भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"॥ इति।

चोद्यमिति। कोऽहमासं कथमहमासं कुतोऽहमासमित्यतीतस्य, तत्रेदं किं स्विदिदं कथं वेदमिति वर्त्तमानस्य, को वा भविष्यामि कथं वा भविष्यामि कुत्र वा भविष्यामीति भाविनश्च जन्मादिकस्य स्वरूपप्रकारयोर्जिज्ञासा स्वोत्प्रेक्षिता चोद्यं यतः सोऽहमस्मीत्यादिलक्षणं ज्ञानमुदेति। यद्वा कस्त्वं कस्य कुतः किं नामत इत्यादिरूपा जिज्ञासा मनस्येव चोद्यं यत स्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थं समुपपद्यते। तत्रापरोक्षानुभूतिश्च—"कोऽहं कथमिदं जातं को

वै कर्त्ताऽस्य विद्यते। उपादानं किमस्तीह विचार: सोऽयमीदृश: ॥ इत्येवमाद्या:। "किमिहास्तीह किंमात्रमिदं किमयमेव च। कस्त्वं कोऽहं क एते वा लोका इति वदाशु मे" ॥ इति स्मृति:। तत्र प्रतिवचनं तु—"चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च। चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रह: ॥ इति। (उपशमप्र २६।११)

वैराग्यं द्विविधं परमपरमिति। अपरं विवेकतारतम्येन यतमानादिवैराग्यत्रयं वशीकारश्चेति चतुर्विधम्। तत्र यतमानत्वं नाम नित्यानित्यवस्तुविवेकात् प्रजायते। चित्तगतदोषाणां मध्ये विवेकेनैतावन्तो जिता एतावन्तो जेतव्या इति विवेचनं व्यतिरेक:। दृष्टानुश्रविकविषयेषु दु:खमिति विचार्य्य मनसि रागद्वेषाद्यपसारणमेकेन्द्रियत्वम्। एतत्त्रितयाभ्यासेन हि विषयसंयोगेऽपि दोषदर्शनमप्रतिबद्धं भवति। एतत्त्रयमेव न निरोधहेतु:। विषयसन्निधानेऽपि हेयोपादेयत्वबुद्धिशून्यता वशीकार:। तदिदञ्चापरं वैराग्यं योगप्रवर्त्तकत्वेन सम्प्रज्ञातस्यान्तरङ्गमसम्प्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम्। तदनन्तरमपि सूक्ष्मविषयसंस्कारवशेन चित्तक्षोभात् सौभर्य्यादि योगानिष्पत्ते:। एतद्वैराग्यमात्रात् पुरुषख्यातिरहितस्य प्रकृतिलयो भवति।

परमपि द्विविधं विषयविषयं गुणविषयञ्चेति। तत्र पूर्व्वं विषयदोषदर्शनाद् विषयेषु चित्तक्षोभाद्दते यदेव वैराग्यं तद् विषयविषयमिति वक्तव्यम्। तदेव यथा लोक: कण्ठरवेण विज्ञाप्य स्वाभिमतं वदति तथा भगवान् पतञ्जलिरर्थत आद्यं सूत्रयन् साक्षाद्भावेन द्वितीयं सूत्रयति—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमि'ति। विषयवैराग्यपाटवेन गुणत्रयात्मकप्रधानाद्विरक्तस्य पुरुषस्य ख्याति: साक्षात्कार उत्पद्यते यतो गुणविषयं यद् वैराग्यं तत् परं यस्य नान्तरीयकं कैवल्यं भवतीति दिक्। अत: सूत्रे तत्परमिति काकाक्षिवदुभयत: सम्बध्यते।

स्तेयमशास्त्रपूर्व्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणम्। तदभावोऽस्तेयम्। यद्वा स्तेयमात्मचौर्य्यं तदभाव:। उक्तं च—"चौरेणात्मापहारिणे"ति।

ब्रह्मचर्य्यमुपस्थविषये सर्व्वेन्द्रियोपरमः। मैथुनमत्र स्मरणकीर्त्तन-केलिप्रेक्षणगुह्यभाषणसङ्कल्पाध्यवसायक्रियानिर्वृत्तिरूपाष्टाङ्गत्वात्। तत्सिद्धौ निरतिशयं योगसामर्थ्यं भवति। असंग्रहः शरीरस्थितिमात्र-[illegible] अष्टगुणः एतत्सर्व्वं परिपालयेदित्याशयः॥ २८॥

मूलानुवाद।

सत्य, ध्यान, समाधि, चौच, वैराग्य अस्तेय, ब्रह्मचय, तथा असंग्रह यही आठ प्रमादहीनताके गुण हैं॥ २८॥

कालिकाभाष्य।

प्रमाद राहित्य अथवा प्रमाद हीनतासे जो आठ गुण उत्पन्न होते हैं, यहां उनका वर्णन किया जाता है। सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा असंग्रह यही चार योगशास्त्रके प्रथमाङ्ग—यमके अन्तर्गत हैं। सत्यशब्दकी व्याख्या पहले ही हो चुकी है। तैलधाराके समान अविच्छिन्न स्मृतिसन्ततिका नाम ध्रुव स्मृति है। इस ध्रुव स्मृतिको ही ध्यान कहते हैं। ध्रुवस्मृतिका आविर्भाव होनेसे सब विघ्न-बाधाओंको पार करके चित्त समाहित (एकाग्र) होता है। शास्त्र कहते हैं:—विवेक विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष इन्हीं सातोंसे ध्रुवा स्मृति उत्पन्न होती है सत्वशुद्धिका परिणाम ही ध्रुवा स्मृति वा विवेक है। क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है—"आहार शुद्ध होनेसे सत्वशुद्ध होता है और सत्वशुद्ध होनेसे ही ध्रुवा स्मृति होती है।"—इसीसे शास्त्रान्तरोंमें भी आहार संयमकी प्रशंसा की गई है। और कहा है—"हितमितमेध्याशनं तपः"—विमोक अर्थात कामत्याग। यह भी पहले ही व्याख्यात हो चुका है। इन्द्रिय संयम करके उपासना किये बिना ब्रह्मतत्व नहीं समझा जा सकता, इस लिये श्रुतियोंने कहा है—कि शान्त होकर उपासना करनी चाहिये। निश्चला स्थितिका नामका अभ्यास है। अर्थात ध्येय विषयमें ही चित्तको संलग्न रखनेका

नाम अभ्यास है। इसी अर्थसे पतञ्जलि भगवानने भी कहा है कि—"अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा, वृत्तियोंका निरोध (रोक) करना चाहिये। भगवानने भी इसी अर्थमें—"तद्भावभावित"—शब्दोंका व्यवहार किया है। क्रिया अर्थात् यज्ञ व्रतादिका अनुष्ठान। यह भी चित्तशुद्धिका उपाय है। दया, दान, अहिंसा, ऋजुता तथा सत्यादिको लक्ष्य करके "कल्याण" शब्दका व्यवहार किया गया है। मनकी अवसन्नता को अवसाद कहते हैं। अनवसाद उसका ठीक उलटा है। श्रुति कहती है,—"बलहीन व्यक्ति आत्माको नहीं पा सकता"। उत्कट आनन्दका नाम उद्धर्ष है। उत्कट हर्ष होनेसे स्मृतिधारा विच्छिन्न हो जायगी अस्तु उसका त्याग करना श्रेय है। इन सब नियमोंके अनुसार ध्रुवा स्मृतिकी रक्षा कर सकनेसे ही ध्यानमें उत्कर्ष लाभ होता है।

यमादिके द्वारा ध्यान निर्मल होता है तथा ध्यानके द्वारा मन निर्मल होता है। मन निर्मल होनेसे ब्रह्मविषयमें परोक्ष ज्ञानजनक समाधि की सूचना होती है। अपने हृदयमें आत्माकी उपासना करूंगा ऐसा श्रुतियोंने ही ध्यानका नियोग किया है। इसी लिये योगशास्त्रमे यह अङ्कित पाया जाता है कि—प्रत्ययोंकी एकताननता ही ध्यान है। प्रत्यय अर्थात् ज्ञान। विजातीय भावनाको रोकते हुये सजातीयभावना की धारणमे आरूढ़ अथवा बद्ध होनेसे ही ध्यान होता है। यही पातञ्जल सूत्रका अभिप्राय है। यह सजातीय भावनाप्रवाह पहले जलधाराके समान विच्छिन्न २ होकर क्रमशः पुनः तैलधाराके समान अविच्छिन्न हो जाता है। और ध्यान जब जब अविच्छिन्न तथा घनीभूत होता है, तब ही ध्यानी समग्र विकृतिमय जगत्को स्मृतिका परित्याग करके सत्, चित् तथा आनन्दमय ब्रह्मकी चिन्ता मात्रको ग्रहण करता है।

प्रारम्भ किये गये कार्यमें सुखदुःखमोहात्मक वृत्तियोंकी व्यक्ता-

वस्थामें रहनेसे उनको ध्यानके द्वारा रोक दिया जाता है, किन्तु नहीं आरम्भ किये गये कार्यका सूक्ष्मसंस्कार समाधानके विना नहीं जाता। इस लिये आचार्यने समाधिका उल्लेख किया है। समाधि ही का दूसरा नाम समाधान है चित्तविक्षेपको छोडकर सम्यक रूपसे आहित होनेकी अवस्थाका नाम समाधि है। धेय वस्तुओंके एकमात्र गोचरताके लिये साक्षात जब वह भासमान होता है तथा ऐसा मानो—"मैं ही उनका ध्याता हूं" इस प्रकारका प्रत्यय भी जब बीच बीचमें लुप्त हो जाता है तब ही समाधिका आविर्भाव होता है।

सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात भेदसे समाधि भी दो प्रकारकी है। चित्तमें जिस समय धेय वस्तुका स्वरूप भासमान रहता है, तथा "मैं उनका ध्याता हूं" ऐसा बोध भी रहता है, उस समय इस अवस्थाको सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। और सम्प्रज्ञात समाधि ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीत्व भेदसे तीन प्रकार की भी हो सकती है। नीला, पीला तथा लाल आदि (रंग) निकटस्थ स्फटिक जिस प्रकार उपाश्रय भेदसे उन उन रंगोंसे युक्त मालूम होता है, चित्त भी उसी तरह ग्राह्यभान, ग्रहणभान अथवा ग्रहीतृज्ञानके अवलम्बनपूर्व्वक तदाकारत्व प्राप्त करता है। सवितर्क, निर्वितर्क सविचार तथा निर्विचार भेदसे ग्राह्यभान भी चार प्रकारका हो सकता है।

जिस समय पत्थरकी अथवा मिट्टीकी देवतामूर्त्तिका आश्रय करके तद्गत मन्त्र तथा मन्त्रार्थका उल्लेख करते हुए धेयवस्तुका पूर्व्वापर ज्ञानके साथ साथ भावना की जाती है, उस समय उसको सवितर्क समाधि कहते हैं। तर्क अर्थात् अनाहत शब्द, अस्तु इस समाधिमें मानसिक जप तथा मन्त्रार्थ भावना बनी रहती है। सवितर्क समाधिके उच्चाङ्ग समाधि नहीं होनेका कारण यह है कि इसमें शब्द तथा अर्थका वैकल्पिक ज्ञान भावनाके साथ सङ्कीर्ण होकर थोडी देरके बाद ही ध्याताका उत्थान कर देता है। किन्तु जब इष्टमूर्त्तिका आश्रय करके वाङ्मय मन्त्र

तथा धेय वस्तुका पूर्व्वापर ज्ञान वर्जन करते हुये केवल इष्टमन्त्रार्थ हो भावना होती है, तब उसको निर्वितर्क समाधि कहते हैं। इसमें व्यक्तिगत मानसिक अनाहत शब्दका प्रलय (लीनता)के लिये वैकल्पिक ज्ञान नहीं रहता है, अस्तु केवल मन्त्रार्थके सहारे भावना प्रवाहित होती है। सवितर्क समाधिके समान निर्वितर्क समाधिमें शब्द तथा अर्थका घातप्रतिघात नहीं होता, इस लिये ध्यानमें ध्यानीकी उत्सुकता होती है, तथा ध्यान भी देरतक स्थायी रहता है।

इन्द्रियादि व्यवसायात्मक पदार्थोंका तथा जडादि व्यवसायात्मक पदार्थोंका कारणरूप अनुगत रूप रस आदि तन्मात्रसे प्रकृति पर्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं, उनका देशगत कालगत तथा वस्तुगत धर्म्मका पृथक् पृथक् सत्ता अवलम्बनपूर्वक यदि भावना प्रवर्त्तित हो तो वह सविचार समाधि है। और इन सब पदार्थोंका धर्म-समूह धर्मीसे अनवच्छिन्न रहकर यदि भावनामें भासमान रहे तो उसका नाम निर्विचार समाधि होगा। जैसे हिरण्य-गर्भका ध्यान करते समय ध्याता यदि उनका शरीरगत कुछ विशेष विशेष वस्तुओंको धारण करके उनकी भावना करे तो वह सविचार समाधि होगी। किन्तु ध्याता यदि उन सब विशेष विशेष वस्तुओंका अवच्छेद न करके पूर्ण-भावसे उनकी भावना करें तो वह निर्विचार समाधि होगी। धर्मीसे धर्म्मका अवच्छेद होने पर चित्तकी विच्छिन्नताके कारण ध्यानमें एकाग्रता वा गाढ़ता नहीं होती, अस्तु सविचारके अपेक्षा निर्विचार समाधि ही की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई है। किन्तु जिन सब समाधियोंसे धर्मी तथा धर्मका भावगत घातप्रतिघात नहीं होता उनकी तुलनामें निर्विचार समाधि भी अपकृष्ट ही है।

जिन सब समाधियोंमें ग्राह्य वस्तुओंका भान अथवा प्रकाश रहता है, उनका वर्णन किया गया। अब ग्रहण विषयक समाधिका विवरण दिया जाता है। जब अन्तःकरणमें प्राधान्य रहने पर भी

वह सामान्य रजोगुण अथवा तमोगुणसे अनुविद्ध रहता है, उस समय चितिशक्ति समाधिकी सूक्ष्म भूमिकापर आरोहणपूर्व्वक भाव्यमान वस्तुका एक विशेष तत्व साक्षात् करके अलौकिक आनन्दका अनुभव करता है। इस आनन्दका अवलम्बन करके पुरुषके साक्षात्कारका कारण भी समाधिकी उच्चतर भूमिकापर आरोहण न करनेसे ध्याता विदेहके नामसे अभिहित होता है। समुद्रसे हो वाष्पाय मेघोंके उठनेपर भी समुद्रके साथ फिर उनका और कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता. उसी तरह देहस्थित चितिशक्तिमें इस आनन्दकी उत्पत्ति होनेपर भी प्रहारादिके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इस लिए तहत ध्याता विदेहपर वाच्य हो जाता है और उसको ही ग्रहणभान समाधि कहते है।

ग्रहणभान समाधिकी उच्चतर भूमिकापर आरोहणकर सकनेसे ग्रहीतृभान समाधि होती है यद्यपि ग्रहीतृशब्दका अर्थ आत्मा है तथापि आत्मामें सामान्य अहङ्कार भासमान रहता है इस लिए उसको सास्मितसमाधि कहते है। इसके सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर अवस्थाद्वयको लक्ष्य करके वायुपुराणमें—"बाह्यः"—तथा—"अव्यक्त चिन्ताका"—यह दो शब्द व्यवहृत किये गये है। सत्वगुणकी प्रवलताके कारण अन्तःकरण जिससमय रजोगुण अथवा तमोगुणके द्वारा विशेष उपहत न होकर हिरण्यगर्भके समान विश्वके सकल भावपदार्थोंको अपनेमें पिण्डीभूत करता है, उस समय ग्राह्यविषयक अथवा ग्रहण विषयक सत्ताक् तिरोहित होनेके कारण तथा चिति-शक्तिके समुद्रके वश—"केवल मैं ही हूं"—ऐसी ही सत्ता अवशिष्ट रह जाती है। इस सत्तामात्रको अवलम्बन करनेसे चित्तके एकाग्र होने पर सास्मित समाधि होती है। पुरुषको साक्षात् करनेके लिए ध्याता इस समाधिकी उच्चतर भूमिकापर न चढ़नेसे प्रकृति लय नामसे अभिहित होता है। इस अवस्थामें भी भाव्यमान वस्तु प्रकृतिकी सीमाको अतिक्रम नहीं करती, इसी लिए ध्याताका ऐसा नाम (प्रकृतिलय) पड़ता है। इन सब समाधियोंका

नाम सबीज समाधि है—क्योंकि इनमें व्युत्थान संस्कार रहता है ।

अत एव अबतक सम्प्रज्ञात समाधिकी चार अवस्थाएं कही गई । उनके ग्राह्यभानकी दो अवस्था—स्थूल विषयक सवितर्क तथा सूक्ष्म विषयक निर्वितर्क, और ग्रहणभानकी एकमात्र अवस्था—सविचार, तथा ग्रहीतृभानकी भी एकमात्र अवस्था—निर्विचार अवस्था देखी जा चुकी है । इनमें पहली पहली भूमिकाओंका जय किये विना उत्तरोत्तर भूमिकाओंपर अधिकार नहीं होता ।—क्योंकि शास्त्र कहते है—'स्थूल विषयोंसे चित्तको जीते विना सूक्ष्म विषयोंमें उसका प्रवेश असम्भव हो जाता है ।"

सम्प्रज्ञात समाधिमें ध्याता कुछ समयतक समाहित रहनेपर उद्विग्न हो जाता है । यह उद्विग्नता वा उच्चाट निद्राभङ्गके समान मालूम पडता है ।

समाधिकालमें पापादिके सञ्चयके लिये तथा कल्याणके अवरोधक राग द्वेष आदि कलुषताकी निवृत्तिके लिये विधाताके चित्तमें एक शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है । शुक्ल धर्ममें रजोगुण अथवा तमोगुणका लेश मात्र भी नहीं रहता इस लिये ध्याता पुरुषका साक्षात्कार लाभ करके तत्वज्ञानके अधिकारी होते हैं । तत्वज्ञानमें दृश्यका मिथ्यात्व तथा द्रष्टाका सत्यत्व मालूम होता है । इसकी ही प्रज्ञारोहण कहते है । इसी कारण व्यासदेवने योगियोंकी एक गाथाको उद्धृत करके कहा है—"शैलस्थित व्यक्ति जिसरूपमें समतल भूमिपर के लोगोंको देखता है,—प्रज्ञारूप प्रासादपर चढ़कर योगीगण संसारव्यक्तिको उसी प्रकार देखते हैं ।" तत्व साक्षात् करनेसे चित्तमें जिस प्रज्ञाका आविर्भाव होता है, उसको-"ऋतंभरा"—प्रज्ञा कहते हैं । इस अवस्थामें ध्याताका मन सत्य परिपूर्ण रहता है, और उसमें मिथ्याका लेश मात्र भी नहीं रहता है । इस लिये इस प्रज्ञाका नाम—"ऋतम्भरा"—प्रज्ञा पडा । जिस समय इस प्रकारका समाधिका संस्कार भी छूट जाता है उस समय

ध्यानाकी इस अवस्थाको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस असम्प्रज्ञात समाधिका निर्बीज रहनेके कारण वे—"केवल"-होकर विराजते हैं।

धारणा, ध्यान तथा समाधि समविषयक अर्थात एक विषय गत होनेसे उनको संयम कहेंगे। धारणाध्यान-समाधानात्मक संयमका फल ऐकान्तिक दुःखको निवृत्ति है। श्रुतियोंने भी इस प्रकार योगका उपदेश दिया है,—'वाक्य, मन, मनसे विशेष अहङ्कार विशेष अहङ्कार, हिरण्यगर्भाख्य महत्तत्व आदिमें जो महत्तत्व है उसको परमात्मामें नियमित करना"—कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रथमतः मनमें वाक्योपलक्षित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको नियमित करेंगे, उसके बाद पिण्डोकृत इस मन तथा इन्द्रियोंको विशेष अहङ्कारमें परिणत करेगा। उसके बाद इस प्रकार मन तथा इन्द्रिय सम्मिलित विशेष अहङ्कार अवलम्बनपूर्व्वक महत्तत्त्वमें सम्मिलित होगा और अन्तमें परमात्मा इस महत्तत्त्वको विलोन कर कर कैवल्याधिकारो हो जायगा।

इससे यह समझा जाता है कि प्रमाणादि चित्तवृत्तियां हो हो अथवा रूप रस आदि इन्द्रिय संस्कार हो हों, किन्तु उनके निरोध किये विना समाधि को कोई सम्भावना नहीं। निरोधके लिए दो उपाय कहे गये हैं—"अभ्यास तथा वैराग्य"। परन्तु फिर भी सिर्फ ईश्वरमें प्रणिहित होनेसे अर्थात् विशेष भक्ति रहनेसे अनायास ही सब अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। कायिक, मानसिक तथा वाचिक उपासनाका नाम भक्ति है। गौतमीय तन्त्रमें तथा नारद पञ्चरात्रमें अभिगमन, उपादान, इज्या स्वाध्याय तथा योग पांचोंकी उपासनाएं कही हैं। पूजाके लिये पुष्पचयन आदि अन्यान्य इसी प्रकारके उद्योगोंका नाम उपादान है। पूजा, जप, होम, आदिका नाम इज्या है। वेद आदि मोक्ष शास्त्रोंको पढना ही स्वाध्याय है। मोक्ष शास्त्रानुसार आध्यात्मिक उत्कर्ष का साधना ही योग है। ज्ञानके विना मुक्ति की सम्भावना नहीं होने पर भी भक्ति विशेषसे

उपासना करनेसे परमेश्वर सन्तुष्ट होकर ज्ञानके प्रतिबन्धकको हटाकर भक्तको मुक्तिप्रदान करते हैं। जिस प्रकारसे योगात्मक उपासनासे मुक्ति होती है, उच्चतम ईश्वर भावना ही उसका रहस्य है। उच्चतम ईश्वर की भावना दो प्रकारसे की जाती है। उसमें जो लोग योग सम्प्रदायमें है, वे प्रवृत्ति कार्यसे विविक्त-ब्रह्मचैतन्यमें आत्मतत्त्व की चिन्ता करते हैं। और जो वेदान्त सम्प्रदायमें है, वे "अग्निसंयोगसे लाल किये गये लौहपिण्डका कौन भाग लोहा है कौन भाग अग्नि है" यह जिस प्रकार बताया नहीं जा सकता, उसी तरह और सर्व्वात्मक ब्रह्म इन दोनों की विभिन्नता को विना दिखलाये ही उनका अभेद चिन्तन करते है। इस प्रकारसे योगमें स्थिति प्राप्त कर लेने पर चित्तवृत्तिशून्य होकर इन्धन विहीन अग्निके समान निर्व्वाणप्राप्त करती है और योगी भी शुद्ध ज्ञानमें तत्त्वसाक्षात्कारपूर्व्वक आनन्द-लाभकरके देहेन्द्रियके भोगसे मुक्त होते है। शास्त्रोंने इस मुक्तिको अमृतत्व कहा है।

समाधिमें सब वृत्तियोंके निरोध होने पर ज्ञानका भी निरोध हो जायगा ऐसी आशङ्का करना उचित नहीं क्योंकि परमात्मा ही ज्ञान है। सब वस्तुए षड्भावापन्न होनेके कारण नष्ट हो जाती हैं किन्तु परमात्मा अथवा ज्ञान षड्भावके परे रहनेके कारण कभी नाश नहीं होता। इसीसे श्रुतियां कहती हैं,—"पुरुष ही सब वस्तुओं की काष्ठाप्राप्ति अथवा परम गति है।"

समाधिमें इन्द्रियज्ञान लुप्त हो जाता है, अतएव पुरुषके साक्षात्-कारके लिये दूसरे प्रकारके ज्ञान भी आवश्यक होते हैं ऐसा सिद्धान्त समीचीन नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष ही ज्ञानरूप तथा स्वप्रकाश है। अन्धकारवाले घरमें दीप जलानेसे ही सब देख सकता हूं किन्तु उस जलते हुए प्रदीपको देखनेके लिए जिस प्रकार दूसरे प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह ज्ञानमय पुरुष सब वस्तुओंको दिखला देते हैं किन्तु उनको देखनेके लिये किसी

दूसरे ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नहीं होती। श्रुतियां कहतीं है,—वहां (अर्थात् परमात्माके पास) सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र विद्युत अथवा अग्नि कोई भी प्रकाश प्रदान नहीं कर सकते क्योंकि वे तो उनके ही प्रकाशसे सब वस्तुओंको प्रकाशित करते है इससे यह बतलाया गया कि स्वप्रकाश तथा ज्ञानरूप परमात्मा सब वस्तुओंके भासक है और उनको अपने प्रकाशके लिये दूसरे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती।

समाधिमें वृत्तियोंके निरोध होनेसे यदि स्वरूप प्रतिष्ठा होती है तो समाहित तथा मूर्च्छितमें कोई भेद नहीं होना चाहिये, ऐसा सिद्धान्त भी सङ्गत नहीं जान पडता क्योंकि वृत्तियोके संस्कारके साथ निरुद्ध रहनेसे स्वरूपप्रतिष्ठा अर्थात् मुक्ति कभी नहीं होती, और परमात्मदर्शनके विना संस्कारका भी उच्छेद नहीं होता। अभिघातादिसे मूर्च्छा होती है, और परमात्मदर्शनके साथ उसका (मूर्च्छाका) कोई सम्बन्ध नहीं है अस्तु इससे वृत्ति संस्कारके उच्छेद नहीं होनेके कारण मूर्च्छितके साथ समाहितका किसी प्रकारसे तुलना ही नहीं जा सकती। श्रुति कहती है,—"परमात्माका दर्शन होनेसे हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है संशय-समूह छिन्न हो जाता है और कर्मसमूह भी शिथिल पड जाता है।"

अब मूलश्लोकके "चोद्य" शब्द की व्याख्या की जाती है। कौन थे, क्यों थे, कहां से आये इत्यादि ऐसे ऐसे अतीत विषयक स्वरूपगत प्रश्न, अभी मेरा अवस्थान कहां है, अभी मेरी स्थिति क्या है; अभी किस प्रकार मेरा अवस्थान है अर्थात् मैं कहां हूं, क्यों हूं किसमें हूं—इत्यादि ऐसे ऐसे वर्त्तमान विषयक स्वरूपगत प्रश्न; साथ ही मै क्या हो ऊंगा क्यों हो ऊंगा, कहां हो ऊंगा, ऐसे ऐसे भविष्यद् विषयक स्वरूपगत प्रश्न अपने मनमें उत्थापन करके उनके उत्तर जाननेके योग्य है वही चोद्य है। प्रश्न ही इसका पर्याय शब्द है।

तुम कौन हो किसके हो, तुम्हारा कौन है, तुम्हारा नाम क्या है, संसार क्या है, जगत्का सारासार क्या है, जगत्के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है, इत्यादि ऐसे ऐसे मानसिक प्रश्नोंको भी चोद्य कहते हैं, क्योंकि ये भी ऐसे ही ज्ञानके लिये प्रेरणा करते हैं।

अपर और पर भेदसे वैराग्य दो प्रकारका है। पुन: अपर वैराग्य चतुर्विध है। उनमें यतमान, एकेन्द्रिय तथा व्यतिरेकका अभ्यास होनेसे रूप रस आदि विषयोंमें दोष देखकर योगी उनको वर्जन करनेके लिये प्रयत्न करने पर भी वह साक्षात् भावसे निरोधका कारण नहीं हो सकता। और विषय सन्निहित होने पर भी जब चित्त उससे प्रवर्त्तित नहीं होता तो ऐसे वैराग्य को वशीकार नामसे अभिहित करते हैं। वह वशीकार नामक वैराग्य ही साक्षात् भावसे निरोधका कारण हो जाता है। इस अवस्थामें योगीको हेयत्व बुद्धि अथवा उपादेयत्व बुद्धि नहीं रहती इस लिये राग आदि विषयोंमें उसकी बुद्धि आकृष्ट नहीं होती यह बात सत्य है, किन्तु सूक्ष्म संस्कारजनित चित्तक्षोभ अपसारित नहीं होता, इस लिये योगीका समाधिभङ्ग अवश्यम्भावी है। इसी लिये पहले सौरभि प्रभृति मुनियोंका असम्प्रज्ञात योग निष्पन्न नहीं हुआ। इस वशीकार संज्ञक वैराग्यके निरोधका कारण होने पर भी इस अवस्थामे देहपात होनेसे उसका प्रकृति लाभ हो जाती है। क्योंकि अभी तक भी पुरुषतत्वज्ञानमें उसने अभिज्ञता लाभ नहीं की। इस वैराग्यके परिपक्वतावश जब सूक्ष्म संस्कार-जनित चित्तक्षोभ अपसारित होता है, तब योगी विषय-विषय वैराग्य अवलम्बन पूर्वक चित्तविमुक्त हो जाता है। इसीको मनोनाश कहते है। और यह सब बातें पर वैराग्यके लिए आलोच्य विषय है।

भूमिका भेदसे परवैराग्य भी दो प्रकारका है—विषय-विषय तथा गुणविषय। रूपरस आदि ज्ञानका आधार जो चित्त है, उसका उसका विषय अर्थात् कार्य जब वैराग्यका विषय हो जाता है,

तब उसको विषय-विषय वैराग्य अथवा परवैराग्य का प्रथम भूमिका कह सकते है। इससे योगीको चित्तविमुक्ति होती है। वशीकार वैराग्यमें सूक्ष्मसंस्कारजनित चित्तक्षोभ रह जानेके कारण उसको अपरवैराग्य कहते हैं किन्तु विषय-विषय वैराग्यमें वह। चित्तक्षोभ भी नहीं रहता, इस लिये उसको परवैराग्य कहते है। इस अवस्थामें योगी चित्तविमुक्त होने पर भी गुणविमुक्त नहीं होता इस लिये उसको परवैराग्यकी प्रथम भूमिका कहते है। अस्तु सत्वरज-तमोगुण अथवा उनका कार्य जब वैराग्यका विषय होता है, तब उसको परवैराग्यकी उत्तर भूमिका स्पष्टतः तो नहीं लिखा तथापि—'तत्परं पुरुषख्याते गुणवैतृष्ण्यम्' इस सूत्रसे प्रथम भूमिकाके अनुषङ्ग वह भासमान होता है ऐसा माननेमें कोई सन्देह नहीं रहता।

घरमें कौन है? मैं हूं, क्यों क्या कोई प्रयोजन है? इन वाक्योंसे एक गृहस्थित व्यक्तिने जिस प्रकार गलेकी आवाजसे आत्मपरिचय देकर प्रश्नकर्त्ताके स्वाभिमत की जिज्ञासा की, पतञ्जलिने भी उसी तरह साक्षाद्भावसे गुणविषयके सूत्र बनाकर अर्थतः उससे विषय-विषय वैराग्यका समन्वय दिखलाया है। सूत्रका अर्थ इस तरह है (तत्परम्) विषयविषयमें वैराग्यमें पटुता होनेसे (पुरुषख्यातेः) पुरुषसाक्षात्कारके बाद (गुणवैतृष्ण्यम्) गुणविषयमें वैराग्य होता है। श्रेष्ठ कहनेका उद्देश्य यही है कि उसके अव्यवहित होनेके बाद ही कैवल्य होता है। कौएकी आँख जिस तरह दोनो ओर देख सकती है उसी तरह सूत्र-व्याख्यामें "तत्परम्" शब्द भी दोनो अर्थ लक्ष्य करेगा। अर्थात् "तत्पर" शब्दमें "चित्तविमुक्तिके बाद" एकबार ऐसा अर्थ करना होगा और 'गुणविमुक्ति श्रेष्ठ है' इसी बार ऐसा अर्थ भी करना होगा।

पहले जिन चार वैराग्योंका परिचय दिया गया है, वह पुरुष

है, उनमें पुरुषार्थता को कोई बात नहीं है। क्योंकि वशीकार-संज्ञक वैराग्य की अवस्थाके परिपाक होने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाते है, और जीवन्मुक्त होनेसे परवैराग्य स्वतः उत्पन्न होता है। पुरुषार्थता बुद्धिशून्य योगीका विषय-विषय वैराग्य परिपक्व होनेसे गुणवितृष्णा नामक वैराग्यका उदय होता है, और गुणवितृष्णाका परिपाक भाव ही कैवल्य है।

स्तेय शब्दसे चोर वृत्ति समझी जाती है। अस्तु उसका अभाव ही अस्तेय है। साधारणतः उपस्थ विषयमें कुछ इन्द्रिय-वृत्तियोंके निरोध (उपशम)को ब्रह्मचर्य कहते है। कुछ इन्द्रिय-वृत्तियोंके कहनेका तात्पर्य यह है कि—स्मरण, कीर्त्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय तथा क्रियानिवृत्ति इन आठोंको धर्मशास्त्र प्रयोजक दक्षादिमुनियोंने मैथुनका अङ्ग वा भेद कहा है। वास्तवमें उक्त सब प्रकारके प्रयत्न मैथुन है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। मैथुन-प्रयत्न न रहने पर योगसामर्थ्य निरतिशय बढ़ता है, इस लिये तथा योगसामर्थ्यके बढ जानेसे ब्रह्मसाक्षात्कार होता है इससे ब्रह्मचर्य्यका इस प्रकारका लौकिक अर्थ कहा गया है। शरीरमें स्थिति-सम्पादन करनेके लिये जितना योग आवश्यक है, उसकी अपेक्षा अधिक भोग साधन स्वीकार न करनेका नाम असंग्रह है।

इनके साथ प्रमादके न रहनेसे यही आठ गुण हो जाते हैं—यह पहले ही कहा गया है। इससे यह समझना चाहिये कि "अप्रमादी" होनेके लिये इन आठ गुणोंका अनुशीलन करना होगा ॥ २८ ॥

एवं दोषा दमस्योक्ता-
स्तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात्
स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ २९ ॥

अन्वयः।

एवं दोषाः दमस्य उक्ताः। तान् दोषान् परिवर्ज्जयेत्। दोषत्यागे अप्रमादः स्यात्। सः (अप्रमादः) च अपि अष्टगुणो मतः॥ २९॥

शाङ्करभाष्यम्।

दोषान् वर्जयेदित्याह—एवमिति। 'दमोऽष्टादशदोषःस्यात्' इति ये दोषा उक्तास्तान् वर्जयेदिति। कस्मादित्यत्राह—दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात् तेषु दोषेषु त्यक्तेषु प्रमादो न स्यादित्यर्थः। सोऽप्यप्रमादोऽष्टगुणो मतः। "सत्यं ध्यानम्" इत्यादिना पूर्वमेवोपदिष्टमित्यर्थः॥ २९॥

कालिका।

अनृतादिदोषा ये तान् वर्ज्जयेत्। कस्मादिति प्रश्ने आचार्य्यस्योत्तरं दोषत्याग इति। स चाप्यष्टगुणः। ते चाष्टौ 'सत्यं ध्यानमि'त्यादिना पूर्व्वमेव वर्णिताः॥ २९॥

मूलानुवाद।

दमगुणके दोष कहे गये, इन दोषोंको छोड़ना ही उचित है। दोष हीन व्यक्ति प्रमाद रहित होकर आठगुणोंद्वारा मुक्त हो जाता है॥ २९॥

कालिकाभास।

अनृत आदि दोष तथा अत्याग आदि दोषको त्याग देना परम कर्त्तव्य है क्योंकि दोष मुक्त हो जानेसे सत्य ध्यान आदि गुणोंका उदय होता है॥ २९॥

सत्यात्मा भव राजेन्द्र! सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम्॥ ३०॥

अन्वयः।

राजेन्द्र! सत्यात्मा भव! हि (यतः) सत्ये अमृतं (स्वर्गादि-

त्वम्) आहितम्। सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः। तान् सत्यमुखान् आहुर्वेदा इति शेषः॥ ३० ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं सत्यस्तुतिः क्रियते—सत्येति॥ सत्यात्मा सत्यस्वरूपो भव हे राजेन्द्र। सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः, तांस्तु सत्यमुखान् सत्य-प्रधानान् सत्याधीनात्मलाभान् आहुः। सत्ये हि अमृतम् आहितम्, अमृतं मोक्षः॥ ३० ॥

कालिका।

सत्यस्य माहात्म्यं प्रख्यापयति। सत्ये समदर्शनात्मके ब्रह्मज्ञाने आत्मा प्रवर्त्तना यस्य स सत्यात्मा। सत्यात्मा भव ब्रह्मज्ञानसम्पन्नो भवेति भावः। कस्मादिति प्रश्ने कुमारस्योत्तरं सत्ये हीति। हि यतः सत्येऽमृतं मरणधर्म्मराहित्यमाहितं संहितं प्रतिष्ठितमित्यर्थः। किं पुनः सत्यस्य स्वरूपम्? सत्यं ब्रह्म "तद्ब्रह्म तत्सत्यमि"तिश्रुतेः। तस्मिन्लोका भूर्भुवः स्व र्महो जन स्तपः सत्यश्चेति सप्तैते प्रति-ष्ठिताः। ब्रह्मण्येव लोकानां स्थितिं दर्शयन्तो श्रुतिश्च—"तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चने"ति। बाढ़मिह सर्व्वे प्रतिष्ठिताः किन्तु कुतस्त आसन् कुतो वा गन्तारः? तान् लोकान् सत्य-मुखानाहुर्वेदा इत्यध्याहारः। सत्याद् ब्रह्मणो मुखं निःसरणमार्ग उद्भव इत्यर्थो यद्वा सत्ये ब्रह्मणि मुखं प्रवेशमार्गो लय इत्यर्थो येषां ते सत्यमुखा इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। अत्र मुखशब्दः प्रवेशमार्गार्थत्वा-न्निःसरणमार्गार्थत्वाच्च [illegible] उभयत्र संवध्यते। अत आचार्य्येण सत्यात्मके ब्रह्मणि जगतो जन्मस्थितिभङ्गान् प्रदर्श्य सत्यात्मकस्य ब्रह्मणः स्वरूपं प्रदर्शितम्। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्वि-जिज्ञासस्व तद् ब्रह्मे"तिश्रुतेः। ऋग्वेदोऽपि लौकिकप्रश्नप्रतिवचन-न्यायेन ब्रह्मणि जगतो जन्मस्थितिभङ्गानाह—

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" ॥
इति ।

अयमेव श्लोकनिष्कर्षः—हे राजेन्द्र, ब्रह्म वेद ' ब्रह्मणि विदिते सति सर्व्वात्मकत्वं भवति वेदितरि यतस्तस्य जन्ममरणादिधर्म्माभाव एकविज्ञानस्फुर्तरिति ॥ ३० ॥

मूलानुवाद ।

हे राजेन्द्र ! तुम सत्यात्मा हो क्योंकि सत्य ही मे अमृत निहित है। सत्य ही में लोकसमूह प्रतिष्ठित हैं, और इसको (चारो वेदोंको) सत्यमुख कहा है ॥ ३० ॥

कालिकाभास ।

सत्यका माहात्म्य वर्णन किया जाता है। सत्यात्मा होते है—अर्थात् ब्रह्मज्ञानसम्पन्न होते हैं। जिसको सत्यमें अर्थात् समदर्शनमें आत्मा अर्थात् प्रवर्त्तना हो वही सत्यात्मा अथवा ब्रह्मज्ञानसम्पन्न है। 'ब्रह्मज्ञानसम्पन्न किस लिये होवे' ऐसे प्रश्न को आशङ्का करके कहते है—सत्यात्मक ब्रह्ममें अमृत निहित है. आपने जिज्ञासा की है कि मृत्यु है कि नहीं ? मैंने उत्तरमें कहा था कि ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होने पर मरण वा मृत्यु नामक कोई वस्तु नहीं है। माना कि सत्यमें अमृत है, किन्तु वह सत्य कहां है—ऐसे प्रश्न को आशङ्का करके कहते हैं। सत्यमें लोकसमूह प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् विश्वमें जो कुछ देखा जाता है वह सब ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित है। शास्त्र भूः, भुवः, स्वः महः जनः तपः सत्य, इन सातोंको "लोक" कहते है। इस लिये विश्वके सभी पदार्थोंको इसके अन्तर्गत समझना चाहिये। अच्छा सत्यमें अर्थात् ब्रह्ममें समस्त लोक प्रतिष्ठित है, किन्तु इन सब लोकोंने कहांसे आकर यहां प्रतिष्ठा लाभ की है तथा ये क्या चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहेंगे अथवा भविष्यमें कहीं चले जायंगे ? यदि चले जायंगे तो कहां चले जायंगे ?

इत्यादि ऐसे ऐसे प्रश्नों को आशङ्कासे कहते हैं—वेदोंने इन लोकोंको सत्यमुख कहा है। सत्यात्मक ब्रह्मसे मुख वा निःसरण पथ अर्थात् जन्म हुआ हो जिनका उनको सत्यमुख कहते हैं और भी जिनका सत्यात्मक ब्रह्ममें मुख अथवा प्रवेशपथ अथवा लय होगा उनको भी सत्यमुख कहेंगे। इस प्रकारसे बहुव्रीहि समास करनेसे सत्यमुख शब्द·लोकशब्दका विशेषण होता है, किन्तु षष्ठीतत्पुरुष करनेसे वह व्याकरण दोषसे दूषित हो जाता है। आने का रास्ता तथा जाने का रास्ता दोनों ही पथोंको मुख कहा गया है, इस लिये मुखशब्द काकचक्षु न्यायसे सृष्टि तथा प्रलय दोनो ही अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। "सत्यमें लोक प्रतिष्ठित हैं" "लोकका सत्यमुख कहते है" इन दों वाक्योंसे आचार्यने जगत्का जन्म, स्थिति, तथा भङ्ग वा नाश दिखलाकर सत्यका स्वरूप निर्द्देश किया है। तैत्तिरीय उपनिषद्की भृगुवल्लीमें कहा गया है कि "जिससे ये लोक उत्पन्न हुए हैं, जिसपर ये अवस्थित है, एवं जिसमें ये प्रवेश करेंगे उसको ब्रह्म समझना।" ऋग्वेदमें भी लौकिक प्रश्न तथा उत्तरकी रीतिका अनुसरण करके ब्रह्ममें जगतकी सृष्टि, स्थिति तथा लय दिखलानेके लिये जो कहा गया है उसका तात्पर्य्य इस प्रकार है:—"किस जङ्गलके किस वृक्षसे इस विश्वगोलककी निर्म्माण करके कौन कहां, इसको धारण किये है? ब्रह्मने इस गोलककी निर्म्माण कर ब्रह्म ही इसे धारण किये हैं।"

मूल श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार है—हे राजेन्द्र! ब्रह्म कौन वस्तु है उसको जानो, ब्रह्म कौन वस्तु है, यह जो जान सकते हैं वे सर्व्वात्मक हो जाते हैं। एक विज्ञान श्रुतिसे जाना जाता है कि सर्व्वात्मक पुरुष ब्रह्मनिष्पन्न होनेके कारण जन्ममरणादि धर्मभाव वर्ज्जित होकर रहते है॥ ३०॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतत्क्षान्तकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम्॥ ३१॥

अन्वयः।

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्। [दोषनिवृत्तेरेव] सत्यमेव सतां व्रतं [भवति]। एतत् धातृकृतं वृत्तम्॥ ३१॥

शाङ्करभाष्यम्।

निवृत्तेनेति। निवृत्तेनैव दोषेण 'क्रोधादय' (अ: २ श्लो: १५) इत्यादिना पूर्व्वोक्तदोषरहितं तपोव्रतमिहाचरेत्। एतद्धात्रा परमेश्वरेण कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां परं व्रतम्॥ ३१॥

कालिका।

इदानीं प्रकृतमर्थमुपसंहरति—निवृत्तेनैवेति। पूर्व्वोक्तदोषरहितः सन् तप एव व्रतं तदिहाचरेत्। अतपस्विनो न ब्रह्मप्राप्तिरिति तपस उपादानम्। सतां विदुषां योगिनाञ्च। शेषमवदातम्॥ ३१॥

मूलानुवाद।

दोषको नाशकर संसारमें सभीके लिए उपासना रूप व्रतका आचरण करना परम कर्तव्य है। दोष निवृत्त होनेपर विद्वान अथवा योगीके निकट सत्यात्मक ब्रह्म ही आश्रयस्वरूप व्रत होकर रहते हैं। यह विधाताका नियम है॥ ३१॥

कालिकाभास।

मिथ्या बात कहने अथवा मिथ्या आचरण करनेसे और परमेश्वर विषयक चिन्ता नहीं करनेसे, अथवा चोरी आदि नीच वृत्तिका अभ्यास करनेसे चित्त कभी निर्मल नहीं रहता; तथा चित्त निर्मल न होनेसे परमेश्वरको कभी कोई नहीं पा सकता। इस लिये आचार्य्य कहते हैं—कि पूर्वोक्त दोषोंको निवारणकर सत्यभाषण, ध्यान तथा अस्तेयादिगुणोंको तपस्या अथवा आराधना करना अर्थात् उनका अनुशीलन करना, और ऐसी तपस्याओंका व्रत रूपसे पालन करना अर्थात् सदा इन सब गुणोंके अनुशीलनमें निरत रहना। इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकारका आचरण करनेसे चित्त

शुद्ध होता है, और चित्तशुद्ध होनेसे परमेश्वरका स्वरूप जाना जा सकता है। जो एकवार सत्यात्मक परमेश्वरका स्वरूप जानकर विद्वान हो जाते हैं—वे सत्यात्मक परमेश्वरको व्रतको तरह धारण-करते हैं। कहनेका अभिप्राय यही है कि ब्रह्म ही आनन्दका झरना हैं अस्तु एक वार ब्रह्मानन्दका आस्वाद पा लेनेपर और किसी आनन्दमें स्पृहा नहीं होती इस लिये विद्वान्के लिए ब्रह्म ही एकमात्र अवलम्बन हो जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्ने इस प्रकारके आनन्दकी मीमांसा दिखलायी है—एक दृढ़काय, बलिष्ठ, निरोग सर्वशास्त्रविशारद युवक समस्त पृथिवीको पाकर जो आनन्द अनुभव करता है वही मनुष्यके लिये एक पूर्ण आनन्द है। मनुष्य आनन्दके सौगुणा आनन्द एक गन्धर्वका पूर्ण आनन्द है। और उसके सौगुणा आनन्द अग्निष्वात्तादि पितृलोगोंका एक पूर्ण आनन्द है पुन: उसके सौ गुन आनन्द देवताओंका एक पूर्ण आनन्द है, देवताओंके सौगुना आनन्द इन्द्रका एक पूर्ण आनन्द है, इन्द्रके सौगुना आनन्द बृहस्पतिका एक पूर्ण आनन्द है, बृहस्पतिके सौगुना आनन्द त्रैलोक्यशरीर हिरण्यगर्भका एक पूर्ण आनन्द है और इस त्रैलोक्यशरीर हिरण्यगर्भका सौगुना आनन्द निष्काम श्रोत्रियके सिर्फ एक कोटेसे आनन्दके समान होता है ॥ ३१ ॥

दोषैरेतैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः समन्वितम्।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम्॥ ३२॥

अन्वयः।

एतैः दोषैः विमुक्तं तु (तथा च) एतैः गुणैः समन्वितम् एतत् ऋद्धमपि तपः समृद्धं [सत्] केवलं भवति ॥ ३२ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं 'कथं समृद्धम्' इत्यादिनोपक्रान्तं प्रकरणार्थमुपसंहरति—दोषैरिति। दोषैरेतैः 'क्रोधादयः' इत्यादिना पूर्व्वोक्तैर्विमुक्तं गुणैरेतैः ज्ञानादिभिः समन्वितं यत् एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥३२

कालिका।

प्रश्नव्याख्यानमुपसंहरति—दोषैरिति। प्रकृतमवदातं निगद-व्याख्यानेन व्याख्यातं च ॥ ३२ ॥

मूलानुवाद।

पूर्व्वोक्त दोषसे विमुक्त होकर जो सत्यध्यान आदि गुणोंसे युक्त होते है, उनका शुद्ध तप शुद्धतर होकर कैवल्यका कारण हो जाता है ॥ ३२ ॥

कालिकाभाष।

प्रश्नोत्तर उपसंहृत होता है। प्रहले जो व्याख्या की गई है वही व्याख्या इस श्लोकका भी व्याख्यान करती है ॥ ३२ ॥

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र! संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते।
एतत् पापहरं शुद्धं जरामृत्युजरापहम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः।

सुगमैव योजना ॥ ३३ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

किं बहुना—यन्मामिति। हे राजेन्द्र! यन्मां पृच्छसि तत् संक्षेपात् समासतो ब्रवीमि ते, एतत् पापहरं शुद्धं फलाभिकाङ्क्षा-रहितं तपोव्रतं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ३३ ॥

कालिका।

हे राजेन्द्र! किं बहुना, यन्मां पृच्छसि तत् समासतस्ते प्रब्र-वीमि। एतत् तपः समृद्धं पापहरं शुद्धं निष्कामं जन्ममृत्युजरापह-मिति ॥ ३३ ॥

मूलानुवाद।

हे राजेन्द्र! आपने जो जिज्ञासा की उसका उत्तर मैंने दिया। अब और अधिक क्या कहूं इस प्रकारके शुद्ध निष्काम कर्म्म जरा-जन्म पाप-मृत्यु प्रभृति सबोंका विनाश करते है ॥ ३३ ॥

कालिकाभास।

कर्म शुद्ध तथा निष्काम भावसे आचरित होनेसे वह (कर्म) ज्ञानका कारण हो जाता है यही इस श्लोकका तात्पर्य्य है ॥ ३३ ॥

इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत्॥ ३४ ॥

अन्वयः।

भारत! पञ्चभ्यः इन्द्रियेभ्यः च मनसः च अतीतानागतेभ्यः च मुक्तः चेत् (यदि कोऽपि मुक्तः स्यात्) स सुखी भवेत् (यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येस्य हृदि स्थिता' इत्यादिश्रुतिः) ॥ ३४ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

किं तदिति चेत् तत्राह—इन्द्रियेभ्य इति। हे भारत। यो विषयेभ्यः पञ्चभ्यः इन्द्रियेभ्यो वर्त्तमानेभ्यो मनसश्चैव तथाऽतीतेभ्योऽनागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत्, मुक्त एव भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

कालिका।

अतिरोहितार्थः श्लोकः ॥ ३४ ॥

मूलानुवाद।

सविस्मयात्मक पाँच इन्द्रिय, मन तथा मनकी भूतभविष्य चिन्ता, इन आठ प्रमादोंसे जो उत्तीर्ण हो जाते हैं, वे ही सुखी अर्थात् मुक्त हैं ॥ ३४ ॥

कालिकाभास।

काल तथा विषयसे मुक्तव्यक्ति अमरत्वका लाभ करता है। अर्थात् संसारमें जीवन्मुक्त होकर शरीरत्यागपूर्व्वक मुक्त होता है ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

आख्यानपञ्चमैर्व्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्व्वेदा स्त्रिवेदाश्च तथाऽपरे ॥ ३५ ॥

द्विवेदा श्चैकवेदाश्च अनृचश्च तथाऽपरे।
एतेषु मेऽधिकं ब्रूहि यमहं वेद ब्राह्मणम्। ३६॥

अन्वयः।

आख्यानपञ्चमैः वेदैः जनः भूयिष्ठं कथ्यते। तथा च अन्ये चतुर्व्वेदाः त्रिवेदाश्च [कथ्यन्ते], तथाऽपरे द्विवेदाः एकवेदाः च (कथ्यन्ते) तथाऽपरे अनृचश्च (कथ्यन्ते)। एतेषु (मध्ये) यम् अहम् अधिकं वेद (जानीयाम्) [तम्] ब्राह्मणं मे ब्रूहि॥ ३५।३६॥

शाङ्करभाष्यम्।

एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—आख्यानेति। आख्यानं पुराणं पञ्चमं येषां वेदानां ते आख्यानपञ्चमाः। श्रूयते च छान्दोग्ये—"इतिहास-पुराणं च पञ्चमो वेदानां वेद" इति। तैराख्यानपञ्चमैर्व्वेदैः भूयिष्ठम् अभ्यर्थं कथ्यते श्लाघ्यते बहु मन्यते। सर्व्वस्मादधिकोऽहमिति कथ्यते इति केचित् पठन्ति। आख्यानपञ्चमैर्व्वेदैः कश्चिज्जनः पञ्चमवेदीति कथ्यते इत्यर्थः। तथा चान्ये चतुर्व्वेदास्त्रिवेदाः। अपरे द्विवेदाः एकवेदाश्च अनृचश्च तथाऽपरे। एतेषु मनुष्येषु अधिकं श्रेष्ठं ब्रूहि यमहं ब्राह्मणं वेद विद्याम्॥ ३५।३६।

कालिका।

एवं विद्यासाधनानि श्रुत्वा वेदानामनेकत्वं मन्यमानः किं तद्-वेद्यं श्रेष्ठमिति पृच्छति धृतराष्ट्रः—आख्यानपञ्चमैरिति। आख्यान-मितिहासपुराणादिपञ्चमं येषु तै र्व्वेदै र्जनो यः पञ्चैव वेद्यत्वेन वेदयते स भूयिष्ठं बहु कथ्यते। एतत्सम्प्रदायेन जीवेशजगतां पञ्चविधो भेद उक्तः। भेदानुवादिनी श्रुतिश्च—"जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वर-भिदा तथा। जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा। मिथश्च जड़भेदो यः प्रपञ्चभेदपञ्चकः। सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादि-श्चेन्नाशमाप्नुयात्"॥ इति। यद्वा जनः पञ्चब्रह्मोपासकः। तथा हि श्रूयते—"पञ्चधा वर्त्तमानं तं ब्रह्मकार्य्यमिति स्मृतम्। ब्रह्म-कार्य्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते। पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां

योऽधीते भक्तिभावतः। स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम्॥ पञ्चब्रह्मात्मकं सर्व्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च। सोऽहमस्मीति जानीयाद् विद्वान् ब्रह्मात्मनो भवेत्॥" इति। अध्यारोपदृष्ट्या तेषां पञ्च उपन्यस्तः। अध्यारोपकाले च तत्र परिणामदृष्टिराश्रिता "स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयमि"ति। परिणामस्वाभाव्यात्तु तस्य कर्त्तृत्वकर्म्मत्वयोरपि न विरोधः। स्वयं भासत इति कर्म्म-कर्त्तृत्वव्यपदेशात् पञ्चात्मकतामिति।

तथा पुनरन्ये शाखिन श्चतुर्व्वेदा स्ते चतुरो वेद्यत्वेन वेदयन्ते शरीरपुरुषश्छन्दःपुरुषो वेदपुरुषो महापुरुषश्चेति। शरीरपुरुषो जीवात्मा यो ह्यपूर्व्ववशेन संसरति। छन्दःपुरुषो मन्त्रात्मको वेदो यो यजमानं तमसश्छादयति। वेदपुरुषो ब्रह्मात्मको वेदो यः खलु यज्ञादिकर्म्म कारयति। महापुरुषः परमात्मा यः सर्व्वं नियमयति। एते शास्त्रचिन्तका धर्म्मविषयं वक्तुमेतांश्चतुरो वेद्यत्वेन वेदयन्ते। यद्वा पुनरन्ये चतुर्व्वेदाः पाञ्चरात्रिकाः। तेऽपि चतुरो वेद्यत्वेन वेदयन्ते वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्चेति।

अपरे त्रिवेदा ये त्रीन् क्षरमक्षरमुत्तमं चेति वेद्यत्वेन पुरुषं वेदयन्ते। क्षरः प्रकृतिरक्षरः पुरुष उत्तमं ब्रह्म यदेव भूर्भुवःस्वराख्यं सर्व्वं जगत् स्वकीयया चैतन्यचनशक्त्याविश्य स्वरूपसद्भावमात्रेण पोषयति। अतो हि प्रकृतेरुत्कृष्टतर स्तदुपहितो जीवश्चेतनत्वात्, ततोऽपि विलक्षण उत्तमपुरुषोऽनागन्तुकत्वाद् यस्य हि धर्म्माधिष्ठानार्थं मुमुक्षूणां प्रतिबन्धापनये व्यापारः। "एष ह्येव साधुकर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष ह्येवासाधुकर्म्म कारयति तं यमधो निनीषत' इति श्रुतिः। एते शान्तब्रह्मवादिनो पातञ्जला ये प्रकृतिपुरुषपरमेश्वराणां भेदं वदन्ति।

द्विवेदाः औड़ुलोमादयः केचित् पौराणिकाश्च। ते हि कार्य्यात्मना भेदं कारणात्मना चाऽभेदं सत्यमेव वदन्ति। तदुक्तम्—कार्य्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना। हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा'॥ इति। त एव विशिष्टाद्वैतवादिनः शुद्धाद्वैतवादिनः स्वतन्त्रा-

स्वतन्त्रवादिनो द्वैताद्वैतवादिनोऽचिन्त्यभेदाभेदवादिन इति। तत्र विशिष्टाद्वैतवादिन आहुः पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्च भव्यमित्येकस्यैव सर्पस्य कुण्डलादिभेदेन प्रकारभेदवत् समस्तचिदचिद्वस्तूनि ब्रह्मणः संस्थानविशेषा इति। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तञ्च, सत्यं चानृतं सत्यमभवदि'-त्यादिश्रुतेरध्यारोपदृष्ट्या तेषां पक्ष उपन्यस्तः। अध्यारोपकाले च तत्र परिणामदृष्टिराश्रिता 'ब्रह्मैवेदं सर्व्वमि'ति। आश्मरथ्यबोधायन-रामानुजादयस्तत्सम्प्रदायकर्त्तारः प्रसिद्धाः। यः पुनः शुद्धाद्वैतवादः स तु शुद्धद्वैतवादो जीवेशयोरंशांशिभावसम्बन्धनिरूपणात्। अंशांशि-सम्बन्धप्रतिपादिका श्रुतिश्च यथा 'सुदीप्तात् पावकात् क्षुद्रा विस्फु-लिङ्गा व्युच्चरन्ति एवं तस्मात् आत्मनः सर्व्वे जीवाः सर्व्वे एव आत्मनो व्युच्चरन्ती'ति। वेदान्तशास्त्रं च तत्र प्रवृत्तं "तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदि"ति यत्र श्रीमदणुभाष्यमपि "तस्य ब्रह्मणो गुणाः प्रज्ञा द्रष्टृत्वादय स्त एवात्र जीवे सारा इति जडवैलक्षण्यकारिण इति अमात्ये राजपदप्रयोगवज्जीवे भगवद्व्यपदेशः"। इति। स्वतन्त्रः-ऽस्वतन्त्रवादोऽपि द्वैतवादः। तदुक्तं 'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते। स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्भावाभावौ द्विधेतरत्'॥ इति। 'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च प्रमेयं द्विविधं मतम्। स्वतन्त्रो भगवान् विष्णु निर्द्दोषाखिलसद्गुणः'॥ इति च। इदानीं मध्वाचार्यादय एतत् सम्प्रदायकर्त्तारः प्रसिद्धाः। द्वैताद्वैतवादिनस्तु निम्बार्कादयो य आहुः—"अविभागेऽपि विभागव्यवस्थोपपद्यते समुद्रतरङ्गयोरिव तयो-र्व्विभागः स्यादि"ति। तथाहि सिद्धान्तजाह्नवी "ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्। अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः"॥ इति। श्रीचैतन्यदेवादय इदानी-मचिन्त्यभेदवादिनः प्रसिद्धाः। त एवाहुः—'विभुचैतन्यमीश्वरोऽणु-चैतन्यं तु जीवः। तत्रेश्वरः स्वतन्त्रः स्वरूपशक्तिमान् प्रवेशनियमनाभ्यां जगद् विदधत् क्षेत्रज्ञभोगापवर्गौ वितनोती'ति।

एकवेदा अद्वैतवादिनो "य एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति

किञ्चने"त्यादिश्रुतिभिः वेद्यं वेद्यत्वेन वेदयन्ते। एषां व्युत्थाने द्वैतं समाधौ तु तद्बाधितं भवति। व्युत्थानेऽपि यत् किञ्चिद् बाधयोग्यं सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्व्वचनीयं द्वैतं तदपि व्यवहारिकं प्रातिभासिकात् सद्योबाध्यात् सर्परज्ज्वादे विलक्षणं यावन्मोक्षमबाध्यम्।

न विद्यन्ते ऋचो येषां ते अनृच: ... सम्प्रदायविशेषो यतो विज्ञानवादिनो दृष्टिसृष्टिवादिनश्च प्रादुर्भवन्ति स्म। तेषां यथा रज्ज्वामुरग: स्रक् च कल्पिता एवमात्मनि जाग्रत्स्वप्नौ समसत्ताकौ भवत इति विशेष:। स्मृतिश्च—'ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणा:। अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्त: पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टय:'॥ इति। तदुक्तममलानन्देन शास्त्रदर्पणे—'श्रुतीनां शास्त्रतात्पर्य्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम्। ब्रह्मात्मैक्यपरात्वात्तु तासां तत्रैव विद्यते'॥ इति। व्यासराजस्तु—'निर्बाधप्रत्यभिज्ञानाद् ध्रुवं विश्वमिति श्रुते:। स्वक्रियादिविरोधाच्च दृष्टिसृष्टि र्न युज्यते' ॥ इति।

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" इति न्यायात् पूर्व्वं पक्षचतुष्टयं व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वपरमध्यारोपदृष्ट्या समुपन्यस्तमन्त्य: पक्षोऽपवाददृष्ट्या व्यवहारापलापेन। एकवेदपक्षस्तु व्यामिश्रदृष्ट्या निर्मितनि... यत्रैव वेदान्त: प्रवृत्त: "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हो"ति। स्वप्नावस्थायां रथरथयोगादय: प्रबोधे मरीचिकोदकादय: सृष्टय आत्मनि सन्ति, विचित्राश्च ता न हि ता न सन्तीति वक्तुं शक्यमनुभूयमानत्वान्नापि सन्तीति ज्ञानेन सद्योबाधात्। एवं ब्रह्मण्यपि विचित्रा अनिर्व्वाच्या सृष्टय: सन्तीति सूत्रतात्पर्य्यम्। जगतोऽनिर्व्वचनीयत्वेऽपि ऋग्वेदश्चाह—'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिरि'ति। अद्वैतत्वेऽपि स आह—'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परं किञ्चनासे'ति। अपि च वाष्कलिना बाह्व: पृष्ट: सन् तूष्णीम्भावेन यद् ब्रह्म प्रोवाच तदुपशान्तशब्देन द्वैतविवर्ज्जितमिति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्मेति। स तूष्णीं बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूम: खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तो

ऽयमात्मा'। इति। उपशान्तो निरस्तद्वैतः। उपशान्तत्वे स्मृतिरपि— 'अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यत' इति। अत एकवेदपक्षे सेयं व्यामिश्रदृष्टिः। दृष्टिसृष्टिवादिनामपवाददृष्टिस्तु "आह च तन्मात्र"मिति सूचिता। "स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत। स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरेऽयमात्मा कृत्स्नः प्रज्ञानघन" इत्यादि श्रुतेः। यथा जले प्रास्तः सैन्धवखिल्यः स्वोपादानमुदकमनु विलीयते जलान्तरालमनुप्रविशति करकालय इव जले परिमाणाधिक्यमकुर्वन् सः अन्तरं कारणं बाह्यं घनीभावस्तदुभयवर्जितः केवलरसघनात्मना जलेऽभिव्यक्तो भवतीत्याशयः। एवमयं प्रपञ्चः कार्य्यकारणोभयस्वरूपहीनः समाधौ केवलप्रज्ञानघनोऽभिव्यज्यत इति श्रुत्यर्थः। तदुक्तं मधुसूदनेन—"अविद्यायोनयो भावाः सर्व्वेऽमी बुद्बुदा इव। क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानेकजलधौ लयम्"। इत्यतो ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नं द्वैतजातं ज्ञानज्ञेयरूपमाविद्यकमेवेति प्रातीतिकसत्त्वं सर्व्वस्येति सिद्धम्।' इति। अनेन दृष्टित्रयेण जनबोधार्थं शास्त्रं प्रवृत्तम्। यथोक्तं संक्षेपशारीरके—'आरोपदृष्टिरपवाददृष्टिरेवं व्यामिश्रदृष्टिरिति दृष्टिविभागमेनम्। संगृह्य सूत्रकृदयं पुरुषं मुमुक्षुं सम्यक् प्रबोधयितुमुत्सहते क्रमेण'॥ इति॥ ३५-३६॥

मूलानुवाद।

धृतराष्ट्र बोले—आख्यानादिके साथ चारोवेदोंके पढनेवाले कितने ही ब्राह्मण पञ्चवेदी कहे जाते हैं और उनका यथेष्ट सम्मान भी होता है। उनके अलावे कितने ही चतुर्वेदी, कितने ही द्विवेदी, कितने ही एकवेदी (अद्वैतवादी) तथा कितने ही अनृक् अर्थात् दृष्टिसृष्टिवादी वा विज्ञानवादीके नामसे परिचित होते हैं। इनके बीचमें किनको श्रेष्ठ ब्राह्मण समझूं मुझे यह बतलावें॥ ३५-३६॥

कालिकाभास।

राजा विद्याका साधन सुन चुके। अब वे सोचते हैं कि जानने

योग्य बहुत प्रकारको वस्तुओंके बीच कौनसी चीज श्रेष्ठ रूपसे जानने योग्य है ?

आख्यान अर्थात् तन्त्र, पुराण तथा इतिहास प्रभृति। इसको पञ्चम वेद भी कहते हैं। इन सब शास्त्रोंमें कहीं कहीं कहा गया है कि ब्रह्महो स्थावर-जङ्गमात्मक संसारमें परिणत हुये हैं। अतएव इसमें यह जाना जाता है कि नामरूपादि केवल माया ही नहीं है, क्योंकि वे केवल ब्रह्महो का परिणाम हैं। पञ्चब्रह्मोपासक इसी तरहके मतका अनुकरण करते हैं। यह सब मृगेन्द्र संहितामें बतलाया गया है। पञ्चब्रह्मोपनिषद्में भी कहा गया है कि— "भक्तिभावसे जो पञ्चब्रह्मात्मिको विद्याको अध्यापना करते हैं, वे पञ्चात्मक ब्रह्ममें मिल जाते हैं। तत्पुरुष अघोर, सद्योजात, वामदेव यही चार ब्रह्मके संस्थान विशेष है। इनको उर्द्धाम्नाय नामक ईशानमें परिणत कर सकनेसे ब्रह्मामृतत्व प्राप्त हो जाता है। अध्यारोप दृष्टिके सहारे ये पाँच उपन्यस्त हुए हैं। परिणाम-वाद स्वीकार करने पर भी ब्रह्मके कर्तृत्व तथा कर्म्मत्वमें विरोध नहीं हैं। अर्थात् इसके द्वारा अन्यान्य सम्प्रदायविशेष भी लक्षित हो सकता है। वे सब कहते है—जीवेश्वरभेद, जड़ेश्वरभेद, जीवभेद, जड़जीवभेद तथा जड़भेद यही पांच प्रकारके भेद प्रपञ्च सत्य तथा अनादि है और उनके तत्वज्ञानसे ही मुक्ति होती है। ये सब वाद अधिकार भेदसे श्रुति सङ्गत माने जाते है।

जो चतुर्वेदी हैं वे शरीरपुरुष, छन्दःपुरुष, वेदपुरुष तथा महा-पुरुष इन्हीं चारोंको ज्ञातव्य विषय मानते हैं। अपूर्व्ववशमें भ्रमित जीवात्मा ही शरीरपुरुष हैं, जो मन्त्रादि यजमानको पापसे बचाते हैं, उसका नाम छन्दःपुरुष है। जो शक्ति यजमानको यज्ञादि धर्म्मकार्यमें प्रेरण करें उसका नाम वेदपुरुष है, और परमात्मा ही को महापुरुष कहते हैं। और चतुर्वेदी शब्दसे पाञ्चरात्रिक-भी लक्ष्य किया जा सकता है। क्योंकि वे भी वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन्हीं चारोंको ज्ञातव्य निश्चित करते है।

जो चर अक्षर तथा उत्तमपुरुष इन तीनोंको ज्ञातव्य मानते है वे ही त्रिवेदी है। यहां प्रकृति चरार्थ, पुरुष अक्षरार्थ तथा उत्तमपुरुष परमात्मार्थ समझना होगा। यही उत्तमपुरुष अपने बल तथा शक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का पालन कर रहे हैं। ये ही धर्म्माधिष्ठित होकर पापपुण्यका फल प्रदान करते है। और चेतन होनेके कारण जीव प्रकृतिसे उत्कृष्टतर होने पर भी उत्तम-पुरुष इस जीवसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवकी ऐसी दशा आगन्तुक है किन्तु उत्तमपुरुषको कोई दशा कभी विपर्यय नहीं होती। उत्तमपुरुषका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करके वेदोंने कहा है—वे जिसको उन्नत करते है, उसको सद्‌बुद्धि देकर उससे साधुकर्म करवाते है, और जिसको अवनत करते है, उसको असद्‌बुद्धि देकर असाधुकर्म्म कराते है. ये योगसम्प्रदायभुक्त शान्त ब्रह्मवादी हैं।

द्विवेदी अर्थात् कुछ पौराणिक सम्प्रदाय, जो बादरायण सूत्रके पहले औड़्लोमि पक्षभुक्त थे। ये ब्रह्मका भेद मानने पर भी कारणरूपसे उनका कोई भेद नहीं, ऐसा मानते है। इसी लिये भामतीमे महामति श्री वाचस्पति मिश्रने कहा है—कुण्डलादि अलङ्काररूपसे भेद होने पर भी स्वर्णरूपसे जिस प्रकार भेद नहीं है, उसी प्रकार कार्यरूपसे नानात्व होने पर भी कारण रूपसे ब्रह्म एकमात्र ही प्रतिभात होता है। उनमें कोई कोई विशिष्टा-द्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादी, द्वैताद्वैतवादी, अचिन्त्यभेदाभेदवादी हैं। इनमें विशिष्टाद्वैतवादीगण "पुरुष एवेदं सर्व्वम्" इत्यादि पुरुषसूक्तानुसार सर्पकुण्डलीके समान अवलम्बन-पूर्व्वक विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओंको ब्रह्मका संस्थान विशेष मानते हैं। "तदात्मानं स्वयमकुरुत" ऐसी श्रुतिके कारण अध्यारोप-दृष्टिके सहारे उनका पक्ष रखा गया है। "ब्रह्मैवेदं सर्व्वम्" ऐसी श्रुतिके कारण अध्यारोप कालमें परिणामदृष्टिका भी अवलम्बन किया गया है। आश्मरथ्य, बौधायन तथा रामानुज आदिने इस सम्प्रदायमें प्रसिद्धि लाभ की है। जिसको शुद्धाद्वैतवाद कहते

है वह प्रकृतपक्षमें शुद्धाद्वैतवाद है। क्योंकि उसमें जीव तथा परमेश्वरमें अंशांशि-सम्बन्ध निरूपित किया गया है। अंशांशि-सम्बन्ध प्रतिपादिका श्रुतियोंमें देखी जाती है। यथा—"सुदीप्तात् पावकात् क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति" इत्यादि, अर्थात् महान् अग्निसे चिनगारियोंके समान ब्रह्मसे जीवोंकी उत्पत्ति हुई है। वेदान्तशास्त्रमें भी इस विषयमें प्रवृत्त होकर "तद्गुणसारत्वात्" इत्यादि सूत्रोंको सन्निवेश किया है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्यने उसके अणुभाष्यमें इस सूत्रको जिस प्रकार की है, वह नीचे दी जाती है। "ब्रह्मका द्रष्टृत्वादिगुण जीवका सार है, अस्तु जीव जड़ विलक्षण वा विभिन्न है, किन्तु "सोऽहमादि" वाक्योंके द्वारा उसमें जो भगवत् व्यपदेश देखा जाता है, वह केवल मन्त्रियोंमें राजपदके प्रयोगके समान समझना ही उचित है। स्वतन्त्रास्वतन्त्र-वाद ही द्वैतवाद है। इसीसे तत्वविवेकमें कहा गया है कि तत्व दो प्रकारका होता है,—"स्वतन्त्र तथा अस्वतन्त्र भगवान् विष्णु ही स्वतन्त्र हैं, क्योंकि वे भाव अभाव दोनों ही से विलक्षण वा भिन्न है। तत्वविवेक यह भी कहते हैं—"स्वतन्त्रा स्वतन्त्ररूपसे प्रमेय दो प्रकारका बतलाया गया है, निर्दोष तथा निखिलगुणोंका आधार होनेके कारण भगवान विष्णु ही स्वतन्त्र हैं।" अभी मध्वाचार्य आदि वेदान्ती इसी सम्प्रदायके नेताके नामसे प्रसिद्ध हैं। निम्बार्क प्रभृति वैष्णव आचार्यगण द्वैताद्वैतवादीके नामसे प्रसिद्ध हैं। वे ब्रह्म तथा जगत्के सम्बन्धमें भी विभाग व्यवस्था उपपन्न करते है। इसी लिये कहा गया है कि, शरीरसंयोग-वियोगजनित जीवका ज्ञान परमात्माके अधीन है। जीव अनुरूपमें है, अस्तु जीवात्मा प्रतिदेहमें भिन्न भिन्न है ऐसा मालूम होता है। तब आत्माको जो स्वतन्त्र कहा जाता है। वह केवल उसका ज्ञातृत्वादि धर्मजन्य ही समझना चाहिये। इस समयमें श्रीचैतन्यदेव, बलदेव विद्याभूषण, जीवगोस्वामी प्रभृति आचार्यगण अचिन्त्य-भेदाभेदवादीके नामसे प्रसिद्ध है। वे कहते हैं कि ईश्वरविभुचैतन्य

तथा जीव अणुचैतन्य है। उसमें स्वतन्त्रस्वरूप शक्तिमान ईश्वर प्रवेश तथा नियमनके द्वारा जगतका विधानके साथ क्षेत्रज्ञको भोगापवर्ग प्रदान करते हैं।

अद्वैतवादी लोगोंको लक्ष्य करके एकवेदी शब्दका प्रयोग किया गया है। "विश्वके सब वस्तुमें ब्रह्मही देखा जाता है, क्योंकि उनका नानात्व (भिन्नता) नहीं है।" इस श्रुतिके कारण एकमात्र ब्रह्मको ही ज्ञानव्य बतलाते हैं। इनको उत्थाट (व्युत्थान) में जो द्वैत उपलब्ध होता है, वह तो व्यावहारिक है, किन्तु तत्वमस्यादि महावाक्य जनित समाधिमें यह द्वैतज्ञान वाधित हो जाता है। जो यह कहते हैं कि जिस प्रकार सर्पमें रस्सीका ज्ञान बाधित हो जाता है, ठीक उसी तरह परमात्मज्ञानमें जीवका द्वैतज्ञान भी बाधित हो जाता है। भगवत शङ्करमठके शान्तिस्तोत्रमें कहा गया है कि नारायण, ब्रह्मा वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक गौडपाद, गोविन्द, शङ्कर, पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटक, सुरेश्वर प्रभृति आचार्य्यगण अद्वैतवादके प्रतिष्ठाता हैं। अनूक शब्दके द्वारा असत्काय्यवादी लोगोंका सम्प्रदाय विशेष लक्ष्य किया गया है। यह प्राचीन समयसे परवर्त्तिकालतक दृष्टिसृष्टिवाद तथा योगाचार बौद्धोंके विज्ञानवादके नामसे प्रादुर्भूत हुआ है। दृष्टिसृष्टिवादी लोग कहते हैं कि डोरीमें जिस प्रकार भ्रमवश सांप अथवा मालाकी कल्पना की जाती है, उसी तरह स्वप्नावस्थामें अथवा जाग्रत् अवस्थामें विश्वकी सभी वस्तुओंकी जीव अविद्यावश आत्मामें कल्पना करता है। "विचक्षण अर्थात् बुद्धिमान लोग जगतको ज्ञानस्वरूप जानते हैं" इस स्मृतिसे इन सब सम्प्रदायोंका प्रादुर्भाव हुआ है। कल्पतरुकार योगिश्रेष्ठ अमलानन्दने शास्त्रदर्पणमें कहा है कि वेदादि शास्त्रोंका तात्पर्य्य अङ्गीकार करके दृष्टिसृष्टिवाद निर्णीत हुआ है। ब्रह्म तथा जगतको एकता का कारण सृष्टिसमूहका भेदसमूह उपपन्न नहीं हो सकता। इस विषयमें श्रीमसराज निरुद्गन्त लेकर कहते हैं कि विश्वका

प्रबलमूलक श्रुतियोंके कारण तथा स्वाक्रिया आदिक विरोधके कारण दृष्टिसृष्टिवाद समुपपन्न नहीं हुआ है।

पञ्चवेदोसे लगायत अनृकतक जो कई वादोंका उल्लेख किया गया उनमें "अध्यारोप तथा अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्च वस्तु प्रपञ्चित हो जाती है" इस न्यायके अनुसार पहले पञ्चचतुष्टय व्यावहारिक जगत्की सत्ताको रक्षा करते हुए अध्यारोपदृष्टिके सहारे उपन्यस्त हुआ है। एकवेदपक्ष अर्थात् अद्वैतवाद जगत्का अनिर्वचनत्व स्वीकार करके व्यामिश्रदृष्टिके सहारे उपन्यस्त हुआ है। "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" इस सूत्रके द्वारा वेदान्तने भी अनिर्वचनीयत्वका समर्थन किया है। स्वप्नमें स्वाप्निक सृष्टि, जगेमें मरीचिका आदिकी सृष्टि, दोनो ही आत्मामें विचित्रभावसे उत्पन्न होते हैं। यह सब सृष्टि इस प्रकार मिथ्या नहीं कही जा सकती क्योंकि अनुभव-कालमें उनकी सत्ता विद्यमान रहती है। इन सब सृष्टियोंको सत्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञानान्तरसे वह वाधित हो जाता है। यही इस प्रकारके सृष्टियोंकी विचित्रता अथवा अनिर्वचनीयता है। ब्रह्ममें जो सब सृष्टियां देखी जाती है वे भी इसी प्रकारकी हैं यही इस सूत्रका तात्पर्य है। जगत्के अनिर्वचनीयत्व अथवा मायाके सम्बन्धमें ऋग्वेद कहते हैं—"को अद्धा वेद" इत्यादि अर्थात् कहांसे सृष्टि हुई, क्यो सृष्टि की गई वा हुई ईश्वरने सृष्टिकी प्रेरणा की, इत्यादि इत्यादि इन सब बातोंको कौन जानता है। कहनेका तात्पर्य यही है कि कोई भी मायाका रहस्य नहीं कह सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। ब्रह्मका अद्वैतत्व ऋग्वेदके "आनीद-वातम्" इत्यादि मन्त्रोंमें लिखा गया है। और देखा जाता है कि वाहनसे वास्कलिने जब ब्रह्मविषयक प्रश्न किया, तब उन्होंने मौन-भावसे उत्तर देकर समझाया कि यह आत्मा अथवा ब्रह्म उपशान्त अर्थात् निरस्तद्वैत हैं। इससे दक्षिणामूर्त्तिशास्त्रोंमें कहा गया है कि "विचित्र संसाररूप वटवृक्षके मूलतर जीवात्मारूप वृद्धशिष्य तथा परमात्मारूप युवा गुरु विराजते हैं। वहां मौनके सहारे गुरु तत्त्व-

प्रकाश करते है, और शिष्य भो उनसे संशयमुक्त होता है।"
जोवात्माको बहुतदिनोंसे संसरणशील होनेके कारण वृद्ध कहा गया
और परमात्मामें सम्पूर्ण धर्म शक्तिरूपसे विराजता है इस लिये
उनको युवा कहा गया है। आत्माके उपशान्तत्वके विषयमें स्मृतियां
भो कहती हैं—'परमब्रह्म अनादि होनेके कारण सत् तथा असत्
दोनों हो से परे है।' इन्हीं सब कारणोंसे यह सिद्धान्त करना
पड़ता है कि एकवेदपक्ष अथवा अद्वैतवाद व्यामिश्रदृष्टिके सहारे
उपन्यस्त हुआ है। क्योंकि व्यवहारिक अवस्था वह जगतमें ब्रह्मका
अध्यारोपण करके परमार्थिक अवस्थामें इस जगतका अपलाप
करता है।

"आह च तन्मात्रम्"—इस सूत्रके कारण दृष्टिसृष्टिवादी लोगोंने
अपवाददृष्टिका आश्रय ग्रहण किया। इस सम्बन्धमें भगवती श्रुति
भी कहतो हैं—"जलमें नमक जिस प्रकार विलीन हो जाता है
किन्तु उससे जलमें कोई परिमाणाधिक्य नहीं होता, उसी प्रकार
यह जगत्प्रपञ्च ब्रह्ममें विलीन हो जाने पर भो उनमें कोई आधिक्य
नहीं होता।" यह श्रुति अपवाददृष्टिका समर्थन करती
है। इसीसे मधुसूदन सरस्वती कहते है—'अविद्यामूलक भाव-
समूह बुद्‌बुद्‌के तरह उत्थित होकर ज्ञानरूप समुद्रमें विलीन हो
जाते है।' अस्तु ब्रह्मातिरिक्त भो कोई वस्तु प्रतीयमान होता है
यह ज्ञानज्ञेयका कारण होने पर भो आविद्यक तथा प्रातीतिक
है। इसी लिये अध्यारोपादि दृष्टित्रयका अवलम्बन करके शास्त्र-
तत्त्वज्ञान उदय करानेके लिये प्रयास करते हैं। संक्षेपशारी-
रककार सर्व्वज्ञात्म मुनि इस तरह दृष्टिविभागकी आवश्यक
समझाये है॥ ३५।३६॥

सनत्सुजात उवाच।

एकवेदस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवोऽभवन्
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः॥ ३७॥

अन्वयः।

राजेन्द्र! एकवेदस्य सत्यस्य एकस्य (ब्रह्मणा सह एकाकारतया जगतः सत्याख्यपरमार्थस्य) अज्ञानात् (ज्ञानशक्त्यभावात्) बहवस्ते वेदा अभवन्। सत्ये (एकरूपे ब्रह्मणि) कश्चित् (वीतरागः) अवस्थितः। [न सर्व्वे इत्याशयः] ॥ ३७ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

य एवं स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थितः, स एव ब्राह्मण इति दर्शयिष्यन् तद्व्यतिरिक्तस्य सर्व्वस्य तदज्ञानमूलत्वं दर्शयति—एकवेदस्येति। एकस्य वेदस्य वेद्यमिदं रूपम् अनिदं रूपं वेदनं वेदः ज्ञानम्—एकस्याद्वितीयस्य संविद्रूपस्येत्यर्थः। तस्यैकवेदस्य ब्रह्मणोऽनवगमात् ऋगादयो वेदा बहवोऽभवन्। अत ऋगादिवेदाः तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्व्वन्तीति वेदाख्यामवाप्नुयुः। अथवा सद्भावं साधयन्तीति वेदाः। विदन्ति वेदनहेतुभूता इति वा वेदाः। अथवा ब्रह्माधीनमात्मानं लभन्त इति वेदाः। ब्रह्मण आत्मतया लाभहेतव इति वा वेदाः। विद् विचारणे। विद् सत्तायां। विद् ज्ञाने। विद् लाभे। एतेषां धातूनां विषये वर्त्तन्ते यस्मात्ततो वेदा इत्युक्ताः। तदेकवेदस्वरूपं किमिति चेत्, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "एकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतिः। तस्मात् सत्यस्य एकवेदस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवगमात् वेदा बहवो व्याख्याताः सर्वे वेदास्तदर्थदर्शनहेतवः। हे राजेन्द्र। त्वमपि किमेवं ज्ञात्वा सत्ये स्थितोऽसि? कश्चित् पुनः सत्ये अवस्थितः प्रतिष्ठितः। इति ॥ ३७ ॥

कालिका।

अनेकेषु पक्षेषूपस्थितेषु सिद्धान्तयति—एकवेदस्येति। एकं ब्रह्मैव वेद्यं तच्च सत्यं कालत्रयाबाध्यं तस्यैकस्याद्वितीयस्य सम्विद्रूपस्य अज्ञानादनधिगमात् बहवो वेदा अभवन्। ब्रह्मवादिनस्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन वेदानामेकत्वं पश्यन्ति। तदुक्तं कारिकायाम्—
"स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुध्यन्ते

तैरयं न विरुध्यते ॥ अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते" ॥ इति। अधिकारविशेषे द्वैतवादादयोऽपिशास्त्रसङ्गता. ओ कारो वै सर्व्वा वागि'ति श्रुतिः। वेदस्य शाखाप्रशाखादिभेद त् त एव सर्व्वे प्रवृत्ताः' स्मृतिश्च—'ओं कारस्य शीयन्ते सृतयो दशनोर्द्दश' इति सृतयोमार्गाः दशशतोशब्दस्य पृषोदरादिशकारलोपेन दशतोशब्दः सहस्रवाची। इदानीं प्रकृतमनुसरामः। वेदा वेद्यहेतवः बोद्धणां बोधसौकर्य्यादवन्नभूतानि बहूनि वेद्यानि प्रागेव वेदे कल्पितानीति बहुवेदपक्ष उपन्यस्त, ततः पुनः सत्यप्रतिपत्त्यर्थं तेषां ब्रह्मत्वं वेद एव प्रतिषेधतीति स निरस्तः। तथा हि बृहदारण्यके 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्चे'त्युपक्रम्य द्वैराश्येन विभक्तानि पञ्चमहाभूतानि ब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य पुनः पुरुषशब्दोदितस्य तस्य विचित्राणि रूपाणि दर्शयित्वा पुनरिदमाम्नायते—'अथात आदेशो नेति नेति। न ह्येतस्मात् ब्रह्मणो नेत्यन्यत् परमस्ति। अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति। 'अयमस्य भाव.—नेति नेतीत्यादिपदैरुपदिश्यमानं ब्रह्मैव सत्यं परमिति बोध्यम्। तस्य च परस्य सत्यमिति नामधेयम्। प्राणाः प्राणिनामपि सत्यं परिणामाभावात् तेभ्योऽप्येष परमपुरुष सत्यात्मक एव। जीवानां कर्म्मानुगुण्येन ज्ञानसङ्कोचविकाशौ भवतः, परमपुरुषस्य तु तौ न भवत इति तेभ्योऽप्येष सत्यात्मकः इति। तस्मिन् परमपुरुषे कश्चिद्वीतरागोऽवस्थितो न तु सर्व्वे इत्याशयः। श्रुयते च—'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि'ति ॥ ३७ ॥

मूलानुवाद।

एक ही सत्यात्मक वेदविषय न जाननेसे वेद बहुत मालूम लहाता है। हे राजेन्द्र! कभी कभी कोई कोई उसी सत्यात्मक वेद्यमें प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ३७ ॥

कालिकाभास।

अनेक पक्ष उपस्थित होने पर भी संक्षेपमें सिद्धान्त दिखलाया

जाता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्यात्मक वेद्य हैं किन्तु वही हृदयङ्गम न होनेसे ही वेद बहुत है ऐसा मालूम होने लगता है। श्रुति कहती है—"प्रणवमें ही समस्त वेद निहित है।" इसका अभिप्राय यह है कि प्रणवके गूढ़ अर्थमें निर्विशेष ज्ञानके सहारे समाहित होनेसे ब्रह्मज्ञानका उदय होता है। इसीसे योगशास्त्र प्रणवको ईश्वरका वाचक कहते है। जो इस प्रणवके साङ्केतिक चिन्हको अवलम्बन करके ब्रह्मज्ञान नहीं कर सकते, उनके लिये व्याहृति बतलायी गई है। प्रणवके साथ व्याहृतिके द्वारा भी जिनकी सिद्धि नहीं होती उनके लिये गायत्री कही गई है। बीजरूपसे जो अर्थ प्रणवमें निसृष्ट है, वह गायत्रीमें भी प्रपञ्चित है। उससे भी जिनका अभीष्टसिद्ध नहीं होता, उनके लिये ऋक्, यजु:, साम तथा अथर्व्व वेदोंकी आवश्यकता है। वेदोंमें भी जो वेद्य वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकते, उनके लिये शाखा, प्रशाखा, स्मृति, पुराण, इतिहास आदिका आविर्भाव हुआ है। किन्तु ब्रह्मवादी ब्रह्मात्मैक्यज्ञानको बहुत वेदोंमें भी एकत्व ही देखता है। इन्हीं सब कारणोंसे आचार्यने एकवेदका द्वित्व बहुत्वकी कल्पना की है। आचार्य गौड़पाद माण्डूक्यकारिकामें कहते है—"द्वैतवादी लोग अपने अपने सिद्धान्तको व्यवस्थापित करनेके लिये कमर कसे हैं, किन्तु अद्वैतवादी लोग उनके साथ विरोध करना नहीं चाहते क्योंकि अद्वैतवाद परमार्थ है तथा द्वैतवाद अन्यान्य वादों की तरह उसका एक भेदमात्र है। द्वैती लोगोंके लिये परमार्थ तथा अपरार्थ दोनों ही सत् है, इसीसे अद्वैतवादी द्वैतियोंके साथ विरोध नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि वह उनके भ्रमका परिणाम वा फल है।" बृहदारण्यक आदि उपनिषद् भी प्रपञ्चका बाहुल्य दिखला कर "नेति नेति" आदि वाक्योंका उपदेश देते हुए एकमात्र ब्रह्महीमें सब वस्तुओंका उपसंहार करते हैं।

योगशास्त्रानुसार भी कर्मवशजीवोंका ज्ञान सङ्कोच विकाश आदि परिणाममें परिणत होता है, किन्तु महापुरुषका ज्ञान कालसे

अवच्छिन्न नहीं होता, इस लिये उनमें संकोच, विकाश आदि परिणाम नहीं होता। अस्तु महापुरुष नामक ब्रह्मका ज्ञान ही वस्तुतः सत्य है। इस प्रकारका जो सत्यात्मक ब्रह्म ज्ञान है उसमें कोई हो कोई भाग्यवान व्यक्ति प्रतिष्ठित होते हैं इस लिये कठोपनिषद कहता है—"कोई कोई धीर व्यक्ति मुक्तिकी कामनासे इन्द्रियोंको निरोध करके ज्ञाननेत्रके द्वारा परमात्माका दर्शन करते हैं।"—कहनेका अभिप्राय यह है कि सबके भाग्यमें इस सत्यात्मक ब्रह्मका लाभ संघटित नहीं होता॥ ३७॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां सङ्कल्पा वितथाभवन्।
ततः कर्म्म प्रतायेत सत्यस्याऽनवधारणात्॥ ३८॥

अन्वयः।

सत्यात् (परब्रह्मणः) प्रच्यवमानानां (पृथग्भूतानां) सङ्कल्पा वितथाः (व्यर्थाः) अभवन् (भवन्ति)। ततः सत्यस्य अनवधारणात् (अनवगमात्) कर्म्म (सङ्कल्पपूर्व्वकं यागादिकर्म्म) प्रतायेत (विस्तृतं भवत्)॥ ३८॥

शाङ्करभाष्यम्।

भूयो मे शृणु—सत्यादिति। सत्यादिलक्षणात् ब्रह्मणः प्रच्यवमानानां सङ्कल्पा वितथा अभवन् व्यर्थाः भवन्ति। स्वाभाविकसत्यसंकल्पादयो न सिध्यन्तीत्यर्थः। ततः कर्म्म यज्ञादि प्रतायेत विस्तृतं भवेदित्यर्थः। तदेतत् सर्व्वं सत्यस्य सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणोऽनवधारणात् अनवगमात्। आत्माज्ञाननिमित्तत्वात् संसारस्य यावत् परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाण इतस्ततो मोमुह्यमानोऽसत्यसंकल्पः स्वर्गपश्वन्नादिहेयसाधनेषु वर्त्तत इत्यर्थः॥ ३८॥

कालिका।

प्रवरसंवर्द्धितराजपुत्रस्य　　स्वरूपाज्ञानात्　　शबरेषिस्

कर्म्म भवतीति दृष्टान्तमित्यमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—सत्यादिति।

सत्यात् परमपुरुषात् प्रच्यवमानानां सङ्कल्पा वितथा व्यर्था अभवन्। सन्धिरार्ष:। लकारव्यत्ययश्छान्दस:। तत: कर्म्म यज्ञादिकं प्रतायेत विस्तृतं भवति। तत् प्रति हेतु: सत्यस्य अनवधारणमिति। ब्रह्मानन्दं वेद्यमज्ञात्वा बाह्यसुखलोभात् यज्ञदानादिकं कर्त्तुं प्रवर्त्तत इति भाव:। अतो ब्रह्माधिगमाय सङ्कल्पपूर्व्वका यज्ञादयो निषिद्धा बन्धहेतुत्वात्॥ ३८॥

मूलानुवाद।

जो सत्यात्मक ब्रह्मसे प्रच्युत हो गये हैं, उनका संकल्प व्यर्थ हो जाता है। और उस सत्यका स्वरूप न समझनेके कारण संसारमें यागव्रत आदिका विस्तार हो गया है॥ ३८॥

कालिकाभास।

जिस कारणसे वेदोंका बहुत्व हुआ वह कहनेके बाद अब वेदविहित कर्म्मोंकी वार्त्ता कहते हैं। चित्तशुद्ध न होनेसे ब्रह्मविषयक ज्ञानका उदय नहीं होता, और चित्तशुद्ध करनेके लिये वेदोक्त यज्ञदानादिरूप तपस्या करनी होगी। योग करनेसे जिस प्रकार समयपर मोक्षप्राप्त होता है और अनेक प्रकारकी विभूतियोंके बीच भी आ पड़ता है, उसी प्रकार यागयज्ञ आदि करनेसे चित्त क्रमश: परिशुद्ध हो जाता है, और बीच बीचमें अनेक भोगविषय भी उपस्थित होते हैं। योगियोंको विभूतियोंके त्यागे विना जैसे मोक्ष नहीं होता, वैसे ही कर्म्मी लोगोंको भी भोगसुखको त्यागे विना चित्तशुद्ध नहीं होता क्योंकि भोगमें रहने ही से नये नये भोगवासनाकी उत्पत्ति होती है, और इन नये नये वासनाओंसे चित्त और भी कलुषित होता है। इस लिये इस भोगके समय भी आनन्दके साथ साथ तपस्या करते हुए चित्तशुद्धिकी ओर लक्ष्य रखना परम कर्त्तव्य है। साधारण लोग इस तत्त्वको विना समझे

भोगसुखके लिये यज्ञादिका आचरण करने लगते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे आचार्य्य कहते हैं कि चित्तशुद्ध होनेपर क्या अभिनव ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है, उसको विना समझे ही लोग सकाम धर्म्मका अनुष्ठान करने लगते हैं।

यहां धर्म्मतत्त्वका कुछ आभास देना विशेष अप्रासङ्गिक न होगा। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति भेदसे धर्म्म दो प्रकारका होता है। उसमें प्रवृत्तिधर्म्म भोगमूलक है, और निवृत्तिधर्म्म वैराग्यमूलक है। भोगमूलक प्रवृत्तिधर्म्मका दो प्रकारसे आचरण होता है—पहला पुण्यकर्म्मोंके द्वारा, और दूसरा पूजनादिके द्वारा। पुण्यकर्म्म कहनेसे दान, आनृशंस्य, जीवोंके प्रति दया, अहिंसा, सहानुभूति, सत्यादिभाषण, स्वदेशसेवा, प्रभृति काम समझना होगा। अर्चना कहनेसे स्तुति, सङ्कीर्त्तनादि अथवा पाद्य-अर्घ्यादि बलि अर्थात् उपचारोंके द्वारा इष्टप्रीतिका उपाय समझना होगा। इस लिये शीघ्र समझनेके ख्यालसे प्रवृत्तिधर्म्म का भेदादि प्रकाशक वृक्ष नीचे दिया जाता है।

प्रवृत्तिधर्म्म—भोगमूलक अर्थात् अनुरागमूलक।

पुण्यकर्म्म	स्तुति	बलि,
यथा—दान	यथा—स्तोत्रपाठ-	यथा—पाद्यादि उपचार,
आनृशंस्य	सङ्कीर्त्तन-	अन्तर्यागका उपचार,
सन्तोष	इष्टप्रीतिके लिये	इत्यादि।
दया,	अविरल रूपसे	
अहिंसा,	उनका अनुनय	
सहानुभूति	करना इत्यादि	
सत्यभाषण	इत्यादि।	
सत्याचार		
स्वदेशसेवा		
इत्यादि इत्यादि		

निवृत्तिधर्म्म वैराग्यमूलक है और वह भी दो प्रकारसे किया जाता है। यथा सगुण ब्रह्मोपासनाके द्वारा अथवा निर्गुण ब्रह्मोपासनाके द्वारा। सगुण ब्रह्मोपासना कहनेसे शान्तब्रह्मवाद तथा निर्गुणब्रह्मोपासना कहने अद्वैत ब्रह्मवाद समझना चाहिये। और इस निवृत्ति धर्मका लताप्रतान इस प्रकार होगा।

निवृत्तिधर्म्म—वैराग्यमूलक।

सगुणब्रह्मोपासना	निर्गुणब्रह्मोपासना।

इनके अतिरिक्त और भी दो धर्म सङ्कर हैं। उनमें निवृत्तिधर्मके तत्वानुसार प्रवृत्ति धर्मके अवयव अथवा पद्धतिका पालन करनेसे अर्थात् वैराग्यके सहारे भगवत्प्रीतिके लिये अर्चना तथा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेसे उसको निष्कामधर्म कहते हैं। और प्रवृत्ति धर्मके तत्वानुसार निवृत्तिधर्मके अवयव अथवा पद्धतिको पालन करनेसे उसे भ्रष्टयोग कहते हैं। निष्काम धर्मोंका फल गीतामें विशेषरूपसे वर्णन किया है। इसी लिये उसका यहां पुनः उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है। मन्दवैराग्य ही भ्रष्टयोगका कारण है किन्तु वह उत्कृष्ट नहीं होता। उक्त उभयभ्रष्ट योगीको लक्ष्यकर अर्जुन कहते हैं—

"अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ?"

इसके उत्तरमें गोकुलचन्द्र श्री वासुदेव कहते हैं—

पार्थ। नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥" इत्यादि २।

अर्थात् योगभ्रष्ट व्यक्ति निर्वाण न पाने पर भी अधोगति नहीं पाता। इसके बाद भगवान कहते हैं—ये उभयभ्रष्ट योगी उत्तम कुलमें जन्म लेकर विवेक वैराग्यादि प्रयुक्त भोगतत्वका जिज्ञासु होकर कर्माधिकार अतिक्रमपूर्व्वक ज्ञाननिष्ठाके अधिकारी होते

है। अतएव ये शास्त्रानुशिष्ट न होने पर भी उच्छास्त्र नहीं है। क्योंकि उच्छास्त्रोंका फल इस प्रकार बतलाया गया है—

"उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥" ३८॥

विद्याद्बहुपठन्तन्तु बहुवागिति ब्राह्मणम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया॥ ३९॥

अन्वय:।

बहुपठन्तं ब्राह्मणं बहुवाक् इति विद्यात्। य स्तु सत्यन्नापैति स एव त्वया ब्राह्मणो ज्ञेय:॥ ३९॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं ब्राह्मलक्षणमाह—विद्यादिति। बहुपठन्तम् आख्यानपञ्चमवेदाध्यायिनं बहुवागिति विद्यात्, न साक्षाद् ब्राह्मणमिति। कस्तर्हि मुख्यो ब्राह्मण:? इति चेत्—य एव सत्यादिलक्षणान्नापैति न चरति चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपेणावतिष्ठते स एव ब्राह्मणस्त्वया ज्ञेय:, नेतरो य सत्यात् च्युत: अकृतार्थ: सन् कर्म्मणि प्रवर्त्तते। तथाच ब्रह्मविदमेव ब्राह्मणं दर्शयति श्रुति:—'मौनं चामौनं च निर्व्विद्याथ ब्राह्मण:' इति, "विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति" इति च॥ ३९॥

कालिका।

इदानीं ब्राह्मणलक्षणमाह—विद्यादिति। बहुपाठो बहुवाक् न तु मुख्यो ब्राह्मण। वासनाविशेषेण समुपहतत्वात्' विषयोपहतत्व मभिसन्धाय महाभारतमाह—'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्क: साधारणो वेदविधि र्न कल्क:। प्रसह्यवित्ताहरण न कल्क स्तान्येव भावोपहतानि कल्क:'॥ इति। बहुशास्त्रपाठेन शास्त्रान्तरपाठवासना वर्द्धते, तत: परमार्थप्राप्तेरन्तरायश्च। वासनाया. स्वरूपं वशिष्ठ: प्राह—'दृढभावनया त्यक्तपूर्व्वापरविचारणम्। यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्त्तिता'॥ इति। वासनाऽपि द्विविधा—

शुद्धा मलिना चेति। शुद्धा हि मोक्षशास्त्रसंस्काराद्विवेकसाधनत्वेनैकरूपा या खलु ब्राह्मणै विवेकिभिरुपादेयत्वेन गृह्यते। मलिना तु लोकवासना, शास्त्रवासना, शरीरवासना चेति। तत्र कोऽपि यथा न निन्दति, सर्व्वे यथा प्रशंसन्ति तथाऽहमाचरिष्यामीति लोकवासना। धनजनजीवनपातेनापि सर्व्वे लोका आराधयितुं न शक्यमिति व्यर्थप्रयासत्वात् पुरुषप्रयोजनाभावाच्च लोकवासनाया मालिन्यं प्रसिद्धम्। शास्त्रवासनाऽपि त्रिविधा—बहुपाठवासना बहुशास्त्रवासना बहुसदनुष्ठानवासना चेति। मालिन्यं च तासां तत्त्वसंग्रहाभावादभिमानहेतुत्वात् पुरुषार्थराहित्याच्च। तदेतद्बहुपाठादिवासनात्रयं विवेकशून्यानां बहुवाचामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि जिज्ञासोर्ज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वाद् ब्राह्मणै विवेकिभिर्हेयम्। शेषं निगदव्याख्यानेन व्याख्यातम् ॥ ३९ ॥

मूलानुवाद।

बहुशास्त्राध्यायी बहुवक्ता हो सकता है, किन्तु ब्रह्मज्ञ नहीं होता। और जो सत्यात्मक ब्रह्मसे प्रच्युत नहीं हुये है, उन्होको ब्राह्मण समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

कालिकाभास।

यहां ब्राह्मणका लक्षण वर्णन किया जाता है। ब्राह्मणका अर्थ ब्रह्मज्ञ होता है। बहुत शास्त्रोंको पढ़ लेनेसे पण्डित तो हो सकता है किन्तु ब्राह्मण नहीं हो सकता। 'बहुत शास्त्रोंको जानता हूं' यदि ऐसा अभिमान हो तो उसका वह शास्त्रोंका पढ़ना व्यर्थ है। क्योंकि पढनेके अभिमानसे उपहत होने हो से सिद्धियोंमें बाधा पडतो है। शास्त्रोंमें भो कहा गया है कि तपस्या, अध्ययन, तथा राज्यविस्तार करना पाप नहीं है, किन्तु उन उन भावोंसे उपहत होने हो से पाप होता है। अभिमानसे युक्त होकर तपस्या करनेसे सिद्धिलाभ नहीं होतो। वशिष्ठ तथा विश्वामित्रका चरित्र ही इसका उदाहरण है। अध्ययनादिसे भी ऐसा हो समझना

चाहिये। वहुत शास्त्रोंका पढना भी एक प्रकारका व्यसन हो है, क्योंकि तत्त्वग्रहणके अभाववश उनमे केवल नये नये शास्त्रोंको पढने की वासना वलवती होती है। और इस प्रकारकी वासना परमार्थ प्राप्तिमें अन्तराय (वाधक) होती है। वासनाके स्वरूपके सम्बन्धमें वशिष्ठ कहते हैं,—पूर्व्वापर विचार किये विना दृढ़ भावनाके सहारे वस्तुवोंके मानसिक ग्रहणको हो वासना कहते हैं शुद्ध तथा मलिन भेदसे वासना दो प्रकारकी होती हैं। उसमें मोक्षशास्त्रोंमें संस्कारके कारण साधनरूपसे विवेकके प्रति जो प्रवाहशील हो, वही शुद्ध वासना है। इस प्रकारकी वासना योगियोंके उपादेय होती है। मलिन वासना कहनेसे लोकवासना, शास्त्रवासना, शरीरवासना आदि समझना चाहिये। मैं किसीका निन्दाभाजन न होकर सवका प्रशंसाभाजन हो होऊंगा—इस प्रकारकी चेष्टाका नाम लोकवासना है। धन, जन, जीवनके लगा देनेपर भी सवको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, और सवको सन्तुष्ट रखनेपर भी तो मोक्षरूप परमार्थ वा पुरुषार्थ नहीं सधता, इस लिये लोकवासनामें मलिनता मानी जाती है। वहुत पढनेकी वासना, वहुत शास्त्रजाननेकी वासना, वहुतसे सदनुष्ठान करनेकी वासना—इन तीनोंका नाम शास्त्रवासना है। केवल शास्त्रपाठकी वासना रहनेसे ब्रह्मरूप तत्व-वस्तुका सम्यक ग्रहण नहीं होता, इस लिये तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होता इससे उसमें मलिनता वतलायी गई है इन सव कारणोंसे वहुपाठादि वासना अविवेकीके निकट उपादेय होनेपर भी विवेकीके निकट वह हीन तथा त्याज्य है। क्योंकि ऐसी अवस्था कभी ब्रह्मज्ञानपिपासुको ब्रह्मज्ञान उत्पादन नहीं कर सकती। श्लोकके अन्यान्य विषय पूर्व्व व्याख्यासे व्यक्त हो जाते हैं॥ ३९॥

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।

छन्दोविदस्ते न च तानधीत्य
गता हि वेदस्य न वेद्यमार्य्याः ॥ ४० ॥

अन्वयः।

द्विपदां वरिष्ठ। छन्दांसि नाम स्वच्छन्दयोगेन तत्र (आत्मनि) भवन्ति। आर्य्याः ते छन्दोविदो वेदानधीत्य वेदस्य हि वेद्यं न गता इति न ॥ ४० ॥

शाङ्करभाष्यम्।

भवेदेतदेवं यदि तदेव ब्रह्म सिध्येत्, न च सिध्यति अन्यपरत्वाद्वेदस्येति, तत्राह—छन्दांसीति। हे द्विपदां वरिष्ठ, छन्दांसि वेदाः स्वच्छन्दयोगेन, स्वच्छन्दता स्वाधीनता यथाकाममित्यर्थः। तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवति। श्रूयते च—"सर्व्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"। इति। "वेदैश्च सर्व्वैरहमेव वेद्यः" इति च। पुरुषार्थपर्यवसायित्वाद्वेदस्य तद्व्यतिरिक्तस्य अनित्याशुचिदुःखानुविद्धत्वेन पुरुषार्थत्वभावात्तत्स्वरूपत्वतत्साधकत्वतत्प्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रमाणत्वमित्यर्थः। यस्माद्वेदाः स्वच्छन्दयोगेन तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवन्ति, तेन च हेतुना तान् वेदानधीत्य अवगम्य वेदान्तश्रवणादिकारणं कृत्वा गताः प्राप्ताः वेदस्य सच्चिद्रूपस्य परमात्मनः स्वरूपं न वेद्यं प्रपञ्चम् आर्य्याः पण्डिताः ब्रह्मविदः ॥ ४० ॥

कालिका।

द्विपदां वरिष्ठ नरराज। छन्दांसि वेदाः। "छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्म्मणः" इति श्रुतेः छन्दःशब्दनिर्व्वचनम्। स्वच्छन्दयोगेन स्वातन्त्र्यसम्बन्धेन। तत्र भवन्ति—स्वात्मनि प्रमितिं जनयन्ति। वेदार्थतत्त्वविदो जगत्परमात्मनोः स्तादात्म्यं विज्ञाय सकलजगद्रूपेण सर्व्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्व्वमित्यनुभवन्तो यद्वा मय्येव सकलं चराचरं शुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सत् दृश्यते माया च तत्तदाकारेण विवर्त्तते, तादृश्या मायाया आधारत्वेन निःसङ्गतो मत्तः सर्व्वस्योत्पत्तिरित्यनुभवन्तः स्वात्मानं विषयीकर्व्वन्तीतिभावः।

चकार एवार्थः । आर्य्यास्ते छन्दोविद स्तान् वेदान् अधीत्य वेदस्य हि वेद्यं वेदबोध्यमात्मानं न गता' प्राप्ता इति न । यद्वा तेन प्रमितिं जनयन्तीति हेतुना वेदमा वेद्यं वेदनीयं न गता इति ?प्रश्ने । अपि तु गता इत्यर्थः ॥ ४० ॥

मूलानुवाद ।

हे नरराज ! छन्दः अर्थात् वेद स्वतन्त्रभावसे आत्मविषयक ज्ञान उत्पादन करते है । इसी लिये विशिष्ट छन्दोविद ब्राह्मणलोग वेदाध्ययन करके वेदबोध्य आत्माको पाते हैं यह कोई असम्भव नहीं है ॥ ४० ॥

कालिकाभास ।

पापसे बचाते है इस लिये वेदोंका नाम छन्द है । "वेद स्वतन्त्रभावसे आत्मविषयक ज्ञान उत्पादन करते है" इस कथनका अभिप्राय ऐसा है वेदके मन्त्रभागमें जो कहा गया है, उसके वाच्यार्थ कर्म्मकाण्डको प्रतिपादन करनेपर भी आत्मोपासना ही उसका लक्ष्यार्थ है । किन्तु इसके अलावे उपनिषदभागमें जो कुछ कहा गया है, उसका वाच्यर्थ ही आत्मोपासनाका उपदेश देता है । मन्त्रभागको लक्षणाशक्ति अथवा व्यञ्जनाशक्तिको छोडकर (अलावे) उपनिषदभागस्थित शब्दराशियोंको अभिधाशक्तिके द्वारा साक्षातभावसे आत्मोपासना परामृष्ट हुआ है, इस लिये मूलमे स्वतन्त्रशब्दका प्रयोग हुआ है ।—"आत्मविषयक ज्ञान उत्पादन करते है"—इस कथनके द्वारा यह कहा गया है कि वेदविद ब्राह्मण घडे तथा मिट्टीके तरह चिदनिदात्मक जगत तथा परमात्माका तादात्मासम्बन्धको सुनते हुये—मै जगत्‌रूपसे तथा जगतके अधिष्ठान रूपसे सर्वात्मक होकर विराजता हूं—ऐसी धारणाके साथ मायी तथा मायाका सम्बन्ध अनुभव पूर्व्वक मोतियोंमे जडे चान्दीके समान-मुझमे ही समस्त जगत प्रकाशित हो रहा है, तथा तदाश्रित माया ही दृश्यमान जगतके आकारमें परिणत है-इस लिये, -उससे

मुझको अलग हो जानेपर भी मुझसे ये सब मायामय वस्तु उत्पन्न हुये हैं ऐसा आत्मविषयक ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान लाभ करते हैं। अतएव शिष्ट वेद विद ब्राह्मण वेदाध्ययन करके वेदके प्रतिपाद्य वस्तु ब्रह्मको नहीं पाते ऐसा कभी नहीं कहा जासकता—अर्थात् वे ब्रह्मको अवश्य पाते हैं॥ द्वितीय अध्यायके छठेश्लोकमें राजाने जो प्रश्न किया था उसका उत्तर यहां विशुदरूपसे दिया गया है॥ ४० ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम्॥ ४१ ॥

अन्वयः।

वेदानां वेदिता कश्चिन्नास्ति [न सुलभ इत्याशयः]। वेद्येन [जड़रूपेण] न वेदं (सम्बिद्रूपं) न [अपि] वेद्यं (जड़रूपमपि) विदुः। यः वेदं (सम्बिद्रूपं) वेद सः वेदं वेद्यं च वेद। यः वेद्यं वेद सः सत्यं (सम्बिद्रूपं वेदं) न वेद (न वेत्तीतिभावः)। ४१ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

एवं तर्हि वेदवेद्यत्वे "अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितात्" "यतो-वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादिश्रुतिविरोधः प्रसज्येतेत्यताह—न वेदाना-मिति। न वेदानामृगादीनां मध्ये कश्चिदपि वेदः परमात्मनो वाचाम-गोचरस्य संविद्रूपस्य वेदिताऽस्ति, कस्मात्? यस्माद्वेद्येन जड़रूपेण वेदं संविद्रूपं न विदुः। न वेद्यं, प्रपञ्चमपि न विदुः। संविदधीनत्वात् सर्व्वसिद्धेः। यस्मात् संविदधीना सर्व्वसिद्धिस्तस्माद्यो वेदं संविद्रूपं परमात्मानं वेद जानाति स च वेद वेद्यमिदं सर्व्वम्। तथाच श्रुतिः— "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व्वं विदितम्" इति। "एकविज्ञानेन सर्व्वं विज्ञातम्" इति च। यो वद्यमिदं रूपं वेद जानाति स सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानं न वेद॥ ४१ ॥

कालिका ।

'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'इत्यादिश्रुतिविरोधमाशङ्क्याह—न वेदानामिति ।

वेदानामृगादीनां कश्चिद् वेदिता श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकान्ते रहस्यज्ञाता नास्ति न सुलभ इत्यभिप्राय: स्मृतिश्च—"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:" ॥ इति । कस्मादिति प्रश्ने हेतुमाह—यतो वेद्येन जडरूपेण वेदं संविद्रूपं न विदुर्न च वेद्यं जडरूपं विदु: । यथा दर्पणगतश्चैत्रप्रतिबिम्ब: स्वं परञ्च न वेत्ति जडांशस्य तत्र प्रतिबिम्बत्वात्, जीवस्तु जानाति तस्य चेतनांशत्वात्, तथा बुद्धिजडत्वेन चिदचिदात्मकं वस्तु न जानाति चैतन्यप्रतिबिम्बाद्दत इति भाव: । तस्माद् यो वेदं संविद्रूपं वेद जानाति स च वेद्यं जड़रूपमनात्मानं जानाति, किन्तु यो वेद्यं जडरूपं प्रपञ्चमनात्मान जानाति स सत्यं ब्रह्म न जानाति । संविद्रूपं ज्ञात्वा व्यवहारभूमाविह पुनरन्यत् किञ्चिदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यत इत्यभिप्राय' । तथा हि—'यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादि'त्येकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्ति: । अपि च श्रुतो स्त:—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो विजिज्ञासितव्य:", "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तथा पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि"ति ॥ ४१ ॥

मूलानुवाद ।

वेदोंके रहस्योंको जाननेवाले अत्यन्त दुर्लभ हैं । जड़से सम्विद्रूप ब्रह्मतो क्या जड भी नहीं जाना जा सकता । सम्विद्रूप ब्रह्मको जान ननेपर जड़रूप प्रपञ्च भी जाना जा सकता है ; किन्तु केवल जडरूप प्रपञ्चको जाननेसे सत्यात्मक ब्रह्मको नहीं जान सकते ॥ ४१ ॥

कालिकाभास।

श्रवण-मनन निदिध्यासनके परिपक्व हुये विना वेदोंके निगूढ रहस्य नहीं जाने जा सकते। और इनका परिपक्वता अत्यन्त कष्टसाध्य होनेके कारण सब समयोंमें वेदोंके रहस्य ज्ञाता दुर्लभ। इसी कारण गीतामें भगवान कहे हैं—"हजारों मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य सिद्धिके लिये उद्योग करता है, और ऐसे ऐसे हजारों सिद्धिप्रार्थियोंके बीच कोई ही एक मेरे स्वरूपको समझता है।"

जड़ जड़को ही नहीं समझ सकता, फिर चैतन्य अथवा ब्रह्मको क्या समझेगा ? इस लिये कहा है—"जड़के द्वारा सम्विद्रूप ब्रह्म तो क्या जड़ भी नहीं जाना जा सकता" इसका तात्पर्य यह है मन ही के तरह बुद्धि भी जडका परिणाम है। बुद्धिमें आत्माका प्रकाश प्रतिफलित हुये विना कोई वस्तु बुद्धिस्थ नहीं होती। और बुद्धिके द्वारा आत्मा कभी आयत्त नहीं हो सकती। योगी जब ऋतम्भरा प्रज्ञा अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मज्ञान लाभ करता है, तब बुद्धिका कार्य चिदाभासमें व्यर्थ हो जाता है, अथवा अपवाद होता है। वेदोंने भी कहा है—"ज्ञानं नियच्छेन् महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' अर्थात् विशिषाहङ्काराख्यज्ञानके महत्-तत्त्वाख्य अर्थात्'बुद्धि तत्वाख्य सामान्य अहङ्कारमें निक्षेप करना, और इस सामान्याऽहङ्कारको जडात्मक बुद्धिकार्य होनेके कारण उसे शान्त परमात्मामें निछावर करना।

हाथोके पैरके चिन्हमें जिस प्रकार सब जीवोंके पैरोंका चिन्ह घंट जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानमें सब ज्ञानोंका अन्तर्भाव हो जाता है। शिर्फ एक चिदात्मक ब्रह्मको जान लेनेसे सम्पूर्ण जड़ात्मक प्रपञ्चको भी जान सकते हैं। किन्तु प्रपञ्चके जड़स्वभावको जाननेसे ब्रह्मका चित्स्वभाव कभी नहीं जाना जा सकता। एक विज्ञान श्रुतियोंने भी कहा है, कि मिट्टीका स्वरूप जाननेसे ही जिस प्रकार घड़ा, कलस, मणिका मृण्मय पदार्थोंका

स्वरूप मालूम हो जाता है. उसी तरह ब्रह्मको जान लेनेसे सब वस्तु जानि जा सकते है ॥ ४१ ॥

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्व्वेदविदो न वेदाः ।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ४२ ॥

अन्वयः ।

यः वेदान् वेद (वेत्ति) स वेद्यं च वेद वेदाः वेदविदः [वा] तं न विदुः । तथापि ये वेदविदः ब्राह्मणाः भवन्ति [ते] वेदेन वेदं विदन्ति ॥ ४२ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

नन्वेवं तर्हि "वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्" इति वदतोऽनात्मविदः प्रपञ्चासिद्धिरेवेत्युक्तं भवतीत्याशङ्क्याह—यो वेदेति । यो वेद जानाति ऋगादीन्वेदान्, स च वेद वेद्यं सोऽप्यनात्मविदविच्छिन्नेन वेद्यं प्रपञ्चं वेद । नन्वेवं चेत्तर्हि वेदवित् परमात्मानं विजानीयादित्याशङ्क्याह—न तं परमात्मानं वाचामगोचरं विदुर्वेदविदः । न वेदाः—वेदा अपि न तं विदुः न तं विषयीकुर्व्वन्तीत्यर्थः । कथं चिल्लक्षणया बोधयन्तीति भावः । नन्वेवं तर्हि कथमौपनिषदं ब्रह्म स्यादित्याह—तथापि वेदेन विदन्ति वेदं यद्यपि वागाद्यविषयं ब्रह्म तथापि वेदेन ऋगादिना विदन्ति जानन्ति वेदं संविद्रूपं परमात्मानम् । के ते ? ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति, वेदानां वेदप्रतिपादनप्रकारं जानन्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

कालिका ।

पूर्व्वश्लोकं भङ्ग्यन्तरेण स्पष्टयति—य इति ।

यो वेदान् ऋगादीन् वेद जानाति पाठतोऽर्थतश्च स वेद्यं प्रपञ्चं वेद जानाति । एवम्विधा वेदविदो ये वेदानां पाठं शब्द-

बोध्यमर्थञ्च विदन्ति, ते वेदभारभराक्रान्ता स्वं वेदहृदयं परमार्थं न विदुः। श्रुतिरपि—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्येवमाद्या दर्शयति तस्य वाङ्मनसातीतत्वम्। कस्मादिति प्रश्ने प्रतिवचनमाह न वेदा इति। यतो वेदा अपि तं सत्त्वामात्रमगोचरं न विदुः। परमात्मानं वेदा नेदन्तया विषयीकुर्व्वन्ति किन्तु कथञ्चिल्लक्षणया तं बोधयन्तीति भावः। यद्यप्येवं तथापि ये वेदविदो वेदानां तात्पर्य्यं विदन्ति ते ब्राह्मणा भवन्ति। ते वेदेन तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानां जहदजहल्लक्षणात्मकेन प्रमाणेन वेद्यं प्रत्यस्तमितभेदमात्मसंवेद्यं परमात्मानं विदन्ति। वेदवाक्यादात्मानं लक्षणया जानन्तीति भावः॥ ४२॥

मूलानुवाद।

वेदोंके रहस्य समझनेसे जगत्का प्रपञ्च भी समझा जा सकता है। पर जो वेदोंके केवल वाच्यार्थ जानते हैं, वे परमात्माको नहीं जानते। क्योंकि केवल वाच्यार्थके द्वारा वाङ्मनसातीत परमात्मा प्रकाशित नहीं होते। किन्तु जो वेदोंके रहस्यको जानते है, वे वेदवाक्योंके लक्षणासे ही सच्चिद्रूप परमात्माका स्वरूप निर्णय कर सकते हैं॥ ४२॥

कालिकाभास।

पूर्वोक्त श्लोक ही का तात्पर्य अन्यरूपसे वर्णन किया जाता है। श्रुति तथा स्मृति कहती है,—"परमेश्वरके निकट वाक्य नहीं पहुंच नेके कारण प्रत्यावर्त्तन कर (लौट) जाता है।"—इसीसे आचार्य कहते हैं कि जो वेदोंके केवल वाच्यार्थ जानते हैं वे परमात्माको पहचान नहीं सकते। अर्थात् जो वेदोंका केवल शब्दबोध्य अर्थको स्मरण रखते हैं, वे वेदोंको बोझसे दबकर वेदके हृदयस्वरूप परमात्माको कभी समझ नहीं सकते, क्योंकि केवल शब्दराशियोंसे परमात्मा सम्यकरूपसे नहीं पाया जा सकता है। इससे यह समझना होगा कि वेद "यही ब्रह्म है" ऐसा कहकर पाठकोंके हाथमें किसी वस्तुके सम न नहीं देने पर भी भावभङ्गीके द्वारा

ब्रह्मप्राप्ति की दिशा निर्णय कर देते हैं। इसी लिये आचार्य पुनः विशदरूपसे बोलते हैं कि जो वेदोंका रहस्य जानते हैं वे वेदवाक्योंके शिर्फ लक्षणसे ही सच्चिद्रूप परमात्माका स्वरूप निर्णय कर सकते हैं. कहनेका अभिप्राय यही है कि—(१) उपक्रम-उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्व्वता, (४) फलश्रुति (५) अर्थवाद तथा (६) उपपत्ति, इन छः प्रकारके लिङ्गोंके द्वारा जो ब्रह्मके विषयमें वेदोंका तात्पर्य निरूपण करते हैं वे ही रहस्य समझ सकते हैं, और ऐसे रहस्यज्ञ पण्डित प्रकरण प्रतिपाद्य वेदवाक्योंके भाग याग आदि लक्षणोंका वतलाते हुए परम सारभूत चिन्मय ब्रह्मके स्वरूपको आपातत सिद्धान्तके तरह कथञ्चित् ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अनुष्ठान करनेसे वेदज्ञोंको जो चिदभिव्यक्ति होती है, वह उनके पुरुषार्थानुकूल है।

वेदोंसे ब्रह्मका स्वरूप यथाशक्ति तथा यथासम्भव पाकर उसकी उपलब्धि करनेके लिये योगकी आवश्यकता है। योग भी ज्ञान ही है, क्योंकि योगमें सवतरहके विपरीत प्रत्यय निरोहित होकर केवल ब्रह्मविज्ञान उत्पन्न होता है। इसी लिये कहा गया है कि योगियोंके जीवभावको परमात्मामें लय करनेका ही नाम योग है। योगी याज्ञवल्क कहते हैं—'ज्ञानं योगात्मकं विद्धि योगं चाष्टाङ्गसंयुतं। संयोगो याग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः॥ यमश्च नियमश्चैव आसनञ्च तथैव च। प्राणायामस्तथा गार्गि ? प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने'॥ अर्थात् हे वराननी गार्गि! परमात्माके साथ जीवात्माका संयोग ही योग है अस्तु ज्ञान को ही योग समझना चाहिये। और (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान तथा (८) समाधि, इन्हीं आठोंको योगका अङ्ग कहते हैं।

इन आठ अङ्गोंमेंसे प्रथम पाँचके द्वारा योगकी उपयोगिता साधित होती है। इसी लिये इनको चित्तका परिकर्मविशेष भी कह सकते हैं। और शेष तीनोंके द्वारा योग सम्पन्न होता है।

इन योग संस्कारोंके दृढ होने पर योगीको कैवल्य अथवा मोक्ष होता है। अस्तु प्रथम पाँच योगके वहिरङ्ग तथा शेष तोन उसके अन्तरङ्ग हुये। योगदर्शनमें शेषके इन तीनोंका ही नाम संयम है। वेद जिसको निदिध्यासन कहते हैं योगदर्शनमें वही ध्यान तथा समाधि कहा गया है। और वेद जिसको मनन कहते है, योगदर्शनमें वही धारणा है। चिन्मय ब्रह्ममें चित्त वद्ध करनेके लिये पहले उनका स्वरूपको यथासम्भव अवधारण करनेकी आवश्यकता है इस लिये मनन नामक धारणाके पहले वेदोंने ब्रह्मविषयक श्रवणका उपदेश दिया है। क्योंकि ब्रह्मके स्वरूपके सम्बन्धमें किसी तरहका ज्ञानाभास नहीं रहनेसे उनको विषयको क्या धारणा होगी?

वेदोंका नाम श्रुति भी है, इसी लिये वेदपाठ करनेको श्रवण भी कहते हैं। वेदोंमें अनेक प्रकरण है और पाठके समय उनके प्रतिपाद्यविषयोंमें वेदके तात्पर्य्य वाक्यको प्रकट करनेके लिये उपक्रम आदि छः लिङ्ग प्रयुक्त हुये हैं। इस प्रकार प्रकरण प्रतिपाद्य तात्पर्य्य वाक्योंको प्रकट (उद्धार) हो जानेसे उसका कौन अंश रखना होगा और कौन अंश त्याग करना होगा यह कई लक्षणोंके द्वारा स्थिर होता है। इस रूपसे जो स्थिर होता है, वही वेदका सारांश समझा जाता है। वेदोंके प्रतिपाद्य ब्रह्मका स्वरूप निर्णय ही ज्ञानकाण्डका सारांश है क्योंकि उनका स्वरूप निर्णीत हुये विना उनके सम्बन्धमें ठीक ठीक मनन नामक धारणा नहीं हो सकती। और धारणा हुये विना कैवल्य परिणाम निदिध्यासन भी नहीं होगा। इस लिये निदिध्यासनके वीजभूत और धारणाके पूर्व्ववृत्त श्रवणके विधिविषयक लिङ्ग लक्षणादिका विवरण दिया जाता है। साथ ही यह भी कह देना आवश्यक है, कि ज्ञानप्रधान योगोपसर्गनो ब्रह्मविद्यामें यमादिसे प्रत्याहार तक योगके वहिरङ्ग द्वारा इन्द्रियोंको परम वश्यता पाते हुये, वेदविहित श्रवण अनुष्ठित होता है। और योगप्रधाना ज्ञानोपसर्गनो ब्रह्मविद्यामें वेदविहित

श्रवण अनुष्ठित होनेके बाद क्रमानुसार योगका वहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग अनुष्ठित हो जाता है। अस्तु ये दोनों ही योगके भिन्न भिन्न क्रम (मार्ग)के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ध्रुव, प्रह्लाद, विश्वामित्र तथा नारदादि ऋषिगण पहले क्रमका नियम पालन करते थे, और श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र, याज्ञवल्क्य, वेदव्यास प्रभृति महापुरुष द्वितीय क्रमको अवलम्बन किये।

वेदान्तगत प्रकरणके पहले तथा अन्तमें प्रस्तुत विषयोंके जो कीर्त्तन देखे जाते है, वह यथा क्रम उपक्रम तथा उपसंहारके नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार छान्दोग्य उपनिषदके छठे प्रपाठकमें "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" इस वाक्यके द्वारा उपक्रम अथवा आरम्भात्मक प्रस्ताव करके अन्तमें "एतदात्म्यमिदं सर्व्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इस वाक्यसे प्रस्तुत विषयका उपसंहार किया गया है। इस प्रकार उपक्रम तथा उपसंहारकी एक रूपता देखकर समझना होगा कि प्रकरणमें ब्रह्मका सर्व्वात्मकत्व प्रतिपादन करना ही तात्पर्य माना गया है और ब्रह्म तथा आत्माका ऐक्य दिखलाया गया है।

किसी सन्दर्भमें यदि वस्तुविशेष की पुनः पुनः आवृत्ति हो तो उसको अभ्यास कहेंगे। जिस प्रकार "तत्वमसि" अर्थात् तुम वही परमात्मा हो, यह महावाक्य जीव तथा ब्रह्मका:ऐक्य प्रतिपादन करता है, और यह उस प्रकरणमें आठ या नववारतक कहा गया है, इस लिये इस महावाक्यका इस प्रकारका अभ्यास देखकर समझना होगा कि उपक्रमादिके द्वारा जानी गई ब्रह्म तथा आत्माकी एकताकी प्रतिपादन करना ही प्रकरणका मुख्य उद्देश्य है।

शास्त्रोंके अलावे दूसरे दूसरे प्रमाणोंसे उपक्रान्त विषयकी अप्राप्ति होनेसे उसको अपूर्वता कहते है। यही अपूर्व्वता तात्पर्य निरूपण करना है। जैसे "तत्त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस वाक्यके द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्मविषयमें विज्ञानवादके अलावे जड़वादियोंका

प्रमाण व्यर्थ वा खण्डित हो जाता है, इस लिये समझना चाहिये कि इसके द्वारा ब्रह्मका अद्वैतत्व प्रतिपादित होता है। नामरूप विरहित अपरिछिन्न ब्रह्मका अद्वैतत्व अनुभूतिके विना और दूसरे प्रमाणोंके द्वारा अगम्य होता है, इस लिये "तत्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस वाक्यके द्वारा इसको अपूर्व्वता प्रमाणित हो जाती है।

उपस्थित विषयका अनुष्ठान करनेसे जो लाभ सुना जाता है उसीका नाम फल है। जिस तरह प्रपाठकोंमे यह बतलाया गया है कि ब्रह्मके जानने हो से सब वस्तु जानो जाती है, और जो ब्रह्मको जान जाते है उनके निर्व्वाण पानेमें सिर्फ प्राणपात तकका ही विलम्ब रहता है। इससे यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत ब्रह्म-ज्ञानसे निर्वाणरूप विशिष्ट प्रयोजन हो सिद्ध होता है, इस लिये इसकी फलश्रुतिको देखलेने पर फिर यह सन्देह नहीं रह जाता कि ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करना हो इस सन्दर्भका मुख्य उद्देश्य है।

उपस्थित विषयको प्रशंसाको अर्थवाद कहते है। जिस प्रकार ब्रह्मको जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता ऐसा कहने पर फिर ऐसा भी कहा गया कि जिसके सुन लेने पर और कुछ सुनना बाकी नहीं रहता। यदि सब विषय हो जाना रहेतो फिर श्रवणके जरिये और नया ज्ञान नहीं होता इस लिये शेषवालेका प्रथमका अर्थवाद जानना होगा।

प्रस्तुत विषयको सम्भाव्यता दिखानेके लिये जो युक्ति दो जाती है, उसका नाम उपपत्ति है। जैसे ब्रह्मको जान लेनेसे सब हो विषय जान लिये जाते है यही समझानेके लिये प्रपाठकमें कहा गया है कि शिर्फ एकमात्र मिट्टीके जान लेने हो से घट आदि मिट्टीके सब हो पात्र जाने जाते है, उसीतरह युक्तिका भी नाम उपपत्ति है।

इसतरह उपक्रम आदि छे लिङ्ग अथवा चिन्हके द्वारा समझा जाता है कि यह प्रकरण ब्रह्मका सर्व्वात्मकत्व दिखलाकर 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्योंका प्रतिपादन करता है। उपासना हो की

ऐसे प्रतिपादनोंके मुख्य उद्देश्य होने पर भी उपासनाके लिये इस महावाक्यके समस्तांशको ही ग्रहण करना होगा अथवा ोज-मन्त्रोंके तत्वानुसार उसके कितने ही अंशका परित्याग करके अव-शिष्टांशको ग्रहण करना होगा यही अभीका विवेच्य विषय है। यदि एक महावाक्यके समग्र भावार्थ भावनाओं पर आरूढ होकर भी तज्जनित ज्ञान अखण्ड तथा एकरस नहीं हो तो समझना चाहिये कि इस ज्ञानमें भी विकल्पता दोष विद्यमान है। महा-वाक्यके जिस अंशके लिये यह दोष सम्भावित होता है, उसी अंशको लक्षणाके द्वारा स्थिर करके उसको अन्य निर्विकल्पांशमें विलीन करना होगा।

लक्षणाके विवरण देनेके पहले उसके स्वरूपको दिखलानेके लिये सिद्धान्तमुक्तावलिका उदाहरण दिया जाता है। "गङ्गायां घोषः प्रतिवसति" अर्थात् गङ्गामें घो (झोपडी) है इस वाक्यमें गङ्गाशब्द प्रवाहमय जलको परिलक्षित करता है। किन्तु गङ्गाके जलमें कोई रहता नहीं है, बल्कि जमीन ही पर मकान बना कर वास करता है, इस लिये इस वाक्यकी अर्थप्रतीति निर्मूल वा खण्डित होती है। गङ्गामें वास करना जब असम्भव है, तो गङ्गा निकटमें क्या है यही देखने की इच्छा होती है। गङ्गाके निकट ही में तीर है, इससे समझना होगा कि तीर पर ही निवास करता है। और यही वाक्यका तात्पर्य भी है। जहां इस प्रकारका तात्पर्य मानकर अर्थ करना होता है, वहां समझना होगा कि शब्द अथवा वाक्यमें लक्षणा (अर्थ) मानी गई।

लक्षणा तीन प्रकारकी होती है, यथा—जहत्स्वार्था अजहत्-स्वार्था तथा जहदजहत्स्वार्था। जो अपना अर्थ छोड दे उसे जहत्स्वार्था कहते हैं। उसको जहत्लक्षणा भी कहते हैं। पहले सिद्धान्तमुक्तावलिका जो उदाहरण दिखलाया गया था वह जहत्-स्वार्थका ही उदाहरण था। क्योंकि उसमें अन्वयसिद्धिके लिये गङ्गा शब्द अपने निजी अर्थको छोडकर अन्य अर्थको ग्रहण करना

है, अर्थात् तीरको बताता है। इसके एस उपलक्षणप्रयुक्त होनेपर साहित्यदर्पणमें विश्वनाथ कविराजने उसको लक्षणलक्षणा कहकर इस प्रकार उसका संज्ञा निश्चय किया है।—"अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये। उपलक्षणा हेतुत्वा देषा लक्षण-लक्षणा॥ अर्थात् अन्वयसिद्धिके लिये अपना अर्थ परित्याग कर उपलक्षणप्रयुक्त दूसरे अर्थसे मिल जाता है, इस लिये उसका नाम लक्षण-लक्षणा है।

न जहाति स्वार्थो याम् अर्थात् जिसको अपना अर्थ त्याग नहीं करता उसका नाम अजहत्स्वार्था है। इसको अजहत्लक्षणा भी कहते हैं। काव्यप्रकाशमें द्वितीय उल्लासमें मम्मटभट्टने इसको उपादान-लक्षणा कहकर इसका लक्षण ऐसा बताया है। 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम्। उपादानं लक्षणं चे त्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा"। अर्थात् अन्वयसिद्धिके लिये दूसरेका आश्रय लेकर जो शब्द उसके लिये निजी अर्थका समर्पण करके (त्याग कर भी) अपनी सत्ताके प्रति आक्षेप अर्थात् लक्ष्य रखे, तो उसका नाम उपादानलक्षणा। यथा—"श्वेतो धावति" ऐसा कहनेसे समझना होगा कि उजले रंगका पशु दौड़ता है। किन्तु श्वेत पशुको बताने पर भी पशुके साथ वह उक्त होता है और पशुमें श्वेतत्व है, इस लिये वह भी गङ्गा शब्दके समान अपना अर्थ नहीं छोडा। इसी लिये इसको अजहत् स्वार्थाका उदाहरण कहते है।

जब दोनों लक्षणाओंका मिश्रण हो जाता है तो उसका नाम जहदजहत्स्वार्था रखते है। इसको कोई कोई भागत्याग-लक्षणा भी कहते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण, शब्दशक्तिप्रकाशिका, काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण प्रभृति अलङ्कारशास्त्रोंमें जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था विशेषरूपसे वर्णित है। किन्तु दार्शनिक लोग प्रत्यगात्माका स्वरूप निर्णय करनेके लिये इन दोनों लक्षणाओंके मिश्रणको जहदजहत्स्वार्था नामक एक तीसरी लक्षणा मानते है। अलङ्कारशास्त्रमें इस लक्षणाका परिचय रहने पर भी वेदान्तभाष्यमें तथा दार्शनिक निवन्धमें ग्रन्थोंमें इसको आनुपूर्व्विक आलोचना देखी

जाती है। इस लिये वेदान्तपरिभाषाके आगमपरिच्छेदमें धर्म्म-राजाध्वरीन्द्रने कहा है—'तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्व्वज्ञत्वा-दविशिष्टस्य त्वं पदवाच्येन अन्तःकरण-विशिष्टेन ऐक्यायोगाद् ऐक्य-सिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणा इति साम्प्रदायिकाः" अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंमें तत्पदका सर्व्वज्ञत्व तथा त्वं पदका अल्पज्ञत्व दोनोंके ऐक्य प्रतीयमान हुए विना भी इनका ऐक्य प्रतिपादन करनेके लिये वेदान्तसम्प्रदाय कर्तृगण स्वरूपके नियममें एक ही लक्षणा स्वीकार करते हैं। और यही जहदजहदस्वार्थाके नाममें प्रसिद्ध है।

भगवत्पाद शङ्कराचार्य प्रभृति अद्वैतवादीगण कहते हैं—वह यही देवदत्त है (सोऽयं देवदत्तः) ऐसा कहनेसे जहदजहद कल्प-नाके विना इस वाक्यको अर्थ सङ्गति नहीं होती, क्योंकि सः अर्थात् तत् शब्दका परोक्षत्व और अयम् शब्दका अपरोक्षत्व दोनो ही सामानाधिकरण्यवश देवदत्तको लक्ष्यसे 'व्यवहृत होने पर भी देव-दत्तका परोक्षत्व उसके अपरोक्षत्वमें पर्यवसित हो जाता है और दोनो सर्वनामशब्द देवदत्तके साथ विशेषण-विशेष्य भावसे सम्बद्ध है, इस लिये इस वाक्यके द्वारा केवल अखण्ड देवदत्त ही बोद्धाके ज्ञानारूढ होते है। इस लिये वाक्यका जो अंश अप्रधानभावसे बोद्धाके निकट प्रतीयमान होता है, वही जहत् है, और जो अंश प्रधान-भावसे बोद्धासे स्वीकार किया जाता है, वही अजहत्के नामसे इस वाक्यमें जहदजहद्-लक्षणा की कल्पना की गई है। और फिर इस वाक्यके अनुपातमें आचार्यगण 'तत्वमसि' वाक्यका लक्षणा निर्णय करनेके लिये कहते हैं,—तत् शब्दका परोक्षत्व तथा त्वं शब्दका अपरोक्षत्व दोनों ही समानाधिकरण्यवश चैतन्यमात्रको लक्ष्य करके उसके साथ विशेषण-विशेष्य भावसे स्थित है। और परोक्षत्वका अतीतकाल तथा अपरोक्षत्वका वर्त्तमान काल, दोनों कालोंकी एक साथ कल्पना विरुद्ध होनेके कारण इस महावाक्यमें जहदजहल्लक्षणा स्वीकार पूर्व्वक तत्शब्दोप लक्षित ब्रह्मकी माया

तथा त्वं शब्दोपलक्षित जीवोंको उपाधि दोनोंका हो परित्यागकर जोव ब्रह्मका अखण्ड चैतन्यमात्र हो माना जाता है।

बौधायनमतावलम्बो रामानुजाचार्य प्रभृति विशिष्टाद्वैतवादिगण इस सिद्धान्तमें आपत्ति करते हैं। वे कहते है कि मुख्यार्थको सम्भावना रहनेसे लक्षणाको स्वोकार करना युक्तियुक्त नहीं है। "तत्वमसि" इस महावाक्यमे मुख्यार्थ भासमान रहनेके कारण इसमें लक्षणा स्वोकार करनेसे केवल दोषावह हो होगा सो नहीं, वल्कि परमार्थदृष्टिसे भो उसका श्रुतिनिर्द्देश व्यर्थ होता है। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥" इस वेदके पुरुषसूक्तमे ब्रह्मका प्रपञ्चोपलक्षित आदित्यवर्णरूप जाने विना अमृतत्व नहीं होता, यहो यहां प्रतिपादित हुआ है। और "तदैक्षत बहु स्याम्" अथवा "स्वयमकुरुत" इत्यादि श्रुतिके अनुसार ब्रह्म जगत्का कारणरूप माना जाता है, इस लिये 'तत्वमसि' इस महावाक्यमें लक्षणा स्वोकार करने हो से तत् शब्दोपलक्षित ब्रह्मका कारणरूप तथा 'त्वं' शब्दोपलक्षित उसका कार्यरूप विरुद्ध वा असंगत होकर पहले कहे गये मन्त्रका मुख्यार्थ ग्रहणमें व्याघात डालेगा। और इस महावाक्यका ऐसा अर्थ नहीं करनेसे 'सत्' तथा 'तत्' दोनों पदोंका सामानाधिकरण्य भो रक्षित नहो होता, क्योंकि दोनो हो को समानार्थक विशेषण रहनेसे शब्दव्यवहारका प्रधान कारणरूप प्रवृत्तिमें अभाव होता है) 'श्वेतवर्णका घोड़ा' कहनेसे समानार्थक दो विशेषणोंके व्यवहारमें वेसे प्रवृत्तिका कारण अर्थात् निमित्त नहो देख पड़ता, उसी तरह महावाक्यके तत् तथा त्वं ये दो पदोंको समानार्थक कहनेसे शब्द व्यवहारको प्रवृत्तिका कारण उपलब्ध नहो होता। और 'वह यही देवदत्त है इस वाक्यमें भो लक्षणा स्वोकार करने को कोई आवश्यकता नहो है। क्योंकि, 'वह' शब्दके द्वारा अतीत तथा 'यहो' शब्दके द्वारा वर्त्तमान प्रगट करने पर भो देवदत्तके सम्बन्धमें प्रतोतिका कोई विरोध

नहीं होता। एक पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंमें अवस्थित देखने पर क्या ऐक्य प्रतीतिमें व्याघात होता है? मैंने एक आदमीको पहले देखा था, और फिर उसे आज देखकर उसको पहचाना इससे यह जाना जाता है कि एक ही आदमी भिन्न भिन्न समयोंपर भिन्न भिन्न स्थानोंमें देखे जाने पर भी मेरे निकट वह समानभावसे ज्ञानारूढ हुआ है। इन सब अवस्थाओंको देखकर कहना होगा कि युक्तियोंके विरोधको परिहार करनेके लिये तथा पहले कहे गये मन्त्रको और श्रुतिकी तात्पर्य की रक्षा करनेके लिये 'तत्वमसि' महावाक्यमें कोई लक्षण करनेका आवश्यकता नहीं है।

दोनों पक्षोंकी युक्तियोंको देखकर हम सिद्धान्तपक्षी ऐसा समझते है कि अद्वैतवादमें निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपाद्य विषय होनेके कारण महावाक्य भी लक्षणा मानी गई है। और विशिष्टाद्वैतवादमें सविशेषब्रह्म प्रतिपाद्य होनेके कारण वहां लक्षणा स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। अवस्थाविशेषसे दोनों ही की युक्तियां बलवती मालूम होती है। क्योंकि जिस दृष्टिसे ब्रह्मको देखा है वह उसी रूप को बताता है किन्तु ब्रह्मवाद युक्तिवाद नहीं, ब्रह्मवादको उपनिषदतत्व अथवा आध्यात्मिक विद्या कहते है। क्योंकि इसके द्वारा परमेश्वरका आत्मभाव उपलब्ध होता है। शास्त्रोंने भी कहा है—"तस्य वा एतस्य यजुषो रस एवोपनिषत्" इस लिये कर्म्मकाण्डके तरह ज्ञानकाण्ड भी उपासनात्मक है। "आसीनः सम्भवात्" "आवृत्ति रसकृदुपदेशात्" इत्यादि वेदान्तसूत्र भी इसका समर्थन करते है। मीमांसाका सङ्कर्षणकाण्ड भी इसमे प्रमाण है।

"स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे निवेशयेत्" इस नियमके अनुसार युञ्जानयोगी जैसे योगके आरम्भमें चतुर्भुजादि देवमूर्त्तिमें मनःसंयम करके पीछे सूक्ष्म विषयमें समाहित होते है। वेदान्ती लोग भी उसीतरह सविशेष ब्रह्मसे चित्तको जीत कर निर्व्विशेष ब्रह्मको ग्रहण करते है। क्योंकि जब वेद सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण

ब्रह्म दोनो ही का उल्लेख करते हैं, तब समझना होगा कि इसके द्वारा उपासना की भूमिका पर आरोहण करना ही बताया गया है। नहीं तो एकजातीय श्रुतिके द्वारा अन्य जातीय श्रुति बाधित हो जायगी। विरुद्ध श्रुतियोंके सामञ्जस्य की रक्षा करनेके लिये पूर्व्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनो ही उपस्थित और तैयार है, और अवान्तर विषयमें इनका मतद्वैध वा विभिन्न होने पर भी साधकके भूमिकारोहणरूप चरमोद्देश्यमें दोनों ही एक मत है यह निर्व्विवाद है। इसी लिये पद्मपुराणमें कहा गया है—"जैमिनीये च वैयासे विरुद्धोऽंशो न कश्चन। श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥" मीमांसक-शिरोमणि कुमारिलभट्टने भी इस श्लोकके वार्त्तिकमें कहा है—'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु, रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद् विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्त-निषेवणेन॥" अर्थात् 'नास्तिक्यनिवारणके लिये भाष्यकार युक्तियोंके द्वारा आत्माका अस्तित्व प्रतिपादन किया है किन्तु आत्मविषयक बोध वेदान्त सेवाके द्वारा दृढीभूत होता है।' अतएव जितने दिन वेदान्तका पठन पाठन रहेगा उतने दिन सविशेष ब्रह्म ही वेदान्तीके लिये उपास्य होगा क्योंकि इस अवस्थामें निर्व्विशेष ब्रह्ममें निदिध्यासन करनेसे भी उनके सम्बन्धका सम्पूर्ण विकल्पज्ञान हटता नहीं। इस लिये इस अवस्थामें 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्योंमें लक्षणा स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। और इसी लिये विशिष्टाद्वैतवादी लोग भी ब्रह्मोपासनाकी इस भूमिका तक पहुंच जाते हैं इस लिये वे उक्त महावाक्योंकी कोई लक्षणा स्वीकार नहीं करते। किन्तु जब पठन पाठनकी समाप्ति चुकी और जब वेदान्त प्रतिपाद्य वस्तुओंके विषयमें सब सन्देहोंकी मीमांसा हो चुकी और कर्मोंसे अतृप्ति होने पर जैसे ज्ञानमें प्रवृत्ति होती है, उसीतरह सविशेष ब्रह्मोपासनामें अतृप्ति होनेसे जब निर्व्विशेष ब्रह्मोपासनामें प्रवृत्ति हो गई हो, तब वेदान्ती देख सकता है, कि एक दूसरी भूमिका पर आरोहण करनेके लिये

तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्योंके मुखसे बाहर होकर हृदयमें प्रवेश करना होगा। और इस प्रकार प्रवेश करानेमें उनको सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर करानेके लिये लक्षणाका आश्रय लेना होगा। इसी लिये अद्वैतवादी लोग तत्त्वमसि' महावाक्योंमें लक्षणा स्वीकार करते हुए कहते हैं—"तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते।"

मन: अणुपरिमाण महावाक्यका विशाल विस्तृत भाव एक ही बारमें सूक्ष्म मन अपनी धारणामें नहीं सकता इस लिये महावाक्यको लक्षणाके द्वारा विभाग करके उसके एकांशमें मन लगाता है नहीं तो चिन्तितव्य विषयमें विकल्पता आ पडती है। लक्षणाके द्वारा विभक्त महावाक्यके जो अंश अपेक्षाकृत अल्प प्रयत्नसे प्राप्त होता है, वही चिन्तितव्य होता है। जैसे "सोऽहं" इस वाक्यका "सः" परमेश्वरका द्योतन करता है, और "अहं" शब्द "मुझे" प्रकट करता है, किन्तु परमेश्वरकी सर्व्वव्यापकता-प्रयुक्त "वह" प्रथम प्रथम मुझसे अप्राप्य होनेके कारण मैं अनुभूतिमूलक अपने ही को चिन्ताका विषय बना लेता हूं वे सर्व्वात्मक हैं, सर्व्वव्यापक है, और 'मैं" ऐसा उनसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है, इस लिये मुझको चिन्ता करनेका अर्थ उनको ही चिन्ता करना होगा। इसी लिये योगी लोग इन्द्रियोंके साथ मनको एकाग्र करके पहले उसे विशेष-अहङ्कारमें ही प्रवेश कराते है। "अहंतत्व" वा "मैं"के चिन्तासे केवल मेरी सत्तामात्रकी प्राप्ति होगी। किन्तु मेरे सम्बन्धमें अन्य किसी प्रकारकी अनुरागादि-मूलक चिन्ता आने पर उसको विक्षेपके समान परित्याग करना होगा। यदि कोई ऐसा कहे कि जब परमेश्वर सर्वात्मक तथा सर्वव्यापक हैं, तब मेरी चिन्ता न करके तेरी ही चिन्ता कर लेनेमें कौन सा दोष होगा? इस पर मुझे कहना होगा कि मैं अपनी चिन्ता अपेक्षाकृत अल्प आयास से ही कर सकता हूं, इस लिये अपनी चिन्ता करता हूं और इस चिन्ताके सिद्ध हो जाने पर मै 'तेरी' चिन्ता करूंगा किन्तु उस समय महावाक्य की भागत्याग

नामक लक्षणा अलग हो जायगी। इसी लिये शास्त्रोंने भी कहा है कि—"ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ज्ञानं पश्चात् परित्यजेत्।" जिस कामके लिये उस समय लक्षणाको स्वीकार किया था उस कामके हो जाने पर फिर और लक्षणाको क्या आवश्यकता है?

अत एव सविशेष ब्रह्मभावनामें कृतार्थ होकर निर्विशेष-ब्रह्म भावनामें लक्षणाके सहारे इस "अहम्तत्व"का अधिकार करना ही चरम उपासना की प्रथम भूमिका है। इस प्रथम भूमिका की सिद्धि पा जाने पर परवर्त्ति भूमिकाके "तत्वमसि" प्रभृति महावाक्योंका लक्षणा-जनित विभाग भी सूर्योदयके समय दिग्भ्रमके समान विलग (लोप) हो जाता है। इसीसे योगी लोग भी विशेषाऽहङ्कारमें सिद्ध हो जाने पर मन आदिको इस विशेष अहङ्कारको महत्तत्वमें मिला देते है। वेदोंने भी यही जनाया है कि—"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"॥ वेद अश्रद्धेय होनेकी चीज नहीं, इस लिये महावाक्योंकी लक्षणा अमृतनिष्यन्दिनी होती है॥ ४२॥

धामांशभागस्य तथाहि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथामनन्ति
तस्मिन् हि नित्ये परमात्मनोऽर्थे॥ ४३॥

अन्वयः।

धामांशभागस्य (चन्द्रस्य) संवेदने यथा च महीरुहस्य (वृक्षस्य) शाखाः आमनन्ति हि, तथाहि परमात्मनः तस्मिन् नित्येऽर्थे चैव वेदाः [उपादीयन्ते मुनिभिः]॥ ४३॥

शाङ्करभाष्यम्।

कथं तर्हि अविषयमेव ब्रह्म वेदाः प्रतिपादयन्तीत्याशङ्काह— धामेति। धामांशभागस्य, "रात्रिधामश्चन्द्रः" इति श्रुते श्चन्द्रांश-

भागमा प्रतिपच्चन्द्रकलादर्शने यथ महीरुहमा वृक्षस्य शाखा हेतु-र्भवति, तथा वेदास्तस्यैव परमात्मनः स्वरूपभूत॰ वेदने नित्येऽविनाशिन्यर्थे परमपुरुषार्थरूपे परमानन्दस्वरूपे हेतवो भवन्ति। न पुनः साक्षाद्वाचामगोचरं परमात्मानं प्रतिपादयन्ति एवमामनन्ति ॥४३॥

कालिका ।

अधुना दार्ष्टान्तिकेन योजयति—धामांशभागस्येति। धाम दीप्तिस्तन्मया अंशा यस्य स धामांशश्चन्द्रस्तस्य भागः कला तस्य संवेदने ज्ञापने शाखा महीरुहस्य यथोपादीयते तथा हि परमात्मनो नित्येऽर्थे स्वरूपभूतसंवेदने वेदा उपादीयन्त इति मुनय आमनन्ति। शाखाचन्द्रन्यायेन ब्रह्म प्रतिपाद्यं वाचामगोचरत्वादिति भावः ॥ ४३ ॥

मूलानुवाद ।

शास्त्रकारगण कहते हैं—चन्द्रकलादर्शनके लिए जैसे वृक्षकी शाखा है, नित्य परमात्माके दर्शनके लिये वेद भी वैसे ही है ॥ ४३ ॥

कालिकाभास ।

शाखाचन्द्रके समान यहां दृष्टान्त दिखलाया जाता है। द्वितीयाकी चन्द्रकला अथवा कोई नक्षत्र किसीको दिखानेके लिये दिखानेवाला कोई वृक्षशाखा अथवा पत्तोंके बीचसे उसको स्वयं देखकर अपनी जगहपर दूसरेको लाकर उसको दिखलाता है। नक्षत्र, शाखा तथा दिखलानेवालेके एक साथ सूत्रपातसे नक्षत्र अनायास ही दिखलाया गया। नक्षत्र तथा दिखलाने वालेके बीच वृक्षशाखादि जैसे नक्षत्रदर्शनके कारण होते है, वैसे ही वेद भी परमात्मा तथा साधकके बीच होकर परमात्म निर्देशका कारण होता है। इससे यह बताया गया कि परमात्मा शब्दको अगोचर होने पर भी उनकी उपलब्धिके विषयमें वेदादिशास्त्रोंका आश्रय ग्रहण करना पडता है ॥ ४३ ॥

अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम् ।
परं हि तत् परंब्रह्म जानात्येव च ब्राह्मणः ॥ ४४ ॥

अन्वयः ।

विचक्षणं (युक्तवाचम्) आख्यातारम् (उपनिषद्वाक्यार्थवर्ण-कुशलं) ब्राह्मणं (ब्रह्मविदम्) अभिजानामि । यः हि तत् परं ब्रह्म परं जानात्येव च स ब्राह्मणः ॥ ४४ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

य एव वेदानां वेदरूपात्मप्रतिपादनप्रकारमवगम्य व्याचष्टे, सोऽपि ब्राह्मण इत्याह—अभीति । यो वेदप्रतिपादनप्रकारं व्याचष्टे तमाख्यातारं विचक्षणं ब्राह्मणमभिजानामि । ननु बाल्यपाण्डित्यादिकं निर्व्विद्यावस्थितमेव ब्राह्मणं ब्रूते श्रुतिः । तथाहि "ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्व्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्व्विद्याथ मुनिरमौनञ्च मौनं च निर्व्विद्याथ ब्राह्मणः" इति । कथमुच्यते अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणमिति तत्राह—वेदानां वेदप्रतिपादनप्रकारं मयोक्तं यो हि जानाति परं हि तत्परं ब्रह्म जानात्येव यो हि पाण्डित्यं निर्व्विद्य स्थितः स क्षिप्रं बाल्यादिकं निर्व्विद्य ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

कालिका ।

इदानीं स्वरूपव्याक्रियैव परा क्रियेतिन्यायेन संशयं दूरीकरोति—अभिजानामीति ।

अहं ब्राह्मणं ब्रह्मविदमभिजानामि लक्षणत इति शेषः । लक्षणं चाह—आख्यातारमिति । आख्यातारमुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्व्वताफलार्थवादोपपत्तिरूपषड्विधतात्पर्य्यलिङ्गानुसारेण यश्छिन्नसंशयः सन् परस्य संशयापनयनाय मौनं प्रवर्त्तकत्वेन प्रसिद्धं वेदाः प्रमाणं वेदविदः प्रमातारश्चेत्येवं वेदान् व्याचष्टे तथा परमात्मा सर्व्वेषां प्रत्यक्त्वेन प्रसिद्धः इत्येवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानां सदर्थं जहदजहल्लक्षणया च विवृणोति स आख्याता तम् । पुनः कीदृशम् ?

विचक्षण निदिध्यासनपरिपाकेन महावाक्यार्थतात्पर्य्यसाक्षात्कार-कुशलस्तम्। तत्र हेतुमाह—परं होति। हि यतो ब्राह्मणः पाण्डित्यादिकं निर्व्विद्य स्थित स्तत्परं ब्रह्मपरं जानाति। परमिति सर्व्वात्मकत्वात्॥ ४४॥

मूलानुवाद।

वेदव्याख्याकी प्रणाली तथा उसकी विचक्षणताके देखने ही में 'ब्राह्मण' किस प्रकार होंगे यह मालूम हो जाता है, क्योंकि जो ब्रह्मको सर्व्वात्मक समझते हैं, वे ही वास्तविक ब्राह्मण हैं॥ ४४॥

कालिकाभास।

"तत्त्वदर्शन ही जीवनकी कृतार्थता है।" इस न्यायके अनुसार सब सन्देह हीको निर्मूल कर देता है। ब्राह्मणकी पहचाननेके दो उपाय हैं, यथा—व्याख्या-प्रणाली तथा विचक्षणता। इसका अभिप्राय यही है कि पूर्व्वोक्त उपक्रमादि लिङ्गानुसार स्वयं छिन्न-संशय होकर पीछे दूसरेका संशय उच्छेद करनेके लिये वृहदा-रण्यक आदिके प्रसिद्ध मौनोंका उद्देश्य ही क्या है, या ब्रह्म विषयमें वेदोंका प्रामाण्य क्या है, वेदवित्को प्रमाता क्यों कहते हैं, इत्यादि इन बातोंको जो समझा सकते हैं, वे ही वेदव्याख्याकी प्रणाली समझते हैं। और इस तरह व्याख्यापूर्व्वक लक्षणके साथ "तत्त्वमसि" प्रभृति महावाक्यका सदर्थ निरूपण करके निदि-ध्यासनके द्वारा जो आत्मोपलब्धि करते हैं वे ही विचक्षण वा परम बुद्धिमान है। अपने अभिप्रायको उद्घाटन करके श्लोकके शेष भागमें कहा गया है—जो परब्रह्मको सर्व्वात्मक समझते हैं वे ही वास्तविक ब्रह्मवेत्ता हैं॥ ४४॥

नाऽस्य पर्य्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन।
अविचिन्वन्निमं वेदे ततः पश्यति तं प्रभुम॥ ४५॥

अन्वयः।

प्रत्यर्थिषु (रूपरसाद्यनात्मविषयेषु) कथञ्चन तस्य (ब्रह्मण:) पर्य्येषणम् (अन्वेषणं) न गच्छेत्; ततः (प्रत्यर्थिभ्यः) अविचिन्वन् (विषयसञ्चयमकुर्व्वन्) वेदे (उपनिषदेकगम्ये तत्त्वमस्यादिमहा-वाक्ये) तमिमं प्रभुं (परमात्मानं) पश्यति (साचात्करोति युक्तयोगी विद्वान् वेति शेषः) ॥ ४५ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

यस्मात् सत्यनिष्ठस्यैव ब्राह्मणत्वप्रसिद्धिस्तस्मात् विषयपरो न भवेदि-त्याह—नास्येति। नास्य जगतः पर्य्येषणं गच्छेद्विषयान्वेषणपरो न भवेदित्यर्थः। प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतदेहेन्द्रियादिनिमित्तम् अवि-चिन्वन्विषयसञ्चयमकुर्व्वन्निमं प्रत्यगात्मानं वेदे उपनिषत्सु तत्त्वम-स्यादिवाक्येषु, ततः पश्चात् पश्यति तं प्रभुं परमात्मानम् आत्मत्वेन जानातीत्यर्थः।

अथवा, नास्यात्मनः पर्य्येषणम् अन्वेषणं गच्छेत्। प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतदेहेन्द्रियादिषु देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादि-त्यर्थः। अविचिन्वन् देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन असञ्चिन्वन्, तत्-साक्षिणमात्मानमेव प्रतिपद्यमानः तत्त्वंपदार्थशोधनानन्तरमिमं प्रमा-त्रादिसाक्षिणं परमात्मानं पश्यति। देहेन्द्रियादिकमात्मत्वेनाप्रति-पद्यमानः तत्वमस्यादिवाक्यैः परमात्मानमात्मत्वेन पश्यतीत्यर्थः ॥४५॥

कालिका।

अनात्मविषयेषु सत्यानुसन्धानमकुर्व्वन् तत्त्वमस्यादिमहावाक्येषु ब्रह्मसाचात्कारं गच्छेदित्याह—नास्य पर्य्येषणमिति। प्रत्यर्थिषु रूपरसाद्यनात्मविषयेषु अस्य आत्मनः पर्य्येषणं परीष्यते अस्मिन्निति पर्य्येषणमन्वेषणं न गच्छेत् न कुर्य्यादित्यर्थः। ततः प्रत्यर्थिभ्य एव-मविचिन्वन् विषयसञ्चयमकुर्व्वन् वेदे तत्त्वमस्यादिमहावाक्ये तमिमं प्रभुं परमात्मानं पश्यति आत्मत्वेन जानाति। कश्चित् सांख्यमार्गानु-सारी विद्वत्सन्न्यासी वा योगमार्गानुसारी युक्तयोगी वेति शेषः।

श्यास्तु तत्र विशेष:—बुद्धिमान्द्यादिप्रतिबन्धरहितस्य पुरुषस्य श्रव-णादिप्रणालीजन्यब्रह्मदर्शनमचिरेण भवतीति सांख्यमार्गो मुख्य: कल्प:, उपास्तया तु चिरेणेति योगमार्गोऽनुकल्प इति। मार्गद्वयेऽपि किं करणं ब्रह्मदर्शने ? औपनिषदं महावाक्यम्। वेदे 'तत: पश्यती'-त्युक्तत्वात्। मन:करणत्ववादिन आहु: प्रसंख्यानसहकृतं मन एव ब्रह्मदर्शनस्य करणमिति। तन्न। मनस आविद्यकत्वप्रतीते:। प्रसंख्यानकरणत्ववादिन स्तु विधुरपरिभाविन-कामिनीसाक्षात्कारवत् प्रत्ययाभ्यासरूपप्रसंख्यानमेव ब्रह्मदर्शनस्य करणं यदोक्तं 'वेदान्त-वाक्यजज्ञानभावनाजाऽपरोक्षधी:। मूलप्रमाणदार्ढ्यं न भ्रमत्वं न प्रपद्यते'। इति। तदपि न। प्रसंख्यानजन्यविधुरपरिभावित-कामिनीसाक्षात्कारस्याप्रमात्वदर्शनात् तथा प्रसंख्यानजन्यसाक्षात्-कारेऽपि कदाचिदप्रामाण्याशङ्कासम्भवाच्च ॥ ४५ ॥

मूलानुवाद।

ब्राह्मण इन्द्रिय परतन्त्र होकर (सृष्टि) प्रपञ्चमें ब्रह्मको कभी अन्वेषण नहीं करते क्योकि इन्द्रियसुखसे विरक्त होने हो पर युञ्जानयोगी अथवा विविदिषा सन्न्यासी तत्त्वमस्यादि वाक्योंमे ही परमात्माको साक्षात् लाभ करते है ॥ ४५ ॥

कालिकाभास।

ब्रह्मजिज्ञासुके प्रति उपदेश देनेके लिये यहां ऋषि ब्रह्मप्राप्तिके लिये उपाय निर्देश करते है। वासनावासित चित्त ब्रह्मधारणाके लिये अनुपयुक्त होनेके कारण यहां वैराग्य भी कहा गया है। क्योंकि विरक्तका चित्तशुद्ध होनेपर तत्त्वमस्यादि उपनिषद वाक्योंके द्वारा ही उनको ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है। इस श्लोकका निष्कर्ष है, कि तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही ब्रह्मसाक्षात्कारका कारण है।

कोई कोई सोचते हैं कि प्रत्ययाभ्यासरूप प्रसंख्यान ही ब्रह्म-साक्षात्कारका कारणहै, क्योंकि—"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:" इत्यादि श्रौत निर्वचनानुकूल ध्याय-

मान" शब्द व्यवहृत होता है। अतएव वियोगीसे चिन्तित कामिनीके साक्षात्कारमें प्रसंख्यान ही जैसे उपकरण हो जाता है, वैसे ही ध्यायमानके लिये ब्रह्मसाक्षात्कारको भी समझना चाहिये। और प्रसंख्यान प्रमाणरूपसे ग्राह्य नहीं होनेके कारण, तदुत्पन्न ब्रह्म-साक्षात्कार प्रमा नहीं होने पाता—यह भी समीचीन (उपयुक्त) नहीं। क्योंकि क्लिप्त प्रमाकरणका मूल न रहने पर भी पारमेश्वरी मायावृत्तिके समान उसमेंसे प्रमात्व उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार वस्तुगति स्वीकार करके प्रसंख्यान-करणत्ववादी लोग प्रसंख्यानको ही ब्रह्मसाक्षात्कारका कारण मानते हैं। इसीसे कल्पतरुकार योगीवर श्रीअमलानन्द जी कहते हैं—"वेदान्तवाक्यजज्ञान-भावनाजाऽपरोक्षधी:। मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं न प्रपद्यते॥" अर्थात् वेदान्तवाक्योत्थित ज्ञानकी भावनासे जो अपरोक्ष दर्शन होता है, उसका मूल प्रमाण दृढ़ होनेके कारण वह कभी भ्रमका स्थान नहीं हो सकता। हम लोगोंके आचार्य इस मतको सम्पूर्णरूप पोषण न कर कहते हैं—"वेदे तत: पश्यति" अर्थात् प्रपञ्चमें ब्रह्मज्ञानके निवृत्त होने पर तत्त्वमस्यादि महावाक्यमें ही ब्रह्मदर्शन होता है। कहनेका अभिप्राय यही है कि जब जगत् प्रपञ्चको आखोंसे देख सकते है, इस लिये उसका करण या उपकरण आँखे ही हुई, इसी तरह तत्त्वमस्यादि महावाक्योंके द्वारा ब्रह्मको देख सकते हैं इस लिये तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही ब्रह्मसाक्षात्कारके उपकरण अथवा कारण हुए। प्रसंख्यानको करण कहनेसे समझा होगा कि निर्मल तथा प्रगाढ़ ध्यानमें ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है दूसरे समय नहीं होता। और इसी लिये हमारे आचार्यने उक्त मतका सम्पूर्णरूपसे समर्थन नहीं किया।

मन:-करणत्ववादी लोग कहते है कि केवल प्रसंख्यान ही नहीं किन्तु उसके साथ साथ मन भी ब्रह्मसाक्षात्कारका करण होता है। "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इसके प्रमाण है। स्वप्नकालमें जो अनुभव होता है उसमें मनके सिवा और दूसरा

कुछ नहीं रहता, प्रसंख्यानमें भी उसी तरह समझना होगा। और "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व" इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें जो ज्ञानप्रसादादि शब्द व्यवहृत हुए है, उनसे से भी समझना होगा कि चित्तकी एकाग्रता ही ब्रह्मसाक्षात्कारका कारणरूप निर्दिष्ट हुई है। ऐसी अवस्थामें केवल प्रसंख्यान ही कारण नहीं होगा साथ साथ मन भी ब्रह्मसाक्षात्कारका कारण होगा। हमारे आचार्य इस मनको भी नहीं मानते क्योंकि "यन्मनसा न मनुते" इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा मनका करणत्व होना निषिद्ध हो चुका है। और भी मन कभी निरुपाधिक वस्तुका ध्यान नहीं कर सकता। क्योंकि उसको ध्यान करते ही उपाधिवश अनन्त भी सान्त हो जाता है। इन सब कारणोंसे कहना पड़ेगा कि ज्ञानके स्फुरणमें मन विलीन हो जाता है। और तत्त्वमस्यादि महावाक्योंके विचारफलमें ही ज्ञान उपज जाता है अथवा उत्पन्न होता है। परन्तु इतना तो कह सकते है कि ध्यानादिके द्वारा जिसका मन शुद्ध तथा निर्म्मल हो चुका है, उसीके पक्षमें वेदवाक्योंका विचार व्यवस्थापित हो सकता है। अवश्य विचार करना एक मानसिक क्रिया है और विचार करनेमें मन ही उपकरण है, किन्तु वह दोषावह नहीं है। क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्-कारमें मनके करणत्वके निषिद्ध होने पर विचार करनेमें उसका (मनका) करणत्व निषिद्ध नहीं है।

तत्त्वमस्यादि वेदवाक्योंसे किसको ब्रह्मदर्शन होता है? जो व्यक्ति ब्रह्ममें आत्मयोजना करता है अथवा जो ब्रह्म जाननेकी इच्छा करता है (उसको)। इसमें पहलेको योगमार्ग तथा दूसरेको सांख्यमार्ग वा ज्ञानमार्ग कहते है। दोनों मार्ग है एक ही। किन्तु किन्तु विशेषता यही है कि योगमार्गमें वेदवाक्य विचारित अथवा अविचारितरूपमें रह सकता है। किन्तु सांख्य अथवा ज्ञान-मार्गमें वह जरूर ही विचारा जायगा। इन्हीं सब कारणोंसे टीकामें युञ्जान योगी तथा विविदिषा सन्न्यासी ये दो शब्द प्रयुक्त हुए है॥ ४५॥

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेच्छेन्मनसा अपि।
अभ्यावर्त्तेत ब्रह्मास्मै वह्वनन्तरमाप्नुयात्॥ ४६॥

अन्वयः।

मनसा अपि न इच्छेत् (विषय-भोगं न चेष्टेत)। [अतः] तूष्णीम्भूतः (इन्द्रियादिव्यापारविरतः सन्) उपासीत। अस्मै (तूष्णींभूताय) ब्रह्म अभ्यावर्त्तेत (अभिमुखीभवेत्)। अनन्तरं [सः] वहु (भूमानम्) आप्नुयात् (अपारोक्ष्येण जानीयात्)॥ ४६॥

शाङ्करभाष्यम्।

यस्मादेवं तस्मात्—तूष्णीमिति। यस्मात् सर्व्वविषयपरित्याग एवात्मदर्शनसिद्धिः, 'तस्मात्तूष्णींभूतः' स्वात्मव्यतिरिक्तं सर्व्वं परित्यज्य केवलो भूत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपासीत। नचेच्छेन्मनसा अपि विषयेन्द्रियेच्छां न कुर्य्यात्। यस्तूष्णींभूतो विषयोपमर्द्दनं कृत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपास्ते, अस्मै तूष्णींभूताय ब्राह्मणाय ब्रह्म अपूर्व्वादिलक्षणम् अभ्यावर्त्तेत अभिमुखीभवेदित्यर्थः। श्रूयते च "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति। अनन्तरमाविर्भूतस्वरूपः सन् वहु भूमानं तमसः परं परमात्मानमाप्नुयात्॥ ४६॥

कालिका।

अत्र प्रथमपादेन तूष्णीम्भूतस्य विषयपरित्यागो दर्शितः। तत्र विषयभोगस्य बन्धहेतुत्वात् 'तूष्णीमहमासम्' इत्यौदासीन्याभिमानात्मकं यदुपासनं तदपि बन्धहेतुरेव वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। तस्मात् तत्त्वं ज्ञात्वा विषयं च परित्यज्य भोक्तृत्वाभिमानहानेन समाधिस्थो भवेदित्यभिप्रायेणाह—तूष्णीम्भूत उपासीतेति। द्वितीयपादेन दर्शयति—समाधौ भोक्तृत्वं निराकृत्य व्युत्थानदशायां मनसाऽपि विषयस्पृहा न कार्य्येति। "आप्तकामस्य का स्पृहे"ति श्रुतिः। यद्यपि जीवनयात्रानिर्व्वाहाय स दर्शनश्रवणादिविषयव्यापारेषु प्रवर्त्तते स्वेच्छया नैव किञ्चिदिच्छेत्। समाधिपरिपाकान्ते पुनः स

विषयमिच्छन्नपि न लिप्यते स्वात्मदर्शनेन बाधितत्वात्। तथा हि श्रुतिः—"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"॥ इति। अस्मै तदर्थं भूताय ब्रह्म अभ्यावर्त्तेत अभिमुखीभवेत्। अनन्तरं समाधिपरिपाकान्ते ब्रह्मज्ञानेन बहु भूमानं तमसः परं परमात्मानमाप्नुयात्। तस्य वेदप्रतिपादितमहिमानमपरोक्षतो जानीयादित्यर्थः॥ ४६॥

मूलानुवाद।

मौनके सहारे उपासना करना। इन्द्रियव्यापार जिससे मनमें भी स्थान न पावें। ऐसा करनेसे ब्रह्मका अभिमुखी भाव होता है, और उसके बाद समाधि परिपक्व हो जाने पर परमात्मा प्राप्त होते हैं॥ ४६॥

कालिकाभास।

पहले इन्द्रियसुखके विषयमें वैराग्यका उपदेश दिया जा चुका है। किन्तु विरक्तचित्त योगी प्रकृतिमें लय हो जाता है अथवा विदेहलय पाता है, इस लिये मौनके सहारे ब्रह्मोपासना का उपदेश दिया जाता है। योगी व्युत्थित (उद्विग्न) होकर कैसा आचरण करे, इसके लिये यहां कहते हैं,—'इन्द्रियव्यापार जिसके मनमें भी स्थान न पावें' कहनेका अभिप्राय यह है कि जीवनयात्रा निर्वाह करनेके लिये दर्शनश्रवणादि विषयोंमें प्रवर्त्तित होने पर भी योगी लोग उनसे (विषयोंसे) उपहत न होवेंगे। श्रुतियां भी कहती हैं,—"आप्तकामके पक्षमें कोई स्पृहा सम्भव नहीं" ऐसा आचरण करने पर ब्रह्म अभिमुख होते हैं, और बार बार ऐसे ही अनुशीलन करने पर योगी असम्प्रज्ञात समाधिके द्वारा ब्रह्मलाभ करता है। वेदान्त भी "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इससे बार बार ध्यानानुशीलनके लिये उपदेश देता है॥ ४६॥

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते॥ ४७॥

अन्वयः।

मौनात् (अनुध्यानं विना केवलवाक्संयमात्) स मुनि र्न भवति। न [अपि] अरण्यवसनात् (एकान्तवासात् सन्न्यासमात्रा-दिति भावः) मुनिः [भवति]। यस्तु स्वलक्षणं (प्रत्यगात्मनः सच्चिदानन्दात्मकत्वं) वेद सः श्रेष्ठः मुनिः उच्यते ॥ ४७ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

मुनिरप्येष एवेत्याह—मौनादिति। मौनात् पूर्व्वोक्तात्तूष्णींभावा-देव मुनि र्भवति न पुनररण्यवासमात्रान्मुनि र्भवति। तेषामपि तूष्णींभूतानां मध्ये यस्तु पुनरक्षरमविनाशिनं तं परमात्मानं वेद "अयमहमस्मि" इति साक्षाज्जानाति स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते। श्रूयते च—"एतमेव विदित्वा मुनि र्भवति" इति ॥ ४७ ॥

कालिका।

पूर्व्वश्लोकतात्पर्य्यं स्पष्टयति—मौनादिति। भोगाभ्यासे विपरीत-दर्शनमत्यन्तनिरूढमित्यत स्तूष्णीम्भवामि येनाहं सुखी स्यामिति यन्मौनं तेन मुनि र्न भवतीति तन्मृषा। असत्यां तत्त्वजिज्ञासायां पुनररण्यवासमात्रान्न मुनि र्भवति। यस्तु स्वस्य प्रत्यगात्मनो लक्षणं वेद जानाति स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते। "एतमेव विदित्वा मुनि र्भवती"ति श्रुतेः। मौनाद्धि सन् मुनि र्भवतीति पाठे तु नवाक्षरः पादः ॥ ४७ ॥

मूलानुवाद।

केवल मौनावलम्बन करने ही से अथवा जङ्गलमें ही वास करनेसे कोई मुनि नहीं होता, क्योंकि श्रुतिविहित मौनके अभ्यास किये विना मुनि नहीं हो सकता जो उस परमात्माको जानते वा पह-चानते हैं वे ही यथार्थतः श्रेष्ठ मुनि हैं ॥ ४७ ॥

कालिकाभास।

पूर्वोक्त श्लोकका तात्पर्य बताया जाता है। निर्जन वनमें वाङ्मौन, आकारमौन अथवा काष्ठमौनको अवलम्बन करने पर भी

मुनि नहीं हो सकता। क्योंकि मुनि होनेके लिये समस्त इन्द्रियगत विषय चिन्ता त्यागकर परमात्माके उद्देशसे मनमें उन्मनोभूत होना पडता है। कल्हण मिश्र कहते है—"कोई कोई तो नगर ही को जंगल बना देते है। और कोई कोई जंगलको भी नगर बना देते है।" शास्त्रोंमें भी देखे जाते है जैसे अश्वपति, केकय, जनक प्रभृति राजाओंने वैराग्यके सहारे नगर ही को जंगल बना दिया, और सुरथराजा प्रभृति शास्त्रविदित लोगोंने तृष्णाकुल होकर जंगल को भी कल्पित नगर बनाया। इस लिये योगवाशिष्ठमें कहा गया है कि इन्द्रियविषयोंको इस प्रकार भूल जाना कि जिससे उनको पुनः याद तक न हो सके जो अपने जैवभावसे परमात्माकी उपलब्धि करते है, वे ही यथार्थतः श्रेष्ठ मुनि है। यही शेषांशका तात्पर्य है ॥ ४० ॥

सर्व्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।

तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ४८ ॥

अन्वयः ।

सर्व्वार्थानां व्याकरणात् (प्रकटीकरणात्) वैयाकरण उच्यते। [स तु न मुख्यः]। तन्मूलतः (ब्रह्ममूलात्) व्याकरणं (जगच्चराचरं) [मुख्यम्]। तद् [विद्वान्] व्याकरोतीति (जगच्चराचरस्य लक्षणं जानातीति) तथा (स वैयाकरण. मुख्य उच्यते) ॥ ४८ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

वैयाकरणोऽप्येष एवेत्याह—सर्व्वेति। सर्व्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते, न पुनः शब्दैकदेशव्याकरणात् वैयाकरणो भवति। भवतु सर्व्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरणत्वं, ततः किमिति चेत्तत्राह— तन्मूलतो व्याकरणम्। पूर्वोक्तादक्षराद्धि सर्व्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य व्याकरणम्। श्रूयते च "अनेन जीवेन आत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति। तस्माद् ब्रह्मण एव साक्षाद्वैयाकरणत्वम्। व्याकरोति तत्तथा विद्वानपि तत् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति वैयाकरणः ॥ ४८ ॥

कालिका।

सर्व्वार्थानां शब्दानामर्थव्युत्पत्त्यादीनां व्याकरणात् प्रकटीकरणाद् वैयाकरणः शब्दशास्त्रवेत्ता इत्युच्यते। किन्तु स एव वैयाकरणो न मुख्यो नामरूपप्रपञ्चस्य याथार्थ्यज्ञानाभावात्, न च तद् व्याकरणं मुख्यं तमसो रक्षणाभावादित्येतन्निराचष्टे—तदिति तन्मूलतो मूलं कारणं ततो ब्रह्मण एव सर्व्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य व्याकरणं मुख्यं "पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"—इत्यादिश्रुतिरहस्याधिगमेन तमसो रक्षणयोग्यत्वात्, तद् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति यो जानाति स विद्वान् वैयाकरणो मुख्य आत्मत्वेन सर्वस्य ज्ञानादित्यभिप्राय। तत्र श्रुती च भवतः—"नामरूपे व्याकरवाणि", "तमेव विदित्वाऽतिमृत्यु-मेती"ति ॥ ४८ ॥

मूलानुवाद।

जो शब्दगत अर्थव्युत्पत्यादि की व्याक्रिया अर्थात् जगत्प्रपञ्चको समझते हैं, उसको वैयाकरण कहते है किन्तु वे मुख्य वैयाकरण नहीं है (वातके) जो ब्रह्म कारणको समझ कर नामरूपात्मक जगत्‌को व्याक्रिया अर्थात् प्रपञ्च समझते हैं वे ही मुख्य वैया-करण है ॥ ४८ ॥

कालिकाभास।

शब्दगतज्ञान संसारबन्धनसे मुक्त नहीं कराता, इस लिए शब्द-शास्त्रवेत्ताको मुख्य वैयाकरण नहीं कहते। आचार्य कहते है— "न हि न हि रक्षति डुकृञ् करणे" जो जगत्‌को उत्पत्तिस्थानादिको जानते है, वे ही मुख्यवैयाकरण है, क्योंकि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादि श्रुतिज्ञानप्रयुक्त वे ही संसारमुक्त पुरुष हैं ॥ ४८ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्व्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद्विद्वान् सर्व्वविद्भवेत् ॥ ४९ ॥

अन्वयः ।

लोकानां (स्वर्गादीनां) प्रत्यक्षदर्शी (यत् प्रत्यक्ष वस्तु तद्दर्शी) नरः सर्व्वदर्शी भवेत् [न तु तत्त्वज्ञ इति भावः] तत् सत्ये वै ब्राह्मणः तिष्ठन् (ब्रह्मानुचिन्तयन् इति यावत्) विद्वान् (सन्) सर्व्वविद् भवेत् (तत्त्वज्ञो भवेत्) ॥ ४८ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

सर्व्वज्ञोऽप्ययम् एवेत्याह प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षदर्शी लोकानां यः प्रत्यक्षेण भूरादीन् लोकान् पश्यति स सर्व्वदर्शी भवेत्, न सर्व्वरूपं परमात्मानं पश्यति । असौ पुनः सत्ये सत्यादिलक्षणे ब्रह्मणि तिष्ठन् मनः समादधाति । तद्विद्वान् सत्यादिलक्षणरूपं ब्रह्म विद्वानात्मत्वेन सर्व्वं जानन् सर्व्वविद् भवति सर्व्वं जानातीत्यर्थः । तस्मादेष एव सर्व्वज्ञो न अनात्ममात्रदर्शी ॥ ४८ ॥

कालिका ।

ब्रह्मविदो विभूतिमाह—प्रत्यक्षदर्शीति । लोकानां यो विस्तार-स्तत्र कृतसंयमस्य दृश्यभिन्नं चित्तं भूरादीन् लोकान् साक्षात्करोति । लोकविस्तारमाह वैशाद्दीन् शास्त्रमेवमाह—सप्त लोकाः सन्ति तत्रा-वीचिर्नाम नरकविशेषः । सर्व्वलोकाधस्तात् तमादाय मेरुपृष्ठ-पर्य्यन्त भूर्लोकः । मेरुपृष्ठादारभ्य ध्रुवपर्य्यन्तमन्तरीक्षलोको यो भुव उच्यते । तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधः । पञ्चानां स्वर्लोकानामैक्यात् त्रिलोकशब्देन सर्व्वलोक उच्यते । पञ्चस्वेव माहेन्द्रस्तृतीयो लोको भूर्लोकात् । स स्वर्लोकः कथ्यते । चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः । तत स्त्रिविधो ब्राह्मो जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति । तथाहि संग्रहश्लोकः—"ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्य स्ततो महान् । माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा" । इति । एते सप्त लोकाः सर्व्व एव ब्रह्मलोका स्तान् योगिनः सुषुम्नायां संयमं कृत्वा साक्षात्कुर्व्वन्ति ! इति । अयमेव सर्वलोकसाक्षात्कारो मधुमतो सिद्धिरित्युच्यते । ततो नरो योगी सर्व्वदर्शी भवति । एतेनैतदुक्तं .

भवति—लोकदर्शी सर्व्वदर्शी किन्तु स मोक्षपदे न वर्त्तते लोकमध्ये न्यस्तत्वादिति। स्मृतिश्च—"आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनो-ऽर्ज्जुन" ॥ इति। कः पुनर्मोक्षपदे वर्त्तते? तदाह—सत्य इति। यः सत्ये ब्रह्मणि तिष्ठन् समादधति स तद्विद्वान् ब्रह्मणः स्वात्मदर्शनेन सर्वविद् भवेत्। तद्विद्वान् ब्रह्म विद्वानिति ब्राह्मणशब्दस्य श्रौत-व्युत्पत्तिप्रदर्शनम्। ब्रह्मविद्या शुद्ध-सत्त्वपरिणामत्वात् स्वोत्पत्ति-मात्रेणेव जात्यायु र्भोगादीन् निवर्त्तयती सपदि मोक्षपदमभिव्यनक्ति। यथा सूर्य्यः स्वोदयमात्रेणैव तमो निरवशेषं निवर्त्तयन् जगत्प्रकाश साध्नोति तद्वत्, श्रुतिश्च—"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवती"ति। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतो"ति च। स्मृतिरपि—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"। इति। "बहूनां जन्मना-मन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" ॥ इति च ॥ ४९ ॥

मूलानुवाद।

जिन योगियोंने योगबलसे त्रैलोक्यको देखा है, वे सर्वदर्शी हैं, किन्तु जो विद्वान योगी सत्यात्मक ब्रह्ममे प्रतिष्ठित हैं, वे ही सर्व-वित् (योगी) है ॥ ४९ ॥

कालिकाभास।

ब्रह्मज्ञोंको सर्वज्ञता उपचारित नहीं होती, यहां इसे ही परि-चय देते है। त्रिलोक शब्दसे सब ही लोक समझना होगा। क्योंकि भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य इन्हीं सातोंमें स्वःसे लेकर सत्य तक पाँचको स्थूलतया स्वः लोक कहते है। योग-शास्त्रको मधुमती सिद्धिमें ये लोक देखे जाते है। सर्वदर्शी होने पर भी योगी लोक मोक्षपथके पथिक नहीं होते, क्योंकि वे लोक-विस्तारमें विद्यमान रहते हैं अर्थात् उनमें द्रष्टा तथा दृश्यका सम्बन्ध लुप्त नहीं होता, इस लिये वे अब तक भी सत्यात्मक अद्वैततत्वमें प्रतिष्ठित होकर "केवल" हो जाते है, वे ही सर्ववित् हैं ॥ ४९ ॥

ज्ञानादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति।
वेदानामानुपूर्व्येण चैतद्विद्वान् ब्रवीमि ते॥ ५०॥

**इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या-
मुद्योगपर्व्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्-
सुजातीये द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥**

अन्वयः।

क्षत्रिय! विद्वान् ज्ञानादिषु स्थित एवमपि ब्रह्म पश्यति। वेदानामेतत् [सत्य] चानुपूर्व्येण (स्थूलसूक्ष्मादिरूपक्रमेण) ब्रवीमि॥ ५०॥

शाङ्करभाष्यम्।

"यस्त्वेतेभ्यः" इत्यादिना उक्तमेवार्थं दर्शयति अवश्यकर्त्तव्यत्व दर्शनार्थम्—ज्ञानेति। ज्ञानादिषु "ज्ञानं च" (२-१८) इत्यादिना पूर्व्वोक्तेषु स्थितोऽपि एवं यथा सत्ये तिष्ठन् ब्रह्म पश्यति एवमेव ब्रह्म पश्यति। वेदानां चानुपूर्व्येण वेदान्तश्रवणादिकेनेत्यर्थः। अथवा गुणान्तरविधानमेतत्। ज्ञानादिषु स्थितोऽपि न केवलं तन्मात्रेण पश्यति, अपि तु एवमेव वक्ष्यमाणप्रकारेण वेदान्तविचारपूर्व्वेण वेदान्तश्रवणपूर्व्वकमेव पश्यन्ति ब्रह्म। एतद्वेदानां विचारप्रकारम्, हे विद्वन्। ब्रवीमि [illegible]॥ ५०॥

**इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्य-
पादशिष्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ सनत्सुजातभाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥**

कालिका।

अध्यायार्थमुपसंहरति—ज्ञानादिष्विति। हे क्षत्रिय! वेदानां ज्ञानादिषु पूर्व्वोक्तेष्वारोपदृष्टिव्याभिश्रदृष्ट्यपवाददृष्टिरूपेषु सोपाना-रोहणन्यायेन स्थितो विद्वान् ब्रह्मैव पश्यति; दर्शनप्रकारगते प्रश्ने ब्रह्मर्षिरुत्तरमाह—अपि च, ते तुभ्यमेतद् ब्रह्मदर्शनप्रकारमानु-

पूर्व्वेण स्थूलसूक्ष्मादिरूपक्रमेण ब्रवीमिति। एतेन ब्रह्मदर्शनजा मोक्षः किं स्वरूपः किमुपाय इत्यादिजिज्ञासुशिष्यावबोधनाय भगवान् सनत्सुजातस्तदारम्भं तृतीयाध्यायं प्रतिजानीते ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या-
मुद्योगपर्व्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमार-संवादे श्रीसनत्-
सुजातीये कालिकाख्यायां टीकायां कालीघट्टस्थ-
श्रीकालिकामहादेवी-सेवाश्रतकुलोद्भव-
श्रीगुरुपदशर्म्म-कृतायां
द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

मूलानुवाद।

हे क्षत्रिय! इस तरह वेदज्ञानमें प्रतिष्ठित होने पर विद्वान लोग ब्रह्मका दर्शन करते हैं। अब आपको आनुपूर्व्विक दर्शन प्रकार कहूंगा ॥ ५० ॥

कालिकाभास।

यहां आचार्य अध्यायका उपसंहार करके दूसरे अध्यायको आरम्भ करनेके लिये सूचना देते हैं। "वेदज्ञानमें प्रतिष्ठित होने पर" अर्थात् आरोपदृष्टि, अपवाददृष्टि तथा व्याप्तिदृष्टिके सहारे जगत् तथा ब्रह्मका सम्बन्ध समीक्षण करके और अन्तमें तत्वमसि प्रभृति महावाक्यों को लक्षणा स्वीकार करते हुए, उपासनाकी उत्तरोत्तर भूमिका पर चढ़कर वेदरहस्यमें प्रतिष्ठित होने पर अध्यारोपादि दृष्टि तथा उपासना की सब भूमिका कथित व्याख्याके द्वारा व्याख्यात होगी। दर्शनका प्रकार कहूंगा—इस बातके कहनेसे ज्ञात होता है कि आगेके अध्यायको आरम्भ करनेके लिये सूचनारूप यहींसे उद्योगकरते हैं ॥ ५० ॥

व्यथितजीव जगत्विकरालमें सुखदनन्दनकानन है जहां।
मतअनिश्चितशास्त्रअनन्तमें सुपथ निश्चित ब्रह्म मिले वहां ॥
सनतजातऋषिवरशास्त्रसा शुभद मोक्षद ज्ञानद का महां।
द्विजकुलोद्भव केशरीकान्तकृत द्वितीयखण्ड समाप्त हुआ यहां ॥

श्रीसनत्सुजातीयअध्यात्मशास्त्रके दूसरे अध्यायकी
हिन्दी टीका समाप्त हुई।

तृतीयोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

सनत्सुजात यदिमां परार्थां
ब्राह्मीं वाचं वदसि हि विश्वरूपाम
परां हि काम्येन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

अन्वयः ।

हे सनत्सुजात ! यत् (यस्माद्) इमां परार्थां (परिणामरमणीयां) ब्राह्मीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं) वाचं वदसि (कथयसि) हि (तस्माद्) विश्वरूपाम् (अनेकविधाम्) काम्येन (विषयेन) परां (दूरीभूताम्) [अतएव] सुदुर्लभां (श्रवणायाप्राप्याम्) कथा प्रब्रूहि । हे कुमार ! इदं मे वाक्यं [त्वां प्रतीति वाक्यशेष] ॥ १ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं ब्रह्मचर्य्यादिसाधनप्रतिपादनानन्तरं तत्प्राप्यं च ब्रह्म प्रतिपाद-यितुं तृतीयचतुर्थावध्यायावारभ्येते । तत्र तावद्ब्रह्मचर्यादिसाधनं श्रुत्वा

तद्वेदनाकाङ्क्षी प्राह धृतराष्ट्रः सनत्सुजातेति। हे सनत्कुमार! यद् यस्मादिमां परार्थां ब्राह्मीं ब्रह्मसम्बन्धिनी वाचं वदसि हि विश्वरूपा नानारूपां पराम् उत्तमां कार्येषु कार्यरूपेषु प्रपञ्चेषु सुदुर्लभा श्रवणायाप्यशक्यां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यम् एवंभूतं कुमार! यस्मात् त्वं ब्राह्मीं वाचं परमपुरुषार्थसाधनभूतां सुदुर्लभां वदसि तस्मात्त्वं वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः।

कालिका।

इदानीमात्मज्ञानमार्गं श्रुत्वा तस्यान्तरङ्गसाधनं योगं श्रोतुं पृच्छति धृतराष्ट्रः—सनत्सुजातेति।

हे सनत्सुजात! यद् यस्मादिमां परार्थां परिणामरमणीयां ब्राह्मीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं वाचमुपनिषदं वदसि ब्रूषे। हि तस्मात्। विश्वरूपामनेकविधाम्। विश्वं रूप्यते प्रकाश्यतेऽस्यामिति यामेव ज्ञातवतोऽन्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यते इत्यर्थः। काम्येन काम्यमानेन विषयेन परां दूरीभूतां विषयवार्त्ताहीनामित्यर्थः। अत एव सुदुर्लभां श्रवणायाप्राप्यां कथां प्रब्रूहि। कामेष्विति पाठे वांच्छितेषु विषयेष्वित्यर्थ.। हे कुमार! इदं मे वाक्या त्वां प्रति प्रार्थनारूपं वचनम्। अवश्रेहीति शेषः॥ १॥

मूलानुवादः।

धृतराष्ट्र बोलेः—हे सनत् सुजात भगवान्! आपने जो ब्राह्मी कथा कही वह परम परमार्थ तथा विश्वरूप है। कामनाशील संसारी जीव जिन परमार्थ विषयक बातोंसे पराङ्मुख रहते हैं, उसी दुर्लभ बातको एक वार और प्रकृष्टरूपसे मुझे कहे। हे कुमार! यही मेरी प्रार्थना है॥ १॥

कालिकाभासः।

आत्मज्ञानके (रास्ते) को सुन लेनेके बाद उसके योग विषयक अन्तरङ्ग साधनको सुननेके लिये राजा प्रश्न करते हैं। ब्रह्मज्ञान में विश्वका सारा रहस्य ही उद्घाटित होता है, इस लिये ब्राह्मी कथा विश्वरूप कही गई है। ब्रह्मको जान लेने पर और कुछ भी

ज्ञानव्य नहीं रह जाता। इसीसे ब्राह्मी कथा वा ब्रह्म विषयिणी वार्ताको परार्थ कहा है। जिस बातको जान लेनेसे संसारसे मुक्त हो सकते है, उस बातसे कामनाशील संसारी जीव पराङ्मुख रहते हैं, इसलिये उनके निकट ब्रह्मविषयिणी वार्ताकी अर्थोपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है ॥१॥

सनत्सुजात उवाच ।

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं,
यन्मां पृच्छस्यभिषङ्गेन राजन्।
बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या,
विद्या हि सा ब्रह्मचर्य्येण लभ्या ॥ २ ॥

अन्वयः ।

राजन्! अभिषङ्गेण (निर्बन्धेन) मां यदेतद् ब्रह्म पृच्छसि (तत्) त्वरमाणेन (त्वरायुक्तेन) न लभ्यम् । मनसि प्रलीने (सति) बुद्धौ सा विद्या प्रचिन्त्या [मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतेः]। हि [सैव] ब्रह्मचर्य्येण लभ्या ॥ २ ॥

शांकरभाष्यम्।

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—नैतदिति । नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन पुरुषेण लभ्यं यद् ब्रह्म मां पृच्छसि अभिषङ्गेण राजन्! कथं तर्हि लभ्यमित्याह बुद्धौ अध्यवसायात्मिकायां प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा, यदा पुनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनो विषयेभ्यः परावृत्य स्वात्मन्येव निश्चलं भवतीत्यर्थः । येयं बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या सा विद्या ब्रह्मचर्य्येण वक्ष्यमाणेन लभ्या ॥ २ ॥

कालिका । -

ज्ञानप्रधानाया योगोपसर्जनीभूताया ब्रह्मविद्यायाः सुदुर्लभत्वं दर्शयन् सनत्सुजात उत्तरमाह—नैतदिति । अभिषङ्गेण निर्बन्धेन आग्रहातिशयेनेति यावत् । ब्रह्म ब्रह्मज्ञानं निर्व्विचिकित्सं त्रिविध-दुःखोपशमरूपमित्याशयस्त्वरमाणेन अधुनैव सर्व्वं जानीयामित्य-

भिनिवेशवता न लभ्यम् । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति श्रुतेः । अधुनैव योगप्रधान–ज्ञानोपसर्ज्जन-ब्रह्मविद्याया लक्षणमाह–मनसीति । मनसि प्रलीने मनो यदा बाह्येन्द्रियेभ्यो विषयानादाय विशेषाहङ्कारादौ न तान् प्रत्युपस्थापयति "यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज् ज्ञान आत्मनी" ति श्रुतेस्तदा । बुद्धौ "ज्ञानं नियच्छेन्महती"ति श्रुतेः सर्व्वानुस्यूते हिरण्यगर्भाख्ये महत्तत्वे प्रचिन्त्या प्रकर्षेण विषयवेदनमन्तरेण चिन्त्या, "तद्यच्छेच्छान्त आत्मनी"ति श्रुतेः । सोऽहमित्येतावन्मात्राभिमन्तव्या या काचिद्वस्था सा विद्येत्युच्यते । यदीन्द्रियगोचरं तच्चिन्ताविषयत्वमापद्यते, इयं तु विद्या [illegible] प्रचिन्त्या । सैव ब्रह्मचर्य्येण वक्ष्यमाणेन लभ्या । शास्त्राचार्य्योपदेशजनितयोगसाधनादियुक्तं ब्रह्मचर्य्यमात्मदर्शने करणमिति दिक् ॥२॥

मूलानुवाद ।

हे राजन्! निबन्धके द्वारा आप जिस विद्याके विषयमें जानना चाहते हैं, उसे चञ्चल चित्त जीव कभी लाभ नहीं कर सकता । जब मन प्रलीन (एकाग्र) हो जाता है तब ही उसे समझ सकते हैं । इस लिये योग साधनादिसे युक्त होकर ब्रह्मचर्यके सहारे से नहीं पाया जा-सकता है ॥ २ ॥

ज्ञानप्रधाना तथा योगोपसर्जनी ब्रह्मविद्याका दुर्लभत्व दिखलाकर आचार्य इस श्लोकमें योग प्रधाना ज्ञानोपसर्जनीभूता ब्रह्म विद्याकी बातके उल्लेख करने पर भी इसके फलका चतुर्थ अध्यायमें पूर्णरूप वर्णन से करेंगे । "जो जानना चाहते हैं"—अर्थात् सांख्य मार्गके द्वारा ब्रह्म प्राप्तिका प्रश्न करते है । "उसको चंचल चित्त व्यक्ति कभी लाभ नहीं कर सकता"—अर्थात "ब्रह्म क्या चीज है" इसे अभी तुरत ही समझ लूंगा अथवा जान जाऊंगा । इस प्रकार की मनोवृत्ति वाला जीव ब्रह्मको कभी नहीं जान सकता । "मन प्रलीन होनेपर"—अर्थात् ध्यानके उत्कर्षके कारण जब इन्द्रियोके समूह विषय ज्ञानमें आरूढ़ नहीं रहते । इस अवस्थामें विशेष अहंकार लुप्त प्रायः हो जाता है । बुद्धि शब्दसे 'महत्त्व' लक्ष्य किया जाता है । और यही सामान्या-

ऽहङ्कार है । ध्यानके इस तरहके उत्कर्षमें ब्रह्मदर्शन नहीं होनेपर भी वह ब्रह्म दर्शनके द्वार स्वरूप है—क्योंकि सामान्य अहंकार ब्रह्ममें प्रयुक्त होने पर भी ब्रह्मदर्शन होता है। श्रुतियां भी कहती हैं—"यच्छेच्छान्त आत्मनि"—अर्थात् यह महत्तत्व नामक सामान्य अहंकार शान्त आत्मा अथवा ब्रह्ममें मिल जायगा । यहां आचार्यका अभिप्राय यह है कि शास्त्र तथा गुरुमुखसे योग साधनादि सीखकर ब्रह्मचर्यके सहारे आत्मदर्शनका लाभ करना होता है। महत्तत्व ब्रह्ममे विनियुक्त नही होनेपर प्रकृतिमें लीन हो जाता है । इसलिये यहां ब्रह्मचर्य शब्दका प्रयोग किया गया है॥ २॥

आद्यां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां
या प्राप्यते ब्रह्मचर्य्येण सद्भिः ।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ३ ॥

अन्वयः ।

ब्रह्मचर्य्येण या विद्या सद्भिः प्राप्यते, यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं [ते] त्यजन्ति, या वै गुरुवृद्धेषु नित्या, (ता) सत्यरूपामाद्यां विद्यां वदसि (त्वं पृच्छसीत्यभिप्राय) ॥ ३ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

किञ्च—आद्यामिति । आद्यां सर्वादिभूतब्रह्मविषयां विद्यां हि वदसि सत्यरूपां परमार्थरूपां मे ब्रूहीति ।

यद्वा, आद्यामकार्यभूताम् असत्यप्रपञ्चाविषयां विद्यां वदसि तस्मादत्वरमाणेन ब्रह्मचर्यादिसाधनोपेतेन उपसंहृतान्तःकरणेनैव लभ्येत्यर्थः। या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः । यां प्राप्य एनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति। या वै विद्या गुरुवृद्धेषु गुरुणा विद्याप्रदानादिना वृद्धेषु वर्द्धितेषु नित्या नियता ॥ ३ ॥

कालिका ।

किंच—आद्यामिति । आद्यामनादिमनाम् । विद्यां ब्रह्मविद्याम् । सत्यरूपामिति विद्याया विशेषणम् । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति श्रुतेः । ब्रह्मचर्येण वक्ष्यमाणेन । वृद्धेषु गरिष्ठेषु । वृद्धेषु गुरुषु गुरु-वृद्धेषु । कडारः कर्मधारय इति वृद्धशब्दस्य परनिपातः । पक्षे वृद्धगुरुषु । या नित्या नियता प्रतिबन्धकमन्तरेण अवभासमाना इत्यर्थः । गुरुशब्दस्य व्युत्पत्तिश्चाम्नायते— "गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते" ॥ इति । अतो हि गुरौ मानुषभावना कदापि न साधीयसी भवति । तत्र निर्व्वचनं च-"मन्त्रदाता शिरःपद्मे यद्ध्यानं कुरुते गुरोः । तद्ध्यानं शिष्य शिरसि चोपदिष्टं न चान्यथा । अतएव महेशानि कुतो हि मानुषो गुरुः" । इति । गुरुवृद्धेष्वित्यत्र ये हि गुरव आदिनाथादिव्रह्मशक्त्यन्ता द्वादशदिव्याः शास्त्रे प्रतिपादिता स्त इहोपलक्षिता भवन्ति ।

तदुक्तमुपदेशप्रमितप्राचीनगुरुसम्प्रदायेन —

यद्ब्रह्म शुद्धं निरहं निरीहं स्वान्तर्विलीनात्मसमस्तशक्ति ।
सच्चित्सुखं चैकमनन्तपारं तं त्वादिनाथं गुरुमानताः स्मः ॥ १ ॥
यास्तद्विलीनामितशक्तयः स्युस्तद्रूपिणी ब्रह्मण आद्यभिन्ना ।
निद्रान्त आद्येव नरस्य वृत्तिर्नताः स्म स्तं शक्तिगुरुं द्वितीयम् ॥ २ ॥
तया विशिष्टस्तु स आदिनाथो निराकृतिर्निर्गुण उच्यतेऽसौ ।
वृत्त्यन्यगोऽनुग्रहवांस्तृतीयं सदाशिवं तं गुरुमानताः स्मः ॥ ३ ॥
तदुत्थिता या स्वत एव वृत्तिः श्रुत्या स नैको रमते त्वितीड्या ।
तां शुद्धविद्यां च सदाशिवीयां शक्तिं चतुर्थं गुरुमानताः स्मः ॥ ४ ॥
तद्धानरूपः सगुणः स जातस्त्वपादपाणिः श्रुतिवाक्प्रसिद्धः ।
तिरोहितं तिष्ठति विश्वमस्मिंस्तमीश्वरं पञ्चममानताः स्मः ॥ ५ ॥
द्वितीय मैच्छच्छ्रुतिवर्णिता या तद्वृत्तिरस्मान् महदादिगर्भम् ।
धत्तेऽन्तरे तां वयमीश्वरस्य शक्तिं तु षष्ठं गुरुमानताः स्मः ॥ ६ ॥

तद्युग्गुणाढ्याकृतिमान् स या ते रुद्रेति वेदोक्तवचःप्रसिद्धः ।
लयीकृतं तिष्ठति विश्वमस्मिंस्तं सततं रुद्रगुरुं नताः स्मः ॥ ७
अहं बहु स्यामिति या तदुक्त्या वृत्तिर्जनित्री महदादिकानाम् ।
पृथक् पृथक् कृत्य च रुद्रशक्तिं तमष्टमं स्वीयगुरुं नताः स्मः ॥ ८
व्याप्नोति तद्युक् स महन्मुखेषु तत्त्वेषु तेजस्त्वखिलं स्वकीयम् ।
निधाय तत्स्थं परिपाति विश्वं विष्णुं गुरुं तं नवमं नताः स्मः ॥ ९
पुष्णाम्यहं विश्वमिदं स्वकीयं मदीयशक्त्येति मदीयवृत्तिः ।
पुष्णाति तत्त्वान्तरगं तु विश्वं तां विष्णुशक्तिं दशमं नताः स्मः ॥१०॥
तत्वान्तरस्थं जगदित्यनन्तःपश्यन् स्ववृत्त्या स विराड् बभूव ।
समष्टिजीवोऽखिलसृड् विधाता गुरुं तमेकादशमानताः स्मः ॥ ११ ॥
यज्ञादिकं चात्मभवाः सुखाप्त्यै कुर्वन्तु जीवा इति यास्य वृत्तिः ।
वेदत्रयी कर्म्ममयी किलाजशक्तिं गुरुं द्वादशमानताः स्मः ॥१२॥ इति

गुरुतत्त्वप्रदर्शनाय दैशिकगुरुसम्प्रदायदृष्टिमाश्रित्य श्लोका एते व्याख्यायन्ते । सृष्टिस्थितिसंहृतिनिरोधानानुग्रहकर्त्तारो ब्रह्म-विष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवाः पञ्चाधिकारिण उच्यन्ते । तेषां समष्टिरूपः परशिवापरपर्याय आदिनाथ एक इति शिवरूपाः षड्गुरवस्तथा वृत्तिभेदेन ब्रह्मादीनां पञ्चपुरुषाणां पञ्चशक्तयस्तासां समष्टिरूपिणी आदिशक्तिरेकेति च शक्तिरूपाः षड्गुरव इत्येवं द्वादशगुरवः प्रसिद्धाः । तत्र प्रथमत आदिनाथं प्रणमति—यद्ब्रह्मेति । शुद्धं विकाररहितं निरहमहङ्काररहितमतएव निरीहं निरिच्छम् । स्वस्मिन्नन्तर्विलीना अन्तर्भागे विशेषेण लीना आत्मसम्बन्धिन्यः समस्तशक्तयो यस्य तत् स्वान्तर्विलीनात्मसमस्तशक्ति । अतएव सच्चिदानन्दरूपम् । एकमद्वितीयं देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितम् । अनन्तपारम् अपारम् ईदृशं तद्ब्रह्म तमादिनाथसंज्ञकं त्वा त्वां गुरुमानता वयं नम्राः स्मो भवामः । वक्तृश्रोत्रभिप्रायेण बहुवचनमेवमुत्तरत्र ।
तत आदिनाथाभिन्नामादिशक्तिं द्वितीयं गुरुं स्मरति—या इति ॥

तस्मिन्नादिनाथे विशेषेण प्रलयादौ लीना या अमितशक्त्योऽपरि-मितशक्तयःस्युस्तत्स्वरूपिणीत्यर्थः । ब्रह्मणः परमात्मन आदेरादि-नाथादभिन्ना ऐक्यरूपिणीत्यर्थः। केव ? निद्रान्ते निद्रावसाने उत्थि-तस्य देहबुद्धिमतःनरस्य नरस्य या आद्या प्रथमा सुषुप्तिसुखाभि-न्नोऽस्मीत्येवंरूपावृत्ति र्भवति तद्वत् । 'निद्रान्त'पदेन सृष्टिप्रारम्भः सूचितः । आदिनाथाभिन्नामाद्यां शक्तिं द्वितीयं गुरुं नताः स्मः इति स्मरणतात्पर्यम् । परात्परो गुरूस्त्वं हि परमेष्ठिगुरु-स्त्वहमित्यागमात् । तदभिन्नत्वे हि सौरसंहिता—ब्रह्मणो ह्यपिश-क्तिस्तद् ब्रह्मैव खलु नापरा । तथा सति वृथा प्रोक्तं शक्ति-रित्यविवेकिभिः। इति। यद्यपि परमात्मन आद्या शक्तिरभिन्ना, तथापि वृत्तिभेदादुपासनार्थं पृथगुपादानमिति दिक् । ततः सदाशिवाख्यं तृतीयं गुरुं स्मरति—तयेति। तया शक्त्या विशि-ष्टोऽपि स निराकृतिराकृतिरहितो निर्गुणश्च कथ्यते। निर्गुणो निराकृतिरपि वृत्त्यन्येन वृत्तिशून्येन गम्यते प्राप्यते इति वृत्त्य-न्यगो वृत्तिशून्यसाक्षात्कारगम्य इति यावत् । एवंरूपेण अनुग्रहवान् भवति। अनुग्रहो नाम वृत्तिशून्यस्य युक्तयोगिनः साक्षात्कारयोग्यता यतः पुरुषाणां दुःखोपशमरूपा ब्रह्मप्राप्तिः । तादृशमनुग्रहकर्त्तारं सदाशिवं गुरुं तृतीयं नताः स्मः। ततः सदा-शिवशक्तिं चतुर्थं गुरुं स्मरति–तदिति। स्वत एव तस्मात् सदा-शिवादुत्थिता प्रादुर्भूता या वृत्तिरेकोऽहं न रम इत्येवंरूपा सा ईड्या स्तुत्या। "स एकाकी न रमते" इति श्रुतेः। तां सदाशि-वशक्तिं गुरुं चतुर्थमानताः स्मः । तत ईश्वरानन्दं पञ्चमं गुरुं स्मरति—तद्वानिति । तद्वान् मूलप्रकृतिमानिति यावत् । अरूप आकाररहितः सगुणो ज्ञानादिगुणवान् जात इव जातः । अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः इति श्रुतिवाचि प्रसिद्धः स ईश्वरस्तस्मिन् विश्वं चराचरं तिरोहितं पूर्वप्रलयकाले क्षीणवासनत्वेनाच्छादितं भवति, पुनः सृष्टिकाले सर्जनार्थमभेदेन

प्रपञ्चितमित्यभिप्रायः। एवंरूपमीश्वरानन्दं गुरुं पञ्चमममानताः-स्मः। तत ईश्वरशक्तिं षष्ठं गुरुं स्मरति—द्वितीयमिति। स द्वितीयं प्रधानमैच्छदिति श्रुतौ या वर्णिता तस्य वृत्तिरस्मादीश्वरान्महत्तत्त्वादीनां गर्भं धत्ते धारयति तां शक्तिमीश्वरस्य नताः स्मः। द्वितीयेच्छारूपत्वेन प्रधानं गुणगर्भमित्यभिप्रायः। ततः सगुणं साकारं सप्तमं रुद्रगुरुं स्मरति— तद्युगिति। तद्युक् प्रधानरूपद्वितीयेच्छावृत्तियुक्तः। गुणाद्याकृतिमान् गुणवत्तनुशरीरवान् स "या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी। तयानस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीही"ति श्रुतिप्रसिद्धो यस्मिन् विश्वं लयीकृतं संहृतं सत्पुनः सृष्टिसमये विकाशार्थं वर्त्तते तं रुद्रंगुरुं सप्तमं नताः स्मः। एवं सगुणसाकारा एव गुरव इत्यभिप्रायः। ततो रुद्रशक्तिमष्टमं गुरुं स्मरति—अहं बहु स्यामिति। तदुत्था तस्माद्रुद्रादुत्थिता अहं बहु स्यामित्याकारा या वृत्तिः पृथक् पृथक्कृत्य यतो विषया विविच्यन्ते तन्महदादिकानामविशिष्टतत्त्व-विशिष्टतत्त्वान्तराणां जनित्री कर्त्री तां रुद्रशक्तिं स्वीयं गुरुमष्टमं नताः स्मः। तत्त्वे तत्त्वान्तरे वा गुणक्षोभिणी या वृत्तिः स्यात्तस्या अधिष्ठात्री देवी गुरुत्वेनेह स्वीकृतेति निष्कर्षः। ततो नवमं विष्णुगुरुं स्मरति व्याप्नोतीति। तद्युक् गुणक्षोभवृत्तियुक्तो यो महन्मुखेषु महदादिषु व्याप्नोति "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मे"ति श्रुते स्तथा स्वकीयमखिलं तेजो निधाय तत्वस्थं तत्वस्थं विश्वं परिपाति पुष्णाति तं विष्णुगुरुं नवमं नताः स्मः। परस्परं विरुद्धानामपि तत्त्वानां स्वतेजोनिधानेन सूत्रीकरणात्स सूत्रात्मेति भावः। ततो वैष्णवी शक्तिं दशमं गुरुं स्मरति- पुष्णामीति। अहं मदीयशक्त्या स्वसामर्थ्येन स्वकीयमात्मीयमिदं विश्वं पुष्णामीत्येवरूपा विष्णोर्या-वृत्तिस्तत्त्वान्तरगं तत्त्वान्तरपरिणामगतं विश्वं पुष्णाति तां विष्णुशक्तिं दशमं गुरुं नताः स्मः। ततो ब्रह्माणमेकादशं गुरुं स्मरति— तत्त्वान्तरस्थमिति। य इत्थमेवं प्रकारेण तत्त्वान्तरस्थमविशिष्टाद्विशिष्टं जगत् अन्तः स्वहृदये पश्यन्

सूत्रवृत्त्या विराड् बभूव, स समष्टिजीवः सर्वजीवसमूहरूपोऽखिलसृड् विधाता ब्रह्मा आसीत् । तम् एकादशं गुरुं नताः स्मः । श्रुतिश्च—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदिति । तत्र भूतपदं तत्त्वपरं तस्य पतिरेक इत्यनेन ब्रह्मणः समष्टिजीवत्वमुक्तम् । ततः श्रद्धारूपां ब्रह्मशक्तिं द्वादशं गुरुं स्मरति—यज्ञादिकमिति । आत्मभवाः आत्मप्रभवाः जीवाः सुखाप्त्यै सुखलाभाय यज्ञादिकमुपासनं कुर्वन्त्विति या वेदत्रयी कर्ममयी ब्रह्मणो वृत्तिःश्रद्धाख्या सावित्री किल वर्त्तते, तामजां सनातनीं शक्तिं द्वादशं गुरुं नताः स्मः । तथा हि कूर्मपुराणे हिमवन्तं प्रति देवीवचनम्—

ममैवान्या परा शक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी ।
ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ सम्प्रवर्त्तते ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म सम्यग्वर्णाश्रमात्मकम् ।
अध्यात्मज्ञानसहितं मुक्तये सततं कुरु ॥
धर्मात् सञ्जायते भक्तिर्भक्त्या सञ्जायते परम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितो धर्मो यज्ञादिको मतः ॥
नान्यतो ज्ञायते कर्म वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ।
तस्मान्मुमुक्षुर्धर्मार्थी मद्रूपमिदमाश्रयेत ॥ इति ॥

मूलानुवाद ।

जो विद्या गुरुवृद्धोंमें नित्यरूपसे रहती है, जिस विद्याके प्राप्त होनेसे लोग इस संसारसे मुक्त हो जाते है, सज्जन जन जिस विद्याका ब्रह्मचर्यके साथ अर्जन करते हैं— आप उसी विद्याकी बात कहते हैं ॥ ३ ॥

कालिका भास ।

धृतराष्ट्रने पहले श्लोकमें सुदुर्लभ पराविद्याके विषयमे प्रश्न किया । आचार्यने द्वितीय श्लोकमें उसका उत्तर देकर निश्चयको दृढ़तर करनेके लिये तृतीयश्लोकका उल्लेख किया है।

आद्या अर्थात अकार्यभूत क्योंकि वेद में स्वाभाविक ज्ञान क्रियाका निर्देश है। विद्या शब्दसे ब्रह्मविद्या समझनी चाहिये। "—सत्य-रूपा"—विद्याका विशेषण है। क्यों कि श्रुतियोंमें कहागया है:— केवल ब्रह्मही सत्यात्मक, ज्ञानमय तथा अनन्त है"— आचार्य ब्रह्म-चर्यका स्वरूप पीछे लिखेंगे। "गुरुवृद्ध"—वृद्ध गुरु समझना चाहिये। यद्यपि कर्मधारय समासके नियमानुसार वृद्धशब्द गुरु-शब्दके पहले रहेगा किन्तु बहुतसे शब्दोंमें इस नियमका व्यति-क्रम भी देखा जाता है। यथा—कडार-जैमिनि तथा जैमिनि-कड़ार दोनों ही रूप देखा जाता है। यहाँ वृद्धगुरु तथा गुरुवृद्ध दोनों ही व्याकरण से शुद्ध हैं। अविद्या की आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्तिके कारण मनुष्यादिमें बहुधा सत्यात्मक ज्ञान प्रतिरुद्ध रहता है; किन्तु गुरुवृद्धोंमें प्रतिबन्धके अभावके कारण वह सदा ही भासमान रहता है। तन्त्रोंमें गुरुशब्दकी व्युत्पत्ति ऐसी ही की गई है। 'गु' शब्दसे अन्धकार तथा—"रु" शब्दसे निरो-ध वा नाशका बोध होता है; इसलिये जो अज्ञानका रोध करें वे ही 'गुरु" हैं। अतएव मनुष्यों में गुरुकल्पना करनी उचित नहीं, क्योंकि परमेश्वर ही एकमात्र गुरु है। यह केवल तान्त्रिक सम्प्रदा-ही का नियम नहीं है, वेद पन्थी लोग भी यज्ञके समय ब्रह्मा, होता अध्वर्यु, उद्गाता प्रभृतिके वरण करनेके पहले अग्नि प्रभृ-तिका वरण करते थे, और उसके बाद देवताओंके प्रतिनिधि स्वरूप उन मनुष्योंका अर्थात् ब्रह्मा प्रभृतिका वरण करते हैं। भवानीपति श्रीशंकर भगवान ने यह भी कहा है—" मन्त्रदाता अपने हृदयमें गुरुका जैसा ध्यान करते है, गुरुका ठीक वैसे ही ध्यानका वे शिष्योंको भी उपदेश देते हैं। अतएव मनुष्य मनुष्यका गुरु कैसे हो सकता है। इस विषय में किसी तरहके सन्देहका कारण नहीं है। क्योंकि यदि मैं हीं जड़बुद्धि होऊं तो फिर कोई भी शिक्षक मुझको पण्डित नहीं बना सकते। अस्तु परमेष्ठी गुरुके द्वारा ज्ञानका अवरोधजनक

आवरण हटाये विना मेरे उद्धार का और कोई उपाय नहीं है।

दिव्यौघ, सिद्धौघ, तथा मानवौघ, भेदसे गुरु तीन प्रकार के होते हैं। शक्ति पूजामें इन सब गुरुपंक्तियों की पूजा की जाती है। 'गुरुवृद्ध' शब्द में वृद्ध—शब्द के रहनेके कारण शास्त्रोक्त आदिनाथ आदि बारह दिव्य गुरुओं को ले सकते हैं। उपदेश प्राप्त, देशिक शाक्त वेदान्ती लोग इस मन्त्रका स्मरण कर अपने दिव्य गुरुओंका प्रणाम करते हैं—जो निरहंकार, आप्त काम, हैं और जिनके अभ्यन्तर समस्त-शक्तियां विलीन रहती हैं, वही अनन्त अपार, सच्चिदानन्द आदिनाथ-नामक परमात्मा हमारे दिव्यगुरु है, उन्हीं को हम प्रणाम करते हैं। जो ब्रह्म से अभिन्न आद्याशक्ति रूप हैं, जो विलीन होकर आदिनाथ-नामक परब्रह्ममे सुप्तोत्थित पुरुषकी वृत्तियों के समान अवस्थित हैं जो हमारे द्वितीय शक्ति दिव्यगुरु है, उनको हम प्रणाम करते हैं। वह शक्ति विशिष्ट आदिनाथ निर्गुण तथा नीरूपो अनुग्रहसे होने पर भी निवृत्तिक योगियोंके प्रज्ञामें आरूढ होते हैं इस लिये उनका नाम सदाशिव हैं। यही सदाशिव हमारे तृतीय दिव्यगुरु हैं। हम उनको प्रणाम करते हैं

सदाशिव दूसरे के विना अकेले प्रगट नहीं हो सकते इसलिये जो महाशक्तिरूप वृत्तियों का आश्रय ग्रहण करते हैं, वही शक्तिरूप हमारे चतुर्थ दिव्य गुरु हैं। हमलोग उनको प्रणाम करते है।

शक्तियुक्त किन्तु आकार रहित और ज्ञानादि अनेक गुण युक्त वह सदाशिव जब निग्रहानुग्रह समर्थ ईश्वररूप धारण करते हैं, और उनके जिस ईश्वररूपको वेदोंने चरणहीन होने पर भी वेगगामी, नयनहीन होनेपर भी दृष्टिमान तथा कर्ण न होनेपर भी श्रवणशील कह कर वर्णन किया है, वही ईश्वर हमारे पञ्चम दिव्य गुरु हैं, अस्तु हम उनको प्रणाम करते हैं॥

लीलाके लिये द्वैतभाव धारण करनेके कारण (श्रुति) वेद जिनको इच्छामय कहते हैं, और जिनकी इच्छाशक्तिरूप वृत्ति महद आदिके निधानके नामसे प्रसिद्ध है, उनकी वह बहुभवनशक्ति

हमारो छठे दिव्य गुरु हैं; हम उनको प्रणाम करते हैं ।

जो महद् आदिके निधान शक्तिसम्पन्न ईश्वर गुणबहुल होकर अपनेमें सम्पूर्ण विश्ववेगधारण करके स्थिर हैं और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें जिनको रुद्र कह कर वर्णन किया गया है वही हमारे सप्तम दिव्य गुरु हैं, हम उनको प्रणाम करते हैं ॥

अनेक होनेके अभिप्रायसे भूतवेग रुद्रसे लेकर वृत्तिरूपा महाशक्ति तक जो अन्तर्हित रहकर तत्व समूहको पृथक् २ करनेके लिये महद् आदिके जन्मदाता होते हैं वे रुद्रशक्ति हमारे अष्टम दिव्यगुरु हैं, उनको हम प्रणाम करते हैं।

संसृष्ट तथा विविक्त होनेकी वृत्तिका अवलम्बन कर महद् आदि तत्वोंमें जिनका अपना सारा तेज पालनार्थ निहित रहता है। वह विष्णु हमारे नवें दिव्य गुरु हैं उनको हम प्रणाम करते हैं ।

मैं स्वतः विश्वपोषणका कर्त्ता हूं'—इस वृत्तिगत जो वैष्णवी शक्ति तत्वान्तरमें परिणत होकर विश्वका पोषण करती है वह हमारे दशम गुरु हैं, उनको हम प्रणाम करते हैं।

तत्वान्तरमें जगत् परिणत होगा इसलिये अपनी वृत्तिके द्वारा हिरण्य गर्भरूपी भगवानने विराट रूप धारण किया और जिनकी उस मूर्तिसे अखिल चराचर प्रगट हुआ है, वह हमारे ग्यारहवें दिव्य गुरु हैं, हम उनको प्रणाम करते हैं।

अपने शरीर वस्तु भूतजीव को चिर काल तक सुखके लिये यज्ञादि साधित उपासना करना—उनकी ऐसी वेदत्रयी मर्ममयी सावित्री नाम से प्रसिद्ध जो वृत्ति है, वही हमारे बारहव गुरु है, हम उनको प्रणाम करते हैं ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

ब्रह्मचर्य्येण या विद्या
शक्या वेदितुमञ्जसा

तत्कथं ब्रह्मचर्य्यं स्याद्
एतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

अन्वयः ।

हे ब्रह्मन्! अञ्जसा ब्रह्मचर्य्येण या विद्या वेदितुं शक्या तद् ब्रह्मचर्य्यं कथं स्यात् [इति] मे ब्रवीहि । ४ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

एवमुक्ते ब्रह्मचर्य्यविज्ञानायाह धृतराष्ट्रः—ब्रह्मचर्य्येणेति । या विद्या ब्रह्मचर्य्येण वेदितुं शक्या तत्साधनभूतं ब्रह्मचर्य्यं कथंस्यादितद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे । ४ ।

कालिका ।

ब्रह्मविद्याया ब्रह्मचर्य्यसाध्यत्वं श्रुत्वा ब्रह्मचर्य्यपरिज्ञानाय पृच्छति धृतराष्ट्रः—ब्रह्मचर्य्येणेति । ब्रह्मचर्य्येण या विद्या वेदितुं शक्या तत्साधनभूतं ब्रह्मचर्य्यं कथमञ्जसा शीघ्रं स्यादिति मे ब्रवीहि ।

एष ऋषिं प्रति राज्ञो निर्वन्धविशेषः । यस्मात्त्वदन्यः कोऽपि तमोनिवर्त्तको नोपपद्यते, तस्मात्त्वमेव ब्रह्मचर्य्यस्वरूपम् वक्तुमर्हसीति निर्व्वन्धाभिप्रायः । ४ ।

मूलानुवाद ।

हे ब्रह्मन्! जिस ब्रह्मचर्यके द्वारा परा विद्या अति शीघ्र पायी जाती है उस ब्रह्मचर्यका स्वरूप मुझसे कहिये । ४ ।

कालिकाभास ।

ब्रह्मविद्याका ब्रह्मचर्य साधक है, यह सुनकर राजा ब्रह्मचर्यका स्वरूप जानना चाहते हैं । ४ ।

सनत्सुजात उवाच ।

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।

इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥ ५ ॥

अन्वयः ।

इह ये आचार्य्ययोनिं प्रविश्य गर्भं भूत्वा ब्रह्मचर्यं चरन्ति, ते एव इह शास्त्रकारा भवन्ति। [ततः] देहं विहाय परमं सत्यं यान्ति। ५।

शांकरभाष्यम् ।

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—आचार्य्येति। आचार्य्ययोनिमिह ये प्रविश्य, आचार्य्यसमीपं गत्वेत्यर्थः। भूत्वा गर्भं उपासनादिना शिष्या भूत्वा ब्रह्मचर्य्यं गुरुशुश्रूषादिकं चरन्ति कुर्वन्ति। इहैव अस्मिन् लोके ते शास्त्रकाराः शास्त्रकर्त्तारः पण्डिताः भवन्ति। ततो बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणा आरब्धकर्मक्षये विहाय देहं परमं यान्ति। सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

कालिका ।

एवं पृष्टः प्राह सनत्सुजातः—आचार्य्ययोनिमिति। आचार्य्यलक्षणं पौराणिका आहुः—"आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्य्यस्तेन चोच्यते ॥" इति। प्राचीनाश्च तत्राहुः" "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥"। इति। आचार्य्यस्य योनिं स्थानमिह शिष्यत्वेन प्रविश्य गर्भं भूत्वा गुरुगृहमध्यस्थाय ये ब्रह्मचर्यं प्रागव्याख्यातं चरन्ति कुर्वन्ति। इदमत्राकूतं—य आचार्यसमीपं गत्वा तस्य निष्कपटसेवया तदन्तरङ्गत्वं प्राप्य ब्रह्मचर्य्यं चरन्तीति। तदेव भगवान् प्राह— "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" इति। इहैवास्मिन्लोके ते शास्त्रकारा भवन्ति प्रवृत्तिनिवृत्तिमूलमेवार्थं बोधयन्ति। शास्त्रत्वं हितशासनात्। प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणाञ्च सन्दर्भाणां शास्त्रत्वं यत्राहुः—"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।

पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥" इति। ततस्ते देहं विहाय परमं सत्यं यान्ति ब्रह्मात्मानन्दैकरसं प्राप्नुवन्ति ॥५॥

मूलानुवाद ।

जो आचार्यके गर्भमें प्रवेश कर ब्रह्मचर्यमें निरत रहते है वे ही इस लोकमे शास्त्रकार होते है, और इसके बाद देह त्याग कर सत्य ब्रह्मको पाते हैं ॥ ५

कालिकाभास ।

आचार्यके गर्भमे प्रवेश कर अर्थात् आचार्यके निकट रह कर पौराणिक लोगोने आचार्योंका रूप इस प्रकार बताया है:—

जो शास्त्रोके अर्थोंको सीखकर स्वयं उनका पालन करें, और दूसरोसे प्रतिपालन करानेके लिये उसको आचार रूपमे परिणत करे वे आचार्य हैं।"—आचार्यके सम्बन्धमे मनुजी कहते है:—जो ब्राह्मण शिष्योको इकट्ठाकर उनको सांगवेद आदि पढ़ाते है--वे ही आचार्य है। और शिष्य निष्कपट भावसे आचार्यकी सेवा करके उनसे तत्वोको सीखे यही उसकी शास्त्र मर्यादा है। इसीसे गोकुलेन्दु श्रीकृष्णने कहा है—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया इत्यादि जो २ इस प्रकार शास्त्रोके रहस्यको आयत्त करते है, वे इस लोकमे प्रवृत्तिमूलक अथवा निवृत्तिमूलक शास्त्रोके अर्थोंको प्रकट करते हुए मृत्युके बाद परम पद पाते हैं।५।

> अस्मिंल्लोके विजयन्तीह कामान्
> ब्राह्मीं स्थितिमनुतितिक्षमाणाः ।
> त आत्मानं निर्हरन्तीह देहान्
> मुञ्जादिषीकामिव धीरभावात् ॥ ६ ॥

अन्वयः ।

ये अस्मिन् लोके कामान् विजयन्ति जितकामा भवन्तीति भावः। (ये) इह ब्राह्मी (ब्रह्मसम्बन्धिनी) स्थितिं व्यवस्थां प्राप्तुम् (अनु-

तितिक्षमाणाः) जिघत्सापिपासादिद्वन्द्वसहाः) ते इह धीर-भावात् (धैर्येण) (मुञ्जात् शरस्तम्बात्) इषीकां (शरकाण्डम्) इव देहात् आत्मानं निर्हरन्ति (विवेकेन गृह्णन्ति) । ६ ।

शांकरभाष्यम् ।

किंच—अस्मिन् लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीमेव स्थितिं ब्रह्मण्येव स्थितिं अनुतितिक्षमाणाः अनुदिनं क्षममाणाः ते आत्मानं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं चिन्मात्रं निर्ह-रन्ति पृथक् कुर्व्वन्ति । किमिव ? मुञ्जादिषीकामिव । यथा मुञ्जादिषीकामन्तःस्थां निर्हरन्ति, एवं कोशपञ्चकेभ्यो निष्कृष्य सर्व्वात्मानं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । केन ? धीरभावात् धैर्येण । श्रूयते च कठवल्लीषु—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहे-न्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्" । इति ॥ ६ ॥

कालिका ।

अस्मिंल्लोके ये कामान् विजयन्ति जितकामा भवन्ति, तथा ब्रह्मणः इमां ब्राह्मीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं स्थितिं व्यवस्थां प्राप्तुं येऽनुतितिक्षमाणाः सुखदुःखशीतोष्णजिघत्सापिपासादिद्वन्द्वसहास्ते मुञ्जाच्छरादिषीकामन्तःस्थामिव धीरभावादप्रमादतो देहात् परि-णामित्वादिधर्मकादात्मानमपरिणामित्वादिधर्म्मकमिह निर्हरन्ति पृथ-क्कुर्व्वन्ति । परिणामित्वापरिणामित्वाभ्यामत्यन्तभिन्नधर्म्मत्वे-नात्यन्तविभक्तयोर्देहात्मनोरविभागरूपैकत्वप्रत्यये सत्येव भोगो-पधानं भवति । योऽहं देही सोऽहमनुभवितेत्येवं प्रत्ययस्यैव भोगत्वम् । तयोः पृथक्करणे हि कैवल्यमन्योन्यनियोग एव न तु भोग इत्याकूतम् । श्रुतिरप्याह—"तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मु-ञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति' । तं शरीरनिष्कृष्टं चिन्मात्रं शुद्धममृतमिति विजानीयादिति

श्रुतितात्पर्यम् । अपि च—"आत्मानञ्चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" ।इति । ६ ।

मूलानुवाद ।

इस लोकमे जो अनुरागका विजय कर सकते है, अर्थात् वैराग्यका अवलम्बन कर सकते है और उसके बाद जो ब्रह्म प्राप्तिके लिये धीरजके साथ द्वन्द्व सहिष्णु है । अर्थात् द्वन्द्वसहिष्णु होकर तपस्य आचरण करें, वे शरखीके छिलकोंमेसे शरखीके काण्डके तरह धीर भावसे देहसे आत्माका पृथक् रूपसे ग्रहण कर सकेंगे । ६

कालिकाभास ।

शीतोष्णादि नहीं सह सकने पर तपस्या नहीं की जा सकती, इसलिये द्वन्द्व सहिष्णु शब्द व्यवहृत हुआ है । योग शास्त्र भी कहते हैं—"द्वन्द्वानभिघात."—सानुराग तपस्यामे आत्म दर्शन नहीं होता इसलिये वैराग्य शब्दका प्रयोग किया गया है । मुञ्ज अर्थात् सरखी-का छिलका या पत्ते (एक तरहका घास) सरस या कच्चा अथवा हरा (गीला) रहनेसे उस से डंडी या काण्ड नही निकाला जाता । किन्तु जब वह सरखी सूख जाती है तो अनायास निकाल लिया जाता है । इसी तरह जितने दिन हम लोग वासना पुष्ट रहते हैं उतने दिनों तक हम लोगोंको आत्मदर्शन होना सुसम्भव हो जाता है, किन्तु जब सूखे मुञ्जके तरह हम लोग वासना रहित हो जाते हैं, तब शरीरादि से अथवा बुद्ध्यादिसे पृथग्भूत आत्माको उपलब्धि करते हैं । दार्ष्टा-न्तिक योजना भी इसी तरह समझनी होगी । स्मृतियाँ भी कहती हैं—"कषाय पक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः" । परिणामी देह तथा अपरिणामी आत्मा ये दो अत्यन्त भिन्न होने पर भी अभिन्नके समान प्रतीयमान होते है इसलिये उनको पार्थक्य विधानमे धैर्य करनेको बताया गया है । ६

शरीरमेतौ कुरुतः
पिता माता च भारत ।

ब्रह्मजन्म निर्व्वर्त्तयति तत् सत्यं नित्यपदप्राप्तिहेतुत्वात् पर-मार्थभूतममृतं यथा जरामरणरहितमिव । दीक्षापि जन्मत्वेन श्रूयते—"पुनर्व्वा तदृत्विजो गर्भं कुर्व्वन्ति यद्दीक्षयन्ती"ति। एतदेव जन्म तृतीयम् । मातुः सकाशात् प्रथमं द्वितीयमुप-नयने शेषं दीक्षायामिति त्रीणि जन्मानि पुरुषस्य श्रुतिनो-दितानि भवन्ति । ननु सत्येवं कथं द्विजो न त्रिज इत्यु-च्यते ? द्विजव्यपदेशेन तावदुपनयनं निमित्तं तद्व्यपदेशनिबन्धनस्तु श्रौतस्मार्तसामयिकाचारिककर्माधिकारः । प्रशंसा तृतीयजन्मापि च न द्वितीयजन्म स्तुत्यर्थं द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात् । अदीक्षितो यज्ञे नाधिक्रियते, नानुपनीतस्तु क्वचिदेवेति । ७ ।

मूलानुवाद ।

हे भारत! पिता माता नश्वर शरीरका सम्पादन करते हैं। किन्तु आचार्यों से जो जन्म होता है, वह अमृतात्मक होता है ॥ ७ ॥

कालिकाभासः ।

पिता माताकी अपेक्षा आचार्योंका श्रेष्ठत्व निरूपण करनेके लिये यह श्लोक लिखा गया है। पिता माता प्रवृत्ति परवश होकर बालकों का जो जन्म सम्पादन करते है, पशु पक्षि-योंके जन्म से मनुष्य के जन्म मे कोई भेद नहीं है । और आचार्य्यसे जो उसमे दीक्षारूपी सर्व्व प्रकार से श्रेष्ठ ब्रह्मजन्मका लाभ होता है, केवल वही अमृतवत् और सत्य है, क्योंकि वही नित्यपद प्राप्ति का हेतुभूत कह कर शास्त्रोंमें बताया गया है ।

शास्त्रानुसार दीक्षा भी एक प्रकार का जन्म ही है । यह एक तीसरे प्रकार का अथवा तृतीय जन्म है परन्तु दीक्षा यदि जन्म है, तो ब्राह्मणको त्रिज न कहकर द्विज क्यों कहते हैं? उपनयनके समय जो जन्म होता है उ-सके प्रशंसार्थ ही दीक्षारूप तृतीय जन्म व्यपदिष्ट हुआ है।

दीक्षारूप उपनयनमें जो अधिकार प्रवर्त्तित होता है, दीक्षा-रूप तृतीय जन्म भी वस उसीका काष्ठा प्राप्ति मात्र है। अत एव ब्राह्मणका द्विजत्व किसी तरह दोषावह नहीं ॥ ७ ॥

स आवृणोत्यमृतं सम्प्रयच्छन्
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ।
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्च सदाऽप्रमत्तः ॥ ८ ॥

अन्वयः ।

अमृतं (ब्रह्मज्ञानं) सम्प्रयच्छन् (ददन्) सः (गुरुः) (तं शिष्यम्) आवृणोति (दुःखत्रयाभिधानमय-निवारणेन पालयति)। कृतम् (उपकारम्) अस्य जानन् (स शिष्यः) तस्मै न द्रुह्येत् (दुःखं न जनयेत्)। सदा अप्रमत्तः (सन्) शिष्यः गुरुं नित्यम् अभिवादयीत (उपासीत)। स्वाध्यायं चेच्छेत् (श्रवणादिपरो भवेदित्यर्थः) । ८ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

यस्मादाचार्याधीना परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—स इति। स आवृणोति आपूरयति अमृतं पूर्णानन्दं ब्रह्म, आत्मत्त्वेन सम्प्रयच्छन् तस्मै आचार्य्याय न द्रुह्येत् द्रोहं नाचरेत्। तथाच श्रुतिः— यस्य देवे पराभक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ। इति। तथा चापस्तम्बः—तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन स हि विद्यातस्तं जनयति। इति। कृतमस्य जानन् अस्येति तृतीयार्थे षष्ठी, अनेनात्मनः कृतमुपकारं जानन्। कथं तर्हि कर्त्तव्यमित्याह—गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत देवमिवाचार्य्यमुपासीत। तथा च श्रुतिः—"यस्य देवे"। इति। तथा स्वाध्यायमिच्छेत् श्रवणादिपरो भवेच्च। सदाऽप्रमत्तः अप्रमादी सन्।८।

कालिका ।

इदानीं ... य आवृणोतीति । सोऽमृतं कण्ठोक्तं हृदयगतं तात्पर्यञ्च वेदस्य सम्प्रयच्छन् ददत् आवृणोति जननमरणोत्पत्तिभयनिवारणेन पालयति । यो ... करोति स तमसो रक्षतीति भावः । तस्मै ... श्रेयस आचार्याय शिष्यः कृतमस्य तत्कृतमुपकारं जानन् न द्रुह्येत् दुःखहेतुं न कुर्यादिति भावः । अपकारो ... अवज्ञानं च । निष्पन्नेऽपि ग्रन्थग्रहणे तदुत्तरकालमपि ... । तथा हि निरुक्तकारः प्राह—"अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा [नाद्रियन्ते अवज्ञां कुर्वन्ति] यथैव ते शिष्या न गुरो र्भोजनीया न भोगाय कल्पन्ते तथैव तान्न भुनक्ती" ति । तथैव आपस्तम्बः— "तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन ।" स हि विद्यान—स्तं जनयती" ति । कथं तर्हि कर्त्तव्यम् ? तत्राह—गुरुं शिक्षयितारं शिष्यो वेदाध्ययनमारिप्समाणो नित्यं प्रातरन्वहमभिवादयीत महोपकारकत्वगुणयोगात् तस्य पादौ गृह्णीयादिति । "पादोपग्रहणं गुरोः प्रातरन्वहमि" ति स्मृतेः । अभिवाद उपकारप्रवृत्तस्य गुरोश्चित्तप्रसादनं यथा लोके कश्चिदुपकारप्रवृत्तं ... वाचा ननु वयं धन्या इति । किञ्च—सदाऽप्रमत्तोऽप्रमादी शिष्यः स्वाध्यायमिच्छेत । स्वाध्यायः सोपनिषत्को ... वेदः । "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति श्रुतेः । स्वाध्यायग्रहणं ...पर्यन्तं व्यवस्थापितम् । अवबोधश्च ... कल्पत इति स्वाध्यायशब्देन शिक्षाकल्पव्याकरणच्छन्दोज्योतिषनिरुक्तग्रहणमपि विध्याश्रितम् । श्लोकस्य पाठान्तरञ्च । "यः आवृणोत्यवितथेन वर्णानृतं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् । तं वै मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ।" इति । अनेन सनत्सुजात आचार्यचूडामणि माहात्म्यप्रख्यापकं मन्त्रं पठति—"य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ । स माता स पिता ज्ञेयस्तन्न द्रुह्येत् कदाचन" इति । ८ ।

अर्थात् शास्ता, शास्त्र, तथा शिष्य कहने से, यद्यपि अद्वैत दृष्टिसे विकल्पका उदय होता है, किन्तु यह विकल्प ज्ञान निवृत्त हो जाता है। क्योंकि उपदेश ही के कारण इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है और उपदिष्ट तत्व ज्ञानके पानेसे, और कोई भेद नहीं रहता।

"स्वाध्याय"—शब्दसे उपनिषद्के साथ २ मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद ही गृहीत होता है। जितने दिनों तक अवबोध न हो उतने दिनो तक स्वाध्याय ग्रहणकी व्यवस्था उचित है। यह स्वाध्याय ग्रहण क्रिया योगका एक अङ्ग है। इसलिये पतञ्जलि कहते है—"तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः ॥"— चित्तभूमिमे रजोगुण अथवा तमोगुणका परिणाम रूप विपरीत संस्कार समूह इस प्रकार वर्तमान रहता है कि उनको भेदकर तत्वज्ञानके उपदेशोका प्रवेश नही किया जा सकता। किन्तु स्वाध्यायके द्वारा ये सब विपरीत संस्कार क्षीण अथवा विदूरित होने पर शिष्य अथवा साधक स्वयं तथा अनायास ही तत्वज्ञान पा सकते हैं॥ ८ ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव
विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।
ब्रह्मचर्य व्रतस्यास्य
प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

अन्वयः ।

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव, (शिष्याचारक्रमेण) य, शुचिः (सन्) विद्यामाप्नोति, अस्य (तस्य) (विद्याप्राप्तिः) ब्रह्मचर्यस्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

शांकरभाष्यम् ।

इदानीं चतुष्पाद्ब्रह्मचर्यं श्लोकचतुष्टयेनाह—शिष्येति । "आचार्ययोनिमिह" इत्यादिना उत्तरक्रमेणैव शुचि विंद्यामाप्नोति यत् तत् ब्रह्मचर्यस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते । ६ ।

कालिका ।

इदानीं चतुष्पाद्ब्रह्मचर्यं श्लोकचतुष्टयेनाह—शिष्यवृत्तिक्रमेणेति । यः शुचिः स्नानादिना भावशुद्ध्या च शिष्यवृत्तिक्रमेणैव शिष्यवृत्तयो या अध्ययनाङ्गत्वेन मन्वादिस्मृतौ प्रोक्ता स्तत्क्रमेणैव विद्यामाप्नोति, तस्य सा विद्याप्राप्ति ब्रह्मचर्यव्रतस्य प्रथमः पाद एकोऽश उच्यते । ६ ।

मूलानुवाद ।

शिष्य वृत्तिके अनुसार जो भाव शुद्ध होकर विद्याध्ययन करते हैं, उनकी विद्याप्राप्ति ब्रह्मचर्यके प्रथम भाग नामसे अभिहित होती है । ६ ।

कालिकाभास ।

यहां चतुष्पाद ब्रह्मचर्य चार श्लोकोमे कहा जाता है। शिष्य वृत्तिके अनुसार अर्थात् मनु आदि प्राचीन ऋषिगणने शिष्योका जैसा कर्तव्य निर्द्धारण किया है, उसके अनुसार भावशुद्ध होकर विद्या ग्रहण करना चाहिये । ६ ।

> यथा नित्यं गुरौ वृत्ति
> र्गुरुपत्न्यां तथा चरेत् ।
> तत्पुत्रे च तथा कुर्व्वन्
> द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १० ॥

अन्वयः ।

गुरौ यथा वृत्तिः नित्यं स्यात् तथा गुरुपत्न्यां तथा च तत्पुत्रेऽपि स्यात् । (एवं) कुर्व्वन् (यः शिष्यत्वम्) आचरेत्

(तस्य कर्तव्यता ब्रह्मचर्य्यस्य) द्वितीयः पाद उच्यते । १० ।

शाङ्करभाष्यम् ।

यथेति स्पष्टार्थः श्लोकः । तथा चोक्तम्—
'आचार्य्यवदाचार्य्यदारेषु वृत्तिराचार्य्यपुत्रे च तथा वृत्तिश्च इति' । १० ।

कालिका ।

पूर्व्वश्लोकेन ब्रह्मचर्य्यस्य प्रथमं पादमुक्त्वाधुना द्वितीयं पादमाह—यथेति । गुरौ–गुरुशब्दोऽत्र गुणवदाचार्य्यजातिवचनस्तत्र यथा वृत्तिराचरणं नित्यं स्याद् गुरुपत्न्यां गुरुयोषिति सवर्णायां तथा चरेत् । सैव गुरुवत् सर्व्वतः प्रतिपूज्या । असवर्णा तु केवलैः प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिः पूज्या भवति । तत्पुत्रे समानजातौ निष्पन्नवेदे गुरुपुत्रे तथाचरेत् । न तु सर्व्वस्मिन् गुरुपुत्रे वृत्तिरेष विधियते । स्मृतिश्च—"श्रेयःसु गुरुवद्वृत्ति नित्यमेव समाचरेत् । गुरुपुत्रे तथाचार्य्ये गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥" इति । तथा कुर्व्वन् गुरुवद्वृत्तिमनुतिष्ठन्नित्यर्थः । एष द्वितीयः पादो ब्रह्मचर्य्यस्य द्वितीयोऽशः । १० ।

कालिका भास ।

यहां गुरु शब्द गुणवान आचार्यको ही लक्ष्य करता है। गुरुपत्नी अर्थात सवर्ण गुरुपत्नी गुरुओके समान ही पूजनीय होती है । यही साधारण विधि है। (नियम आज्ञा)। परन्तु इस की विधियां शास्त्रोमे इस प्रकार व्यवस्थापित हुई है।

"अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्यां न कार्य्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ १ ॥
गुरुपत्नी तु युवती नाभिवाद्येत् पादयोः ।
पूर्णविंशति वर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २ ॥

गुरुपुत्रके एक जातिय तथा विद्वान होनेसे गुरु ही के

समान पूजना चाहिये। यहाँ साधारण विधि है। विशेष विधि शास्त्रोमे इस तरह दी गयी है——

उत्सादनञ्च गात्राणा-स्नापनोच्छिष्टभोजनम्।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम्॥"

अर्थात् -गुरुपुत्रके गुरुके समान पूज्य होने पर भी गुरुके समान गुरुपुत्रके शरीरमे विलेपन—दान, स्नापन, उच्छिष्ट भोजन, तथा प्रक्षालन नहीं करना चाहिये यह श्लोक मनुके वचनके समान मालूम होता है।

आचार्य्यणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वाचार्यं भावितो ऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्य्यस्य पादः॥ ११॥

अन्वयः।

आचार्य्येण आत्मकृतम् [आत्मन उपकारं] विजानन् अर्थं च ज्ञात्वा (पुरुषप्रयोजनमनुभूय) तं प्रति हृष्टबुद्धिः (सन्) अनेन (आचार्य्येण) भावितः (वर्द्धितः) अस्मीति यत् मन्यते स वै ब्रह्मचर्य्यस्य तृतीयः पादः॥ ११॥

शांकरभाष्यम्।

आचार्य्येणात्मनः कृतमुपकारं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं वेदार्थ-परमपुरुषार्थं ज्ञात्वा अवगम्य भावितोऽस्मीत्यनेन स्वाभाविकचित्-सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना यथावदुत्पादितोऽस्मीति चिन्तयन् तमाचार्यं प्रति हृष्टबुद्धिः सन् यत् आत्मनः कृतार्थत्वं मन्यते स वै तृतीयो ब्रह्मचर्य्यस्य पादः॥ ११॥

कालिका।

आचार्य्येण श्रोत्रियेण ब्रह्मनिष्ठेनात्मनः स्वस्मै कृतमुपकृतं विद्यादानेन तस्य चार्थमज्ञानसम्भूतसंशयस्य च्छेदेन त्रिविधदुःखा

निवृतिरूपमानन्दप्राप्तिरूपञ्च प्रयोजनं ज्ञात्वानुभूय तं प्रति हृष्टबुद्धिरनेन भावितो ब्रह्मचिन्तने धालितचित्तोऽर्म्मानि यदात्मनः कृतार्थत्वं मन्यते स वै ब्रह्मचर्य्यस्य तृतीयः पादस्तृतीयोंऽशः ।११।

मूलानुवाद ।

आचार्य्यका उपकार स्मरण कर तथा पुरुषार्थ सिद्धिको पाकर उनके प्रति कभी असन्तोष प्रकाश नहीं करना चाहिये। क्योंकि आचार्यने ही हमारे ब्रह्मज्ञानको उद्दीपित किया है। ऐसा चिन्तन करना ही ब्रह्मचर्यका तृतीय पाद कहलाता है॥ ११ ॥

कालिकाभास ।

पुरुषार्थसिद्धिको पाकर अर्थात् ब्रह्मदर्शन ही पुरुषार्थ है, और उपनिषद्ज्ञान उसका साधन है-ऐसा सिद्धान्त करके ।११।

आचार्य्याय प्रियं कुर्यात्
प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा
चतुर्थः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

अन्वय ।

कर्मणा मनसा वाचा प्राणैरपि आचार्य्याय प्रियं कुर्य्यात् [एषा शिष्यस्य कर्तव्यता ब्रह्मचर्य्यस्य] चतुर्थः पादः उच्यते ।१२।

शाङ्कर भाष्यम् ।

आचार्य्यायेति स्पष्टोऽर्थः ।१२।

कालिका ।

शेषतो गुरुदक्षिणादानधर्म्ममाह—आचार्यायेति । एष विधि रुपकुर्व्वाणस्यैव न तु नैष्ठिकस्य, स्नानासम्भवात्। स्नास्यतो

गुर्वर्थविधानात् स्नानकाले प्राप्ते गुरुणा आदिष्टोऽमुमर्थमुपहरेति यथाशक्ति धनिनं याचित्वाऽपि तत् तमुपनयति । स्नानात् पूर्व्वं तु मणिमुक्ताप्रवालहस्त्यश्वगवोष्ट्ररथादि किञ्चिदपि धनं गुरवे नावश्यं देयं किन्तु यदि तद् यदृच्छातो लभते गुरवे च दद्यात्येव । अतः स्नानात् पूर्व्वं गुरवे दानमाहापस्तम्बः— "यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः, स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतमिति स्नास्यन् पुनः गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यादि"ति कर्म्मणा मनसा वाचा न तु छद्मवृत्त्येति भावः । परतत्वपरायणः शिष्यो धनैरपि प्राणैरपि यान्येव गुरोः प्रीतिजनकानि तैरपि उपकुर्व्वाण-धर्म्मादाचार्य्यस्य प्रियं हितं कुर्य्यात् । १२ ।

मूलानुवाद ।

कायमनोवाक्यके द्वारा अथवा धन और प्राण तकको लगाकर शिष्य आचार्यका हित साधन करे । शिष्योंका यह कर्तव्य ब्रह्मचर्यका चतुर्थपाद कहाता है ॥ १२ ॥

कालिकाभास ।

उपकुर्व्वाणकी दक्षिणाविधि इसी श्लोकमें वर्णित है । नैष्ठिक लोगोंके लिये यह विधि आवश्यक नहीं हैं । कायमनोवाक्य से अर्थात् अन्तःकरणसे पूर्णतया निश्छल होकर धन प्राणके द्वारा अर्थात् शक्तिभर सब तरहसे ॥ १२ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १३ ॥

अन्वय ।

गुरुयोगतः (गुरुशिष्यसम्बन्धेन संवादेन) च (प्रथमं) पादं (लभते)। ततश्च उत्साहयोगेन (अधीतविषयाणामूहने) [द्वितीयं] पादम् ऋच्छेत्, (गच्छेदित्यर्थः) । ततः (ऊहानन्तरं) च पादं (तृतीयम्) अभियाति । [ततः] कालेन (अभ्यासपरिपाकेण) तथार्थं पादं (विवेकख्याति) लभते । १३ ।

शांकरभाष्यम् ।

इदानीं चतुष्पदां विद्यां दर्शयति—कालेनेति । अत्र क्रमो न विवक्षितः । प्रथमं गुरुयोगतः, तत उत्साहयोगेन बुद्धिविशेषप्रादुर्भावेन, ततः कालेन बुद्धिपरिपाकेण, ततः शास्त्रेण सहाध्यायिभिः तत्त्वविचारेण । तथा चोक्तम् "आचार्य्यात् पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया । कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः" ॥ इति । १३ ।

कालिका ।

चतुष्पाद्ब्रह्मचर्य्येण लभ्यां चतुष्पदीं विद्यामाह—कालेनेति । अनुक्रमो विद्याधिगमस्य नात्र विवक्षितः । प्रथमं गुरुयोगतो गुरुशिष्यसम्बन्धेन संवादेन वेदं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य यदेव ज्ञानमुत्पद्यते स विद्यायाः प्रथमः पादो यच्छ्रवणमुच्यते । उत्साहयोगेन चेतसि पुनः पुनरधीतानां निवेशनमभ्यासापरपर्याय उत्साहः स्तद्योगेन समधिगततत्त्वस्य स्वयमूहनं द्वितीयः पादो यद् मननमाचक्षते वेदविदः । ऊहेन हि स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते न यावच्छास्त्रेण सह संवाद्यत इत्येतद् द्वितीयं मननं विद्याया स्तृतीयः पादः । कालेनेति । एवं गुरुशिष्यसम्वादेन वेदानां स्वरूपभावमादाय तेन च मननं युक्तिमयं व्यवस्थाप्य श्रुतमयी विवेकख्यातिरविद्याविरोधिनी या काचिदभ्यस्यते, सा निविड़ादेव कालनैरन्तर्य्य सेविता भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तमभ्यासपरिपाकादेव भवति । सैव विवेकख्याति विद्यायाश्चतुर्थः पादो यदेव निदिध्यासन मुच्यते । उक्तंच "आचार्य्यात् पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया । कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः" ॥ इति । अत्रापि क्रमो न विवक्षितः । १३ ।

मूलानुवाद

गुरुशिष्य संवाद मे जो श्रवण करना बताया गया है वही विद्या का प्रथम चरण है। उत्साह के श्रुति विषयो का विचार करना विद्या का दूसरा चरण है। तत्वविद पण्डित लोग इसको मनन का पूर्वार्द्ध अंश कहते हैं इसके बाद शास्त्र संवाद ही को विद्या का तीसरा चरण कहते हैं। और यह मनन का उत्तरार्द्ध अंश है। शिष्य क्रमशः इन सब को आयत्त करलेने बाद समय पाते ही विद्या के उसी प्रसिद्ध चतुर्थ चरणको पाता है ॥ १३ ॥

कालिकाभास

आचार्य चतुष्पाद् ब्रह्मचर्य की चतुष्पदी विद्या का विवरण देते हैं। ग्रन्थ के अधोभाग मे चतुष्पाद् ब्रह्म-चर्य का वर्णन है। मूल श्लोक जिस रूप से लिखा गया है, उससे विद्या का अनुक्रम प्रगट नहीं होता है। गुरु के मुख से वेदो का अर्थ ग्रहण ही श्रवणात्मक प्रथम चरण वा पाद है। आलस्य आदि त्याग कर मन ही मन सुने हुए विषयो का विचारना ही ऊह कहलाता है। और इस ऊहापोह का नाम मनन भी है।

इस मननको दो विभागोमे करने से पूर्वार्द्धका ऊहन [विचार] तथा उत्तरार्द्धका शास्त्र सम्वाद कहते है। और श्लोकके तीसरे तथा चौथे चरणमे बताया गया है। ऊहनके द्वारा परिनिष्पन्न सिद्धान्तके शास्त्रोंके साथ नहीं मि-लने पर श्रद्धेय नहीं हो सकता, इस लिये शास्त्रसम्वाद ही विद्याका तीसरा पाद है। शास्त्र सम्वाद के द्वारा मनन युक्तिमय तथा दृढबद्ध होनेसे निदिध्यासनमे जिस अविद्या निरोधिनी श्रुतिमयी विवेक ख्यातिका उदय होता है। वह अभ्यासआदिसे संस्कार बद्ध हो जाने पर विद्याका चतुर्थ चरण

कहाता है। विद्याके इस चतुर्थ चरण वा चतुर्थपाद को ही आत्मदर्शन ब्रह्मज्ञान विवेक ख्याति अथवा परम पुरुषार्थ कहते है ॥१३॥

ज्ञानादयो द्वादश यस्यरूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च।
आचार्य्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १४ ॥

अन्वयः

आचार्य्ययोगे (गुरुशिष्यसंबादकाले) ज्ञानादयो द्वादश (गुणाः) यस्य (पुरुषस्य) रूपं तथा चाङ्गानि (प्राग् वर्णितानि त्यागादीनि यस्य पुरुषस्य) अङ्गानि बलं च तस्य ब्रह्मचर्यं ब्रह्मार्थयोगेन [ब्रह्मात्मैकत्वसम्पादनद्वारेण] फलतीति चाहुः [शास्त्रकारा इति शेषः] । १४ ।

शांकरभाष्यम्

ज्ञानादीनामाचार्य्य- सन्निधाने फल-सिद्धिरित्याह —ज्ञानेति। ज्ञानादयो "ज्ञानं च" इत्यादिना पूर्वोक्ता द्वादश गुणाः यस्य पुरुषस्य रूपम्, अन्यानि चाङ्गानि "श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः" "सत्यं ध्यानम्" इति श्लोकद्वयेन चोक्तानि । तथा बलं च तद्धर्मपरिपालनसामर्थ्यं सर्वमाचार्य्ययोगे एव फलति, नाचार्य्ययोगं विना फलति । श्रूयते च "आचार्याद्धैव विद्या विदिता" इति। "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद" इति च । ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्य यदिदं गुरुसन्निधौ शुश्रूषाद्याचरणं तत् ब्रह्मचर्य्यं ब्रह्मार्थयोगेन फलति, स्वात्मनः चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वसम्पादनद्वारेण फलतीत्यर्थः । १४।

कालिका ।

रूपकभङ्ग्या वर्णयन्ति ज्ञानादिपूर्व्वकं ब्रह्मचर्य्यं पुरुषस्य फलैग्रहि भवतीति । आचार्य्ययोगे गुरुशिष्यसंवादकाले ज्ञानादयो द्वादशगुणा यस्य पुरुषस्य रूपं तथा चान्यानि प्रागवर्णितानि षड्विधत्यागादीनि सत्यध्यानसमाध्यादीनि च यस्याङ्गानि बलं च तस्य, चकार एवार्थे. ब्रह्मचर्यं ब्रह्मार्थयोगेन ब्रह्मात्मैकत्वसम्पादनद्वारेण फलति फलपर्य्यवसायि भवतीति चाहुः शास्त्रकारा इति शेषः। ज्ञानादिपूर्व्वकं ब्रह्मचर्य्यमुपायोपेयभावेन प्रवर्त्तमानं मुक्तेरुपायता प्रतिपद्यत इति श्लोकस्य फलितार्थः । १४।

मूलानुवाद ।

आचार्य योगमे ज्ञान आदि जो बारह गुण हैं—वे जिसके रूप हैं, तथा पूर्वोक्त त्याग, सत्य, ध्यान, आदि जिसके अङ्ग हैं प्रत्यङ्ग ही जिसके बल हैं, उसका ब्रह्मचर्य ब्रह्मके साथ आत्मा के ऐक्यका कारण परिनिष्पन्न हो जाता है ॥ १४ ॥

कालिकाभास ।

ज्ञान आदिके साथ ब्रह्मचार्य किस प्रकार फलपर्यवसायी होता है वही यहा रूपक से दिखलाया जाता है। ज्ञान, आदि गुणसमूह तथा ब्रह्मचार्य परस्पर उपायोपेय रूपसे किस तरह मुक्तिके कारण हो जाते है इसको प्रतिपादन करना ही इस श्लोक का ध्येय है ॥ १४ ॥

एतेन ब्रह्मचर्य्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मचर्येण चाभवन् ॥१५॥
एतेनैव सगन्धर्व्वा रूपमप्सरसोऽजयन् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ॥१६॥

अन्वयः ।

एतेन ब्रह्मचर्य्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् । ऋषयश्च ब्रह्म-चर्य्येण महाभागा अभवन् । अप्सरसः सगन्धर्व्वा एतेनैव रूपम् अजयन् [प्राप्नुवन्) । सूर्य्य एतेन ब्रह्मचर्य्येण अह्लाय जायते [प्रजायते] ।१६ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

ब्रह्मचर्य्यस्तुतिं करोति द्वाभ्याम्—एतेनेति । देवा देवत्वमे-तेन प्राप्नुवन् । ऋषयोऽपीह ऋषित्वमेतेन प्राप्ताः । सगन्धर्व्वाः गन्धर्व्वैः सह वर्त्तमानाः रूपमप्सरसोऽजयन् रूपाणि रमणीयानि एतेन ब्रह्मचर्येण अजयन् । अह्लो दीप्तिसमूहः । अह्लाय जगतां द्योतनाय सूर्यश्च जायते । उक्तं च—अह्ला दीप्तिश्च कथ्यते इति ।१५-१६।

कालिका ।

ब्रह्मचर्य्यमाचरन्तः पुरुषा विचिकित्सानिरासाय 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यतः प्रभृति शब्दादि'त्यन्तया चतुर्लक्षणमीमांसया श्रवणमनननिदिध्यासनानि गुरुप्रसादात् कर्त्तुमारभन्ते । श्रद्धावन्तोऽपि तेषां केचित् प्राक्तनवशेन परमायु-षोऽल्पत्वेन मरणकाले प्राणानां व्याकुलत्वेन साधनानुष्ठा-नानां प्रयत्नशैथिल्येन वाऽपरिनिष्पन्नज्ञानाः श्रवण-मनननिदिध्यासनेषु क्रियमाणेष्वेव मध्ये व्यापाद्यन्ते । ते हि ज्ञानपरिपाकराहित्येन न मुच्यन्ते । न च कर्मफलमनुभवन्ति कर्म्मणां परित्यक्तत्वात् । एतादृशाः ब्रह्मचारिणः स्वधर्मप्रच्युतवत् कष्टां गतिमीयुः, अथवा शास्त्रविगर्हितकर्मशून्यत्वाद्वामदेववन्नेति राज्ञः संशयमाशंक्य तदपनेतुमाह—एतेनेति ।

ब्रह्मचर्य्यप्रवृत्तः पुरुषो वेदान्तविचारणां कुर्व्वन्नन्तराले म्रियमाणः कश्चित् पूर्व्वोपचितसंस्कारमात्रोपयोगाद्विषयेभ्यः स्पृहयति, कश्चित् तु ज्ञानसंस्कारप्राबल्यात् कैवल्यं समधि-गच्छति । तत्र ब्रह्मार्थयोगेन ब्रह्मचर्यं फलतीति सूचीकटाहन्यायेन पूर्वश्लोके शेषमुक्त्वा प्रथमं निरूपयति ये भागवासनावासितान्तः-

करणा ब्रह्मचारिणस्ते पिण्डपातानन्तरं ब्रह्मचर्य्यभूमिकारोहणक्रमेणैव कर्म्मदेवत्वे ब्राह्मणकुले गन्धर्वकुलेऽप्सरःकुलयाजनदेवत्वे वा प्रादुर्भवन्ति, न तु दुर्गति यन्तीति । तथाहि योगवाशिष्ठे रामस्य प्रश्नः—"एकामथद्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत । आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन् गतिः" ॥ इति । पूर्वं हि सप्तभूमयो वर्णिताः । तत्र मुमुक्षाशुभेच्छाख्यानित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा प्रथमा भूमिका साधनचतुष्टयसम्पदिति यावत्, ततः परप्रबोधनदक्षं गुरुमुपश्रित्य वेदस्वरूपग्रहणं द्वितीया भूमिका श्रवणमननसम्पदिति यावत्, ततः श्रवणमननाभ्यां परिनिष्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य निर्व्विचिकित्सारूपा तनुमानसी नाम तृतीया भूमिका निदिध्यासनसम्पदिति यावत्, ततस्तत्वसाक्षात्काररूपा चतुर्थी भूमिका, ततः पञ्चमषष्ठसप्तमभूमयो जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदाः । तत्र चतुर्थीं भूमिं तदुत्तरभूमित्रयं वा प्राप्तस्य मृतस्य ज्ञानसंस्कारप्राबल्येन विदेहादिकैवल्यं प्रति नास्त्येव संशयः । प्रथमद्वितीयतृतीयसाधनभूतभूमिकासु कर्मत्यागात् तत्वज्ञानाभावाच्च भवति शंकेति रामेण प्रश्न उक्तः । प्रतिवचनं च तत्र भगवतो वशिष्ठस्य—"योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः । भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥ ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च । मेरूपवनकुंजेषु रमते रमणीसखः ॥ ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुरा कृते । भोगक्षयात् परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् । जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ अत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः । दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्" ॥ इति ।

अथ प्रकृतमनुसरामः । ब्रह्मणि चर्य्यमाचरणं ब्रह्मचर्य्यं तेन । देवा द्विविधाः कर्मदेवा आजानदेवाश्चेति । उत्कृष्टेन कर्मणा ब्रह्मचर्य्यादिना कल्पमध्ये देवत्वं प्राप्ताः कर्म्मदेवाः । सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः । ते कर्म्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः "ये शतं कर्म्मदेवानामानन्दाः

स एक आजानदेवानामानन्द” इति श्रुतेः। ब्रह्मचर्य्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्नित्यत्र छान्दोग्यं श्रावयति—“द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतु” रिति। भवति च श्रुत्यन्तरं तदनुवादि “एकं शतं वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवासे” ति। यद्वा देवा इन्द्रियाणि। उपलक्षणं चैतत् कर्म्मसंस्काराश्चेति बोद्धव्यम्। ऋषयश्च पुरातनाः सनकादयो ब्रह्मचर्य्येण महाभागा विशिष्ठभागयुक्ता अभवन्। नत्त[illegible]नुत्वात्। एनेनैवाप्सरसः सगन्धर्व्वा रूपं 'जि' प्राप्ताविति धातोरजयन् प्राप्नुवन्। इहैव सू[illegible]। एतेन ब्रह्मचर्य्येण सूर्य्य आदित्यः अह्नाय द्योतनाय जायते प्रजायते। 'यतश्चोदेति सूर्य्यः अस्तं यत्र च गच्छति। तं देवा सर्व्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥' इति श्रुतेः॥ ननु कुत आजानदेवस्य जायमानत्वम्? पूर्व्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्त इति श्रुतिप्रसिद्धत्वात्। ।१५।१६।

मूलानुवाद।

ब्रह्मचर्य्यके कारण देवगण देवत्व पाये। ऋषिगण सौभाग्यशाली हुए, और अप्सरागण तथा गन्धर्वगण रूप पाये। इस ब्रह्मचर्य हीके कारण सूर्य्यने द्योतनार्थ सत्ता पायी है॥ १५॥

कालिकाभास।

ब्रह्मचार्यमें निरत व्यक्ति श्रवण मनन तथा निदिध्यासको आरम्भ कर प्राक्तन कर्मवश उनमें उपरत होनेसे धर्मच्युत होनेके कारण विदेहलय होता है अथवा प्रकृति लय होता है, अथवा संसारभोगी होता, या शास्त्र निन्दित कर्मत्यागके कारण वामदेवऋषिकी अवस्था पाता है। इसी आशंकासे उक्त श्लोक लिखा गया है।

ब्रह्मचर्य प्रवृत्त पुरुषोंमें कोई २ पूर्व्वसंस्कारवश रूपरसादि विषयोंकी कामना करने लगते है, और कुछ 'ज्ञानसंस्कारके प्रावल्यवश कैवल्यकी इच्छा करते है। उसमें ब्रह्मार्थ योगमें ब्रह्मचर्यका कैवल्य रूप जो फल

मिलता है, वह पूर्वश्लोकमे कहा जा चुका है। जो ब्रह्मचारी आत्मज्ञान लाभ करनेके पहले उपासनाके क्रमानुसार अहङ्कारमहत्त्व आदिकी उपासना करते २ देह त्याग करते हैं, उनकी क्या अवस्था होती है यहां उसीका उदाहरण दिखलानेके लिये आचार्य प्रवृत्त होते हैं। यह सब बात योग वाशिष्ठ मे विशेषरूप से आलोचित हुआ है। और वायुपुराण मे भी कहा गया है कि:——

"दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशमन्वन्तराणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णशतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

अर्थात् इन्द्रियोपासकों का मुक्तिकाल दश मन्वन्तर, सूक्ष्मभूतोपासकों का सौ मन्वन्तर, अहङ्कारोपासकों का हजार-मन्वन्तर, महत्तत्वोपासकों का दश हजार मन्वन्तर तथा प्रधानोपासकों का लाख मन्वन्तर है, किन्तु निर्गुणपुरुष को पा लेने पर अर्थात् ब्रह्मज्ञान लाभ कर लेने पर कोई काल परिणाम नहीं रह जाता, और उनका प्रत्यावर्त्तन भी नहीं होता।

ब्रह्मचार्य शब्द कभी तो प्रसिद्ध अर्थ मे और कभी व्युत्पत्तिगत अर्थ मे प्रयुक्त होने से समझने मे सहल होता है। ब्रह्मचार्यके कारण देवगण देवत्व पाये—यह बात श्रुति प्रसिद्ध है। देवगण दो प्रकार के हैं यथा—कर्मदेव तथा आजानदेव। सृष्टिके बीचमे ब्रह्मचर्यादि कर्मों के द्वारा जो देवत्व मिलता है वह कर्म देवत्व है। और पहले शरीरसे या पूर्व्वकल्प ब्रह्मचर्यादि कर्मोंके द्वारा सृष्टिके प्रारम्भकालमे जो देवत्व मिलता है वह आजानदेवत्व है। कर्मदेवसे आजानदेव श्रेष्ठ होते हैं। क्योंकि बृहदारण्यकमें

कहा गया है कि—"सौ कर्मदेवोंका आनन्द एक आजान देवके आनन्दके समान होता है।"—देव शब्द इन्द्रियार्थक भी हो सकता है। उस समय ऐसा अर्थ केवल उपलक्षणके लिये ही होगा—क्योंकि इसके द्वारा जीवोंका कर्म तथा संस्कार समझा जाता है। मूलमे सूर्यशब्द भी आजानदेवत्वका उपलक्षक है। यदि कोई कहे कि आजानदेव को सूर्यका जन्म किस प्रकार सम्भव हो सकता है, तो कहना होगा कि पूर्व्वकालमें पुरुष-मेध-याजी आदित्य रूप पाये थे। इस श्रुतिप्रसिद्ध बातको प्रायः सब लोग जानते ही होंगे ॥ १५-१६ ॥

आकांक्ष्यार्थस्य संयोगात्
रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येतत् समाज्ञाय
प्रादुर्भावं गता इमे ॥ १७ ॥

अन्वयः ।

रसभेदार्थिनां (ये चिन्तामणिं प्रार्थयन्ते तेषाम्) आकांक्ष्यार्थस्य (लिप्सितस्य) संयोगात् (प्राप्तेः) इव (यादृग्भावो भवति) एवम् [एव] हि समाज्ञाय (ब्रह्मचर्य्यमुपेत्य) इमे (देवाः) तादृग्भावम् (स्वाभीष्टवस्तुप्रदत्वम्) गताः ।१७।

शांकरभाष्यम् ।

कथमेकस्य ब्रह्मचर्य्यस्यानेकफलसाधनत्वमित्याह—आकांक्ष्येति । यथा चिन्तामण्यादयो रसभेदार्थिनाम् आकांक्ष्यार्थस्य संयोगात् तदाकांक्षितमर्थं प्रयच्छन्ति एवमेवैतत् ब्रह्मचर्यमाकांक्ष्यार्थस्य संयोगात् तत्तदाकांक्षितमर्थं प्रयच्छतीति ज्ञात्वा तत्फलार्थं ब्रह्मचर्य्यं चरित्वा तादृग्भावं तादृशं भावं गता इमे देवादयः। यस्मादाचार्य्यसन्निध्यनुष्ठिताद् ब्रह्मचर्य्यात् परमपुरुषार्थप्राप्ति स्तस्मादाचार्य्ययोनिं प्रविश्य गर्भे भूत्वा ब्रह्मचर्यं चरेदित्यर्थः । १७ ।

कालिका

अशेषविशेषफलसाधनत्वं ब्रह्मचर्यस्याह— आकांक्ष्यार्थस्येति । रसभेदः पारदगुटिकाविशेषश्चिन्तामणिसंज्ञस्तं चिन्तितवस्तुप्रदमर्थयन्ते ये तेषां रसभेदार्थिनामाकांक्ष्यस्य लिप्सितस्यार्थस्य संयोगः प्राप्ति स्तन इव, यथा चिन्तामण्यादयः प्रार्थिनं स्वाभीष्टं प्रापयन्तीति भावः; एवं तद्वदेतद् ब्रह्मचर्यमाकांक्ष्यार्थस्य संयोगात् तत्तदाकांक्षितं वस्तु प्रयच्छतीति समाज्ञाय ज्ञात्वा तादृग्भावं स्वस्वदेवादिभावं गता इमे देवा इति वाक्यशेषः । यतो ब्रह्मचर्य्यात् सकलाभीष्टसिद्धिस्तस्माद् ब्रह्मचर्य्यमाचरेदित्याशयः । १७ ।

मूलानुवाद ।

चिन्तामणि प्रभृति रत्नविशेषोंके निकट अपने अभीष्ट की याचना करते ही जैसे इच्छा पूर्ण कर दी जाती है । देवगण ब्रह्मचर्यको भी उसी तरह (चिन्तामणिकी तरह) समझकर अपने २ अधिकार पाये ॥ १७ ॥

कालिकाभासः

इस श्लोकमे कल्पवृक्ष अथवा चिन्तामणिके समान ब्रह्मचर्यका नाना प्रकारके फल देनेका सामर्थ्य वर्णित है । चिन्तित वस्तुको देता है इसलिये उसको चिन्तामणि कहते हैं । मूलमे रसभेद शब्द लिखा गया है । पन्द्रहवें से लेकर सतरहवें श्लोक तक ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा है । १७ ।

अन्तवन्तः क्षत्रिय ! ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन ।
ज्ञानेन विद्वांस्तेन चाप्नोति सर्वं
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥१८॥

अन्वयः ।

क्षत्रिय! ते जनाः (अविद्वांसः) निर्मलेन । (शास्त्रानुमोदितेन) अन्तवन्त. (अन्तवत इत्यार्थेऽनित्यान्) लोकान् पितृलोकदेवलोकादीन्) जयन्ति । विद्वान (ब्रह्मविद्) तेन (औपनिषदेन) ज्ञानेन (प्रज्ञानेन) च (एव) सर्व्वम् अत्येति (प्रपञ्चोपशमं कृत्वा चरमतत्त्वं पश्यति) । अयनाय (मोक्षाय) अन्यः पन्थाः (मार्गः) न विद्यते । १८।

शांकरभाष्यम् ।

नन्वेवं ज्ञाननिष्ठता यदि ज्ञानस्यैव पुरुषार्थत्वं भवेत्; अपि तु कर्मण एवेत्याशंक्याह— अन्तवन्त इति । हे क्षत्रिय! ते अन्तवन्तः अन्तवतो लोकान् पितृलोक देवलोकादीन् जयन्ति प्राप्नुवन्ति, नानन्तं स्वात्मभूतं परमात्मानं लोकं जयन्ति । केन तर्ह्यनन्तलोकप्राप्तिरित्याशंक्याह— ज्ञानेन विद्वान् तेजः अभ्येति नित्यमिति । नित्यमविनाश्यानन्तम् मैत्यभ्येति तेजो ज्योतिः, न कर्मणा । कस्मात् पुनर्ज्ञानेनैवाभ्येति ? तत्राह— न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था इति । तस्य पूर्णानन्दज्योतिषो ज्ञानमेकं मुक्त्वा अन्यः पन्थाः मार्गो नास्त्येव । श्रूयते च—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ।" इति । १८।

कालिका

ते जनाः अविद्वांसो निर्मलेन शास्त्रविहितेन कर्मणा यागादिना अन्तवन्तः अन्तवतो लोकान् भूरादीन् प्राग्व्याख्यातान् जयन्ति अभियन्ति, न तु तानत्येतीति भावः । अन्तवन्त इत्यत्र "नुम्" छान्दसः । कः पुनस्तानत्येति तदाह — ज्ञानेनेति । विद्वान् ब्रह्मविद् । तेन प्रसिद्धेन औपनिषदेन ज्ञानेन प्रज्ञानेन, यत्रोक्तं व्यतिरेकमुखेन — "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" ॥ इति । चकार एवार्थः ।

सर्व्वमत्येति जगत्प्रपञ्चं विहाय ब्रह्मणि सुसम्पन्नो भवति । अनेन ह्येकब्रह्मवादपक्ष उपन्यस्तः । तस्य मतं यथा । ब्रह्मैव सत्यं प्रत्यक्षादिसिद्धं विश्वं ब्रह्मणि चारोपितम् । अतएव यथा रज्जुः रज्जुस्वरूपाज्ञानात् सर्पवत् प्रतिभाति, तथा ब्रह्मस्वरूपाज्ञानाद् विश्वं वस्तुवत् प्रतिभाति । प्रकृतिर्जीवश्चापि पर्य्यवसाने ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मान्यत्सद्वस्त्वभावादिति । प्रमाणं च तत्र ब्रह्मसूत्रस्य शांकरभाष्यतट्टीकाभामतीकल्पतरुपरिमलादि । श्रूयते च मुण्डके—'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्व्वे ॥' इति । ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्व्वमिति पाठे तु ब्रह्म विजानन् तज्ज्ञानेन सर्व्वं प्रविशतीत्यर्थः । "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्व्वं भवती" ति श्रुतेः । अतो ज्ञानादन्यः पन्था मार्गः कश्चिदयनाय मोक्षाय न विद्यते । ज्ञानादेव कैवल्यमित्यवधारणात् । तथा हि पुरुषसूक्तं "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"ति । कौर्मेऽपि च तत्र देवीवचनम्—

यत्तु मे निष्कलं रूपं चिन्मयं केवलं परम् ।
सर्व्वोपाधि-विनिर्मुक्तमनन्तममृतं पदम् ॥
ज्ञानेनैकेन तल्लभ्यमक्लेशेन परं पदम् ।
ज्ञानमेव प्रपश्यन्तो मामेव प्रविशन्ति ते ॥इति । १८ ।

मूलानुवाद ।

हे क्षत्रिय ! अविद्वान् कर्मी निर्मल कर्मके द्वारा क्षरणशील पितृ-देव लोक पाता है । किन्तु विद्वान् ब्रह्मज्ञानके द्वारा सब तरहके प्रपञ्चको पार कर जाते हैं, क्योंकि ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती ॥ १८ ॥

कालिकाभासः ।

निर्मल कर्मः अर्थात् शास्त्र विहित कर्म अविद्वान् कर्मीगण अपने २ कर्मफलसे पितृलोक अथवा देवलोक पा सकते हैं, किन्तु जगत् प्रपञ्चको पारकर मुक्त नहीं हो सकते। विद्वान् ब्रह्मज्ञानके द्वारा अर्थात् उपनिषद् ज्ञानके द्वारा जगत् प्रपञ्चको पार कर ब्रह्मको पाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं । ब्रह्म प्राप्तिके विषयमें शास्त्र व्यतिरेक मुखसे कहते हैं कि— दुश्चरित्रतासे अलग हुये विना, तथा शान्त वा शमदमादि युक्त हुये विना चित्तको निस्तरङ्ग किये विना, और समाधि युक्त हुये विना अज्ञानके द्वारा ब्रह्मको नहीं पा सकते । चाहे ज्ञानमार्गसे हो अथवा योगमार्गसे हो विना समाहित चित्तके किसी मतसे आत्मदर्शन नही हो सकता । इसीसे स्मृतिकार दक्ष ऋषि कहते हैं:—"स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म जात्यन्धो हि यथा घटम् । अयोगी नैव जानाति कुमारीस्त्रीसुखं यथा ॥ विद्वान् ब्रह्मज्ञानसे सब प्रकारके प्रपञ्चको पार कर जाते हैं । इससे एक ब्रह्मवाद पक्ष दिखाया गया है । उसमे भी व्युत्थानावस्थामे जगत्प्रपञ्च ब्रह्ममे आरोपित होता है, किन्तु ब्रह्मका स्वरूप ज्ञान होने पर उसका अपवाद हो जाता है । इसी लिये कहा गया है:—

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ॥"

रस्सीका स्वरूप ज्ञान रहे विना रस्सी जैसे सर्पके समान मालूम होती है, उसी तरह ब्रह्मका स्वरूप नहीं रहनेसे ब्रह्मात्मक विश्व वस्तुके समान् मालूम होता है । चाहे उपाधि विशिष्ट जीव हो या विश्व ही हो, इनके पर्यावसान होने पर एकमात्र ब्रह्म ही शेष रहता है । क्योंकि ब्रह्मके अतिरिक्त और किसी वस्तुका सद्भाव

नहीं होना। इस विषयमें ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्य, भामती, कल्पतरु तथा परिमलादि टीका देखने योग्य है। ज्ञानसे मुक्ति होती है इस विषयमें मुण्डकोपनिषद् भी कहते हैं —"जो वेदान्त विज्ञानमें कृतार्थ हो चुके हैं, और भगवानमें सब कर्मोंको सन्यास करते हुये सत्वशुद्धि लाभ कर चुके हैं, वे ही देहपात होने पर ब्रह्मलोकमें जा कर मुक्त होते हैं॥"—ज्ञानके अलावा मुक्तिके लिये और कोई राह नहीं है, इस विषयमें यजुर्वेदके पुरुषसूक्त दूसरे प्रमाणोंकी चाह वा अपेक्षा नहीं करते। कूर्मपुराणमें देवी के मुखसे भी ऐसा कहा गया है—"मेरा उपाधि निर्मुक्त, अनन्त, निष्फल, चिन्मय रूप ही अमृतमय परमपद है। वह ज्ञानके द्वारा अनायासही पाया जा सकता है। विद्वान् ज्ञान ही के द्वारा उसको पाकर मुक्तमें सुसम्पन्न हो जाते हैं। १८।

धृतराष्ट्र उवाच।

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
तद्ब्रह्मणः पश्यति यत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम्॥ १९॥

अन्वयः।

ब्रह्मणस्तद्रूपं शुक्लमिव, अथो लोहितमिव, अथ कृष्णम् (इव) अथ वा काद्रवमञ्जनमिव (संकीर्णवर्णमिव) आभाति? यत्र विद्वान् तदक्षरम् अमृतं पदं पश्यति तत्कथं रूपम्। १९।

शाङ्करभाष्यम्।

ज्ञानेन विद्वान् यत् पश्यति ब्रह्म तत् किमिवाभातीति पृच्छति धृतराष्ट्रः—आभातीति। ब्राह्मणः अक्षरं परं ब्रह्म

पश्यति तत्कथं रूपं कीदृग् रूपमिति रूपप्रश्नः, यत्र पश्यति तदिति अधिकरणप्रश्नश्च । १६ ।

कालिका ।

'तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसा अपी' ति प्रागुक्तप्रकारेण भाव्यमाने परमात्मनि यदेव दृश्यते तत् किम् शुक्लादिरूपमिति पृच्छति धृतराष्ट्रः—आभातीति ।

विद्वान् ब्रह्मविद् यत्र हृदये ब्रह्मणः पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदं स्वरूपम् । "सर्व्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्व्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि"त्यादिश्रुतिनिर्देशात् पदशब्देन स्वरूपमुच्यते । अमृतमित्यनेन विनाशादिभावप्रतिषेधः । सर्व्वं विनश्यद् वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यतीत्यवधारणात् । अक्षरमक्षराख्यं निर्व्विशेषं ब्रह्म यदेव वाचक्नवीब्राह्मणे प्रसिद्धम् । अनेन क्षरणलक्षणाविक्रिया ब्रह्मणः प्रतिषिध्यते । पश्यति ध्यायति, धातुनामनेकार्थत्वात् । तद्रूपं ब्रह्ममार्गे यदनुभूतं । "तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितञ्चे"ति श्रुतेः । तत्र लोहितं शुक्लं कृष्णं तेजोऽबन्नलक्षणमिति शङ्करपादाः । रजःसत्त्वतमोलक्षणमिति कापिलाः । स्वातन्त्र्येन स्वरूपाणां वह्वीनां प्रजानां सृष्टत्वश्रवणात् । अञ्जनं काद्रवं कद्रु पिङ्गलं तद्वर्णम् । यद्वा कुत्सितो द्रवो गतिर्यस्य स काद्रवो धूमस्तद्वर्णं संकीर्णवर्णमितिभावः । अथवा कथमिव आभातीति प्रश्ने । १६ ।

मूलानुवाद ।

ब्रह्मका रूप कैसा है—सफेद है, अथवा काला है, मिश्रितवर्णका है? विद्वान् जिस अमृतात्मक अक्षर ब्रह्मपदका अनुभव करते हैं वह कैसा है?

कालिकाभास ।

"एकान्त स्थानमें निश्चेष्ट होकर उपासना करना"—इस वचनमे जो कहा गया; तदनुसार परमात्माको चित्त

रूप अकाशमें भावना करनेसे जो अनुभव होता है वह कैसा है—यही धृतराष्ट्रके प्रश्नका अभिप्राय है। "ब्रह्मपद"—शब्द के द्वारा ब्रह्मस्वरूप ही लक्ष्य किया गया है। "अमृत" शब्दसे ब्रह्मका अविनाश आदि मात्र प्रदर्शित होता है। —शुक्ल लोहि-तादि" शब्दोंको देख कर "अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णाम्"—इत्यादि श्रुतिवाक्य स्मरण होता है। किन्तु प्रकृत पक्षमें वह परमात्माका रूप नहीं है। क्योंकि वह गुणमयी प्रकृतिका रूप है। अथवा मनसे भी परे जो 'नीहारधूमार्कानिलाऽनलानां खद्योत विद्युत्स्फ-टिकशशीनाम्" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार धृतराष्ट्र शुक्लादिशब्दों का प्रयोग किये होंगे। ऐसा सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह सब व्यापार ब्रह्मप्राप्तिका पूर्व्व चिन्ह मात्र हैं॥ १९॥

सनत्सुजात उवाच।

नाभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति॥ २०॥

अन्वय।

(ब्रह्म) शुक्लमिव, अथो लोहितमिव, अथ कृष्णम् (इव) वा अञ्जनं काद्रवम् (इव) न आभाति। एतत् (ब्रह्मणः रूपम्) न पृथिव्यां न (च) अन्तरिक्षे तिष्ठति। समुद्रे सलिलम् (अपि) एतत् न बिभर्ति (धत्ते)। २०।

शाङ्करभाष्यम्।

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—नेति। नैतद् ब्रह्म शुक्लादिरूपत्वे-नावभासते, अरूपत्वाद् ब्रह्मणः। श्रूयते च— "ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" इति "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इति च; तथा न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे। तथाच श्रुतिः अन्यत्रानवस्थानं दर्शयति—"स भगवः

कस्मिन् प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्नी" ति। कस्मात् पुनः कारणात् पृथिव्यादिषु न तिष्ठति ? तत्राह नैतत् समुद्रे सलिलं पञ्चभूतात्मकं देहं बिभर्ति। सलिलशब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। यथा "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" इत्यत्रापि अप्-शब्दो भूत-पञ्चकोपलक्षणार्थः। श्रूयते च पञ्चाग्नि विद्यायां "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति अपामेव पुरुषपदवाच्यत्वम्। एतदुक्तं भवति—यदि ब्रह्मणः संसारान्तर्वर्त्तित्वं भवेत् तदा संसारानुप्रविष्टत्वाद् घटादिवदीदृग् रूपादिमत्त्वमन्यस्मिंश्चावस्थानं भवेत्। इदं तु पुनरपूर्व्वादि-लक्षणत्वात् संसारानुप्रविष्टमेव ब्रह्म, तस्माद्रूपादिरहितमिति। २०।

कालिका।

न तस्य रूपं किञ्चिदस्ति किन्तु यथा यथा भाव्यते तथा तथा प्रकाशते तद्भावनापरिपाकादित्याशयेन भगवान् सनत्सुजात उत्तरमाह—नाभातीति। नैतद् ब्रह्म शुक्लादिरूपत्वेनावभासते। अप्राकृतत्वात्। "अशब्दमस्पर्शमरूप-मव्ययमि" तिश्रुतेश्च। तथा न पृथिव्यां तिष्ठति किन्तु जलतर-ङ्गाणामन्तर्व्वहिर्जलमिव तदेव कारणं पृथिव्या इत्याशयः। न चान्तरीक्षे तिष्ठति किन्तु अन्तरीक्षं तदनुस्यूतमित्याशयः। एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति श्रुतेः।

न च समुद्रे सलिल"मप्सु सर्व्वं चराचरमि" त्युक्ते-रैतत् प्रत्यगात्मना रूपं बिभर्त्ति धत्ते। "यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यती" त्यादि श्रुतेः। यद्वा समुद्रस-लिलग्रहणमुपलक्षणार्थत्वात्। समुद्रे संसारे सलिलं पञ्चभूतोपलक्षितः प्रपञ्च एतद् ब्रह्मणो रूपं बिभर्ति। स्वमात्र-वेद्यं तत्स्वरूपं क्षीरगुड़माधुर्य्यभेदवत् केनापि शब्दादिना प्रतिपादयितुं न शक्यमिति निष्कर्षः। २०।

मूलानुवाद।

सनत्सुजात बोलेः—ब्रह्म शुक्ललोहितादि वर्ण विशिष्ट नहीं

हैं। पृथ्वी अथवा अन्तरिक्ष उनका स्वरूप नहीं हो सकता। समुद्रका जल भी उनका स्वरूप धारण नहीं कर सकता है ।२०।

कालिकाभास ।

उनका कोई विशेष रूप नहीं है। परन्तु वे जिन २ भावोंसे भावित होते हैं उन्हीं २ भावनाओंके परिपाक होनेसे उन सब आकारोंमें उनका स्वरूप पाया जाता है—इत्यादि ऐसी २ बातोंको सोच कर आचार्य सनत्सुजात उत्तर देना आरम्भ करते हैं। ब्रह्मका शुक्लादि वर्ण नहीं है क्योंकि यह सब वर्ण प्राकृतिक हैं। श्रुति भी उनको अरूप ही कहती है। वे पृथ्वीमें नहीं रहते, क्योंकि जल जैसे तरंगके अन्दर तथा बाहर कारण रूपसे परिव्याप्त रहता है, वैसे ही वे भी पृथ्वीमे सर्वत्र व्याप्त है। वे अन्तरिक्ष (आकाश) में भी नहीं रहते, क्योंकि अन्तरिक्ष उनसे ही बना है। श्रुति भी कहती हैः—हे गार्गि! आकाश ब्रह्ममे ओतप्रोत भावसे विराजता है ।

समुद्रका जल भी उनका रूप नहीं धर सकता— क्योंकि श्रुतियोंने कहा हैः—"यद्यपि उन्हींसे चक्षु दृष्टिशक्ति पायी हैं, तथापि उनको चक्षु देख नहीं सकती। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस तरह दूध गुड़ आदि का मीठापनका भेद शब्दोंमें नहीं प्रकाशित हो सकता उसी तरह स्वमात्रवेद्य ब्रह्म स्वरूप प्राकृतिक वस्तुके द्वारा धारण नहीं किया जा सकता। २०।

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्य्ये॥ २१॥

अन्वय ।

तस्य रूपं न तारकासु (आश्रितम्,) न विद्युदाश्रितम्, न चापि वायौ, न च देवातासु दृश्यते नैतत् चन्द्रे नोत सूर्य्ये दृश्यते ।२१।

शांकरभाष्यम् ।

पूर्व्वश्लोके द्रष्टव्यम् ।२१।

कालिका ।

तदेव ब्रह्मणो रूपं पुनर्विशिनष्टि—नेति । अनेन तारकादीनां प्रकाशाविषयत्वेन ब्रह्मणो जड़त्वशीतोष्णादिदोषप्रसङ्गो निरस्तः । अपि च ब्रह्मणः सर्व्वावभासनशक्तिमत्वेऽपि तारकादिप्रपंचेषु तस्य रूपं यन्नोपलभ्यते, तदेव स्वप्नमरीच्युदकालातचक्रद्विचन्द्रदिङ्मोहमायागन्धर्वनगरवंशोरगादिवद् मृषात्वेन तारकादिप्रपञ्चाना दृष्टनष्टस्वरूपत्वं सूचयति । सर्व्वावभासनशक्तिमत्ताऽपि तस्य श्रूयते—"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति" ॥ इति । "येन सूर्य्य स्तपति तेजसेद्ध" इति च ।२१।

मूलानुवाद ।

सूर्य्य, चन्द्रमा, तारा, विजली, मेघ, वायु अथवा देवता आदिके रूपसे ब्रह्मका स्वरूप नहीं मिलता ।२१।

कालिकाभास ।

तारोसे उनका स्वरूप नहीं मिलता । इस कथनसे ब्रह्मका जड़त्व दोष मिट जाता है। तारकादिमे उनका स्वरूप नही मिलता, क्योकि शास्त्रोमे यह सब प्रपञ्च माया के कारण दृष्ट नष्ट स्वरूप वताये गये है। इसीसे वेद "नेति नेति" कहकर प्रतीकमे इष्टोपासना करनेसे निषेध करते हैं। योगवाशिष्टमें भी कहा गया है—

"मनो दृश्यमिदं सर्व्वं यत् किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥"—

मायावश वे जिन वस्तुओं का अवभासन करते हैं उसके लिये श्रुति भी कहती हैः—सूर्य, चन्द्रमा, तारा, विद्युत तथा अग्नि उनके निकट दीप्तिमान नहीं हो सकते क्योंकि उन्हीं की दीप्ति से वे सब भी दीप्तिमान होते है। २१।

नैवर्क्षु नैव यजुःषु नाप्यथर्व्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बृहद्रथे वापि राजन्
महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तत्॥ २२॥

अन्वयः।

नैव ऋक्षु (ऋक्प्रभृतिषु) न यजुःषु नापि अथर्व्वसु न वै विमलेषु सामसु एतद् दृश्यते। अपि रथन्तरे बृहद्रथे वा [एतद् न दृश्यते] राजन्! महाव्रतस्य आत्मनि तद् दृश्यते। २२।

शाङ्करभाष्यम्।

तर्हि न कस्य कुत्राप्युपलभ्यते इत्याह—नेति। "ज्ञानं च सत्यं च" इत्युपक्रम्य "महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य" इति ये गुणाः उक्तास्तद्युक्तस्यात्मनि दृश्यते तत्परं ब्रह्म। न घटादिवद्विषयतया सिध्यति, अपि त्वात्मन्येवात्मतया सिध्यतीत्यर्थः। २२।

कालिका।

तदेव रूपं ज्ञानसाधनशास्त्राणां शाब्दबोधात् पुनर्विशिष्यते—नेति। ऋक्षु पादबन्धेनार्थेन चोपेता वृत्तानबद्धा मन्त्रा ऋचस्तत्र नैतत् पदं दृश्यते। यजुःषु वृत्तिगीतिवर्ज्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि न तत्र। अथ-

र्व्वसु तन्नामकवेदे नर्क्- सामयजुषाम् लक्षणसाङ्कर्य्येण ये मन्त्रा अभिहिता न तत्र । अथर्व्वाख्येन ब्रह्मणा दृष्टत्वात् तन्नाम्ना अयं वेदो व्यपदिश्यते । अत्रेदमाख्यानमस्ति गोपथब्राह्मणे—सृष्ट्यर्थं यदा हिरण्यगर्भ स्तप स्तेपे, तदा तस्य रोमकूपेभ्यः स्वेदधाराः अजायन्त, तासु स्वेदजातास्वप्सु स्वां च्छायां पश्यतस्तस्य रेतश्चस्कन्द । तद् रेतःसहिता आपो द्विरूपा अभवन् । तत्रैकतः स्थितं रेतो भृगु र्नाम महर्षिरभवत् । स हि भृगुः स्वोत्पादकस्य तिरोहितस्य ब्रह्मणो दर्शनाय "अथार्व्वागेनमेनास्वेवाप्स्वन्विच्छ" इत्याकाशवाचा प्रोक्तत्वाद् अथर्व्वाख्योऽभवत् । अवशिष्टरेतोयुक्ताभिरद्भिरङ्गिरा नाम महर्षिरभवत् । इति । विमलेषु गानमाधुर्य्योपाधिरमणीयेषु गीतिरूपा ये मन्त्राः सामानि वै, न तत्र ।

रथन्तर इति । ऋगादिकान्नाम्नामव्यतिरिक्तं यद् गानं स एव रथन्तरशब्दार्थः । तथाहि श्रूयते—"यावतीषु कवतीषु रथन्तरं गायतो" ति । तत्र "कयानश्चित्र आभुवदि" त्याद्यास्तिस्र ऋचः कवत्यस्तासु रथन्तरमतिदिश्यते । अतिदेशस्य च स्वरूपं निरूपयितुं मीमांसाह--"अतिदेश्यं निर्देश्चेतुं कवतीषु रथन्तरमि"ति । अतो गाननिरोग्युक्ता "अभित्वा शूर नो नुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्यजगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः" । इतीयमृग् रथन्तरमित्युच्यते । तत्रापि न दृश्यते । बृहद्रथ इति । बृहद्रथो गानमात्रे वर्त्तते न तु गानविशिष्टायामृचीति विशेषः । एतदेव सर्व्वं पूर्व्वमीमांसायामनुसन्धेयम् । तत्र तत्र यद्यपि न दृश्यते, कुत्र तर्हि तत्पदमन्वेष्टव्यमित्याह—महाव्रतस्येति । ये ज्ञानादयो महाव्रताः पुमर्थहेतव उक्ता स्तत्र दृश्यते । एतदुक्तं भवति— तद् विष्णोः परमं पदं सदात्मनि पश्यन्ति सूरयो ये ज्ञानादिमहाव्रतयुक्ता भवन्ती ति । प्रसङ्गादुक्तमेतत् । २२ ।

मूलानुवाद ।

ऋक्, यजु, साम, अथवा अथर्व वेदोमें भी उनका स्वरूप नहीं मिलता। किन्तु हे राजन्! महात्मनीके हृदयमें उनका स्वरूप पाया जाता है।२२।

भाष्यिकाभास ।

ज्ञानके साधन स्वरूप शास्त्रोके शाब्दबोधके द्वारा भी ब्रह्मपद नहीं मिलता इसलिये फिर भी आचार्यने ऋगादि शब्दों का ग्रहण किया है। पदार्थ युक्त वृत्त अथवा छन्दो वद्ध मन्त्र को ही ऋक् कहते हैं। ऋक् उपलक्षण मात्र है—इसके द्वारा ऋग्वेद कहा गया है। जिन मन्त्रो मे वृत्त—छन्द अथवा गीति नहीं है, अस्तु जो प्रश्लिष्टभाव से पढा जाता है, अर्थात् जो मन्त्र गद्या-त्मक है, उनको यजुः कहते हैं। ऐसे मन्त्र प्रधान रूपसे जिस वेद में देखे जाते है, उसको यजुर्वेद कहा है। और जो मन्त्र गानमाधुरी के साथ उच्चारित होते है वे साम अथवा सामवेद मे हैं। अथर्व अर्थात् अथर्व वेद। इसमें ऋक् आदि सब तरह के मन्त्र देखे जाते हैं। यज्ञ आदि शेष होने पर—"कया न श्चित्र"—इत्यादि जो सब शान्तिमय गीत है, उनमें कुछ तो वृहद्रथ और कुछ रथन्तर के नाम से परिचित हैं। इनसे यज्ञो के उद्देश्य सिद्ध होते हैं।

यज्ञ के समय इस ऋग्वेद के द्वारा होतृसम्बन्धी कर्म, यजुर्वेद के द्वारा अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म, सामवेद के द्वारा उद्गातृ सम्बन्धी कर्म तथा अथर्ववेद के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी कर्म किये जाते है। यज्ञ चतुष्पाद होता है इस लिये उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा के लिये ये चार कर्म किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में गोपथ ब्राह्मण, ऐत-

रेय ब्राह्मण तथा आश्वलायन आदि सूत्र देखने योग्य है इस प्रकार से यज्ञ निष्पन्न होने से यजमान में इस फल की योजना करने के लिये बृहद्रथादि शान्ति मन्त्र गाये वा पढ़े जाते हैं, और यजमान भी तदनुसार ही शास्त्रोक्त स्वर्गादि रूप फल का भोग करता है।

आचार्य कहते हैं कि ऋक्, यजु, साम अथर्व, अथवा रथन्तरादि मे भी उनका (ब्रह्मका) स्वरूप दीख नहीं पड़ता अर्थात् उनको ब्रह्मपद नहीं मिलता। इस का अभिप्राय यही है कि यज्ञादि कर्म सकाम है, इसलिये उनमें ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता विशेष रूपसे सम्पादित नहीं होती। उससे अपूर्व आदि उत्पन्न तो होते हैं, किन्तु ज्ञान निष्ठाके मूलस्वरूप मोक्ष साधित नहीं होता। इसलिये आचार्यने कहा है:—'ऋग् आदिमें भी उनका स्वरूप नहीं दीख पड़ता।"—

तो क्या ऐसा समझूं कि इसके द्वारा आचार्य्यने यज्ञादिका अनुष्ठान निषेध किया है? नहीं ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि इसके बाद ही महाव्रत शब्दका प्रयोग किया गया है। महाव्रत अर्थात् जो व्रत महान् अथवा बड़ा हो। दूसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें यज्ञादि भी महाव्रत ही के अन्दर माने गये है। तब आचार्य्यका ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि, सकाम यज्ञमें अङ्गाङ्गबद्ध उपासनाका अभ्यास करके निष्काम यज्ञमें अहंग्रह उपासना करनी चाहिये। इसका कारण यह है कि अहंग्रह उपासनाके परिपाक होने पर यज्ञादि सब कर्म्म परित्यक्त होते हैं, और उपासकका एक तान-प्रत्यय प्रवाहित होने लगता है, इसीसे ब्रह्म साक्षात्कारका लाभ होता है। क्योंकि वेदान्त वाक्यानुसार योग जनित एकतान-प्रत्यय होते ही चैतन्यमात्र

ही रह जाता है; और चनन्यमें कोई क्रिया नहीं, कोई चञ्चलता नहीं, किसी तरहका स्पन्दन नहीं रहता, इस लिये उपास्यके अलावा और कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती। अस्तु शास्त्रविहित सकामयज्ञ आदि कर्म निष्काम कर्मोंके पूर्व्ववृत्त होनेके कारण तथा निष्काम कर्मोंको अहंग्रह उपासनाके पूर्व्व वृत्त होनेसे यज्ञादिका प्रतिषेध करना हमारे आचार्यका अभिप्राय नहीं हो सकता ।२२।

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले ।
अणीयो रूपञ्च तथाप्यणीयसां
महत्स्वरूपं त्वपि पर्व्वतेभ्यः ॥ २३ ॥

अन्वयः ।

[महात्रनस्यात्मनि यदेव दृश्यते] तत् अपारणीयम् विभुत्वादनतिक्रमणीयम्) तमसः (उपाधेः) परस्तात् (पराचीनं)। अन्तकः (क्षयकृत्काल) अपि (समुच्चये) विनाशकाले (प्रलयसमये) तत् (ब्रह्म) एति (गच्छति) । तथापि अणीयसामणीयोरूपम्, अपि तु पर्व्वतेभ्यस्त्र महत्स्वरूपम्। २३ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं तत् स्वरूपं तत् फलं च श्लोकद्वयेन निर्दिशति—अपारणीयमिति । यदिदं महात्रनस्यात्मनि दृश्यते तदपारणीयं ब्रह्म सर्व्वगतत्वात् । तमसोऽज्ञानात् परस्तात् तद् ब्रह्म अन्तकोऽप्येति प्रविशति । विनाश काले प्रलयकाले । जगदिति शेषः। तथा अणीयसामपि अणीयो रूपं पर्व्वतेभ्योऽपि महत्स्वरूपम्। श्रूयते च "अणोरणीयान्" इति । २३ ।

कालिका ।

यदेव महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते, तदात्मस्वरूपं श्लोकद्वयेनाह— अपारणीयमिति । तदपारणीयमनतिक्रमणीयम् सर्व्वव्यवहारास्पदत्वेन स्थितत्वात् । तत्र मन्त्रवर्णः "पादोऽस्य सर्व्वा भूतानी" ति । श्रुतिश्च—स भूमिं सर्व्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमि" ति । स्मृतिरप्याह—सर्व्वतः पाणिपादन्तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति" । इति । तमसोऽविद्यायाः परस्ताद् दूरतरं पराचीनमित्यर्थः । श्रुतिश्च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तादि" ति । आदित्यः परमात्मा, तस्येव वर्णो यस्य तमिति उपमान्तराभावात् स्वोपममित्यर्थः । विनाशकाले प्रलयसमये प्रजापतेः स्वापकाले अन्तकः सर्व्वहरः कालोऽपि तदेति तत्कारणे तिरोभवति । तत आविर्भूतस्य कालस्य सत्यत्वावधारणात् । अभ्येतीति पाठे प्रविशतीत्यर्थः । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मे,ति श्रुतेः । अणोरणामपि च तस्य रूपमणीयः सूक्ष्मादप्याकाशादेः सूक्ष्मतरं तदुपादानत्वात, तथा तु पर्व्वतेभ्योऽपि महत्स्वरूपं महतो महत्तरमित्यभिप्रायः । पर्व्वतेभ्य इति तूपलक्षणं सर्व्वेभ्योऽपि महदित्यर्थः । श्रूयते हि— सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति" ॥ इति । 'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोरि' ति च । स्मर्यते च— कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः । सर्व्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" ॥

॥ इति २३ ॥

मूलानुवाद ।

अप्रमादरूप सत्यध्यानादि जिनका व्रत है, उनके हृदय मे जो रूप वा ब्रह्मपद दीख पड़ता है, वह उपाधिनिर्मुक्त है

तथा अनति क्रमणीय हैं। यहां तक कि साक्षात् यमराज (काल) भी प्रलयके समय उनमें ही प्रवेश करते हैं। परन्तु फिर भी वे अणुमे भी अणु और पर्वतादि बड़ी २ वस्तुओं से भी बड़े हैं। २३।

कालिकाभासः।

महाज्ञानी पुरुषोंके हृदयमें जो दीख पड़ते हैं उनका स्वरूप निर्दिष्ट होता है। —"अनतिक्रमणीय"— क्योंकि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" — इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्म ही सब तरहके व्यवहारोंका प्रायः आस्पद स्वरूप है श्रुत्यन्तरोंमें भी कहा गया है, कि सब स्थानोंमे ब्रह्म व्याप्त होकर रहते हुए भी जीवोंके महदाकाशमें विशेष भावसे वर्तमान रहते हैं। स्मृति भी ऐसा ही मत प्रकाश करती है। वे उपाधि निर्मुक्त हैं, क्योंकि पुरुष सूक्तमें उनको—"तमसः परस्तात्"—कहा है। यमराज (काल) भी प्रलयकालमें उनमें ही प्रवेश करते हैं अर्थात् जो काल सब वस्तुओं के विनाश करते हैं वे भी अन्त में विलीन हो जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद के भृगुवल्ली मे कहा गया है कि प्रलय काल मे ब्रह्म ही मे सारे पदार्थ विलीन हो जाते हैं। इसीसे आचार्य ने इस तरह की उक्ति का प्रयोग किया है। यद्यपि वे भूतादि काल तक की सब वस्तुओं के आधार हैं। तथापि वे क्षुद्र से क्षुद्रतर और महान् से भी महत्तर हैं। इस कथन से आचार्य ने परमेश्वर की सब तरह की विभूतियों का परिचय दिया है ॥ २३ ॥

तदेतदहृना संस्थितं भाति सर्वं
तदात्मवित् पश्यति ज्ञानयोगात्।

तस्मिञ्जगत् सर्व्वमिदं प्रतिष्ठितं
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्याम् उद्योग-पर्व्वणि धृतराष्ट्र-
सनत्कुमार-संवादे श्रीसनत्सुजा-
तीये तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अन्वयः ।

तत् एतत् सर्व्वं (कृत्स्नं जगत्) अह्ना (प्रकाशरूपेण) भाति। इदं सर्व्वं जगत् तस्मिन् प्रतिष्ठितम्। आत्मवित् ज्ञानयोगात् तत् सर्व्वं पश्यति । ये एतद् विदुः ते अमृताः भवन्ति ।२४।

शाङ्करभाष्यम् ।

दृश्यन्ते च ये अणुत्वमहत्वाद्यो लोके तदेतत्सर्वं जगत् अह्नोरूपेण प्रकाशरूपेण ब्रह्मणि संस्थितं तदात्मत्वे नैवावभाति । श्रूयते च—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च। तत् ब्रह्म आत्मवित् पश्यति ज्ञानयोगात् न कर्मयोगेन। तस्मिन्नेव परमात्मनि जगत् सर्वं प्रतिष्ठितम् ये एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।२४।

इति श्रीमत्परमहंस — परिव्राजकाचार्य— श्रीगोविन्दभगवत्-पूज्यपाद - शिष्य - श्रीशङ्कर - भगवतः कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।३।

कालिका ।

ज्ञानप्रधानं योगोपसर्जनं ब्रह्मविद्याविषयमुपसंहरति—तदिति । तत्-ब्रह्मणः परत्वात् कारण मपारणीयं यन्मया

प्रोक्तं तत् । एतत् सर्वं यत् कृत्स्नं जगत् पुरतः संस्थितमह्वा प्रकाशरूपेण भाति, तद् ब्रह्म । अनेन कारणभूताद् ब्रह्मणो जगतोऽभिन्नत्वमभ्युपगम्य तस्य प्रकाशकारणत्वमुपपादितम् । तदात्मविदिति । तत् तस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितमिति यत् तत् । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । आत्मवित स्वसंवेद्यब्रह्मणि प्रत्युदितख्यातिः । पश्यन्ति अनुभवन्ति । ज्ञानयोगात् ज्ञानप्रधानो योगस्ततः । यत्र योगप्रणाल्या युष्मदर्थत्वं विज्ञाय पश्चादेव वेदान्तवाक्येन तस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते स ज्ञानयोगः । तत्र चित्तदोषनिराकरणार्थं प्रागेव शिष्या यमनियमादीन् शरणीकुर्वन्ति, ततस्ते ब्रह्मसंस्पर्शाय गुरुमुपसृत्य मोक्षप्रतिपादकतत्त्वमस्यादि महावाक्यानां विचारे प्रवर्त्तन्ते । तेनैवोपायेन तेषामधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पिताया अविद्याया अदर्शनमुपपद्यते । तदुक्तममलानन्देन यतिवरेण—

वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजापरोक्षधीः ।
मूलप्रमाणदार्ढ्येण न भ्रमत्वं प्रपद्यते ॥

इति । ज्ञानं मोक्षशास्त्रोपलक्षणम् । तदुक्तं भगवता पक्षिलस्वामिना—"ज्ञायते अनेनेति ज्ञानमात्मविद्याशास्त्रम्" इति ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये कालिकाख्यायां टीकायां कालिघट्टस्थ-श्रीकालिकामहादेवी-सेवाभृत्कुलोद्भवश्रीगुरुपदशर्म्मकृतायां तृतीयोऽध्यायः ।

मूलानुवाद ।

जो वस्तु प्रकाश्यरूपसे अवस्थित है वे ब्रह्मके विकार मात्र हैं । क्योंकि उन्हीमे सारा जगत् प्रपञ्च प्रतिष्ठित है ।

आत्मवित् लोग ज्ञानयोगमें यह रहस्य देखते हैं । जो व्यक्ति विश्वका यह रहस्य समझ सकता है वह मरण धर्म से रहित होकर अनन्त काल तक विराजता (स्थित रहता) है ॥ २४ ॥

कालिकाभास ।

ज्ञानप्रधाना योगोपसर्जनो ब्रह्मविद्या का उपसंहार करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है । "सारे पदार्थ प्रकाश्य रूप से अवस्थित हैं"—इस वाक्य के द्वारा समझना होगा विश्व के वस्तु जात व्यवसायात्मक रूपसे अनुभव किये जाने लायक है तथा मैं व्यवसायात्मक रूप से उनका अनुभव करने वाला हूं। इन वस्तु समूहो के साथ मेरा कोई न कोई सम्बन्ध न रहने पर वे मेरे निकट कभी अनुभून नहीं होते, और मैं भी कभी उनका अनुभावक अर्थात् अनुभव कारी नहीं होता । इसका तात्पर्य यह है कि दोनों में कारण रूप से अनुस्यूत ब्रह्म ही इस सम्बन्ध का हेतु है । इस लिये मैं विश्वकी सम्पूर्ण वस्तुओ का अनुमन्ता अथवा द्रष्टा हूं और विश्व की सम्पूर्ण वस्तु भी मेरे अनुमत अथवा दृश्य पदार्थ हैं ।

"उन्हीं में सारा जगत् प्रतिष्ठित है"— ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि दृक् पदार्थ हों अथवा दृश्य पदार्थ हों—दोनो हीं ब्रह्म के अतिरिक्त और दूसरे कुछ नहीं है। जो सम्यक्‌रूप से इस रहस्य को समझ सकते हैं, वे कभी मृत्यु के वशीभून नहीं होते अर्थात् मृत्युरूप मोह उनके निकटसे हट जाता हैं । आत्मवित् (ज्ञानी) ज्ञानयोग में इस रहस्य का दर्शन करते हैं अर्थात् आत्मतत्वज्ञ लोग ज्ञानयोग में ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य अनुभव कर सकते हैं ।

योगशास्त्रोक्त प्रणाली ' से चित्त को रोक कर श्रवण मनन—निदिध्यासन के साथ तत्वावधारण करने को ही

ज्ञानयोग कहते हैं। चित्तकी शुद्धता सम्पादन करने के लिये इस प्रक्रिया से योगप्रणालीका ग्रहण करने के बाद तत्वमस्यादि महा वाक्यो का विचार आरम्भ होता है। इसी से कल्पतरुकार पूज्यपाद अमलानन्द कहते हैं:— "वेदान्त वेद्य वस्तु को भावना से जो अपरोक्षज्ञान होता है, उसका मूल निरतिशय दृढ़ होने के कारण वह कभी भ्रमास्पद नहीं होसकता"। मोक्षशास्त्र को ही लक्ष्य कर—"ज्ञान"—शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

न्याय भाष्यकार भगवान पक्षिल स्वामी कहते हैं:— —"आतम विद्या शास्त्रका नाम ज्ञान है"। कोषकार महा कवि अमर सिंह कहते हैं:—"मोक्षे धीर्ज्ञानम्" अर्थात् मोक्ष विषयिणी वुद्धि (धी) को ज्ञान कहते हैं ॥ २४ ॥

॥ शुभम् ॥

हजारीबाग के अन्दर निकट जोरी नगर करमा ।
निवासी "कान्त" हिन्दी 'भास' टीका केशरीशर्मा ॥
सनत सुत शास्त्र में माया पुरुष जी ब्रह्म का मरमा ।
तृतीयाऽध्याय होता शेष सह सत्कर्म सद्धरमा ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्याय. ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

———※———

सनत्सुजात उवाच—

यत्तच्छुक्रं महज्ज्योति
दीप्यमानं महद्यशः ।
तद्वै देवा उपासते
तस्मात् सूर्य्यो विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥१॥

अन्वयः ।

यत् (आत्मवित् पश्यति), तत् शुक्रं (शुद्धं) महत् (प्रत्यगात्मभूतं) ज्योतिः दीप्यमानं महद्यशः । तद्वै देवाः (इन्द्रादयः) उपासते [किन्तु नाद्यापि पश्यन्ति]। तस्मादर्कः (सूर्य्यः) विराजते (शोभते) । [यः एवंभूतः] तं भगवन्तं (भगभाजिनमीश्वरम्) सनातनं (नित्यं) योगिनः पश्यन्ति (अनुभवन्ति) ।१।

शांकरभाष्यम् ।

"अपारणीयं तमसः परस्तात्" इत्यादिना ब्रह्मणो रूपं निर्द्धार्य्य "तदात्मवित् पश्यति ज्ञानयोगाद्" इति ज्ञानयो-

गेनात्मदर्शनमुक्तम् । पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयित्वा योगिनस्तद्रूपं पश्यन्तीत्याह—यत्तदिति । यद् ब्रह्मविन् पश्यति ज्ञानयोगात्, यज्ज्ञात्वा अमृता भवन्ति तच्छुक्रम् शुद्धमविद्यादिदोषरहितं महज्ज्योतिः सर्वावभासकत्वात् । श्रूयते च "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति । दीप्यमानं भ्राजमानं महद्यशः । श्रूयते च "तस्य नाम महद्यशः" । इति । यद्वै ब्रह्म देवा इन्द्रादय उपासते । श्रूयते च "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति । यस्मात् परज्योतिषो ब्रह्मणः अर्कादिर्ज्योतिर्विराजते । "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति श्रुतेः । एवंभूतं परमात्मानं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति, न पुनर्ज्ञानयोगरहिताः ॥ १ ॥

कालिका ।

द्वावुपायौ ब्रह्मविद्याया भवतः । विचारपूर्वक एको योगपूर्वकोऽन्यश्चेति । तत्र प्रथममुपायं [illegible] औपनिषदा उपेयुः साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतं साक्षी तु परमार्थसत्यः केवल इति विचारात्, द्वितीयं प्रपञ्चपरमार्थवादिनो हैरण्यगर्भादयः साक्षिदर्शने तेषां निरोधातिरिक्तोपायासम्भवात् । एवं विरुद्धमनयोः सामञ्जस्यं मन्यमान आचार्य्यशिरोमणिः सनत्सुजातो मन्यते प्रथमोपायस्य विचारपूर्वकस्य पूर्ववृत्तं सत्यादि योगाङ्गविषयविशेषेषु समाधानम्, द्वितीयोपायस्य योगपूर्वकस्य तु पूर्ववृत्तं वेदान्तादिमोक्षशास्त्राणामध्ययनमिति । तत्र क्रमद्वयेऽपि फलैक्यात् साधनजातमेकरूपं किन्तु शेषक्रमे निदिध्यासनेनापरोक्षीक्रियायां शून्यशेषतैव साधिता भवतीत्याशङ्क्य शून्यस्यापि साक्षित्वात् सद्रूपं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नत्वेन ज्ञेयमस्तीति तस्य ब्रह्मणः सत्यत्वं प्रतिपत्तुं स इह योगप्रत्यक्षं प्रमाणत्वेन पुनः पुनरुपन्यस्यति—योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातन मिति ।

उपन्यस्यति खलु योगप्रत्यक्षं 'योगिन स्तं प्रपश्यन्ती'ति, किन्तु

कः पुनर्योगः ? प्रमाणादिचित्तवृत्तयो या अङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपा स्तासां बहिर्मुखतया अन्तर्मुखतया विलोमपरिणामेन स्वकारणे लयस्तेन तत्त्वदर्शनोपायो योगः ।

अभ्याशात् कादिवर्णानि यथा शास्त्राणिबोधयेत् ।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ॥

इत्यागमात् स एव विद्यायाः प्रागभाव इति परस्परविवदमानेष्वपि दर्शनेष्वजातशत्रुरुच्यते । "यदुक्तमेतेन योगः प्रत्युक्त" इति तदपि प्रधानादि तत्त्वांशे ब्रह्मत्वाभावान्न तु योग प्रतिपत्तिविषय-मात्रे तस्य श्रुतिमूलत्वात । श्रुतयश्च—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः", "त्रिरुन्नतंस्थाप्य समं शरीरम्", "तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरा मिन्द्रिय धारणाम्" "विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्न "मित्येवमाद्याः । स्मृतयश्च तत्र बहुश उपलभ्यन्ते— स्वसंवेद्यं हि तद् ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम् ॥ इत्येवमाद्याः । अपि च यमादिबहिरङ्गमपहाय संयमो न भवति, नच संयममन्तरेणौपनिषदात्मतत्त्वसाक्षात्कारो भवितुमर्हतीति ब्रह्म-वादिभिरभ्युपगतो योग "आसीनः सम्भवादि" ति । एवं तत्त्व-ज्ञानेनापेक्षणात् वेदेनसह संवादबाहुल्याच्च योगप्रतिपत्तिमात्रविषय आचार्य्यैः सनत्सुजातपादादिभिरङ्गीक्रियते ।

अथप्रकृतमनुसरामः । यत् तमसः परस्तादपारणीपमात्म विदा ज्ञानेनैवानुभूतं तच्छुक्रं शुद्धं जगत् कारणं ज्योतिष्म च्चैतन्यात्मस्वभावं "तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते" इति श्रुतेः । महत् प्रत्यगात्मभूतम् । ज्योतिर्ज्योतिरूपं ज्योतिषां ज्योतिर"तिश्रुतेः । दीप्यमानं"सर्व्वा दिश ऊर्द्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वानिति" श्रुतेः । महद्यशो महाकीर्ति सम्पन्नं"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः", "तमुपास्य यशस्विनो भवन्ती" त्येवमादिश्रुतेः । तद्वै देवा इन्द्रि-याणि उपासते न कदापि पश्यन्तीति वाक्याशयः । "पराञ्चि खानि

व्यतृणत् स्वयम्भू स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्नि"ति श्रुतेः। तस्माद् कारणम्पादर्कं सूर्यो विराजते शोभते। श्रुतिरपि तत्र—"तमेव भान्त मनुभातिसर्वं तस्य भासा सर्व मिदं विभाति" इति। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध" इति च। योगिनो ध्यानपराः। तदित्युक्ते तमिति लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। यद्वा एवं यः परमात्मा तं प्रपश्यन्ति अनुभवन्ति। धातूनामनेकार्थत्वात्। भगवन्तं भगभाजिनमीश्वरम्। उक्तं च "ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥" इति सनातनं नित्यमखण्डैकरसं। अयं निष्कर्षः— योगिन आत्मयोगेन सम्प्रज्ञाते सगुणं भगवन्तमीश्वरमसम्प्रज्ञाते तु निर्विशेषं निर्गुणं सनातनं परमात्मानं पश्यन्ति।इति। एवं सर्वत्रैव ज्ञेयम्। १।

मूलानुवाद।

सनत्सुजात बोले.—आत्मवित् (ज्ञानी) लोग ज्ञान योगमे जिनका दर्शन करते है, वे महत्, ज्योति, देदीप्यमान तथा महद्‌यश है। देवतागण उनकी उपासना करते है किन्तु कभी उनको पाते नही। उन्हीसे सूर्य विराज मान है। योगी लोग उसी सनातन भगवानका दर्शन करते रहते है। १।

कालिकाभास।

ब्रह्म विद्याको लाभ करनेके दो उपाय हैं। एक विचार द्वारा, दूसरा योग द्वारा साक्षीका बनावटी साक्ष्य मिथ्या होनेके कारण साक्षी-स्वरूप आत्मा ही केवल तथा परमार्थ सत्य है—ऐसे विचार युक्त उपनिषद् ज्ञानका अवलम्बन करके जो जगत् प्रपञ्चकी परमार्थनाको स्वीकार नहीं करते, वे पहले उपायको ग्रहण करते हैं। और जो जगत्प्रपञ्चकी परमार्थता

स्वीकार करके साक्षी-दर्शनके लिये अन्य उपायोंका अभाव मानते है, वे हिरण्यगर्भके मतानुसार द्वितीयका अवलम्बन करते है। अर्थात् अद्वैत उपाय ब्रह्मवादी ऋषिगण तथा उनके बादके, गौडपाद-शंकर प्रभृति आचार्यगण कहते है कि सारे प्रपञ्चकी व्यवहारिक अथवा प्रतिभासिक सत्ता रहने पर भी परमार्थतः वह सब मिथ्या है। इसलिये प्रपञ्चका इस तरह अभाव मान कर केवल सत्यात्मक ब्रह्मको ही पाना जीवका परमलक्ष्य तथा परम पुरुषार्थ है। और प्राचीन शान्त ब्रह्मवादी योगीगण और उनके बाद वाले दक्षादि ऋषिगण, कहते हैं कि जब प्रपञ्च अनुभूत होता है, तो उसकी सत्ताभी अवश्य है, किन्तु इस सत्ताका लोप करना होगा। इसलिये चित्तवृत्तिका निरोध करके उनका लोपकर एक मात्र सत्यात्मक ब्रह्म ही को प्राप्त करना जीवनका परम फल तथा परमपुरुषार्थ है। परतत्वज्ञानके उपायसे दोनो मतोंमें विरोध वा पार्थक्य रहने पर भी फलमे किसी तरहका विरोध वा पृथक्ता नहीं है। इन दो मत वालोको समझानेके लिये एक स्थूल उदाहरण दिया जाता है। जैसे एक कांचका बोतल वायुपूर्ण रहने पर भी वह आकाश पूर्ण है, क्योकि वायुके अन्दर बाहर सब जगह आकाश परिव्याप्त है। इस बोतलसे वायुके निकाल लिये जानेपर भी वह आकाश पूर्ण रहता है। इससे प्रथम पक्षके समान कोई २ कह सकते हैं कि वायु उपाधि मात्र है उसके साथ आकाशका कोई विशेष सम्पर्क नही है। इसलिये आकाश की भावना करनेमे वायुकी सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नही। और द्वीतीय पक्षके अनुसार दूसरे लोग कहेंगे—आकाश की भावना करनेमे इस बोतलसे वायुको निकाल

देना होगा। ज्ञान की अवस्था भी बोतलस्थ आकाशके समान समझनी होगी। इसमे प्रथम पक्ष वाले कहते हैं कि प्रपञ्च विषयके ज्ञान पर आरूढ़ होने पर भी उसको मिथ्या तथा मायामय कह कर स्वीकार करते हुए सत्यात्मक ब्रह्मस्वरूप ज्ञानको पाना चाहिये। द्वितीयपक्षवाले कहते हैं कि ज्ञानसे प्रपञ्च विषयको निकालकर सत्यात्मक ब्रह्मस्वरूप ज्ञानकी उपलब्धि करनी चाहिये।

इन विरुद्ध मतोमे सामञ्जस्य दिखलानेके अभिप्राय से आचार्य पहले पहल ज्ञान प्रधाना योगोपसर्जनीभूता ब्रह्मविद्याकी बात कह कर अब योग प्रधाना ज्ञानोपसर्जनीभूता ब्रह्मविद्याका परिचय देते हैं अस्तु हमने इसके पहले जिन दो विरुद्ध मतो की बातें कही हैं उनके सम्बन्धमे हमारे आचार्य कहते हैं कि पहले वेदान्त पक्षवालोके विचार की शरण लो तो है, किन्तु द्वितीयपक्ष वालोकी समाहितता ही पूर्ववृत्त है। क्योकि चित्तकी समाहितता के बिना विचार कभी सिद्ध नही हो सकता। इस बातका श्रीशाङ्कर मतोपजीवी वेदान्ती लोग कभी प्रतिवाद नहीं कर सकते है। क्योकि—"शान्त, दान्त उपरत तितिक्षुभी समाहित होकर अपने अन्तरस्थ आत्माकी उपलब्धि करते हैं"। —ऐसी श्रुति के आदेशानुसार श्रीशङ्कराचार्यने स्वयं जब शम दमादि सम्पत्तिको ब्रह्मजिज्ञासाका साधनविशेष कहा है तो फिर इसके द्वारा समाहितता ब्रह्मविचारकी पूर्ववृत्त ही कही गयी। द्वितीय पक्ष-वाले योगिगणके सम्बन्धमे भी हमारे आचार्य सनत्सुजात कहेंगे कि योगके द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार होता तो है, किन्तु प्रथम पक्षवाली वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म विचारणा ही योगका पूर्ववृत्त है। योगीगण भी इसका प्रतिवाद नहीं कर सकते क्योंकि वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म विषयमे कई मानसिक संस्कारके विना योगियोके सिद्धभ्यास होने पर भी मोक्षसाधिका सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इस तरह दोनो मतों वा क्रमोका फल एक ही होने पर भी पीछे कोई २ माध्यमिक

पुण्यवादियोंके समान विचार करते हैं कि निदिध्यासनका अपरोक्ष ज्ञानमें शून्यमात्र ही सार रह जाता है। इसीसे हमारे आचार्य्य ब्रह्मके सत्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये पुनः पुनः योग प्रत्यक्षका प्रमाण स्वरूप व्यवहार कर कहते है—"योगिन स्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्"।—अर्थात् उस सनातन भगवानको योगिगण ही देख (पाते है) ते हैं। इसबात से यह मालूम होता हैं कि चित्तकी वृत्तिके अवरोध करने पर शून्यता मात्रके ही सार रह जानेकी सम्भावना नहीं रहती।

प्राचीन कालमे कितने लोग उपनिषद् गीत ब्रह्मकी धारणा न कर सकने पर उनको महाशून्य समझते थे। उनको हो लक्ष्य कर हमने आचार्यकी इस बातका उल्लेख किया। इसी सम्प्रदायसे परवर्तिकालमें माध्यमिक सम्प्रदायको उत्पत्ति हुई है। बौद्धोंके इस सर्वोच्चदर्शन शून्यवादका समर्थन कोई भी हिन्दू दर्शन नही करना। वौद्ध दर्शन तथा हिन्दू दर्शन दोनों ही वेद मूलक हैं; किन्तु एक गण्डयोगमे जन्म लेनेके कारण माताको ग्रास करनेकी चेष्टा करता है और दूसरा अन्त तक वृद्धा माताको उस कुपुत्रके निर्यातनसे रक्षा करता है। इन दो प्रकारके दर्शनोको देखनेसे हम लोगोंको मालूम होता है कि उनमें एक तो क्षुद्र कीड़ा है और दूसरा दाड़िम फल है। क्षुद्र कीड़ा जिस गर्भाशयसे जन्म लेता है उस गर्भकोषको छिन्नभिन्न करके अपनी सुन्दरता दिखलाते २ उड़ जाता है और पीछे जन्म स्थानके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना। वौद्ध दर्शन भी ठीक इसी तरहका है। क्योकि वह भी वेद ही से निकल कर वेद विरुद्ध सिद्धान्तसे संसारको मुग्ध करनेकी चेष्टा करता है। दाडिमफल जिस पुष्पसे उत्पन्न होता है उसके सूखे

जीर्ण शरीरको भी धारण किये रहना है। हिन्दू दर्शन भी ठीक ऐसे ही हैं। क्योंकि यह भी वेदसे निकल कर अन्त तक वेदके तात्पर्य समूहोंका पुष्टि साधन करते हुये बुद्धि गत मोहकी असारता दिखलाते हैं।

नागार्जुनके बाद शून्यवादसे प्रायः प्रतीकोपासनामें परिणत हो गया है।

"अनाकार रूपं शून्यं शून्यं मध्ये निरञ्जनम्।
निराकारमङ्गज्योति संज्योतिर्भगवानयम् ॥ १ ॥
शून्य रूपं निराकारं सहस्र विघ्न नाशनम
सर्वपरः परो देव स्तस्मात् त्वं वरदो भव ॥ २ ॥

इत्यादि शून्यवादका श्लोक ही उसका साक्ष्य देता है। विशेषतः महाशून्यकी धर्मदेवत्व प्राप्ति अथवा रमाई पण्डितकी धर्म्मपूजा पद्धतिकी परीक्षा करने से इस विषयका और भी कोई संदेह नहीं रहता। अस्तु इन सब स्वतः विरुद्ध विषयोंकी समालोचना परित्याग कर जिससे माध्यमिक सम्प्रदाय निकला है। उसी प्राचीन—"त्रैविद्यासूत्रोक्त अनात्मवाद"—को हम लोग अपनी समालोचनाका विषय बनावें। उस विषयमें हमारा वक्तव्य यही है कि जो आत्माकी उपलब्धि नहीं कर सकने के कारण उसको सर्वशून्य मानते थे' उनकी सर्व शून्यताका साक्षी कौन है? उसका अनुभवकर्त्ता भी अवश्य ही होगा। यदि अनुभवकर्त्ता अथवा अनुमन्ता ही उसकी सर्व शून्यता के साक्षी होवे तो फिर उनकी सर्वशून्यता किस प्रकार सिद्ध होती है? और यदि ऐसा कहा जाय कि सर्वशून्यताका कोई साक्षी नहीं रह सकता—तो ऐसा होने पर भी प्रमाणसे अभाव प्रयुक्त शून्यवाद व्याहत होता है। इन सब विरोधोंको देख कर माध्यमिकगणके कोई २ पण्डित ब्रह्मका नाम न रखकर उनके कुछ धर्म्मोंको महाशून्यमें आरोपित करते हैं। ब्रह्मका धर्म ही

जब महाशून्यमें आरोपित कर दिया जाय तब तो विवाद् केवल नाममे ही पर्यवसित होता है।

आचार्यकी बातोमें शून्यवाद्का खण्डन दिखलाया गया--इसलिये महाभारतके इस ग्रन्थांशको कोई माध्यमिक लोगोके परवर्ती नहीं कह सकते। क्योंकि माध्यमिक लोंगोके बहुत पहले भी शून्यवाद्का प्रचलन था।--"असदेव सौम्य इदमग्र—आसीत्"

सर्वशून्यं निरालम्बं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते ।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति" ॥

इत्यादि श्रुति स्मृतियोके तात्पर्यका अनुसरण नहीं कर सकने पर जो ब्रह्मको शून्य समझते थे, उनको प्राचीन ऋषि लोग चार्वाकसम्प्रदायके अन्तर्गत नास्तिक विशेष मानने लगे। वैदिक युगमें यह सम्प्रदाय शून्य वादी नामसे अधिक परिचित नहीं रहने पर भी अनात्मवादी नामसे परिचित था। इसीसे आदि विद्वान् महर्षि कपिलने अपने सांख्य प्रवचनमें—"शून्यं तत्वं भावो विनश्यति" इत्यादि सूत्रोंका समावेश किया था। और गौडपादादि आचार्योंके सांख्य प्रवचनके सूत्र उद्धृत नहीं होने के कारण सांख्य प्रवचनको भी उनके परवर्त्ती नहीं कह सकते। अथवा माध्यमिकोके शून्यवाद्को देखकर सांख्य प्रवचनमें शून्य तत्वकी समालोचना की गई है—ऐसा भी कहना उचित नहीं है। पूर्व्वीय जगतमे भास्कराचार्यने गोलाध्यायमें—"आकृष्टिशक्तिश्च महीतया यत्"— इत्यादि वचनोके द्वारा बहुत पहले ही मध्याकर्षिणी शक्तिका उल्लेख किया है। पश्चिमीय जगत्ने कुछ ही दिन पहले उस मध्याकर्षिणी शक्तिकी विद्यमानता स्वीकार करते हुए, उसे ही प्रसिद्ध वा विवृत किया है। किन्तु भास्कराचार्यकी—"आकृष्टिशक्ति"--का नाम तक न लिया। परन्तु भास्कराचार्यने केवल मध्याकर्षिणी शक्ति ही नहीं वल्कि उस श्लोकमें --"महीतया"--शब्द्के द्वारा परमाणु प्रभृति जड़पदार्थोंका आपीड़न (दबाव) तकको भी लक्ष्य किया है। तो

क्या इससे यह कहना होगा कि पश्चिमीय जगतमे मध्याकर्षिणी शक्तिके आविष्कृत होनेके बाद भास्कराचार्यका गोलाध्याय प्रणीत हुआ है !! ऋग्वेदमे, अथर्व वेदमे अथवा छान्दोग्य उपनिषद्मे भी पितृयान तथा देवयान शब्दोंका वार २ उल्लेख देखा जाता है। बौद्ध लोग भी इसी तरह हीनयान तथा महायान नाम रक्खे हैं। तो क्या इससे यह कहना होगा कि शाक्य बुद्धके परवर्तीकालमे बौद्धोंके हीनयान तथा महायान नाम देख कर ऋग्वेदादिमे पितृयान तथा देवयान शब्दोंका व्यवहार हुआ है !! इसलिये सांख्यप्रवचनको अथवा महाभारतके एक अंश इस सनत्सुजातीयशास्त्र नामक एक ग्रन्थको बौद्धयुगके परवर्ती कह कर धर्म द्रोही होना उचित नहीं।

हमारे आचार्यने इस अध्यायमे योगानुभवका प्रमाण रूपसे वार २ व्यवहार किया है। किन्तु यह योग क्या है? अङ्गाङ्गि भावमे बद्ध चित्तके बहिर्मुख वृत्ति समूहको विलोम परिणामके द्वारा उनको अपने २ कारणमे लय कराने ही का नाम योग है। यही योग तत्व दर्शनका उपाय है। तन्त्र शास्त्र कहते हैं—ककारादि वर्णों ही का योग जैसे शास्त्र बोधका उत्पादन करता है, योग भी उसी प्रकार तत्व दर्शन या तत्व ज्ञान का उदय करा देता है। योग चिरवर्तमान है--इसलिये हिरण्यगर्भ भी उसके अनुस्मारक तथा वक्ता हैं। योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं:— हिरण्य गर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।"—दर्शन शास्त्र समूहोंके परस्पर विवाद करने पर भी योगके साथ किसीका विशेष विरोध नहीं है। इसीसे किसी २ ने इसको अजात शत्रु भी कहा है। योगके साथ किसीका विरोध नहीं है क्योंकि यह सब विद्याओंका प्रभव कहकर प्रसिद्ध है।

फिर भी जो वेदान्त कहता है कि:—"एतेन योगः प्रत्युक्तः"-अर्थात् इससे योग खण्डित हुआ वह केवल प्रधानादि तत्वांशोमें ब्रह्मत्वके अभावके कारण ही समझना चाहिये। क्योंकि

योगांशमें इस सूत्रकी कोई आवश्यकता नहीं है। वेदान्त योगका कभी खंडन नहीं कर सकता। क्योंकि वह भी श्रुति मूलक है। श्रुति समूहोके उदाहरण कालिकामें देखने चाहिये। स्मृतिकार दक्ष भी कहते हैं:—जन्मान्ध जिस तरह घड़ा आदि पदार्थोंका चाक्षुषज्ञान नहीं पा सकता, कुमारी जैसे स्त्री सुख को नहीं समझ सकती, वैसे ही अयोगी भी स्वयं स्ववेद्य ब्रह्म का विषय कुछ भी नहीं समझ सकता।"—और यमादि वहिरङ्गके विना जब संयम नहीं हो सकता और संयम न होने से औपनिषद् आत्मसाक्षात्कार तो क्या कोई भी विद्या नहीं प्राप्त होती तो ब्रह्मवादी लोग योगकी आवश्यकता कैसे अस्वीकार कर सकते हैं इसीसे वेदान्त में भी —"आसीनः सम्भवात्"—यह सूत्र सन्निविष्ट है। अस्तु तत्वज्ञान योग सापेक्ष होनेके कारण तथा वेदमे योग विषयके अनेक संवाद के रहनेसे हमारे आचार्यको योग अभ्युपगत होता है।

यहां हम लोग मूलका अनुसरण करेंगे। आत्मवित् लोग ज्ञानयोगमे संसारसे परे जिस परम पदार्थका अनुभव करते हैं, वह शुद्ध है क्योंकि श्रुतियोने उसीको अमृतात्मक शुद्ध ब्रह्म कहा है। देवगण अर्थात् चक्षुकर्णादि इन्द्रियगण उनको विषयी भूत करनेके लिये लालायित रहते है किन्तु कभी कृतार्थ नहीं होते। इसका अभिप्राय यही है कि सब इन्द्रियोके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारकी वासना करते हैं, किन्तु इन्द्रियगण कभी ब्रह्मसाक्षात्कारके उपकरण नहीं होते। श्रुति कहती हैं:—"पितामह ब्रह्माने इन्द्रियगणको अभिशाप दिया है इसीसे अन्तर्मुख न रह कर सदा वहिर्मुख रहते है।"—"उनसे ही सूर्य विराजित हैं"—अर्थात् सूर्य परमेश्वर ही से प्रकाश पाकर संसारको प्रकाशित करते हैं। श्रुति कहती हैं "वे (ब्रह्म) आलोकमय हैं इसीसे सूर्य भी आलोकमय है।" शेष चरणमें- "भगवान"- तथा "सनातन"- इन दो शब्दोंका प्रयोग हुआ

है। इनका अभिप्राय यह है कि सम्प्रज्ञात समाधिमें योगी लोग सविशेष सगुणब्रह्मका लाभ करते हैं, एवं असम्प्रज्ञात समाधिमे वे निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मको पाते हैं। पदयोजनासे ऐसा अर्थ न होनेसे कविका ऐसा ही आशय अनुमान किया जा सकता है ॥ १ ॥

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति
ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽ-
तप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ २ ॥

अन्वयः।

शुक्रात् (शुद्धात् परमात्मनः) ब्रह्म (हिरण्यगर्भाख्यं कार्यब्रह्म) प्रभवति (उत्पद्यते) ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं कार्यब्रह्म। शुक्रेण (परमात्मना) वर्धते जगज्जन्मादि कार्ये समर्थं भवति)। तत्शुक्रं (परं ब्रह्म) ज्योतिषां (सूर्यप्रभृतीनां) मध्ये (अन्तःस्थितत्वा) अतप्तं (तापैरनुपहतं) तापनं (सूर्यादीनामपि भयप्रदं) तपति (नियन्तृतया तिष्ठति) ॥ २ ॥

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं परस्मादेव ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाद्युत्पत्तिं दर्शयति— शुक्रादिति। शुक्रात् शुद्धात् पूर्वोक्तात् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म प्रभवति उत्पद्यते। अथोत्पन्नं ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते विराडात्मना। तत् शुक्रं शुद्धं ब्रह्म ज्योतिषामादित्यानां मध्ये तरतमप्रकाशितं सत् तपति स्वयमेव प्रकाशते, तेषामपि तापनं प्रकाशकम्। योऽन्यानवभास्यः सर्वावभासकः स्वयमेव भासते। तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति।२।

कालिका ।

इदानीं चिदचितो परिणामकारणं निरूप्य ज्योतिष्मतां ज्योतिरपि परमात्मनो विभूतिरित्याह— शुक्रादिति । शुक्रात् कारण-ब्रह्मणः प्रागुक्ताद् ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं कार्य्यब्रह्म प्रभवति उत्पद्यते । तथा हि मन्त्रवर्णः—ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः इति । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिं ल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ इति च । ब्रह्म हिरण्य गर्भाख्यं कार्य्यब्रह्म शुक्रेण परमात्मना वर्द्धते क्रियाभिर्गुणैश्चोपचीयते । स्मृतिरप्याह— 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इति ।

तच्छुक्रं कारणरूपं ब्रह्म ज्योतिषामवभासकानामादित्यादीनां बाह्यानां बुध्यादीनामान्तराणाञ्च मध्ये अन्तः स्थित्वा तैरतत्सम-नुपहतं तापनं नियन्तृतया तेषां भयप्रदम् । 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु र्धावति पञ्चमः ॥ इति श्रुतेः । तपति तापजनकत्वेन निष्ठति । तथा हि नृसिंह-तापिन्युपनिषत्— 'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वात्र प्रविष्ट इव विहरती' ति । एवं श्रुतिस्मृ-तिवादा इह सहस्रश उदाहार्य्याः ।

अयं भावः—यस्मात् सर्व्वं प्रभवति, यस्मै सर्व्वं स्वा-धिकारान्न प्रमत्तं भवति, यस्य महिमानमुत्कीर्त्य मनसाऽपि सह वचः संह्रीयते तं सनातनं भगवन्तं परमात्मानं योगिन एवं तन्मयत्त्वेन पश्यन्ती ति । २ ।

मूलानुवाद ।

शुद्धब्रह्मसे ब्रह्म हुए हैं । शुद्ध ब्रह्मके द्वारा ब्रह्मबृद्धि पाते हैं; वह शुद्ध ब्रह्म ज्योतिष्क मण्डलसे कभी उपहत नहीं होते । वे उनके अन्दर तापन होते अर्थात नियन्तृभावसे विराजते हैं । भगवत् रूपमें अवस्थित उसी सनातन शुद्ध

ब्रह्मका योगी लोग अपनी अन्तरात्मामें अनुभव करते हैं। २।

कालिकाभास।

चित् समष्टि हिरण्यगर्भ एवं अचित् समष्टि सूत्रात्मा इन दोनों अभिव्यक्तियोंका कारण निरूपण कर तेजमय पदार्थादि की ब्रह्मात्मकता दिखलाते हैं। ज्योतिष्क पदार्थ तो केवल उपलक्षण मात्र है। क्योंकि सारे पदार्थोंमे वे ओत प्रोत भावसे विराजते हैं। और उनसे पृथक् किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है। शुद्ध ब्रह्म ही कारण ब्रह्म अथवा परमात्मा हैं उनसे ब्रह्म हुए है। अर्थात् शुद्ध ब्रह्म अथवा कारण ब्रह्मसे हिरण्यगर्भ नामक प्रकृति रूप कार्य ब्रह्म हुए हैं। यद्यपि चित् समष्टिका नाम हिरण्यगर्भ है तथा अचित् समष्टिका नाम सूत्रात्मा है, तथापि साधारणत हिरण्यगर्भ कहनेसे दोनो ही एकत्र समझे जाते है। ये प्रपञ्च रूप कार्यका विस्तार करते हैं, अस्तु इनको प्रकृतिरूप कार्य ब्रह्म कहते है। यह प्रकृति सांख्योक्त प्रकृति नहीं है। क्योंकि साख्योक्त प्रकृति सर्वतो भाव से पुरुष है तथा उत्तम पुरुषसे स्वतन्त्र हैं। वेदान्त कहता है :—सांख्यकी पुरुष प्रकृतिसे ब्रह्मकी अभिव्यक्ति होने पर सांख्य तथा वेदान्तमे और कोई विरोध ही नहीं रह जायगा। शाम्भवी विद्या भी अधिकार विशेष मे इस मतका समर्थन करती है। इसीसे शाक्त लोग अन्तर्योग में शिव तथा शक्ति की अभेद कल्पना करते हुए कहते हैं— "विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम्"—यह मत दैव दर्शनके सूत्र तथा वृत्ति दोनो ही मे स्पष्ट रूपसे स्वीकृत हो चुका है। अस्तु इस सम्बन्धमे वेदान्तके साथ शाम्भवी विद्याका कोई विरोध नहीं रहता। —"शुद्ध ब्रह्मके द्वारा वृद्धि पाते हैं"— अर्थात् कारण ब्रह्मको निर्देश करनेके लिये कार्यब्रह्म गुण तथा क्रियाके द्वारा जगत् प्रपञ्चका विस्तार करते है। गीतामे भगवानने भी कहा है:—"मेरी अध्यक्षतामे प्रकृति चराचर

प्रसव करती है। "— देवी भागवतमें स्वयं देवी कहती है।:—

"सृजामि ब्रह्मरूपेण जगदेतच्चराचरम्।
संहरामि महारुद्ररूपेणान्ते निजेच्छया ॥ १ ॥
दुर्वृत्तशमनार्थाय विष्णुः परमपूरुषः ।
भूत्वा जगदिदं कृत्स्नं पालयामि महामते ॥ २ ॥

अर्थात् हे महामते! इस जगत्प्रपञ्चका मैं ब्रह्मा होकर सृष्टि करती हूं और रुद्र होकर नाश करती हूं। पुनः उसकी परम पुरुष विष्णु होकर कराल ध्वंसनीतिसे रक्षा करती हूं। अन्तिम सत्य एक छोड़ दूसरा नहीं हो सकता इसलिये देवी का—"मैं"—तथा शक्तिका—"ब्रह्म"—कभी विभिन्न नहीं हो सकते।

—"वह शुद्ध ब्रह्म ज्योतिष्क मण्डलके द्वारा कभी उपहत नहीं होते, वे उनके अन्दर तपते हुये अर्थात् नियन्तृभावसे भयदाता होकर विराजते हैं। "— ये बातें श्रुति मूलक है। मन्त्रवर्णसे देखा जाता है कि एक अद्वितीय ब्रह्म सब पदार्थों के बाहर तथा भीतर अवस्थान करते हैं। उनको तापन अथवा नियन्तृभावसे भयप्रद कहते हैं क्योंकि कठोपनिषद् कहती हैः—"परमेश्वरके भयसे डरकर अग्नि ताप (गर्मी) देता है, सूर्य किरण जाल फैला कर प्रकाश आदि प्रदान करती हैं; इन्द्र वायु यम आदि दिक्पालगण अनेकों तरहके काम करके जगत्के नियमकी रक्षा करते हैं। "— इसका तात्पर्य यही है कि स्वामीके सामने नौकर जैसे अपने काममें शिथिलता नहीं दिखलाता, वैसे ही अग्नि सूर्य इन्द्रादि सब भी परमेश्वरके सन्मुख कर्तव्य पराङ्मुख नहीं होते। इस विषयमे तैत्तिरीय उपनिषद् कहती हैः—"भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ "—अर्थात् इनके भयसे वायु बहती है और सूर्य आदि देवगण भी इनके भयसे अपने २ कर्तव्य पालन करते हैं॥ '—यह परम

सत्य बात है कि वे जैसे सौम्य हैं वैसे ही भयंकर भी हैं। इसीसे तैत्तिरीय उपनिषद्के ब्रह्मानन्द वल्लीमें उनके सौम्यत्वका परिचय देते हुए कहा गया है:—

" यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥"

अर्थात् मनके साथ वाक्य जिनके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते उस ब्रह्मको जो व्यक्ति जान सकते हैं, वे कभी किसी से नहीं डरते । और तो क्या वे संसारका भी डर नहीं रखते। " और भी कठोपनिषद्के छठीं वल्लीमे उनकी भीषणता दिखलाते हुए कहा गया है:— महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । "— अर्थात् जो यह जानते हैं कि, "मर्यादा लङ्घनकारीके प्रति वे वज्रधारी पुरुष हो जाते हैं वे मोक्ष भागी हो कर अमरत्व पाते हैं। सप्तशतीके देवी सूक्तमें भी देवगण इन दो विरुद्ध धर्मोंको स्मरण करते हुए उसी शक्तिमय ब्रह्म अथवा ब्रह्ममयी शक्तिको गद्गद् कण्ठसे कहते हैं:—

"रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्यै धात्र्यै नमोनमः ।
ज्योत्स्नायै चेन्दुरूपिण्यै सुखायै सततं नमः । १ ।

अर्थात् तूं भीषणरूपा, नित्या गौरी तथा धात्री है, तुमको बार २ प्रणाम करते हैं। तू ज्योत्स्ना रूपिणी, चन्द्ररूपिणी, सुखदायिनी हो हम लोग तुमको निरन्तर प्रणाम करते हैं। इतने पर भी देवगणको सन्तोष नहीं हुआ । उन्होंने पुनः श्रुति मूलक केवल इन दो विरुद्ध धर्म्मोंको एकत्र समावेश करके कम्पित स्वरसे बोले:—

—"अति सौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः"—

अर्थात् तूं अत्यन्त शान्तस्वभावा है और साथ ही अत्यन्त भयंकरी भी है, तुमको हम लोग बार २ प्रणाम करते हैं।',—

पाश्चात्य भावापन्न व्यक्ति परमेश्वरके सौम्य स्वभावको स्वीकारकर उनके रौद्र भावका प्रत्याख्यान करते हैं। किन्तु

आगम, निगम तथा वेद सब ही उनके इस प्रकारके विरुद्ध रूप अथवा धर्मकी घोषणा कर रहे हैं। इन सब बातों पर यदि अविश्वास करूं तो फिर किसकी बातका विश्वास करूं? जिनके निकट वेद आदि शास्त्र प्रमाण नहीं है, उनकी बातको कौन प्रमाण समझेगा? किसी कविने ठीक कहा है:—

"वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणं धर्म्मार्थयुक्तं वचनं प्रमाणम्।
एतत्प्रमाणं न भवेत् प्रमाणं कस्तस्य कुर्याद् वचनं प्रमाणम्॥

केवल इतना ही नहीं—शास्त्रोंने स्वयं उच्च कण्ठोंसे सुनाया है:—

"अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति"—

अर्थात् श्रद्धा हीन व्यक्तिका अविश्वास कभी उदाहरण नहीं हो सकता। मूल श्लोकका भाव इस प्रकार है:—जिनसे चिदचिदात्मक सब वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है, उनके द्वारा परमाणुसे लेकर सौर जगतकी गतिविधि तक समस्त व्यापार नियमित हैं उनकी महिमाके कीर्तनके लिये वाक्य मनके साथ खिंचा जाता है, उस सनातन भगवान परमात्माका योगी लोग योग ही द्वारा अनुभव करते हैं॥ २॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति
पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि
पूर्णमेवावशिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम्॥ ३॥ ॥

अन्वयः।

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति। पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे। पूर्णात् पूर्णानि हरन्ति [किन्तु] पूर्णमेव अवशिष्यते। [य एवं पूर्ण-

स्वभावः] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति (प्रकर्षेणानुभवन्ति) । ३ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं पूर्णवाक्यार्थं कथयति— पूर्णादिति । पूर्णो देशतः कालतो वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नात् परमात्मनः पूर्णमेवोद्धरन्ति जीवरूपेण । यत् पूर्णात् पूर्णमुद्धृतं जीवात्मना अतः पूर्णादेव समुद्धृतत्वात् इदमपि जीवस्वरूपं पूर्णमेव प्रचक्षते विद्वांसः । तथा हरन्ति पूर्णात् जीवात्मनाऽवस्थितात् पूर्णमात्मस्वरूपमात्रं देहेन्द्रियाद्यनुप्रविष्टं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत् साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्तीत्यर्थः । तत उद्धृतेनैव मूलभूतेन पूर्णानन्देनावशिष्यते तेनैव पूर्णानन्देन ब्रह्मणा संयुज्यते । चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवशिष्यते इत्यर्थः । पूर्णमेवावशिष्यते इति वा पाठः । यदा देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्ति, तदा पूर्णमेवावशिष्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" । अस्यायमर्थः—पूर्णमदस्तच्छब्दवाच्यं जगत् कारणं ब्रह्म । पूर्णमिदं त्वं शब्दनिर्दिष्टं प्रत्यगात्मस्वरूपम् । कथमनयोस्तत्त्वं पदार्थयो पूर्णत्वमितिचेत्, तत्राह— पूर्णादनवच्छिन्नात् पूर्णमेव उदच्यते जीवेश्वररूपेण यस्मात्तस्मादनयोः पूर्णत्व मित्यर्थः । पूर्णस्य तत्त्वात्मनाऽवस्थितस्य पूर्णरूपमादाय तत्त्वंपदार्थयोः शोधनं कृत्वा शोधितपदार्थः सन्नित्यर्थः । पूर्णमेव ब्रह्म अवशिष्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । यः पूर्णस्वरूपस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति । ३ ।

कालिका ।

शुकसंज्ञाद् ब्रह्मणो जीवादीनां पृथक्त्वे तत्र पूर्णत्वमेव व्याहन्येतेत्याशङ्क्य प्राह—पूर्णादिति । पूर्णात् देशतः कालतो वस्तुतो व्यापकाच्चैतन्यात्मस्वभावात् परमात्मनः पूर्णानि जीवरू-

पाणि उद्धरन्ति उद्भूतानि भवन्ति। पूर्णात् पूर्णानि जड़रूपाणि चक्रिरे। पूर्णात् प्राग्वर्णितात् पूर्णानि चिदचितात्मकानि हरन्ति समुद्भूतानि भवन्ति, तथापि पूर्णमेवावशिष्यते पूर्णत्वं तस्य न हीयते। तत्र ब्रह्मवादिन एवं मन्यन्ते—न्यूनातिरिक्तत्वं भेदमूलकं भवति, भेददर्शनं चोपाधिना क्रियते। उपाधिकृतेन भेददर्शनेन तु मुख्यं वस्तु कदापि नोपहन्यते। यथा कासारसूर्ये एजमाने मुख्यः सूर्यो नैजते तथा जीवानामपि नामादिग्वाश्रयभेदेन परमात्मनो न्यूनातिरिक्तत्वं न सम्भाव्यते। इति। श्रुतिश्च जीवपरेशयोर्भेदं प्रत्याख्यापयति—"एक एवहि भूतात्मा भूते भूते प्रकाशते। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्"॥ इत्येवमाद्या। अत एव तयो भदः व्यवहारसिद्धोऽपि न पारमार्थिक इति। स्मृतिरप्याह—'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः'। इति। तत्र तु विशिष्टाद्वैतवादिनः सात्वता मन्यन्ते व्यवकलनसङ्कलनाभ्यां तस्य न्यूनातिरिक्तत्वं न भवतीत्ययं महिमा पारमेश्वर एवेति। इदमत्राकूतम्—पुरुषा यद्यपि असंख्या भोगाय तत उद्धृता जन्मादिभाजो भवन्ति, तथापि तस्य पूर्णत्वं न हीयते; न च जीवानां मोक्षेण स आधिक्यमुपैतीति। तथाहि गाणितिकानामाभाणकः—शून्याच्छून्यपरित्यागे शून्यमेवावशिष्यते। तयोर्द्वयोः समायोगे न विशेषोस्ति कश्चन'॥ इति। वाजसेनयिनश्च तत्र समामनन्ति—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ इति। अयं मन्त्रः प्रागेव व्याख्यातः। य एवंविधः पूर्णस्वभावस्तं भगवन्तं सनातनं योगिनः पश्यन्ति।३।

मूलानुवाद।

पूर्णसे पूर्ण उद्धृत हुए। उन्होंने पूर्णसे पूर्णका विधान किया है। पूर्णसे पूर्णका हरण करनेपर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार पूर्ण स्वभाव सनातन भगवान परमात्माका योगी लोग अनुभव करते हैं।३।

कालिकाभास

अनन्त जीव जात तथा अनन्त जड़ जात सब ही ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं. इसलिये उनका अनन्तत्व व्याहत नहीं हो सकता इसी आशङ्कासे श्लोक लिखा गया है। मूलमें अनन्त शब्दके स्थानमें पूर्ण शब्दका प्रयोग हुआ है। देशतः, कालतः तथा वस्तुतः जो अनन्त है वही पूर्ण भी है और भूमा भी है। अनन्त ब्रह्मसे अनन्त चिदचिदात्मक जगत् प्रपञ्च उत्पन्न होता है, तथापि उसमें कहीं न्यूनातिरिक्तत्व नहीं संगठित होता। अद्वैत ब्रह्मवादी लोग कहते हैं:--न्यून तिरिक्तत्व भेद मूलक हैं तथा उपाधि द्वारा ही सघटित होते है। उपाधि जनित भेद दर्शनमें मुख्य वस्तुका कोई इतरविशेष नही होता। जलके अन्दरके सूर्य बिम्ब के हिल जाने पर जैसे मुख्य सूर्य नहीं हिलते. उसी प्रकार जीवादिके पार्थक्य के कारण परमात्मामें न्यूनातिरिक्तत्व भी नहीं हो सकता। श्रुति भी जीव तथा परमेश्वर का भेद हटाने के लिये कहती हैं—"एकही परमात्मा प्रत्येक जीवों मे अवस्थान करते है। वे बिम्बस्थानीय चन्द्रमा के समान एक होकर भी प्रतिबिम्ब स्थानीय जल चन्द्रकी तरह अनन्त दीख पड़ते हैं, ।इसी श्रुतिका अनुवाद करके स्मृतियां भी कहती हैं—कूटस्थ आत्मा नित्य निर्दोष तथा सर्वव्यापक है। वे एक होनेपर भी मायाबलसे अनेक होजाते है, किन्तु वस्तुतः अनेक वा भिन्न होनेपर भी उनका अभाव नहीं होता „। इन सब कारणोसे अद्वैतवादी लोगोंके निकट जीव तथा परमेश्वर का भेद व्यवहार सिद्ध होनेपर भी परमार्थिक नहीं है।

इस विषयमे विशिष्टाद्वैतवादीगण कहते हैं— योग वियोगके द्वारा पूर्णत्व उपचित अथवा अपचित नहीं होता यह केवल परमेश्वर की महिमा है। इसका तात्पर्य यही है कि भोगके लिये ही ब्रह्मसे असंख्य जीव जन्म ग्रहण करते है„ तथापि उनके अनन्तत्व में कमी नहीं होती, और मोक्षके कारण जीवोके ब्रह्म सम्पन्न होने

पर भी उनके अनन्तत्वमे वृद्धि नहीं होती। अङ्कशास्त्र विशारद विद्वान् लोग कहते हैं

" शून्यात् शून्यपरित्यागे शून्यमेवावशिष्यते ।
तयो र्द्वयोः समायोगे न विशेषोस्ति कश्चन ॥ १ ॥"

अर्थात् शून्य में से शून्य के घटा लेने पर शून्य ही बाकी रह जाता है। एवं शून्य के साथ शून्य के जोड़ने पर भी शून्य ही योगफल होता है। उसका निर्देश इस प्रकार किया जाता है: ०—०=० तथा ०+०—० ।

वाजसनेयी लोगोंका मन्त्र पूर्वोक्त विषय का एक उदाहरण होताहै यथाः—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ १ ॥"

अर्थात् कारण ब्रह्म अनन्त है, कार्य ब्रह्म भी अनन्त है। अनन्त कारण ब्रह्म मे से अनन्त कार्य ब्रह्म उत्पन्न होते है। अनन्त मे से अनन्त लेने से बाकी भी अनन्त ही रह जायगा। " बृहदारण्यक का यह मन्त्र शान्तिमन्त्रो के अन्त मे अभी भी कहीं कही पढ़े जाते हुए सुना जाता है। मध्यमाधिकारी शाक्त लोग ऐसे स्थान पर उक्त मन्त्र के बदले—" ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ॥ २ ॥

—"अहन्तापात्रभरितमिदं नापपरामृतम् ।
पूर्णाहुतिमये ब्रह्मौ पूर्णहोमं जुहोम्यहम् स्वाहा" ;—

इसी मन्त्रको पढ़ते हैं।

ऐसे पूर्णस्वभाव भगवान सनातन परमात्माका योगी लोग अपने योग बलसे अनुभव करते हैं॥ ३ ॥

यथाकाशेऽवकाशोऽस्ति
गङ्गायां वीचयो यथा।
तद्वच्चराचरं सर्व्वं ब्रह्मण्युत्पद्य लीयते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥४॥

अन्वयः ।

आकाशे यथा अवकाश. (द्रव्यान्तराणा स्थितियोग्यस्थानम्) अस्ति, गङ्गाया यथा वीचयः [उत्पद्य तत्रैव लीयन्ते], तद्वत् सर्वं चराचरं विश्वं ब्रह्मणि उत्पद्य लीयन्ते। शेषं पूर्ववत् ।४।

शाङ्करभाष्यम् ।

स्पष्टार्थः श्लोकः । ४ ।

कालिका ।

पूर्णात् पूर्णानां हरणेन तस्य पूर्णत्वं न व्याहतमिति-कथा वैदिकानां न तु लौकिकानां भवति । व्यवहारकाले तु वैदिका अपि लोकसामान्यं नातिवर्तन्ते । अत ऋषिः पूर्वश्लोकानुगतं श्रौताभिप्रायं लौकिकदार्ष्टान्तिके योजयति —यथेति । आकाशे व्योम्नि अवकाशो द्रव्यान्तराणां स्थितियोग्यस्थानमस्ति, गङ्गायां वीचय उत्पद्य तत्रैव लीयन्ते, तद्वत् सर्वं चराचरं विश्वं सदसदात्मकं सर्वं जगत् ब्रह्मणि कारणात्मनि लीयते। तथा हि परमा श्रुतिः-- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मे' ति। एवं ब्रह्मापरपर्यायं भगवन्तं सनातनं परमात्मानं योगिनः पश्यन्ति ।४।

मूलानुवाद ।

आकाश की अवकाश (खुले खालीस्थान) के समान, अथवा गङ्गा की तरङ्गमाला के समान ब्रह्ममे समस्त चराचर उत्पन्न होकर वहीं विलीन भी हो जाते हैं । ऐसे ब्रह्मापरपर्याय भगवान सनातन परमात्मा को योगी लोग अपने योग में अनुभव करते हैं ॥४॥

कालिकाभास ।

पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर पूर्ण ही बाकी बचता है, इत्यादि जो कुछ पूर्व्व श्लोकमे कहा जा चुका है, वह वैदिक अभियुक्त लोगोंकी बात है । वह जनसाधारणके लिये नहीं है। व्यवहारके समय वैदिक अभियुक्तलोग--साधारण लोगोकी चिन्ता प्रणालीको स्वीकार करते हैं, इसलिये ऋषि सनत्सुजात पूर्व्व श्लोकानुगत श्रौत अभिप्रायको लौकिक दृष्टान्त के साथ योजना करते हैं।

आकाश एक द्रव्य विशेषसे परिपूर्ण है, किन्तु वहां अन्यान्य वाष्पादि द्रव्योंका गमन होनेसे उसका स्थानाभाव नहीं होता, और आकाशमे वृद्धि भी नहीं होती। ब्रह्म भी उसी तरह जगत्में विलीन रहकर भी पूर्ण ब्रह्मे कुछ व्ययभाव नही करते और न उनमे कोई वृद्धि ही करते हैं ।

गङ्गामें जैसे तरङ्ग माला उठकर पुनः उस गङ्गामें ही विलीन हो जाती है, उसी तरह ब्रह्म भी जगत्में उत्पन्न हो कर ब्रह्म ही मे लीन हो जाते हैं। श्रुति भी कहतो है:— जिनसे भूत वर्ग उत्पन्न होते हैं, जिनसे वे स्थिति लाभ करते है, और अन्तमें जहां वे प्रवेश करते हैं, वही ब्रह्म है ।

ऐसे ब्रह्मापर पर्याय सनातन भगवान परमात्माको योगी लोग अपने योगमे अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

आचोऽथाद्भ्यः सलिलं तस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे ।
आदध्रीचीः स विषूचीर्वसाना
वुभौ विभर्त्ति पृथिवीं दिवञ्च ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ ५ ॥

अन्वयः ।

[प्रकृतिर्ब्रह्मशक्तिः सृष्ट्यर्थं प्रवर्त्तते] [ततः] आपः (प्रकृतिविकृतयः) [प्रवृत्ताः] । अथ अद्भ्यः (प्रकृतिविकृतिभ्यः) सलिलं (व्यवसेयव्यवसायात्मकं जगत्) [प्रवृत्तं] । तस्य (व्यवसेयात्मकस्य व्यवसायात्मकस्य च) मध्ये (अन्तराले) [तथा] अन्तरिक्षे (परमे व्योमनि) उभौ देवौ (द्योतनशीले पुरुषप्रकृती शिवशक्ती वा) शिश्रियाते (वर्त्तेते) । उभौ (तौ देवौ) आद्ध्रीचीः (प्राच्याद्याः दिशः) सविषूचीः (सोपदिशः) वसानौ (दिगन्तपर्यन्तमोतप्रोतभावेन परिव्याप्तौ) [वर्त्तेते] । [स एवं भूतः परमात्मा] दिवं पृथिवीं च (द्यावापृथिव्यौ) बिभर्त्ति (धारयति) । [य एवं विश्वं बिभर्त्ति] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति । ५ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं द्वा सुपर्णाविति मन्त्रार्थं कथयति— आप इति । तस्मात् परमात्मनः आपः प्रथमं सृष्टाः । तथा चाह मनुः— “अप एव ससर्जादौ” इति । भूतपञ्चकोपलक्षणार्थोऽप्शब्दः । अनेन सूक्ष्मसृष्टिरभिहिता । अथानन्तरमद्भ्यः पूर्वमेव सृष्टाभ्यः सलिलं भूतपञ्चकात्मकं स्थूलदेहात्मकं सृष्टम् । तस्य सलिलस्य देहात्मनाऽवस्थितस्य मध्येऽन्तरिक्षे हृदयाकाशे उभौ जीवपरमात्मानौ देवौ द्योतनस्वभावौ शिश्रियाते वर्त्तेते । न केवलमन्तरिक्षे शिश्रियाते । आद्ध्रीचीः सविषूचीर्वसानौ आभिमुख्येन ध्रियमाणाः अवस्थिताः ताः अञ्चन्तीत्याद्ध्रीच्यो दिशः विषूच्यः उपदिशो विष्वग्गमनात् ताभिः सह वर्त्तन्त इति सविषूच्यः प्राच्याद्याः सर्वा दिशः वसानौ आच्छादयन्तौ उभौ बिभर्त्ति पृथिवीं दिवञ्च । एको जीव आत्मनः स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मभावमनवगम्य अनात्मनि · देहादौ

आत्मभावमापन्नः पृथिवीं भूतभौतिकलक्षणं कर्मफलानुरूपं सुखदुःखात्मकं देहादिकं बिभर्त्ति । अपरो दिवं द्योतनात्मकं स्वात्मरूपं बिभर्त्ति । श्रूयते च—द्वा सुपर्णाविति । यः स्वात्ममायया स्वात्मानं प्राणादनन्तरं कृत्वान्तरमनुप्रविश्य अभिपश्यन्नास्ते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति । ५ ।

कालिका

"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्येवमादिश्रुतिभ्यस्तथा "या शक्तिः सर्वभूतानां द्विधा भवति सा पुनः" इत्येवमादि तन्त्रनिर्वचनेभ्यो ब्रह्मण एव सर्वात्मभावं दर्शयति—आप इति । प्रकृतिर्ब्रह्मशक्तिः सृष्ट्यर्थं प्रवर्त्तते । तत्र सृष्टौ प्रथममापः प्रवृत्ताः । आप उपलक्षणार्थत्वात् प्रकृतिविकृतयः । श्रुतिश्च "रेतस आप" इति । तदुक्तं भगवता मनुना —'अप एव ससर्जादौ तासु वीजमवासृजत्' । इति । अथानन्तरमद्भ्यः पूर्वमेव सृष्टाभ्यः प्रकृतिविकृतिभ्यः सकाशात् सलिलं व्यवसेयव्यवसायात्मकं जगत् प्रवृत्तम् । सलिलशब्द इह सप्राणेन्द्रियादिमहाभूतोपलक्षणार्थः । मुण्डके हि श्रूयते — "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ॥ इति । तस्य व्यवसेयात्मकस्य व्यवसायात्मकस्य च मध्ये अन्तराले, तथा अन्तरिक्षे परमे व्योम्नि उभौ देवौ द्योतनशीले पुरुषप्रकृती शिश्रियाते वर्त्तेते । अन्तरा मध्ये सर्व्वभूतानां क्षान्तं शान्तं च विष्कम्भस्थानकत्वादन्तरिक्षमिति निरुक्तभाष्यकारः स्कन्दस्वामी ।

पुनः कीदृशावुभौ देवौ ? आभिमुख्येन भ्रियमाणा अवस्थिता स्ता अञ्चन्तीत्याद्ध्रीचयो दिशः प्राच्याद्यास्ता आद्ध्रीचीः, विषूच्य उपदिशो विष्वग्गमनात् ताभिः सह वर्त्तमानाः सविषूच्य स्ताः सर्व्वादिश इति यावद् वसानौ दिग्

दिगन्तपर्यन्तमोतप्रोतभावेन परिव्याप्तौ वर्त्तेते ।

यद्वा, देवौ शिवशक्ती। 'शिवशक्तिमयं विद्धि चेतनाऽचेतनं जगदित्यागमात्।'मां विना प्रकृतिर्नास्ति त्वां विना नच पूरुषइति निगमाच्च। तत्र श्रुतिरप्याह—"स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी च भवतामि" ति। पुनः कीदृशौ देवौ ? दध्रीची विषूची श्चावसानौ दिश उपदिशश्च पर्यवदावसानौ दिग्दिगन्तपर्यन्त मोतप्रोतभावेन परिव्याप्तावित्यभिप्राय.। निगमश्च—'त्वया मया जगदिदं परिपूर्णमिहेश्वर। एकैवाहं परंब्रह्म शिवशक्तीति भेदतः' ॥इति॥ आवसानावित्यत्र व्यवहितारचेति छान्दसं क्रियोपसर्गयोर्व्यवधानम्।

एवं भूतः स परमात्मा दिवंच पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ बिभर्ति व्याप्नोति। 'एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढ.' इति श्रुतेः। योसौ विश्वेश्वरो देवो विश्वं व्याप्य स्थितश्च यः। सैव विश्वेश्वरी देवी व्यापकत्वेन संस्थिता ॥" इत्यागमाच्च। य एवं विश्वं बिभर्ति तं भगवन्तं व्याकृतं सनातनम् अव्याकृतं परमात्मानं योगिनः पश्यन्ति ॥ ५ ॥

मूलानुवाद ।

पहले तप अर्थात सृष्टिका अवशिष्ट उपादानविशेष प्रवृत होता है। उसके बाद उससे जलका अर्थात तत्त्वान्तर की उत्पत्ति होती हैं। इस जल तत्वके अन्दर दो देवता रहते हैं। अन्तरिक्षमें भी वे दिग् विदिक् तक अभिव्याप्त हैं। परमात्मा इसी तरह दोनों देवताओंका रूप धारण करते हैं। .जो इस तरह विश्वका परिचालन करते हैं, उसी सनातन भगवान परमात्माको योगी लोग अपने योगमें अनुभव करते हैं ॥५॥

कालिकाभास

"वे अपनेको स्वयं ही सृष्टिकर सृष्टपदार्थोमें अनुप्रवेश करते हैं—" "सृष्टिपदार्थोंमें वे अनुप्रविष्ट हो कर—सत्य शब्द वाच्य तथा त्यत् शब्द वाच्य होकर रहते हैं।"— उन्होंने

अपनेको स्वयं ही सृष्टि विषयमें परिणत किया है" —ऐसे श्रुतिप्रमाणोंके कारण तथा—"एक मात्र शक्ति, समस्त भूनमें दो भागोमें रहती है।" —ऐसे तन्त्रप्रमाणके कारण आचाय ब्रह्मका सर्वात्मभाव दिखलानेके लिये मन्त्रात्मक श्लोकको पढ़ते हैं।

ब्रह्मशक्तिके प्रकृति सृष्टिके लिये प्रवृत्त होनेपर पहले अपकी सृष्टि हुई। अप् अर्थात जल। अप वा जल उपलक्षण मात्र है। पीछे प्रकृति बिकृति अर्थात् सामान्याऽहंकार वा महत्तत्त्व, विशेषाऽहंकार तथा रूप रसादि पञ्चतन्मात्रा यही अपशब्दसे लक्षित होता है। साधारणतः जल बिना जैसे लता, बृक्ष, ईंट, घर आदि वस्तु नहीं बन सकती, उसी तरह महत्तत्त्वादिके बिना विश्वकी किसी वस्तु की सृष्टि नहीं हो सकती। इसलिये महत्तत्त्वादिको लक्ष्यकर सर्वसाधारणका चिरपरिचित—'अप'—शब्द का ब्यवहार किया गया है। यहां-अप-शब्द जलार्थक होता तो फिर उसके बाद पुनः सलिल शब्दका व्यवहार नहीं होता। इससे भी समझा जाता है कि 'अप' शब्द अथवा सलिल शब्द विशेष २ वस्तुको लक्ष्य कर ही प्रयुक्त हुए है। श्रुति कहती हैं:—रेतसे अप उत्पन्न होता है। यहां भी देखा जाता है कि--'रेतः'--शब्दसे परमेश्वरकी सृष्टिशक्तिका तथा--'अप'--शब्दके द्वारा सृष्टिके उपादानभूत महत्तत्त्वका लक्ष्य किया गया है। भगवान मनुने कहा है:—"परमेश्वरने पहले जल बना कर उसमें विश्वबीज का निक्षेप किया (बोया) था।"—इससे भी जान पड़ता है कि जल शब्दसे सृष्टिकउपादानभूत पदार्थ अर्थात् महत्तत्त्वादि और बीज शब्दके द्वारा महत्तत्वादिकी विश्वोत्पादिका शक्ति अभिप्रेत हुई हैं। अस्तु मूलका -"अप"- शब्द उपलक्षणमात्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं। -"अप"- शब्द नित्यबहुवचनके कारण—"अपः"— हो गया है।

अपसे सलिल उत्पन्न हुआ है। पहले ही कहा जा

चुका है कि सलिल शब्द भी अप शब्दके समान उपलक्षणमात्र है। सलिल अर्थात् विशिष्ट-तत्वान्तर-परिणाम। कहनेका तात्पर्य यह है कि अविशिष्ट सामान्याऽहंकारादि तत्वोंसे व्यवसायात्मक तथा व्यवसेयात्मक पदार्थ ज्ञान उत्पन्न हुए हैं। सामान्याऽहंकारादि अवशिष्ट तत्व हैं, क्योंकि उनसे तदितर व्यवसायात्मक अर्थात् अनुभव करने लायक पदार्थ एवं व्यसेयात्मक अर्थात् अनुभूत होने लायक पदार्थ दोनों ही उत्पन्न हुए हैं। इन दोनो शेषश्रेणियोंके पदार्थ विशिष्ट हैं क्योंकि उनसे जो जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनमें तत्वान्तर परिणाम नहीं है, अर्थात् उनके मिश्रण से जो सब पदार्थ बनते हैं, उनमें कोई नवीन तत्व नहीं रहता। जैसे—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पञ्चतन्मात्राओंके पञ्च करणमें रसके आधिक्य होनेसे जल हो जाता है, किन्तु जलके पञ्चतन्मात्रा से उत्पन्न होनेपर भी पञ्चतन्मात्रासे सम्पूर्णतः एक विभिन्न पदार्थ है। और जलसे वाष्प तथा तुषार (वर्फ) होता तो है किन्तु वाष्प तथा तुषार जल से सम्पूर्णतः विभिन्न पदार्थ नहीं है। इसी से जैसे हम लोग जलमे अम्लजन तथा उद्जन देखते हैं, वैसे ही वाष्प तथा तुषारमे देखते हैं। अन्यान्य अनुभवी पदार्थ अथवा अनुभाव्यव पदार्थोंको भी ऐसे ही समझना चाहिये। विश्वके यावतीय पदार्थोंमे दो देवता अर्थात् पुरुष तथा प्रधानकर्ता अभिव्याप्त हैं। तव इनमें विशेषता यही है कि पुरुष कहीं जीवोंके समान चैतन्य, कहीं वृक्ष लता आदिके समान अर्द्ध चेतन्य, और कहीं जड़ आदिके समान अचेतन वा प्रसुप्त हैं। इस वातसे वेदान्त विरुद्ध पुरुष वहुत्व साबित नहीं होता है क्योंकि— "अंशोनानाव्यपदेशात्"—इत्यादि वेदान्त सूत्र ही इसके प्रमाण हैं।

केवल विश्वके ही यावतीय पदार्थ क्यों? उनका आधार

भी तो प्रकृति-पुरुषमय है। अन्तरिक्षका आधेय विश्व है, इसलिये विश्वका आधार अन्तरिक्ष हुआ। इस अन्तरिक्षमें भी वे दिग्विदिक् पर्यन्त अभिव्याप्त हैं। अन्तरिक्ष शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें निरुक्तभाष्यकार स्कन्दस्वामी कहते है:— "अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं च विष्कम्भस्थानक त्वात्"—अर्थात् स्थानके विशाल विस्तृति प्रयुक्त सर्वभूत जिसके बीच परिणाम न पाकर क्षान्त तथा शान्त हो गये हों वही अन्तरिक्ष है। यह बात जितनी सत्य मूलक है उतनी ही गम्भीर है।

जिन दो देवतावोंको पुरुष प्रधान कहा गया वे ही शास्त्रान्तरोमें शिव शक्तिके नाम से भी प्रसिद्ध हैं। क्योंकि आगम कहते हैं:—चिद्‌चिदात्मक जगत्‌को शिव तथा शक्ति मय समझना। निगम भी कहते हैं:—"मेरे अतिरिक्त और कोई प्रकृति नहीं है और तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा पुरुष भी नहीं है। श्रुतियोंने भी जनाया है:—उन्होंने अपनेको स्वयं ही द्विधा वा दो भागोंमे विभक्त किया था।"—इसीसे संसारमें पुरुष तत्व तथा स्त्री तत्व दोनों विद्यमान है। वही शिव शक्ति अन्तरिक्षकी दिशाविदिशा आदि समस्त स्थानोंमें अभिव्याप्त हैं। इसलिये निगम कहते हैं:—

"हे महेश्वर! तेरे तथा मेरे द्वारा यह सारा जगत् परिपूर्ण है। एक मात्र परम ब्रह्म मैं द्विधा होकर हूं।"—

इसी तरह परमात्मा स्वर्गमर्त्य आदि लोक धारण किये हैं अर्थात् सम्पूर्ण स्थानोंमे व्याप्त है। जो सर्वत्र इस प्रकार अभिव्याप्त है उसी भगवान् सनातन परमात्माका योगीलोग अपने योगसे अनुभव करते है॥ ५॥

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं ध्रुवस्याव्ययकर्मणः ।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वा स्तं दिव्यमजरं दिवि ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ ६ ॥

अन्वयः ।

अश्वाः (इन्द्रियाणि) अव्ययकर्मणः (अविश्रान्तं कर्म कुर्वतः) ध्रुवस्य (नित्यस्य त्रैलोक्यात्मनावस्थितस्य परमेश्वरशरीरस्य) चक्रे (चक्रवच्चालके प्राक् कर्मणि) तिष्ठन्तं (वर्त्तमानं) केतुमन्तं (प्रज्ञावन्तं) दिव्यम् (अज्ञानविषयादन्यम्) अजरं (सदा तुल्यरूपं) तं (प्रत्यगात्मानं) दिवि (परमानन्दे) वहन्ति । ६ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं ज्ञानिनः स्वात्मावस्थानं दर्शयति—चक्र इति । ध्रुवस्याव्ययकर्मणः परमेश्वरस्य च ईश्वरात्मनावस्थितस्य, रथस्य शरीरस्य त्रैलोक्यात्मनावस्थितस्य चक्रे चङ्क्रमणात्मके देहे तिष्ठन्तं केतुमन्तं प्रज्ञावन्तम् अतएव दिव्यम् अप्राकृतम् अजरं जरामरणादिधर्मविवर्जितम् दिवि द्योतनात्मके अनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थिते पूर्णानन्दे ब्रह्मणि वहन्त्यश्वाः इन्द्रियाणि । एतदुक्तं भवति—यद्यपि इन्द्रियाणि स्वभावतो विषयेष्वेव वर्त्तन्ते, तथापि विज्ञानसारथिना [illegible] केतुमन्तं पुरुषं दिवि वहन्ति न पराग्विषय इति । तदुक्तं कठवल्लीषु—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु । बुद्धिं तु सारथिं विधि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" ॥ इत्यादिना । यत्र परमात्मनि वहन्ति तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति । ६ ।

कालिका ।

इदानीं कारणात्मनि भोक्त्रात्मन आनन्दप्रमाणमाह—चक्र इति । अश्वशब्द इन्द्रियार्थे रूढ़ः । धात्वर्थानुसारेण वेगवत्वात् । अव्ययकर्मणः सदा कर्म कुर्वतः । एतदेव ब्रह्मचक्रस्य अनादित्वं सूचयति । रथ-शब्दः शरीरार्थे प्रसिद्धः । तथाहि कठेषु गीयते—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवत्विति । रथस्य त्रैलोक्यात्मनावस्थितस्य परमेश्वरशरीरस्य । चक्रे ब्रह्मचक्रे । 'देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्र मि'ति श्रुतेः । यद्वा चक्रे चक्रवच्चालके प्राक्कर्मणि केतुमन्तं जीवं प्रज्ञावन्तम् । केतुर्लिङ्गं ज्ञानपूर्वकं तद्युक्तमित्यर्थः । वहति द्विकर्मा । तं प्रत्यगात्मानं । दिव्यं प्रपञ्चविषयादन्यम् । अजरं जरारहितं । अनेन परमात्मनः षड्भावराहित्यं सूचितम् । दिवि परमानन्देऽमृतत्वे वा । ते संयता अश्वाः पुरुषं परमानन्दार्थं परमात्मानं वहन्तीति भावः । 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि'ति श्रुतेः । अयमेव श्लोकस्य-प्रपञ्चितार्थः— प्राक्तनकर्मवशात इन्द्रियसमन्वितो जीवो ब्रह्मचक्रे संलग्नः । इन्द्रियाणि च वहिर्मुखतया श्रेयः प्रतिवन्धकारणे वर्त्तन्ते, तथापि तानि संयतानि जीवस्य ब्रह्मानन्दप्रापकत्वेन भवन्ति । इति । सुसारथिना चालिता अश्वा यं प्रति वहन्ति तं भगवन्तं सनातनं योगिनः पश्यन्ति । ६ ।

मूलानुवाद ।

विश्व ब्रह्माण्ड नित्यकर्मपरायण परमेश्वरका शरीररूप रथ है । प्राक्तन कर्मके कारण वा फलस्वरूप इन्द्रियसमन्वित जीव इसमें संलग्न होकर घूम रहे है । ये इन्द्रियगण संयत होने पर जीवको एकरस प्रज्ञानघन परमात्मा की ओर अग्रसर कराते है । इन्द्रियगण संयत होनेपर जीवको जिस परमात्माके प्रति अग्रसर कराते हैं योगी उसी परमात्माका अपने योगानुभवमें दर्शन करते हैं ॥ ६ ॥

कालिकाभास।

परमात्मामें जीवात्माके आनन्दप्राप्तिको दिखलानेके लिये यह श्लोक लिखा गया है। यजुर्वेद कठोपनिषद्में शरीर को रथ आत्माको रथी तथा इन्द्रिय समूहको घोड़ा कहा है। उक्त स्थानोंमे मनुष्यका शरीर रथ रूपसे दर्शाया गया है। किन्तु यहां आचार्यने विश्व ब्रह्माण्डको ही परमेश्वरके रूप शरीरका रथ कहा है। रथके समान ही इसमें भी चक्के हैं। इन चक्कोंका नाम ब्रह्मचक्र है। कठोपनिषद्में इस ब्रह्म चक्रका उल्लेख मिलता है। संसार चक्र भी इसीका रूपान्तर है। इन्द्रियादिसे युक्त जीव प्राक्तन कर्मवश इस चक्रमें संलग्न हो कर मरणशील हो जाता है। एक तो रथ चक्र स्वयं ही घूमते रहते हैं उस पर भी इन्द्रियगण स्वभावतः चञ्चल तथा असंयत हैं। अस्तु इसके परिणामस्वरूप जीवको संसारमें आवागमन अनिवार्य हो जाता है। किन्तु ये इन्द्रियगण संयत होनेसे जीवको परमेश्वरके प्रति अग्रसर कराते हैं। वेदोंने इन्द्रियोंको हय अथवा घोड़ा कहा है। इसीसे आचार्यने भी मूलश्लोकमे भी इन्द्रियोंके लिये अश्व शब्दका प्रयोग किया है। अश्व तथा इन्द्रिय दोनों को ही गतिशील तथा व्यापक होनेके कारण व्युत्पत्तिजात अर्थानुसार इद्रियोंको अश्व कहा। मन इन्द्रिय संयमनका मूल कारण है। इसलिये यजुर्वेदमें रूपकच्छलसे याज्ञवल्क्य दृष्ट शिव संकल्प मन्त्रमे कहा है:— "सुषारथि·रश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभिशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"।

संसार अनादि है इसलिये मूलमे परमेश्वरको अव्ययकर्म्मा कहा है। अनादि नहीं कहनेसे परमेश्वरमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य अर्थात् निष्ठुरता तथा पक्षपातिता दो दोष आ जाते हैं। मूल श्लोकमें जीवको केतुमान भी कहा है। केतुमान अर्थात्

धीर वा प्रज्ञावान। इस केतुमान शब्दसे ही जान पड़ता है कि ऋषि संयत इन्द्रियोंको लक्ष्यकर मूलमें अश्व शब्दका प्रयोग किया है। क्योंकि केवल इन्द्रिय ही परमेश्वरप्राप्तिके कारण नहीं हैं— वलिक वे तो और भी उसके श्रेयः—प्राप्तिमें बाधक है। इसीसे अश्व-शब्दसे संयत अश्व ऐसी व्याख्याकी गई है। संयतेन्द्रिय पुरुष परमात्माका दर्शन पाता है यह बात कठोपनिषद्में स्पष्टतः कही गई है।

मूलमें परमात्माके विशेषण रूपसे—"दिव्य"—तथा—"अजर"—शब्दके द्वारा परमेश्वरमे सब तरहसे विकार हीनता वतायी गयी है। मूलमें —"दिवि"—शब्द स्वर्गार्थ बोधक होनेपर भी, यहां उससे ब्रह्मको ही लक्ष्य किया जाता है।

इन्द्रियगण संयत होकर जिनके प्रति जीवको अग्रसर कराते हैं, उनका योगी लोग अपने योगानुभवमें दर्शन करते हैं। ६।

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाऽथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति।
भगवन्तं सनातनम्॥ ७॥

अन्वयः।

अस्य (परमात्मनः) रूपं (स्वरूपं) सादृश्ये न तिष्ठति। (अतएव) चक्षुषा कश्चिद् एनं न पश्यति। अथो मनीषया (श्रवणवेलयामध्यवसायात्मिकया बुद्ध्या) मनसा (वेदविहितेन मननेन) हृदा (श्रुत्यायत्तेन निदिध्यासनेन) च ये एनं (परमात्मानं)

विदुः ते अमृताः । [एवं यः परमात्मा] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति । ७ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

नानेन सदृशं किञ्चिद्विद्यत इत्याह—न सादृश्य इति। अस्य परमात्मनो रूपं न सादृश्ये तिष्ठति नान्येन सादृश्ये वर्त्तते नानेन सदृशं किञ्चिद्विद्यत इत्यर्थः। श्रूयते च—"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति। अत एवोपमाद्यविषयत्वम्। तथा च न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनं सर्व्वान्तरं परमात्मानं कथं तर्हि पश्यति ? मनीषया अध्यवसायात्मिकया बुद्ध्या। मनसा संकल्पविकल्पात्मकेन। हृदा च हृदयेन च साधनभूतेन। हृदयं विना नान्यत्र परमात्मनः उपलब्धिः सम्भवतीति मत्वा हृदा हृदयस्थेन च परमेश्वरानुगृहीताः सन्तो य एनं परमात्मानं विदुः अयमहमस्मीति ते अमृता अमरणधर्म्माणो भवन्ति। अथवा हृदा हृदयेन परमात्मना। तथा च हृत्स्थे परमात्मनि हृदयशब्दं निवक्ति "स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयमिति अहरहर्वा एवं वित् स्वर्गलोकमेति" इति श्रुतिः। तथा तदधीनामात्मसिद्धिं दर्शयति—श्रुतिः यस्य देवे इति। एवं यं विदित्वा अमृता भवन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति। ७।

कालिका।

तस्य स्वरूपं न विद्यत इत्याह—नेति। अस्य परमात्मनः रूपं सादृश्ये न तिष्ठति, तस्य स्वरूपं केनचित् सदृशं न भवतीत्यभिप्रायः। 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यती'ति श्रुतेः। आम्नातं च यजुर्वेदे—"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति। चक्षुषेति उपलक्षणमिन्द्रियाणाम्। न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनं येनासौ स आत्मेति शृङ्ग्ग्राहिकया निर्दिश्यत इत्यभि-

प्रायः। अनेन परमात्मनः सर्व्वेन्द्रियगोचरत्वं प्रतिषिद्धं भवति। तदनुवादिनी श्रुतिरपि—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमि'ति। अथो अथ मनीषया श्रवणवेलायामध्यात्मबुद्ध्या मनसा श्रुतिविहितेन मननेन हृदा निदिध्यासनरूपचित्तस्य स्वगुभावेन, य एनं परमात्मानं विदुः प्रत्यक्तया गृह्णीयुः,ते अमृता मुक्ता भवन्ति। मन्त्रवर्णश्च— 'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति' ॥ इति। प्रत्यक्तया य एवं विदित स्तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति ।७।

मूलानुवाद।

इनके रूप की तुलना नहीं हो सकती इनको आंखों से कोई देख नहीं सकता। जो लोग मनीषी है अर्थात् जो मन तथा हृदय के द्वारा इनको जान सकते हैं वे अमर होजाते हैं। जो रूप नहीं होने के कारण दर्शन योग्य में नहीं है योगी लोग उनका अपने योग ज्ञान से साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

कालिकाभास।

इस श्लोक में परमेश्वर का अद्वितीयत्व प्रदर्शित किया गया है। उनकी कोई तुलना नहीं, क्योंकि वे स्वोपम है है, अर्थात् अपनी उपमा आपही हैं। तुलना नहीं हो सकती इसी से कोई उन्हें इन चक्षुओं से देख नहीं सकता। कहने का अभिप्राय यही है कि अद्वितीय होने के कारण वे इन्द्रियों से जाने योग्य नहीं हैं। इन्द्रिय गण जिनको हमेशा अनुभव कराते हैं वे हमसे भिन्न हैं, क्योंकि घड़े का देखने वाला तथा घड़ा कभी एक नहीं हो सकता। किन्तु जो इन्द्रिय गण को निर्व्यापार बनाकर निर्मल ज्ञान में प्रतिष्ठित होते हैं, वेही सब तरह के भेदों को दूर हटा कर परमेश्वर

स्वरूप का अनुभव करते हैं तथा उसके फल स्वरूप संसार मुक्त होते है। भेदोको दूर हटाकर किस प्रकार संसार मुक्त हो सकते है, उसका उपाय उसके बाद ही कहते हैं।

वेद कहते हैः—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनके द्वारा परमेश्वरको जान सकते हैं। इसलिये ऋषि कहते हैं कि, श्रवण कालमें अध्यवसायात्मिका बुद्धिके द्वारा तथा अन्तमें मनन-निष्पन्न सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित होनेके लिये निदिध्यासनके द्वारा जो परमेश्वरको जानते हैं, वे अमरत्व लाभ करते हैं अर्थात् संसार मुक्त होजाते है। जो परमेश्वर रूप रस आदि इन्द्रिय विषयोके परे है, उनका योगी लोग योगसे अनुभव करते हैं। ७।

द्वादश पूगाः सरिता देवरक्षिताः।
मध्वीक्षन्त स्तदनुविधायिन-
स्तदा सञ्चरन्ति घोरम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम्॥ ८॥

अन्वयः।

सरितः (संसरणशीलाः) द्वादशपूगाः (द्वादश समुदायाः) देवरक्षिताः (परमेश्वरेण रक्षिताः)। तदनुविधायिनः, (यजमाना स्तदनुसारिणः) मधु (प्रार्थितं कर्म्मफलम्) ईक्षन्तः [पश्यन्तः] तदा [कर्म्मफललिप्सायां) घोरं (संसारं) सञ्चरन्ति (पुनः पुनरावर्त्तन्ते)। [य एवंप्रकारेण कर्म्मफलं नियमति] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति॥ ८॥

शांकरभाष्यम्।

इदानीमिन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिरनर्थायेत्याह—द्वादशेति।

ये द्वादश पूगाः कर्म्मज्ञानेन्द्रियाणि, एकादशं मनः द्वादशी बुद्धिः, तेषामनेकपुरुषापेक्षयैकैकस्य पूगत्वमुच्यते। सरितः सरणशीलाः। देवरक्षिताः देवेन परमात्मना रक्षिताः। मधुवद् विषयं मधु ईशते नियमयतु, असाङ्कर्य्येण स्वं स्वं विषयमनुभावयन्तीत्यर्थः। यदैवमनुभवन्ति तदा तदनुविधायिनो विषयपराः सञ्चरन्ति घोरं संसारम्। तस्मादिन्द्रियाणि विषयेभ्यः उपसंहृत्य स्वात्मन्येव वशं नयेदित्यर्थः। येन रक्षिता मध्वीशते तं देवं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ८ ॥

कालिका

यज्ञादिकर्म्मफलप्राप्तौ संसारानुच्छेदं दर्शयति—द्वादशपूगा इति। सरितः कर्म्मफलानां क्षयशीलत्वात् संसरणशीला ये द्वादश द्वादशसंख्यकाः पूगाः समुदाया ऊर्द्धस्ताद् दर्शिता वसुधाराहोमादौ यजमानै र्भोगाय प्रार्थ्यन्ते, ते देवेन रक्षिताः परमेश्वरेण भोगाय कल्पिताः। तदनुविधायिनो यजमाना मधु तत्तन्मन्त्रप्रार्थितं मधुरं फलमीक्षन्तः पश्यन्तस्तदा घोरं संसारं सञ्चरन्ति पुनः पुनरावर्त्तन्ते। य एवंप्रकारेण कर्मफलं नियमति तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति।

द्वादशपूगा इति वसुधाराहोमस्य नामग्राहहोमस्य कल्पहोमस्य चानेकमन्त्रापेक्षया तेषामेकैकस्य पूगत्वमुच्यते। तत्र वसुधारा होममन्त्रे द्वादशपूगा उच्यन्ते—"वाजश्चमे प्रसवश्चमे (२) प्रयतिश्चमे प्रसितिश्चमे (४) धीतिश्चमे क्रतुश्चमे (६) श्लोकश्चमे स्वरश्चमे (८) श्रवश्चमे श्रुतिश्चमे (१०) ज्योतिश्चमे स्वश्चमे (१२) यज्ञेन कल्पन्ताम्"। इत्येवमाद्याः। यज्ञोऽस्मभ्यमेतेषां दाता भवत्वितिभावः। अथ नामग्राहहोममन्त्रे ये द्वादशपूगा स्त उच्यन्ते। "वाजाय स्वाहा [१] प्रसवाय स्वाहा (२) अपिजाय स्वाहा (३) क्रतवे स्वाहा (४) वसवे स्वाहा (५) अर्हपतये स्वाहा (६) अह्ने मुग्धाय स्वाहा (७) अमुग्धाय

वैन७शिनाय स्वाहा (८) अविन७शिन आन्त्यायनाय स्वाहा (९) आन्त्याय भौवनाय स्वाहा (१०) भुवनस्य पतये स्वाहा (११) अधिपतये स्वाहा (१२)" इति। वाजादीनि चैत्रादिमासानां नामानि। तत्तन्नाम गृहीत्वा होतव्यमित्यभिप्रायः। अयं मन्त्रार्थः। अन्नप्राचुर्याद् वाजश्चैत्रोऽन्नरूपस्तस्मै स्वाहा (१)। घटभोज्यदानादिफलात् प्रसवो वैशाखस्तस्मै स्वाहा (२), तथा हि कृत्यतत्त्वम्—

'वैशाखे यो घटं पूर्णं सभोज्यं वै द्विजन्मने।

ददात्यभुक्त्वा राजेन्द्र स याति परमां गतिम्॥ इति

ज्यैष्ठे मासि गङ्गाया मर्त्यलोकप्राप्ते रविजो ज्यैष्ठ स्तस्मै स्वाहा (३) आषाढ़े मासि चातुर्मास्यादिव्रतानुष्ठानात् क्रतुराषाढ़स्तस्मै स्वाहा (४)। चातुर्मास्ये यात्रादिनिषेधाद् वसुः श्रावणस्तस्मै वसवे स्वाहा (५)। तापकरत्वेन हरेः पार्श्वपरिवर्त्तनाद्हर्षनिर्भाद्र स्तस्मै वसवे स्वाहा (६)। पितृपक्षसद्भावाद् दुर्गोत्सववाहुल्याच्च मुग्धमहः आश्विन स्तस्मै स्वाहा (७)। स्नानदानादिना पापनाशकत्वाद्मुग्धाय मोहनिवर्तकाय वैनंशिनाय दिवसानामल्पघटिकात्वेन विनाशशीलाय कार्तिकाय स्वाहा (८)। अविनंशिने विनाशरहिताय आन्त्यायनाय विष्णुरूपाय मार्गशीर्षाय स्वहा (९)। मासानां मार्गशीर्षोऽहमिति स्मृते मार्गशीर्षो विष्णुरूपः। अन्ते दक्षिणायनस्य शेषभागे भव आन्त्यस्तस्मै भौवनाय लोकस्वरूपपुष्टिकरत्वात् पौषाय स्वाहा (१०)। भुवनस्य भूतजातस्य पतये स्नानदानादिना पुण्यजनकत्वेन पालकाय माघाय स्वाहा (११)। अधिपतये अधिपालकाय फाल्गुनाय स्वाहा (१२)। द्वादशमासाधिष्ठात्रे प्रजापतिनामकाय देवाय स्वाहा॥ इति। यतो द्वादशमासाः सुखेन नीयन्ते तत्र यजमानाः एवं प्रार्थयन्ते।

अथ कल्पहोमे ये द्वादशपूगा स्त उच्यन्ते। "आयुर्यज्ञेन कल्पताम् [१] प्राणो यज्ञेन कल्पताम् [२] चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम् [३] श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम् [४] वाग्यज्ञेन कल्पताम्

[५] मनो यज्ञेन कल्पताम् [६] आत्मा यज्ञेन कल्पताम् [७] ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम् [८]ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताम् [९] स्व र्यज्ञेन कल्पताम् [१०] पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम् [११] यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् [१२] । एते द्वादश विषया यज्ञेन क्लृप्ताः सुदृढा भवन्त्विति प्रार्थना।

मूलानुवाद।

संसरणशील बारहोंकी समष्टि भोगके लिये देवताओंसे रक्षित रहता है। तदनुसार यजमान प्रार्थित कर्मफल अनुभव करते समय कर्मफल लिप्साप्रयुक्त घोर संसारमें सञ्चरण करता है। जो इस प्रकार कर्मफलका वितरण करता है उसी परमात्माका योगी लोग अपने योगानुभवमें दर्शन करते हैं॥ ८॥

कालिकाभास

सकाम कर्म फलका भोग अवश्यम्भावी है, और भोग भोगवासनाकी वृद्धि करता है, इस लिये जीव संसार मुक्त नहीं होता यही इस श्लोकमें प्रदर्शित किया गया है। मूलमे "द्वादश पूगा" शब्दका प्रयोग किया गया है। पूगः अर्थात् समुदाय वा समष्टि। —"द्वादश पूगाः"—अर्थात् बारहोंकी समष्टि। इससे यह समझना होगा कि बारहोंकी समष्टि की प्रत्येक समष्टि मे बारह बारह विषय वा व्यापार अभिसम्बद्ध हैं।

मूल मे "मधु" शब्द से जब भोगफल उद्दिष्ट हुआ है तब "द्वादशपूग" शब्द से भोगफल के बीज स्वरूप से काम्य कर्म ही लक्षित हुआ है। हम लोग यजुर्वेदोक्त वसुधारा होम के अथवा नामग्राह होम के वा कल्पहोम के प्रायः प्रत्येक मन्त्रमें बारह कामनाओ का समावेश देखा जाता है। इसलिये आचार्यने "द्वादश पूगाः" शब्दसे यजुर्वेदोक्त मन्त्रों के इन सकाम कर्मबीज समूहोंको ही लक्ष्यकियाहै। इन मन्त्रोंका उदाहरण वगैरह नीचे दिया जाता है। :— वसुधारा हवनमें आहुती देते समय पहले इस मन्त्रका पाठ

करना होता है:—"वाजश्चमे प्रसवश्चमे प्रयतिश्चमे प्रसितिश्चमे धीतिश्चमे क्रतुश्चमे स्वरश्चमे श्लोकश्चमे श्रवश्चमे श्रुतिश्चमे ज्योतिश्चमे स्वश्चमे यज्ञेन कल्पताम्"—॥ अर्थात् १—अन्न (वाजः) २—अन्न दानकी शक्ति (प्रसवः) ३—शारीरिक तथा मानसिक निर्मलता (प्रयतिः) ४—अन्नोपार्जनमें उत्सुकता (प्रसिति) ५—चिन्ताशक्ति (धीतिः) ६—यज्ञादि सत्कर्ममें प्रवृत्ति (क्रतुः) ७—वेद मन्त्रोंके उच्चारण करनेका सामर्थ्य (स्वरः) ८—श्लोक आदिकी रचना शक्ति (श्लोकः) ९—वैदिक मन्त्र भागोंके अर्थ ग्रहण करनेका सामर्थ्य (श्रवः) १०—वैदिक ब्रह्मभाग तथा तान्त्रिक मन्त्र भागका अर्थ ग्रहण तथा तात्पर्यावधारण करनेका सामर्थ्य (श्रुतिः) ११—अव्यक्त तथा दुरुक्त विषयोंमें चित्तका उद्भास (ज्योतिः) १२—स्वर्भाग्य विषयजात (स्वः)। यही बारह विषय यज्ञमें प्रशंसित है। इसी प्रकार अन्यान्य मन्त्र और अन्यान्य विषय भेद भी बताये गये हैं। यजुर्वेदके अठारहवें अध्याय में तथा उसके ऊपर उव्वटाचार्य तथ महीधराचार्यके दोनों भाष्योंमें यह सब देखा जाता है।

नामग्रह होममें बारहों महीनोंका साङ्केतिक नाम लेकर आहुति देना होता है जिसमे वर्षके बारहों महीने मेरे लिये शुभप्रद हों यही यजमानके अनुष्ठानमें संकल्प होता है। उसके उदाहरण स्वरूप नीचे एक मन्त्र दिया जाता है:—"वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहा, अपिजाय स्वाहा, क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहा अहर्पतये स्वाहा, अह्नेमुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा अविनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहा आन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहा अधिपतये स्वाहा।"—अर्थात् अन्नदाता चैत्रमासके उद्देश्यसे स्वाहा करता हूं।१॥ जो वैशाखमास

घटदान तथा भोज्यदान प्रभृति पुण्यफलोंका हेतु है उसके उद्देश्यसे स्वाहा करता हूं ॥ २ ॥ कृत्य तत्वमें देखा जाता है कि जो व्यक्ति उपवास रहकर वैशाख महीनेमें जलपूर्ण घड़ा तथा भोज्य पदार्थका दान करता है वह उत्कृष्ट पुण्य फलका भागी होता है। इस महीनेके शुक्ल पक्षकी तृतीया को युग आरम्भक अक्षय तृतीया कहते हैं। इस दिन दान आदि पुण्य कार्य करनेसे विशेष फल होता है। इसकी शुक्ला द्वादशीको पिपीतकी द्वादशी कहते हैं। इस दिन विष्णु भगवान को स्नान करानेसे विशेष फल होता है। इस महीनेमें पितृ पुरुषोंकी तृप्तिके लिये वा श्राद्ध करनेसे कृति [कर्त्ता] को नाना प्रकार मङ्गल होते हैं। इन सब पुण्योंके कारण वैशाख मास —"प्रसत्र"—कहा जाता है। गङ्गा ज्येष्ठ महीनेमें पृथ्वीपर [मर्त्यलोक पर] आई थीं इसलिये ज्येष्ठ महीनेका नाम—"अपिज--"—है। उसी—"अपिज"—के उद्देश्यसे स्वाहा करता हूं ॥ ३ ॥ ऋषिपराशरके मतानुसार आषाढ़ मास धान्यदि रोपण तथा अन्यान्य कृषिके लिये उत्तम मास है। इस महीनेमे चातुर्मास्य आदि व्रत रूपी यज्ञ भी किये जाते हैं। अस्तु इस क्रतु [यज्ञ) नामक आषाढ़के उद्देश्यसे स्वाहा करता हूं ॥ ४ ॥ जो मास व्रत आदिके पालन करनेके कारण यात्रा वा प्रतियात्रा करनेमे प्रतिषेध कर पुण्यधन प्रदान करता है उसको —"क्रतु"—कहते हैं। यह —"क्रतु"—श्रावण मासका ही दूसरा नाम है। इस क्रतु वा श्रावण मासके उद्देश्यसे स्वाहा करता हूं ॥ ५ ॥ जिस महीने में सूर्य अत्यन्त तापकारी हो जाते हैं, तथा जिस महीनेमें भयंकर गर्मीके कारण सोये हुए भगवान करवट बदलते हैं, उस महीनेका नाम अहर्पति है उसके उद्देश्यसे स्वाहाकार करता

हूं ॥ ६ ॥ भादोके महीनेमें अगस्त्यजीने समुद्र पान किया था इसलिये इस महीनेमें अगस्त्यको अर्घ्यदान किया जाता है अर्घ्यदान करनेमें प्रार्थना मन्त्र इस प्रकार है:—

"आतापि र्भक्षितोयेन वातापिश्च महासुरः।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु ॥ १ ॥

इस कारणसे भादों मासको भी अहर्पति कहते हैं। इसके उपलक्ष स्वाहा करता हूं ॥ जिस महीनेमें पितृ पक्ष प्रयुक्त अद्धतन पुरुष तृप्त होते हैं तथा जिस महीनेमें दुर्गोत्सव प्रयुक्त अद्यतन पुरुष आनन्द सागरमें भासमान होते हैं उसी मनोहर आश्विन महीनेके उद्देश्यसे स्वाहाकार करता हूं ॥ ७ ॥ वैदिक युगमे दुर्गोत्सव नही होता था ऐसा सिद्धान्त समीचीन नहीं है। ऋग्वेदके रात्रि परिशिष्टमें कहा गया है;:—

"स्तोष्यामि प्रयतो देवीं शरण्यां वहृवृचप्रियाम्।
सहस्रसम्मितां दुर्गां जातवेदसे सुनवाम सोमम् ॥ "—

इत्यादि-इत्यादि ॥ तैतिरीयके आरण्यकमे दुर्गाकी गायत्री इस प्रकार है:—"कात्यायनाय विद्महे, कन्या कुमारि धीमहि तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात्"— ॥ सायनाचार्य इसके भाष्यमें कहते हैं— —"कात्यो रुद्रः स एव यानमधिष्ठानं यस्याः सा कात्यायनी"— कुत्सितमनिष्टं मारयति इति कुमारी। दुर्गिः दुर्गाः। लिङ्गादि व्यत्ययश्छान्दसः" ॥—पुराण आदिसे भी मालूम होता है, कि भगवान देवादि देव शङ्कर भगवतीकी सहायता देनेके लिये सिंहका स्वरूप धारणकर उनके वाहन बने थे। इसके अलावे केनोपनिषद्, कैवल्योपनिषद् देव्युपनिषद्, तथा वहृवृचोपनिषद् प्रभृति वैदिक ग्रन्थ देखनेसे फिर कोई सन्देह नहीं रहेगा। जिस महीनेमें स्नानदान आदिसे पाप रूप मोह निवृत्त होता है, और जिस महीनेमें दिन अल्पव्यापी [छोटे] होने लगते

हैं, उस कार्तिक मासके उद्देश्यसे स्वाहाकार करता हूं ॥ ८ ॥ धान्यादि रूपमें लक्ष्मीके आविर्भाव होनेके कारण जिस महीनेको विष्णुरूप आग्रगायग [अगहन] कहते हैं, उसके उद्देश्यसे स्वाहाकार करता हूं ॥ ९ ॥ भगवानने गीतामें भी कहा है:—

—मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥"—

दक्षिगायनके अन्तमे जो मास लोक का पुष्टि साधन करता है उसके उद्देश्यसे अर्थात् भौवन नामक पौष मासके उद्देश्य से स्वाहाकार करना हूं ॥ १० ॥ स्नानदानादिके कारण जो महीना धर्मका पोषण करना है, उसके उद्देश्यसे अर्थात् भुवनपति माघमासके उद्देश्यसे स्वाहाकार करता हूं ॥ ११ ॥ कृत्यतत्त्वमें माघ कृत्यके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा गया है:—

"व्रतदानैस्तपोभिश्च न तथा प्रीयते हरिः ।
माघमज्जनमात्रेन यथा प्रीणाति केशवः ॥ १ ॥"

जो महीना सौन्दर्यके आकर वा खजानेके नामसे प्रसिद्ध है, और उसीसे अधिपति भी कहाता है उसके उद्देशसे अर्थात् फाल्गुनमासके उद्देशसे स्वाहाकार करता हूं ॥ १२ ॥ भगवानने भी कहा है:—"ऋतूनां कुसुमाकरः ॥"—

कल्प होममे जो बारह विषय प्रार्थित हुए हैं उनका मन्त्र दिया जाता है:—आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, वाग् यज्ञेन कल्पतां, मनो यज्ञेन कल्पतां आत्मा यज्ञेन कल्पतां, ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां, ज्योति र्यज्ञेन कल्पतां, स्व यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ॥"— अर्थात् १—आयुः, २—प्राण, ३—चक्षुरिन्द्रिय, ४—श्रवणेन्द्रिय ५—वागिन्द्रिय, ६—मननेन्द्रिय, ७—आत्माका जैवभाव। ८—ऋत्विज सम्प्रदायक् [ब्रह्मा] ९—परमात्मविषयक स्वप्रकाशविवेक [ज्योतिः], १०—धनादि वैभव

(स्वः), ११—अवेदनीय कर्म फल [दुःखम्], १२—यज्ञ फल प्रसूत महायज्ञ, ये ही बारह विषय यज्ञके द्वारा मेरे सम्बन्धमें बढ़ें।

इन सब कर्म फलोको संक्षयशील कहा गया है क्योंकि उनके भोग अन्त क्षयके बाद जन्मप्रद होते हैं। घोर संसारमे संचरण करता है, अर्थात् भोगनेके लिये संसारमें बार बार आता है ॥ ८ ॥

तदर्धमासं पिबति सञ्चितं भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्व भूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

अन्वयः

भ्रमरः [क्षेत्रज्ञः] तत्सञ्चितं मधु [स्वकर्म्मफलम्] अर्द्धमासं पिबति [एकस्मिन् जन्मनि संचित्य जन्मान्तरेभुङ्क्ते]। [यतः] ईशानः (परमेश्वरः) सर्व्वभूतेषु हविर्भूतं (कर्म्मफलम्) अकल्पयत् [हव्यतया कल्पितवान्] । ९ ।

शाङ्करभाष्यम्।

किञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तत्राभिधानम्—तदर्द्धेति । यथा मधुकरो भ्रमरोऽर्द्धमासोपार्जितं मधु अर्द्धमासं पिबति, एवमसावपि भ्रमरः भ्रमणविषयत्वात् संसारी तद्विषयं मधु अर्द्धमाससञ्चितमर्द्धमासं पिबति। पूर्व्वजन्मसञ्चितं कर्म अन्यस्मिन् जन्मनि भुङ्क्ते इति यावत्। भवेद्ऐहिकफलात् कर्म्मणः फलसिद्धिः कर्म्मान्तरभावित्वात्; कथं पुनरामुष्मिकफलात् कर्म्मणः फलसिद्धिः, कर्म्मणां विनाशित्वादित्याशंक्याह—ईशान इति । भवेदयं दोषः यदि केवलात् कर्म्मणः फलसिद्धि स्यात्, ईशानः परमेश्वरः कृतप्रयत्नापेक्षः सन् सर्वेषु प्राणिषु प्राणाग्निहोत्रस्येतरस्य च

तत्तत्कर्म्मानुसारेण हविर्भूतमन्नादिकमकल्पयत् । य ईशानः स-र्व्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ६ ॥

कालिका

अनुशयवतः पुनरावृत्तिं [illegible]। भ्रामं भ्रामं रमत इति भ्रमरो जीव इतस्ततो भ्रमणशीलः संसारी मधु कर्म्म-फलं सञ्चित्य तदर्द्धमासमर्द्धमासं पिबति । पूर्व्वजन्मसञ्चितं कर्म जन्मन्यन्यस्मिन् भुङ्क्ते, "यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" इति श्रुते। सञ्चिन्त्येनिपाठे स्वयमेव सञ्चयं कृत्वेत्यर्थः। ईशानः परमेश्वरः सर्व्वभूतेषु हविर्भूतं तत्तत् कर्मफलं भोग्यत्वेनाकल्पयत कल्पितवान् । य एवं कर्म्मफलं हविर्भूतमकल्पयत् तं भगवन्तं सनातनं योगिन एव प्रपश्यन्ति ॥ ६॥

भूलानुवाद।

भौंरा जैसे एक पक्ष मधु सञ्चय करता है और दूसरे पक्ष में उसको पी जाता है, वैसे ही जीव भी एक जन्ममें कर्मफल का सञ्चय करता है और दूसरे जन्ममे उसके फलको भोगता है। क्योंकि परमेश्वरसे सब जीवोंका भोगप्रद कर्मफल रक्षित रहता है। जो परमात्मा इस प्रकार सब जीवोके भोग प्रद कर्मफलकी रक्षा करता है, उसका योगी लोग अपने योगसे अनुभव करते है ॥ ६ ॥

कालिकाभास।

आचार्य संसरणशील जीवोकी पुनरावृत्ति दिखाते हैं। जीव एक जन्ममे अथवा एक समय कर्म करता है, और दूसरे जन्म में अथवा दूसरे समय उसी प्राक्तन कर्मका फल भोगता है। इसीसे जीवको भ्रमणशील अथवा संसरणशील कहा है।— "परमेश्वरके द्वारा सब जीवोंका भोगप्रद कर्मफल रक्षित रहता है॥"— इस कथनसे यह समझा जाता है कि परमेश्वरमें

कभी कृत प्रणाश अथवा अकृताभ्यागम दोष नहीं लगाया जा सकता। जो परमात्मा इस प्रकार सब दोषोंसे रहित हैं; उन्हें योगी गण अपने योगमे अनुभव करते है॥ ६॥

हिरण्यपर्णमश्वत्थ-
मभिपद्य ह्यपक्षकाः।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा
प्रपतन्ति यथादिशम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम्॥ १०॥

अन्वयः।

अपक्षकाः (पक्षरहिताः) हि ते हिरण्यपर्णं (शोभनपत्रम्) अश्वत्थं (संसारवृक्षम्) अभिपद्य (प्राप्य) पक्षिणः (पक्षवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः) भूत्वा यथादिशं (येषां या दिक् देशिता तामनतिक्रम्य) तत्र (परमात्मनि) प्रपतन्ति (विशन्ति)॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्।

किञ्च, किमनेन मध्वाशिनो बंभ्रम्यमाणाः परिवर्त्तन्त एव सर्व्वदा किंवा ज्ञानं लब्ध्वा मुक्ता भवन्ती त्याशंक्याह— हिरण्यपर्णमिति। हितञ्च रमणीयञ्च तेन हिरण्यमित्याचक्षते। ये अपक्षकाः ज्ञानपक्षरहिताः मध्वाशिनः परिवर्त्तन्ते ते हिरण्यपर्णमश्वत्थम् अभिपद्य हितं च रमणीयं चेति हिरण्यं हितं च रमणीयं चेति पर्णं च यस्या श्वत्थस्य तम्। तथा चाह भगवान् वासुदेवः—"छन्दांसि यस्य पर्णानि" इति। हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य आरुह्य वेदसंयोगि ब्राह्मणादिदेहं प्राप्येत्यर्थः। तत्रैव ब्राह्मणादिदेहे पक्षिणो ज्ञानिनो भूत्वा। तथा च ब्राह्मणम्—"ये वै विद्वांस स्ते पक्षिणो ये अवि-

द्वांस स्ते अपक्षाः" इति । प्रपतन्ति यथासुखं प्रयत्नं कृत्वा मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । यं ज्ञात्वा प्रपतन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १० ॥

कालिका ।

ये भोक्त्रात्मानः सन्ति तेषां भोगभ्रान्तिनिवृत्तौ परमात्मनि प्रवेशं दर्शयति—हिरण्यपर्णमिति । अपक्षका न सन्ति पक्षा उत्क्रान्तिहेतवो येषां ते ज्ञानपक्षरहिताः संसारिणः। हिरण्यानि हरणशीलानि रमणीयानि च पर्णानि पत्राणि अवयवा यस्य तं हिरण्यपर्णम् । न श्वोऽपि स्थास्यत इति अश्वत्थस्तं ब्रह्मवृक्षस्थानीयं संसारमभिपद्य प्राप्य पक्षिणो भूत्वा चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानिनो भूत्वेति भावः। "ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांस्तेऽपक्षा" इति श्रुतेः। यथादिशं प्रपतन्ति मुक्ता भवन्ति। यस्य या दिक् केशवो वा शिवो वा यज्ञपुरुषो वा उपास्यत्वेन देशित स्तामनतिक्रम्य तत्र परमात्मनि प्रपतन्ति विशन्ति। आगमशब्द सम्प्रदायनिष्ठानां फलं न स्यान्महेश्वरीति। १०।

मूलानुवाद ।

वे अपक्षक गण हिरण्यपर्ण अश्वत्थको पाकर अपने अपने देशित मार्गानुसार पक्षवान् हो जाते है, और उसीके कारण वे परमात्मामे प्रवेश करते है ॥ १० ॥

कालिकाभास ।

भोक्तृगण भोगभ्रान्तिसे निवृत्त होने पर संसार मुक्त होते हैं यही इस श्लोकमें दिखाया गया है। अपक्षक अर्थात् जो उत्क्रान्तिके हेतुके अभाववश संसार ही मे भ्रमण करते हैं। श्रुति कहते हैः—संसारीका प्राण उत्क्रान्त नहीं होता, वलिक यहीं रहता है । जिनके पत्र अथवा अवयव रमणीय हो गये हैं वे ही हिरण्यपर्ण कहे जाते है। यह अश्वत्थका विशेषण है।

संसारमें परिणामके विना कोई वस्तु आनेवाले कल्ह (दिन) तक स्थायी नहीं रहती, इस लिये संसारका नाम अश्वत्थ भी है। शास्त्र इसे ब्रह्मरूप वृक्ष कहते हैं। "अपने २ दीक्षानुसार"—अर्थात् जो जिस सम्प्रदायमें दीक्षित हुये हैं वे उसी सम्प्रदायके नियमानुसार। कोई किसी देवताका उपासक क्यों न हो वह उसी देवताकी उपासना करके ब्रह्म लाभकर सकता है यही यहां कहा गया है।—

योग शास्त्र कहते हैं:—"यथाभिमतध्यानाद्वा"—। इस सूत्रसे ध्यानकी यथेच्छाचारिताका आदेश नहीं दिया जाता है, किन्तु इसमे कहा जाता है कि साधक चाहे जिस मन्त्रसे दीक्षित क्यो न हो, वह उसी मन्त्रसे मोक्षप्रतिपादिका सिद्धिको लाभ कर सकता है। तन्त्रशास्त्र भी कहते है:—किसी सम्प्रदायका आश्रय ग्रहण किये विना आध्यात्मिक उत्कर्ष नहीं हो सकता। —"पक्षवान् होकर"—अर्थात् उपासना जनित चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानवान् होकर। इसका अभिप्राय यह है, कि संसरणशील जीव जगत्मे उत्कृष्ट मनुष्य जीवन पा कर उपासना आदि से उत्पन्न चित्तशुद्धिके द्वारा ब्रह्मलाभ कर सकता है अर्थात् संसार मुक्त हो सकता है। संसार तथा अनावृत्ति दोनोंको लेकर इस प्रकार कहा गया है:—

—"आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मा चरति नित्यशः॥ १ ॥
एतच्छित्त्वा च भित्वा च ज्ञानेन परमासिना।
ततश्चात्मगतिं प्राप्य तस्मान्नावर्त्तते पुनः॥ २ ॥

अर्थात् सनातन ब्रह्म रूप संसार वृक्ष सब जीवोंका आश्रय स्थान है। ब्रह्म ही जीव हो कर इस ब्रह्मवनमें विचरता है। जीव ज्ञानरूप कुल्हाड़े अथवा तलवारसे इस ब्रह्म वनको छिन्न भिन्न करके आत्मगति पाता है, और इस प्रकार आत्मगति पाने पर

पुनः उसकी पुनरावृत्ति अर्थात् संसारमें पुनः २ आगमन नहीं करना पड़ता।

मनुष्यगण ज्ञानके द्वारा मृत्युके वाद जिस परमात्मामें प्रवेश करते हैं उसको (परमात्माको) योगीगण योगके द्वारा अनुभव करते हैं ॥ १० ॥

अपानं गिरति प्राणः
प्राणं गिरति चन्द्रमाः।
आदित्यो गिरते चन्द्र
मादित्यं गिरते परः।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति।
भगवन्तं सनातनम् ॥ ११ ॥

अन्वयः।

प्राणः (वाह्यस्य वायोरन्तः प्रवेशः श्वासः पूरको वेति यावत्) अपानं (कोष्ठस्थ वायोर्बहिर्निर्गमं प्रश्वासं रेचकं वेतियावत्) गिरति (उपसंहरति)। चन्द्रमाः (व्यष्टिज्ञानोपलक्षितं सेन्द्रियं मनः) प्राणं (वायोरभ्यन्तरवृत्तिं) गिरति (उपसंहरति)। आदित्यः (महत्तत्त्वाख्यसामान्याहङ्कारः) चन्द्रं (मन उपलक्षितं विशेषाहङ्कारं) गिरते (उपसंहरति)। परः (परमात्मा) आदित्यं (महत्तत्त्वाख्यं सामान्याहङ्कारं) गिरते (उपसंहरति)। [य एवं सामान्याहङ्कारमुपसंहरति] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति। ११।

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं योगं दर्शयति—अपानमिति। अपानं गिरति उपसंहरति

प्राणः। प्राणं गिरति चन्द्रमाः मनः उपसंहरति। मनसश्चन्द्रमा अधिदैवतं, तस्मात् चन्द्रमःशब्देन मन उच्यते। तं चन्द्रं मन आदित्यो बुद्धिर्गिरते, बुद्धेश्चाधिदैवतमादित्यः। तमादित्यं बुद्धिं गिरते परं ब्रह्म। एतदुक्तं भवति समाधिवेलायामपानं प्राण उपसंहृत्य प्राणं मनसि मनश्च बुद्धौ बुद्धिं परमात्मनि उपसंहृत्य स्वाभाविकचितसदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठत इत्यर्थः ।११।

कालिका ।

अतिनिर्वेदवतां सद्योदर्शनाभ्युपायं श्रुतिविहितं योगमाह—अपानमिति। अपानं कोष्ठस्य वायोर्बहिर्निर्गमवृत्तिं रेचकमिति यावत्, प्राणो बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशवृत्तिः पूरको वा गिरति उपसंहरति। आभ्यन्तरवृत्तौ बाह्यवृत्तेरसम्भवात्। प्राणापानकथनेन श्वासप्रश्वासौ कथ्येते। प्राणं वायोराभ्यन्तरवृत्तिं गिरति चन्द्रमा व्यष्टिज्ञानोपलक्षितं सेन्द्रियं मनः। अस्यामेव भूमिकायां स्तम्भवृत्तेरनन्तरं केवलकुम्भकः प्रवृत्तो यतो योगी चेतसि विषयान् प्रविलाप्य व्यष्ट्यहङ्कारमात्रेण तिष्ठति। चन्द्रमश्शब्दो मनसि प्रसिद्धः 'चन्द्रमा मनसोजात' इति श्रुतेः कारणे कार्योपचारात्, यद्वा इह तु लक्षणया तदाक्षेपी व्यष्ट्यहङ्कारः। आदित्यः समष्ट्यहङ्कारः चन्द्रं पिण्डीकृतं व्यष्ट्यहङ्कारं गिरति उपसंहरति। अस्यामेव भूमिकायां योगी व्यष्ट्यहङ्कारं समष्ट्यहङ्कारे प्रविलापयति। न च तयोरत्यन्तभेदः शङ्कनीयः। यतो हि मया योगशास्त्रोपदेशतः कृतप्रत्याहार इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानो विशेषरूपो व्यष्ट्यहंकारः, यत्र त्वस्मीत्येतावत् सत्तामात्रमवभाति स सामान्यरूपः समष्ट्यहंकारः। आदित्यं गिरते परः परमात्मा। अस्यामेव भूमिकायां योगी परमात्मानं स्वस्मिन्नन्तर्भावयति।

अयं श्लोकनिष्कर्षः। कुम्भकसहकारि व्यष्टिज्ञानोपलक्षितं चित्तं सर्वव्यापके महत्तत्त्वे नियम्य सत्तामात्रं परिशेषयेत्, तत्सत्तामात्रं तत्कारणे परमात्मनि परिशेषयेत्, ततश्चिदेकरसः परमात्मा साक्षात्कृतो

भवतीति। एवं यः साऽअनहत्ो भवति तं प्रज्ञानघनं सनातनं भगवन्तं योगिनः पश्यन्ति।

मूलानुवाद।

अपान प्राणमें प्राण मनमें मन बुद्धिमें और बुद्धि परमात्मामें मिल जाते है अथवा लीन हो जाते है। जिस परमात्माको पिण्डीकृत बुद्धि साक्षात्कार करती है, उसको योगीगण योगसे अनुभव करते हैं

कालिकाभास।

वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति योगके द्वारा शीघ्र २ किस तरह परमेश्वरका दर्शन पाता है, यही इस श्लोकमें दर्शाया गया है। आसनके सिद्ध होनेपर प्राणायाम करना होता है। प्राणायाम इन्द्रियादिका दोष अथवा चित्तका विक्षेप नाश करता है। इस लिये शास्त्र कहते हैं:---

"दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियानां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्" ॥ ॥

इस प्राणायामको लेकर ही मूलश्लोक लिखा गया है॥

अपान अर्थात् रेचक। क्योंकि शरीरसे जो वायु निकलती है उसको अपान कहते हैं। शास्त्रोमे भी कहा गया है।:--- "कुम्भको निश्चल श्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः। "अपान प्राणमें उपसंहृत (मिल कर) रहना है क्योंकि आभ्यन्तर वृत्तिके समय बाह्य वृत्ति सम्भव नहीं रहतो। श्वास प्रश्वासको ही लक्ष्य कर प्राण तथा अपान शब्द व्यवहृत हुए हैं। प्राण अर्थात् पूरक, जिसको पहले आभ्यन्तर वृत्ति कहते थे। प्राण वृत्तिके समय अपान वृत्ति नहीं रहती, इसलिये प्राणमे अपानके उपसंहार हो जानेकी कल्पना की गई है इसको प्रथम उद्धात कह सकते हैं। शास्त्र कहते हैं:—प्राणेन पीड्यमानेन अपानः पीड्यते यदि।

गत्वा चोर्द्ध निवर्त्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थात् चालित प्राण वृत्तिके द्वारा अपान वृत्ति पीड़ित होकर यदि मस्तककी ओर इस प्रकार अभियान करके निवृत्त हो जाय तो उसको उद्धान कहते हैं। प्राणके द्वारा अपान इस प्रकार निवृत्त होता है इसीसे आचार्य कहते हैं:—
—"अपानं गिरति प्राण."—। भगवान्ने भी गीतामे प्राणायाम का अवान्तर भेद दिखला कर कहा हैः—

"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे॥
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः॥ १॥
अपरे नियताहारा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥"—

इन सब योगाङ्गोंके द्वारा योगादि कर्म्म निवृत्त होता है। इस लिये भगवान मनु कहते हैं:—वाच्येके जुह्वति प्राण प्राणे वाचं च सर्वदा वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञ निर्वृत्तिमक्षयम्॥ कौषीत- कि रहस्य ब्राह्मणमे कहा गया है—"यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत् प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्धि प्राणिति न तावत् भाषितुं शक्नोति, वाचं तदा प्राणे जुहोति। इत्यादि ॥ २ ॥

प्राण अपानको ग्रास करनेके बाद अर्थात् आभ्यन्तर वृत्तिके बाद योगी प्रयत्नके सहारे देश, काल तथा संख्या द्वारा परि- मित कुम्भकका अभ्यास करते हैं। इसका दार्शनिक नाम स्तम्भ वृत्ति है। यह स्तम्भ वृत्ति केवल कुम्भक अथवा शुद्ध कुम्भककी पूर्व्ववृत्ति है। इससे योगी प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंके साथ मनको पिण्डीकृत करके उसको निरोपाऽहंकार मे अर्पण करता हैं, अर्थात् व्यष्ट्यहंकार मात्रको सार रखता हैं। इसीसे आचार्यने कहा है:—प्राणं गिरति चन्द्रमाः॥"— चन्द्रमस् शब्द परस्पर अभि सम्बद्ध होनेपर भी यहां लक्षण के चन्द्रमस शब्दके द्वारा मनः सहकारी व्यष्टि ज्ञान तक ल- क्षित होता है। क्योंकि श्रुति कहती हैं। —"यच्छेद् वाङ्

मनसी प्राज्ञ स्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि। " — अर्थात् वागादि दसो इन्द्रियोंका मनमे अर्पण करना, और इस पिण्डीकृत मनका ज्ञानात्मामें अर्पण करना। उपलक्षणके कारण यहां वाक्शब्द दसो इन्द्रियोके अर्थमे लिया गया है। ज्ञानात्मा अर्थात् व्यष्टिज्ञान अथवा विशेषाऽहंकार अथवा आत्माका जैव भाव, शक्ति पूजामे —"अं अन्तरात्मने नमः" कहकर इस व्यष्ट्यहंकार वा विशेषाऽहंकारका ही न्यास किया जाता है। योगी मन के साथ व्यष्टिज्ञानके सार रूपको अवलम्बन करते ही अभ्यास निरपेक्ष प्राणायाममें समर्थ हो जाता है इसलिये मूलका द्वितीय चरण प्रयुक्त हुआ है।

योगीका व्यष्ट्यहंकार मात्र सार होनेसे वह उसे महत्तत्व नामक सामान्याऽहंकारमें अर्पण करता है। आचार्य कहते हैं:—"आदित्यो गिरते चन्द्रम्।—"आदित्य अर्थात् महत्तत्व अथवा हिरण्यगर्भाख्य समष्ट्यहंकार। इसको सामान्याऽहंकार अथवा समष्टिबुद्धि भी कहते है। चन्द्र अर्थात् व्यष्ट्यहंकार। इसकी व्याख्या पहले ही की गई है। व्यष्ट्यहंकार और समष्ट्यऽहंकार यही दोनों शब्दोके अर्थ अत्यन्त भिन्न नहीं है। मैंने शरीरधारी किसी जीव इन्द्रियादिके आधारसे योगशास्त्रके उपदेशानुसार अपनेमें रूपरस आदि विषय समूहोको प्रत्याहार किया है ऐसा विशेष रूप अभिमान जब वर्तमान रहता है तब उसको व्यष्ट्यहंकार कहते हैं। और इस प्रकार जब कोई विशेष अभिमान उठे विना केवल मेरी सत्तामात्र अवभासमान रहती है तो उसको समष्ट्यऽहंकार कहते हैं। शक्ति पूजामे—"ह्रीं"—ज्ञानात्मने नमः"—कहकर इस समष्ट्याऽहंकार वा सामान्याऽहंकारका न्यास करते हैं। यद्यपि उसके पहले – पं परमात्मने नमः"... कहकर परमात्माका मनन करके न्यास किया था। तथापि पाठक्रमसे अर्थक्रमके वलवान होनेके कारण ज्ञानात्माका ऐसा अर्थ

लिया गया है। और भी कहना होगा कि मन तथा व्यष्ट्य-ऽहंकारको लक्ष्य कर —"आं आत्मने नमः, अं अन्तरात्मने नमः" इन दो मन्त्रोंमें संहार क्रम दिखलानेके बाद —"पं परमात्मने नमः"— —"ह्रीं ज्ञानात्मने नमः" — इन दो मन्त्रोंमे पुनः सर्ग-क्रम दिखलाया गया है। इसी प्रकार यहां भी पाठक्रम न लेकर अर्थक्रम लेना होगा।

योगी समष्ट्यहंकार मात्रके सार रहनेपर वह उसे परमात्माको अर्पण कर देना है। समष्ट्यऽहंकारमें सब चीजोंकी सम्भाव्यता बीजरूपसे निहित रहती है।

किन्तु किसी चीजकी विशिष्टता नहीं रहती। जैसे किसी व्यञ्जनमे नमक चीनी मसाले प्रभृतिके रहने पर भी उसका कोई भी अनुभव नहीं रहनेसे व्यञ्जन समरस मालूम होता है। समष्ट्यऽहंकारमें भी उसी तरह बीज रूपसे सब वस्तुओं की सम्भाव्यता रहने पर भी किसी विशेष वस्तुकी पृथक् सत्ता अनुभूत नहीं होनेपर योगीको वह समरस ही ज्ञात होता है। समष्ट्यऽहंकारमें इस प्रकारके सामरस्य रहने पर भी संस्कार वश व्युत्थान (उच्चाट) अवश्यम्भावी है इस लिये योगी उसे परमात्माको अर्पण करता है। इसलिये आचार्यने कहा है-- "आदित्यं गिरते परः"—अर्थात् समष्ट्यहंकार परमात्मामें लीन रहता है। इस अवस्थामे योगी सम रसताके बदले एक र-सताका अनुभव करता है।

यद्यपि समष्ट्यऽहंकार परमात्मामें लीन रहता है, इस लिये इसी श्लोकके चौथे चरणमें यह लिखा गया है तथापि कहना होगा कि समष्ट्यऽहंकार मूल प्रकृतिमें लीन होनेके बाद मूल प्रकृतिके साथ वह (समष्ट्यहंकार) परमात्मामें लीन हो रहता है।

क्योंकि कठोपनिषद्में कहा गया है कि:—

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः"॥

इसलिये योग शास्त्रोमे भी लिखा गया है कि—"सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम्"—अर्थात् सूक्ष्म विषयत्व प्रकृतिमे ही पर्यवसित होता है। इसलिये कहना होगा कि आचार्य कथित संहार क्रममे समष्ट्यऽहंकार भी परमात्माके मध्य भागमें एक भूमिकाका उल्लेख अवश्य छुट गया है। इस प्रकार वस्तुगतिके स्वीकार करने पर भी आचार्यके कथनमें दोषारोपण नहीं किया जा सकता। क्योंकि, मूल प्रकृतिमे उपनीत होनेके पहले जो चार भूमिका कही गयी हैं वे पुरुष प्रयत्नके विना कभी आयत्त नहीं हो सकतीं, किन्तु परमात्माका ध्यान करने पर समष्ट्यऽहंकार स्वतः मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है। इसलिये उसको पुरुष प्रयत्न सापेक्ष नहीं कह सकते। इसीसे स्वयं कठोपनिषद्ने ही संहारक्रममें मुक्तिमार्ग दिखाकर कहा है:—ज्ञानियच्छेन् महति, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।"—अर्थात्—"व्यष्टिज्ञानको महत्तत्वमें अर्पण करनेके बाद महत्तत्वका परमात्मामें अर्पण करना।"—। यहां समष्ट्यऽहंकार भी परमात्माके मध्यभागमें दूसरा और कोई भूमिका नहीं लिखी गई। इसके कारण भी इस समष्ट्यऽहंकारका प्रकृतिस्थ होना पुरुषके प्रयत्न सापेक्ष नहीं है। इस तरह योग शास्त्रमे चित्तविमुक्तिको अथवा गुण विमुक्तिको पुरुष प्रयत्न सापेक्ष नहीं कहा गया।

जिस परमात्मामे समष्ट्यऽहंकारका सामरस्य एकरसमे परिणत हो जाता है उसको (परमात्माको) योगी लोग अपने योगसे अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

एकं पादं नोत्क्षिपति
सलिलाद्धंस उच्चरन्

तं चेत् सततमृत्विजं
न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

अन्वयः

हंसः (प्राणः) सलिलात् (सलिलोपलक्षितात् पांचभौतिकात् देहात्) उच्चरन् (कुम्भकादिवृत्त्यात्मना उर्द्ध्वं गच्छन्) एकं पादं आनन्दरूपात्मकं रेचनम्) न उत्क्षिपति (शरीरात् न उत्खिदति)। चेत् (यदि) [स प्राणः] सततम् ऋत्विजं (रेचनेन सर्व्वदा यजन्तमेकं पादम्) (उत्क्षिपेत् तदा) मृत्यु र्नामृतं भवेत् (जीवानां परिस्पन्दाभावात् मृत्युरमृत्युरित्येवमात्मकः संसारविभागो न स्यात्)। (एवं यः प्राणरूपेण सजीवं कर्त्तुमपानात्मकमेकं पादं न उत्क्षिपति) तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति ।१२।

शाङ्करभाष्यम् ।

इदानीं परस्य जीवात्मनाऽवस्थानं दर्शयति—एक मिति। हन्ति अविद्यां तत्कार्यं चेति हंसः परमात्मा। भूतभौतिकलक्षणात् संसारात् सलिलात् उच्चरन् उर्द्ध्वं चरन् संसाराद् वहिरेव वर्त्तमानः एकं जीवाख्यं पादं नोत्क्षिपति नोद्धरति नोप संहरति। रूपं रूपं प्रति रूपोऽवतिष्ठत इत्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु— "एकस्तथा सर्व्वभूतान्तरात्मा" इति। कस्मात् पुनरेकं पादं नोत्क्षिपति इत्याह—तं जीवाख्यं पादं सततं सततयायिनं यद्युत्क्षिपेत् स्वमायया स्वमात्मानं प्राणाद्यनन्तभेदं कृत्वा तेषु-अनुप्रविश्य जीवात्मना यदि नावतिष्ठेत्, तदा न मृत्युर्जननमरणादिलक्षणः संसारो भवेत्, संसारिणो जीवस्याभावात् । तथा

अमृतममृतत्वं मोक्षो न भवेत्, अननुप्रविष्टस्य दर्शनासम्भवात्। तथा च तदर्थमेवानुप्रवेशं दर्शयति—रूपं रूपमिति। तथा चाथर्वणी श्रुतिः—एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् स चेदुत्क्षिपेत् पादं न मृत्युर्नामृतं भवेत्" इति। "एकं रूपं बहुधा यः करोति" इति च। यः पादरूपेण जीवात्मना त्रिपादरूपेण सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थितस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १२ ॥

कालिका

प्राणस्यापानगिरणे प्रज्ञारोहणोपायारम्भ उक्तः। इदानीं दर्शयति जगत् सजीवं संरक्षितं सामान्यतो नापानं गिरति प्राण इति। हन्ति गच्छति कृत्स्नशरीरं व्याप्य तिष्ठतीति। हंसः प्राणः। तथा हि योगशास्त्रम्—सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः। प्राण स्तत्र स एवाहमहं स इतिचिन्तयेत॥ इति। एवं रेचकपूरकयो रावर्त्यमानयो सोहं व्यतीहारेण हंसः प्राण इति तत्त्वम्। सलिलात् सलिलोपलक्षितत्वात् पांचभौतिकाद् देहाद् उच्चरन् कुम्भकादिवृत्त्यात्मना उर्द्ध्वं गच्छन् एकं पादं रेचनस्वभावमपान वृत्त्यात्मकं नोत्क्षिपति नोपसंहरति। विनैव योगाभ्यासं देहिनां प्राणवृत्तिरपानवृत्तिं न कदापि देहत उत्खिदतीति भावः। चेत् यदि सप्राण स्तं सतत मृत्विजं बहिर्निगमेण सर्व्वदा यजन्तमजपायज्ञं कुर्व्वन्त मित्यर्थः पादम् एकं पादं उत्क्षिपेत्, तदा मृत्युर्नामृतं भवेत् वायोः कार्त्स्न्येन देहतो निर्गतत्वात् जीवस्य परिस्पन्दाभावाच्च मृत्युरमृत्युरित्येवमात्मकः संसारासंसारविभागो न स्यादिति भावः। एवं जगत् सजीवं रक्षितुं प्राणरूपेण य एकं पादं नोत्क्षिपति तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रश्यन्ति। १२।

मूलानुवाद।

प्राण शरीरसे कुम्भक वृत्तिके द्वारा उर्द्ध्वगति अवलम्बन कर

रेचन नामक अपनी वृत्तिको परित्याग नहीं करता। प्राण यदि सदा प्रवहनशील अपान वृत्तिका परित्याग करता तो मरण तथा अमरण (मृत्यु अमरत्व) रूपी संसार विभागकी कल्पना नहीं होती। प्राण रूपसे संसारको सजीव रखनेके लिये जीवित कालमें जो साधारणतः अपान वृत्तिका उत्छेद नहीं करते उनका योगी लोग अपने योगसे अनुभव करते हैं॥ १२॥

कालिकाभास

योग प्रक्रियामें प्राणवृत्तिके द्वारा अपान वृत्तिके लुप्त होनेसे ब्रह्मारोहणके उपायका आरम्भ होता है। इसे आचार्यने पहले ही कहा है कि स्वाभाविक नियमानुसार जगत्को सजीव रखनेके लिये साधारणतः प्राणवृत्ति अपान वृत्तिका उच्छेदन नहीं करती है। इसके कहनेका अभिप्राय यह है कि चित्तशुद्धि आदिके द्वारा योग साधन विना ऐसा अलौकिक व्यापार नहीं हो सकता है।

मूलका—"हंस"— शब्द प्राण शब्दका पर्य्याय वाचक तथा परमात्म वाचक है। क्योंकि सारे शरीरमें व्याप्त रहनेके कारण परमात्माका भी नाम हंस ही है। योग शास्त्र कहते हैं —"प्राण-'स,- कारके द्वारा बाहर निकल जाता है, और 'ह'कार के साथ पुनः प्रवेश करता है, इसलिये मैं उसी परमात्मा रूप प्राण हूं।— ऐसा चिन्तन करते रहना योगियोंका कर्तव्य है।"—इसका तात्पर्य यह है कि रेचक तथा पूरकमें आवर्त्तमान "सोऽहम्" भाव प्रतिलोम रूपसे अर्थात् अविद्याग्रस्त हो कर "हंस" अर्थात् परमात्माका जैव भाव हो जाता है। इन सब कारणोंसे 'हंस' शब्द परमात्मा तथा प्राण दोनोंका ही पर्याय वाचक है। मूलका—'सलिल'—शब्द उपलक्षणमात्र है। इसके द्वारा पाञ्चभौतिक शरीर ही लक्षित होता है। मूल

के —'उच्चरन्'— शब्दका अर्थ कुम्भक आदिसे ऊर्द्धगतिका अ-
वलम्बन करके—है। मूलके एकपाद शब्दसे अपान वृत्ति
उद्दिष्ट हुई है।

श्वास लेनेके बाद अर्थात् पूरकके बाद यत्न पूर्वक वायु
धारण करनेको स्तम्भवृत्ति अथवा साधारण कुम्भक कहते
हैं। यह केवल कुम्भक प्राणायामके प्रथम अवस्थामें किया जाता
है। चित्त जितना ही निरुद्ध होती है, पूरक अथवा रेचक उतना
क्षीण होता जाता है। एक दम निरुद्ध चित्तमे रेचक अथवा
पूरक होता ही नहीं, अस्तु यत्नसे कुम्भक करनेकी आव-
श्यकता भी नहीं रहती।

उस समय स्थिर जलपूर्ण घड़ेके समान शरीर स्वयं ही वायुपूर्ण
रहता है। इसीका नाम शुद्ध कुम्भक अथवा चतुर्थ वृत्ति भी
है। अर्थात् प्राण वृत्ति अपान वृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति आदिके
रहनेसे यह चतुर्थ वृत्ति कही जाती है। यही उच्चाधिकारी
योगियोंका कुम्भक है। प्राणवृत्ति तथा अपान वृत्तिका उत्खेद
किये बिना इस प्रकारका कुम्भक हो ही नहीं सकता। पर
ब्रह्मका स्वरूप देखनेके लिये योग मार्गमें ही यह सब व्यापार
जानना होगा। साधारण जीवोंके लिये यह सम्भव पर नहीं
है। साधारण जीवोंकी प्राणवृत्ति मृत्युके समय एकपाद आ-
वृत्तिका उत्खेदन तो करती है किन्तु वह ब्रह्म दर्शनके साधन
का अङ्ग नहीं है। और यदि सबके पक्षमें प्राणवृत्ति अपान
वृत्तिका उत्खेदन कर सकती तो आत्माका जैवभाव, न हो
कर मृत्यु तथा अमृत्यु रूपी विभाग सूचक ब्रह्ममोक्षकी क-
ल्पना भी नहीं की जाती। अतएव जो प्राणरूपसे जगत्को
सजीव रखनेके लिये—'एकपाद'—अपान वृत्तिकी रक्षा करते
हैं उन्हीं परमात्माका योगी लोग योगसे अनुभव करते हैं॥१२॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन संयाति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यम्
पश्यन्ति मूढ़ा न विराजमानम् ।
योगिन स्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

अन्वयः ।

पुरुषः अन्तरात्मा लिङ्गस्य योगेन (लिङ्ग शरीरस्य सम्बन्धेन) अङ्गुष्ठमात्र. (अङ्गुष्ठ परिमाणः) (एव) नित्यं संयाति (संसरति)। मूढाः (अविवेकिनः) तमीशं (सर्वेषामीशितारम्) ईड्यं (स्तुत्यम्) अनुकल्पं (सर्वमनुप्रविश्य आत्मना कल्पयतीति अनुकल्पं) आद्यं (आदौ स्थितं) विराजमानं (दीप्यमानं) न पश्यन्ति, किन्तु योगिन एव तं भगवन्तं सनातनं प्रपश्यन्ति ॥ १३ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

केन ह्युपाधिना परः पादात्मना अवतिष्ठत इत्याशङ्क्य परस्य लिङ्गोपाधिकं जीवात्मानं दर्शयति—अङ्गुष्ठमात्र इति। स एव सच्चिदानन्दाद्वितीयः अन्तरात्मा सर्व्वभूतान्तरात्मा पुरुषः पूर्णः परमात्मना लिङ्गयोगेन अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणपरिच्छिन्नः सन् याति संसरति नित्यम्। कस्मात् पुनः कारणात् लिङ्ग-योगेनाङ्गुष्ठमात्रः संसरति ? तत्राह—यो लिङ्गस्य योगेनाङ्गुष्ठ-मात्रः संसरति तमीशं सर्व्वस्येशितारम् ईड्यम्। अनुकल्पं सर्व्वमनुप्रविश्यात्मना अनुकल्पयतीत्यनुकल्पम् । आद्यम् आदौ भवं विराजमानं दीप्यमानम् यस्मान्मूढा अविवेकिनः देहद्वयात्मा

भिमानिनो न पश्यन्ति तस्मादात्मनि ब्रह्मभावानवगमात् संसरति।
परमात्मानम् अपश्यतः संसरन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति।१३।

कालिका।

तत्र कथं परो जीवात्मना अवतिष्ठत इति दर्शयनि - अङ्गुष्ठमात्र इति। अङ्गुष्ठपरिमिते हृदयपुण्डरीके प्रतिष्ठितत्वाद् ङ्गुष्ठमात्रः। एतेन हृदयपुण्डरीकं ध्यानस्थलमुपदिष्टं भवति। पुरुषः पूर्णः परमात्मा। अन्तरात्मा सर्व्वेषामाभ्यन्तर आत्मा "एकस्तथा सर्व्वभूतान्तरात्मा रूपं २ प्रतिरूपो बहिश्चे" ति श्रुतेः। यद्वा पञ्चभ्योऽन्नमयादिभ्यः अन्तर आत्मा लिङ्गस्य योगेन पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियात्मकस्य लिङ्गशरीरस्य सम्बन्धेन नित्यं संयाति संसरति। मूढास्तमीशं यमयितारमीशं स्तुत्यमनुकल्प मुपाधिमनु सर्व्वकार्य्येषु समर्थमाद्यं मूलकारणं विराजमानं प्रत्यक्चैतन्यरूपेण प्रकाशमानं न पश्यन्ति किन्तु योगिन एव तं भगवन्तं सनातनं पश्यन्ति।१३।

मूलानुवादः।

लिङ्ग शरीरके सम्बन्धके कारण परमात्मा अङ्गुष्ठमात्र हो कर सर्वदा संसरण करते हैं। जो स्तुत्य परमात्मा सब विषयोंमें अनुप्रविष्ट हो कर विराजते हैं उनका मूढ़गण तो अनुभव नहीं करते किन्तु योगी लोग उनका अपने योगसे अवश्य अनुभव करते हैं॥ १३ ॥

कालिकाभास।

परमात्मा किस रूपमें जीवात्मा रूपसे रहते हैं, यही इस श्लोकसे दर्शित हुआ है। अङ्गुष्ठमात्र मानस आकाशमें उपलब्ध होते हैं। इसलिये परमात्माको अङ्गुष्ठमात्र ही कहते हैं। मन्त्र वर्णमें भी देखा जाता है कि:—"स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्य-

तिष्ठत् दशाङ्गुलम्"—पुरुष शब्दका अर्थ परमात्मा है। सबके अन्दर विराजते हैं इससे उन्हें अन्तरात्मा भी कहते हैं। लिङ्ग शरीर अर्थात् वैदान्तिक मतानुसार पञ्चप्राण, मन, बुद्धि तथा दश इन्द्रियां इन्हीं सत्रह वस्तुओंसे बना हुआ सूक्ष्म शरीर।

मूढ़ लोग इस आराध्य चिर प्रकाश मान परमात्माको नहीं देख सकते, किन्तु योगीगण उनका अपने योगमें अवश्य अनुभव करते हैं॥ १३॥

गूहन्ति सर्पा इव गह्वरेषु
क्षयं नीत्वा स्वेन वृत्तेन मर्त्यान्।
ते विप्रमुह्यन्ति जना विमूढ़ा
स्तैर्दत्ता भोगा मोहयन्ते भवाय।
योगिन स्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम्॥ १४॥

अन्वयः।

ते (लिङ्गशरीराणामवयवरूपा इन्द्रियादयः) सर्पा इव (परमुद्वेजयन्तो विलेशया इव) स्वेन वृत्तेन (स्वधर्मवशेन) मर्त्यान् (मरणधर्म्मवतो जीवान्) क्षयं नीत्वा (संसारहेतुं गमयित्वा) गह्वरेषु (स्वाश्रयस्थानेषु) गूहन्ति (बीजरूपसंस्कारभावेनावतिष्ठन्ते)। तैः (इन्द्रियैः) दत्ताः भोगा (अर्पिता विषयरसनिवहाः) भवाय (शरीरग्रहणाय) मोहयन्ते (प्रतारयन्ति)। जनाः (पुंसः) [अपि तत्र भोगेषु] विमूढ़ाः (विषयरसानुस्मरणेन सुखदुःखप्रबन्धमारूढ़ा अविवेकिनः) विप्रमुह्यन्ति (प्रमाद्यन्ति)। [एवं यम दंष्ट्रा भोगिनो विप्रमुह्यन्ति] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति॥ १४॥

शांकरभाष्यम् ।

इदानी मिन्द्रियाणां चानर्थहेतुत्वं दर्शयति—गूहन्तीति । यथा सर्पा गह्वरेभ्यो निष्क्रम्य स्वेन वृत्तेन विषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति स्वात्मानं प्रच्छादयन्ति; एवम् इन्द्रियसर्पाः श्रोत्रादिषु शयानाः श्रोत्रादिभ्यो निर्गत्य स्वेन वृत्तेन विषयविषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति स्वमात्मानं प्रच्छादयन्ति। ते विप्रमुह्यन्ति विषयविषाभिभूता विशेषण मुह्यन्ति तद्व्यतिरिक्तं न किञ्चिज्जानन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तः" इति । तैरिन्द्रियै र्दत्ताः विषकल्पा भोगाः विषयाः मर्त्यान्मोहयन्ते पुनः पुनर्मोहहेतवो भवन्ति। यदिदं विषयैर्विमोहनं तद् भवाय गर्भजन्मजरामरणसंसाराय भवति । यमीड्यमनुकल्पमाद्यम् अदृष्ट्वा विषयविषान्धा मुह्यन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १४ ॥

कालिका ।

इन्द्रियभोगगृहीतानां गतिमाह—गूहन्तीति । यथा सर्पाः परमुद्वेजयन्तो बिलेवासिनः स्वाश्रयस्थानेभ्यो निष्क्रम्य स्वेन वृत्तेन स्वधर्मगतविषप्रदानेन मर्त्यान् जीवान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु स्वाश्रयस्थानेषु गूहन्ति स्वात्मानं प्रच्छादयन्ति, तथा इन्द्रियनिवहाः स्वाश्रयस्थानेभ्यो निष्क्रम्य स्वेनवृत्तेन स्वधर्मगतविषयरसप्रदानेन मर्त्यान् लोकान् क्षयं नीत्वा रागद्वेषादिधर्मं समर्प्य गह्वरेषु स्वाश्रयस्थानेषु गूहन्ति बीजरूपसंस्कारभावेन अवतिष्ठन्ते; विमूढाः विषयरसे वर्तमानाः अविवेकिनस्ते च जनाः ततो विप्रमुह्यन्ति प्रमाद्यन्ति। रागद्वेषादिभिः मोमुह्यमानाः अवतिष्ठन्ते संसरन्ति वा, न तु परमात्मानमात्मत्वेन जानन्तीति भावः । तदुक्तं व्यतिरेकमुखेन—विषयप्रतिसंहारं यः करोति विवेकतः ।

मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वान्नात्मवित् कविः ॥ इति। उक्तं च—स्वयमपि भगवता सनत्सुजातेन— कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यतीति । ततो विप्रमोहस्य हेतुमाह—तैरिति। तैरिन्द्रियैर्दत्ताः अर्पिता भोगाः विषयरसोपभोगा भवाय संसाराय मोहयन्ते प्रतारयन्ति पुरुषानिति वाक्यशेषः। विषयेषु येषां वास्तवबुद्धिरस्ति ते विषयव्यतिरिक्तं किञ्चिन्न जानन्तीत्यवधारणात् । तदुक्तं—स्त्रीपिण्डसम्पर्ककलुषितचेतसो विषयविषान्धाः ब्रह्म न जानन्तीति। यमदृष्ट्वा जनाः विप्रमुह्यन्ति तं योगिनः पश्यन्ति। १४ ।

मूलानुवाद ।

सर्पके समान इन्द्रियगण अपने आश्रय स्थानसे निकल कर अपने २ धर्म्मानुसार जीवका अनिष्ट साधन करके अपने २ आश्रय स्थानोंमें पुन अपनी आत्मरक्षा कर लेते हैं । इन्द्रिय प्रदत्त सुख भोग संसार विषयक मोहको उत्पादन करता है, इसलिये विवेक हीन जीव उससे ठगे जाते हैं। जिनको (परमात्माको] जाने विना अविवेकी जीव सत्यके सम्बन्धमें ठगा जाता है, उन्हींका [परमात्माका] योगी लोग अपने योगसे अनुभव करते हैं॥ १४ ॥

कालिका ।

इन्द्रिय विषयोंमें जिनकी सत्य अथवा वास्तव बुद्धि है उनकी गति बताई जाती है। अभिप्राय यहां यह है कि जो इन्द्रिय सुख के अलावे अन्य सुखोंको नहीं पा सकता, वह इन्द्रिय जनित भोग प्रबन्धके वशीभूत होकर कभी संसार मुक्त नहीं होता।

इस श्लोकमें इन्द्रियगणको सर्पके समान बताया है। सर्प जिस प्रकार अपने बिलसे बाहर निकलकर जीवको काटकर विष दान कर के पुनः अपने बिलमे छिप जाता है,

इन्द्रियगण भी उसी तरह अपने २ स्थानोंसे निकलकर पुरुषको रागद्वेषादि प्रदान करते हुये अपने २ स्थानमें छिप जाते हैं। अर्थात् सोयी हुई अथवा दबी हुई वृत्ति उदार होकर अथवा जगकर पुरुषका अनिष्ट करती हुई पुनः क्षीण वा विच्छिन्न हो जाती है। सर्प विष जसे सांपके काटे पुरुषको लुप्त चतन्य कर देता है, रागद्वेषादि भी वैसे ही उनसे उपहत पुरुषों को तत्वमूढ़ कर देता है। इसलिये योगी लोग वैराग्यके सहारे उनका नाशकर देते हैं ॥—क्योंकि सुख दुखके संस्कारोंका एकान्तिक नाश हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधिसे योगियोकी मुक्ति अवश्य होती है। इन सब कारणोंसे शास्त्र व्यतिरेक मुखसे कहते हैं:—जो विवेकानुसार विषयोका प्रति संहार कर देते हैं, वे विद्वान है, अर्थात् ब्रह्म क्या है—यह वे समझ सकते हैं, वे आत्मविन् हैं, अर्थात् ब्रह्मकात्म्यज्ञानकी उपलब्धिके कारण वे क्रान्त दर्शी भी हैं। ऐसे व्यक्ति मृत्युके भी मृत्यु हो जाते हैं, अर्थात् मृत्यु जैसे पुरुषोंका दशान्तर कर देती है, वे भी वैराग्यके सहारे वैसे ही विषयोंका प्रति संहार करके ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानके द्वारा मृत्युका ही दशान्तर करा देते हैं। स्वयं आचार्यने ही प्रथमाध्यायमें कहा है:—कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति। प्रकृत पक्षमें भी रागादि वृत्ति जैसे चित्तमें उदार (जागृत) होकर पुनः जागृत होनेके लिये संस्कार रूपसे अदृश्य होती हैं, रागादिसे उपहत पुरुष भी उसी तरह भोगायतन शरीरमें भोगायतन शरीरमें भोगप्रबन्ध पर आरोहण पूर्व्वक पुनः नये २ भोगोंके लिये लिङ्ग शरीरमें छिप जाता है। इस लिये कभी संसार मुक्त नहीं होता।

इन्द्रिय प्रदत्त रूप रसादि विषय सुख जीवको ठगता है यह इस श्लोकके चतुर्थ चरणका तात्पर्य है। क्योंकि जीव इन्द्रिय सुखमें

मुग्ध होकर मुक्ति प्रतिपादक तत्वान्वेषणमे विमुख हो जाता है। शास्त्रोंमे कहा गया है:—काम कलुषित चित्त विषय जर्ज्जरित हो कर ब्रह्म तत्वकी धारणा करनेमें असमर्थ हो जाता है। जिनको न जाननेके कारण पुरुष इन्द्रियोंमें विप्र मुग्ध हो जाता है, उनका (परमात्माका) योगी लोग अपने योग बलसे अनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

नात्मानमात्मस्थमवैति मूढ़ :
संसारकूपे परिवर्त्तते य : ।
त्यक्तात्मरूपान् विषयांश्च भुङ्क्ते
स वै जनो गर्द्दभ एव साक्षात् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

अन्वयः ।

यः आत्मस्थम् (स्वस्मिन्नेव तिष्ठन्तम्) आत्मानं न अवति (जानाति) [सः] मूढ़ः संसारकूपे परिवर्तते (जननमरणप्रबन्धमारूढ़ः केवलं संसरति न तु मुक्तो भवतीत्याशयः)। (यः)त्यक्तात्मरूपान् (स्वरूपप्रच्युतान्) विषयान् (इन्द्रियादिभिरुपस्थापितान् भोगान्] भुङ्क्ते स वै जनः साक्षादेव गर्द्दभः [विवेकमूढ़ः]। १५ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

सम्मतिमाह—नात्मानमिति । मूढ़ः आत्मानात्मविवेकशून्यः पुमान् आत्मस्थम् आत्मनि तिष्ठन्तं न जानाति स एवाहमिति, अतः कारणात् संसारकूपे संसार एव कूप स्तस्मिन् परि-

वर्त्तते लुठति । श्वशूकरादियोनिं प्राप्नोति, अपरोक्षात्मचैतन्यं देहादिदोषरहितं सर्वावभासकं येन सूर्य्यं स्तपति स एव तत्स्वरूपं परित्यज्यानित्यान्विषयान् भोगान् भुङ्क्ते, स जनो न। नहिं किं, साक्षाद् गर्दभ एव। एवंविधं पूर्वोक्तमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १५ ॥

कालिका ।

स्थूणानिखननन्यायेन स्वाभिप्रायं द्रढयति—नेति । यो हि पुरुषः आत्मस्थं स्वस्मिन्नेव तिष्ठन्तमात्मानं न अवैति सोऽहमित्यादिमहावाक्यं नानुभवति, स एव संसारकूपे परिवर्त्तते लुठति । अविद्याधिरूढः स्वात्मभूतं परमात्मानमनवगम्य विषयेषु प्रवर्त्तमानः पराग्भूतः संसारं प्राप्नोति न तु कैवल्यपदमनुभवतीति भावः, । य एवंभूतः सन् त्यक्तात्मरूपान् आवरणविक्षेपशक्तिभ्यां स्वरूपप्रच्युतान् विषयान् भुङ्क्ते स वै जनः साक्षादेव गर्द्दभो विवेकमूढः । यमेव नाधिगम्य मूढः संसारकूपे परिवर्तते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १५ ॥

मूलानुवाद ।

जो व्यक्ति स्वीय हृदयस्थ आत्मा को नहीं जान सकता वह संसार कूप मे इतस्ततः भ्रमण करता रहता है । अनात्म रूपसादि विषयों को उपभोग करने मे जो आत्मज्ञान से वञ्चित रहता है, वह गदहे के समान विवेक शून्य एक पशुविशेष । जिनको नहीं जानने से ज्ञान हीन व्यक्ति संसार—कूप मे भ्रमण करता है, उनका (परमात्मा का) योगी लोग अपने योग में अनुभव करते हैं ॥ १५ ॥

कालिकाभास ।

पूर्व श्लोकमें जो भाव उद्घाटित हुआ है, उसीको बढा कर

इस श्लोकमें लिखा है। जो व्यक्ति स्वसंवेद्य ब्रह्मकी उपलब्धि न कर रूप रसादि विषयोंमें सर्वदा आसक्त रहता है, उसका जीवन पशु जीवनकी अपेक्षा विशेष उन्नत नहीं है यही इस श्लोकका तात्पर्य है। मूल श्लोकमें विषय समूह त्यक्त आत्म स्वरूप कहा हैं, क्योंकि मायाकी आवरण शक्ति तथा विक्षेप शक्तिके द्वारा सब वस्तु साधारणतः स्वेतर भावमें ज्ञान होते हैं। जिन परमात्माके स्वरूपको नहीं जाननेके कारण पुरुष पशु कहलाता है उनका योगी लोग अपने योगबलसे अनुभव करते हैं ॥ १५ ॥

असाधना वापि ससाधना वा
समान मेतद्दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्ता स्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति ।
भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

अन्वयः ।

असाधनाः (नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयरहिताः) वा ससाधनाः (नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टययुक्ताः) वापि [ये सन्ति तेषु] मानुषेषु एतत् (चिद्रूपं ब्रह्म, आत्मरूपं वा) समानं (सदातुल्यरूपम्) । अमृतस्य (मुक्तस्य) [वा] इतरस्य (बद्धस्य) [वापि] एतत् समानम् । तत्र मुक्ता मध्वः (मधुनः) उत्सं (प्रस्रवणं) समापुः (प्राप्नुवन्ति) । [यं मुक्ताः प्राप्नुवन्ति] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति । १६ ।

शाङ्करभाष्यम् ।

ज्ञानिनां मोक्षस्वरूपमाह—असाधना वेति । ये असाधनाः शमदमादिसाधनरहिताः, ये च शमदमादिसाधनयुक्ताः ससाधनाः तेषु समानं साधारणमात्मस्वरूपं दृश्यते मानुषेषु । तथा समानममृतस्य मोक्षस्य इतरस्य संसारस्य सति चासति च तेषां मध्ये ये युक्ताः शमदमादिसाधनयुक्ताः ते तस्मिन् विष्णोः परमे पदे मध्वः मधुनः उत्सं समापुः पूर्णानन्दं ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यमुत्सं सम्पूर्णानन्दं मुक्ताः प्राप्नुवन्ति तं योगिनः एव पश्यन्ति । १६ ।

कालिका ।

सर्व्वेषामात्मस्वरूपं समानम् । तत्र बद्धा एव दुःखमागतमपि यथाशक्ति परिहृत्य विषयस्थं सुखलवं भुञ्जते, ये तु मुक्ता स्ते दुःखसंस्पर्शरहिता निरतिशयब्रह्मानन्दभाज इत्याह— असाधना इति । साध्यते कर्म्मनिष्पाद्यतेऽनेनेति साधनम् । तच्च ब्रह्मविद्याहेतौ नित्यानित्यवस्तुविवेकवैराग्यशमदमादिषट्कमोक्षेच्छाचतुष्टये भवति । तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राक्तनीयादनेकनिष्कामात् कर्म्मणो विशुद्ध सत्वस्य श्रुतिविहितमनेनैव प्रादुर्भवति । स च तापत्रयपरीतमात्मानं जीवलोकं च विलोक्य तत्त्वानुसन्धानं सर्व्वत्र उपस्थापयति । एतादृशादपि तत्वानुसन्धानलक्षणान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिहामुत्रफलभोगविरागो भवति । यावच्च तत्वानुसन्धानलक्षणो वस्तुविवेको न जायते तावत् कुतो वैराग्यमिति वेदान्तप्रसिद्धेः ॥ नित्यानित्यवस्तुविवेकाभ्यासलब्धवैराग्यपरिपाकाच्च शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धारूपाः सम्पत्तयो जायन्ते । तत्रापि य एव रागद्वेषादिकषायमदिरामत्तस्य मनसो वशीकारः, सोऽयं वैराग्य

हेतुको मनोविजयः शम इत्युच्यते। विजितं च मनो बाह्येन्द्रिय विषय वृत्तित्यागयोग्यतां नीयत इति सेयं मनसो योग्यता दमः। यथा दान्तोऽयं हययुवा यानवहनयोग्य. कृत इत्युच्यते। एतादृशेन दमेन विषयेषु चित्तस्य अनासक्ति जायते। तान्त्रिकी संज्ञा च तस्या उपरतिरिति। उपरतिः सुखदुखादिद्वन्द्वसहिष्णुता सैव तितिक्षेति भण्यते। ततः समाधानं ब्रह्मणि चित्ताभिनिवेशः। तथाहि परमा श्रुतिः—शान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदिति। जातायामेव श्रद्धायां शमादयो दृढ़ा भवन्तीति श्रद्धाऽपि सम्पद्विशेष उच्यते। तदेव श्रुत्यन्तरम्—श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् सर्व्वमात्मनि पश्यतीति। एवं षट्सम्पत्तय स्ततो मुमुक्षुत्वमुपजायते। इदमेव साधनचतुष्टयं ब्रह्मज्ञानमुपावर्तते. यतो मुक्तिर्नाम सर्व्वदुःख-परित्यागात् परमानन्दरूपेण स्थिति र्भवति। इदानीं प्रकृत मनुसरामः।

मानुषेषु सङ्घाताभिमानेषु जीवेषु केचिदसाधनाः प्रागुक्त साधनकलापरहिताः केचिच्च ससाधनाः प्रागुक्तसाधनकलाप-युक्ता भवन्ति, किन्तु तेषामेतदात्मस्वरूपं समानं सदा तुल्यरूपं तत्स्थं चिद्रूपं ब्रह्म निर्व्विकार मिति भावः। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः। तथा अमृतस्य मुक्तस्य इतरस्य बद्धस्य वा एतत् चिद्रूपं ब्रह्म समानं साधारणम्। अनेन पूर्व्वेषामपि गुरुः कालेनान-वच्छेदादिति पातञ्जलसूत्रं प्रत्युक्तम्। भेदमूलकपुरुषबहुत्व-प्रतिषेधात्।

तत्र, मुक्ता अमृता मध्वो मधुन उत्सं ब्रह्मरसस्य प्रस्रवण काष्ठामिति यावत् समापुः प्राप्नुवन्ति। बद्धास्तु मत्स्याऽर्थिन इव दुःखमागतमपि यथाशक्ति परिहृत्य सुखलवं भुञ्जन-

इति वाक्यशेषः। आत्मस्वरूपं यं मुक्ताः प्राप्नुवन्ति तं योगिन एव प्रपश्यन्ति अनुभवन्ति । १६ ।

मूलानुवाद् ।

मनुष्य असाधन और ससाधन भी हो सकता है किन्तु आभ्यन्तरीण चिणद्रूप ब्रह्म दोनोंके लिये ही समान हैं। [केवल मनुष्य ही क्यो] मुक्त हो अथवा बद्ध हो दोनों का ही आत्मस्वरूप समान है। तव विशेषता यही है कि केवल मुक्त पुरुष ही मधुका धारा पाते है। मुक्त लोग जिनके स्वरूपका लाभ करते है उनका योगी अनुभव करते हैं ॥ १६ ॥

कालिकाभास ।

आत्माके स्वरूपमे कोई भेद नहीं है। तव विशेषता यही है कि वद्ध जीव दुःखका परिहार करके रूपरसादि विषयो से लब्ध सुखकणका उपभोग करता है; और मुक्त पुरुष दुःख संस्पर्शके अभाव प्रयुक्त निरतिशय ब्रह्मानन्दमे निमज्जित रहते हैं। इसी तात्पर्यको विकशित करनेके लिये यह श्लोक लिखा गया है।

जिस वस्तुके द्वारा कोई कर्म निष्पादित होता है, उसको साधन कहते हैं। यहां तक कि जिन उपायोंसे ज्ञानकी उत्पत्तिके विषयमें सहायता मिलती है, उनको भी साधन ही कहते हैं। इसलिये नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्र फल भोगविराग शमदमादि षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता ये चारों ब्रह्मविद्याके कारण होनेसे अद्वैतवादी वेदान्तिक लोगोके द्वारा साधन ही कहे जाते हैं।

पूर्वजन्मार्जित सुसंस्कारके द्वारा अथवा इस जन्मके आ॰

साधनादि सत्कर्मके द्वारा जिनकी वुद्धि शुद्ध हो गई है, उनमें ही नित्यानित्य वस्तु विवेकका प्रादुर्भाव होता है। संसार दुखमय है, इस लिये वस्तु विवेक मनुष्यके मनस्तत्वानुसन्धान की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे युक्त वस्तु विवेकसे ऐहिक अथवा पारत्रिक भोगसम्बन्धसे मनुष्यको वैराग्य होता है, और इस वैराग्यका अभ्यास होनेसे शम, दम, उपरति तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा ये छः सम्पत्तियां उसको अभ्यस्त हो जाती हैं। मनुष्य जिस समय उन्मत्त मनको विचार के द्वारा वश करना चाहता है, उस समय उसके उस गुणको शम कहते हैं। मनके शान्त हो जाने पर वाह्य-इन्द्रिय-विषयोंमें उसको वृत्ति त्याग करनेकी योग्यता आ जाती है। इसी योग्यताका नाम दम है। दम विषयमें जसा कहा जाता है यह युवक घोड़ा शान्त हो जाने (दब जाने या कसमें आ जाने) के कारण गाड़ो खींचने लायक हुआ है। दम गुण अधिकृत होनेसे रूपरसादि विषयोंमें उसका चित्त आसक्त नहीं होता। उसे इनमे अनासक्ति हो जाती है। इस अनासक्तिका परिभाषिक नाम उपरति है यह उपरति तितिक्षाकी जननी है। तितिक्षाके विना सुख दुःखादि विरुद्ध धर्मोमें उपेक्षा नहीं हो सकती। तितिक्षाका अभ्यास होनेसे चित्त ब्रह्मविषयमें प्रवेश करता है। चित्तके इस प्रवेश वा ब्रह्म विषय में अभिनिवेशको समाधान कहते हैं। यही वैदान्तिक योगियोंकी समाधि है। इन सब व्यापारोंको लेकर भगवती श्रुति कहती हैः—"शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर अपने ही अन्दर आत्माकी उपलब्धि करनी होती है। यद्यपि इस श्रुतिसे पांच सम्पत्तियोंका संग्रह है तथापि अन्य श्रुतियोंमें श्रद्धा शब्दका उल्लेख रहनेके कारण उक्त छःहोंको ही साधन सम्पत्ति

इति वाक्यशेषः। आत्मस्वरूपं यं मुक्ताः प्राप्नुवन्ति तं योगिन एव प्रपश्यन्ति अनुभवन्ति ।१६।

मूलानुवाद ।

मनुष्य असाधन और ससाधन भी हो सकता है किन्तु आभ्यन्तरीण चिणद्रूप ब्रह्म दोनोके लिये ही समान हैं। [केवल मनुष्य ही क्यो] मुक्त हो अथवा वद्ध हो दोनों का ही आत्मस्वरूप समान है। तव विशेषता यही है कि केवल मुक्त पुरुष ही मधुका धारा पाते है। मुक्त लोग जिनके स्वरूपका लाभ करते है उनका योगी अनुभव करते है ॥१६॥

कालिकाभास ।

आत्माके स्वरूपमे कोई भेद नहीं है। तव विशेषता यही है कि वद्ध जीव दुःखका परिहार करके रूपरसादि विषयों से लब्ध सुखकणका उपभोग करता है; और मुक्त पुरुष दुःख संस्पर्शके अभाव प्रयुक्त निरतिशय ब्रह्मानन्दमे निमज्जित रहते हैं। इसी तात्पर्यको विकशित करनेके लिये यह श्लोक लिखा गया है।

जिस वस्तुके द्वारा कोई कर्म निष्पादित होता है, उसको साधन कहते हैं। यहां तक कि जिन उपायोंसे ज्ञानकी उत्पत्तिके विषयमें सहायता मिलती है, उनको भी साधन ही कहते है। इसलिये नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्र फल भोगविराग शमदमादि षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्वा ये चारों ब्रह्मविद्याके कारण होनेसे अद्वैतवादी वेदान्तिक लोगोंके द्वारा साधन ही कहे जाते हैं।

पूर्वजन्मार्जित सुसंस्कारके द्वारा अथवा इस जन्मके आ·

राधनादि सत्कर्मके द्वारा जिनकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, उनमें ही नित्या नित्य वस्तु विवेकका प्रादुर्भाव होता है। संसार दुखमय है, इस लिये वस्तु विवेक मनुष्यके मनस्तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे युक्त वस्तु विवेकसे ऐहिक अथवा पारत्रिक भोगसम्बन्धमे मनुष्यको वैराग्य होता है, और इस वैराग्यका अभ्यास होनेसे शम, दम, उपरति तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा ये छः सम्पत्तियां उसको अभ्यस्त हो जाती हैं। मनुष्य जिस समय उन्मत्त मनको विचार के द्वारा वश करना चाहता है, उस समय उसके उस गुणको शम कहते हैं। मनके शान्त हो जाने पर बाह्य-इन्द्रिय-विषयोंमें उसको वृत्ति त्याग करनेकी योग्यता आ जाती है। इसी योग्यताका नाम दम है। दम विषयमें जसा कहा जाता है यह युवक घोड़ा शान्त हो जाने (दब जाने या कसमें आ जाने) के कारण गाड़ो खीचने लायक हुआ है। दम गुण अधिकृत होनेसे रूपरसादि विषयोंमें उसका चित्त आसक्त नहीं होता। उसे इनमें अनासक्ति हो जाती है। इस अनासक्तिका परिभाषिक नाम उपरति है यह उपरति तितिक्षाकी जननी है। तितिक्षाके विना सुख दुःखादि विरुद्ध धर्मोंमें उपेक्षा नहीं हो सकती। तितिक्षाका अभ्यास होनेसे चित्त ब्रह्मविषयमें प्रवेश करता है। चित्तके इस प्रवेश वा ब्रह्म विषय में अभिनिवेशको समाधान कहते हैं। यही वैदान्तिक योगियोंकी समाधि है। इन सब व्यापारोंको लेकर भगवती श्रुति कहती हैः—"शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर अपने ही अन्दर आत्माकी उपलब्धि करनी होती है। यद्यपि इस श्रुतिसे पांच सम्पत्तियोंका संग्रह है तथापि अन्य श्रुतियोंमें श्रद्धा शब्दका उल्लेख रहनेके कारण उक्त छःहोंको ही साधन सम्पत्ति

कहते हैं। —"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते"— यह शास्त्र निर्वचन भी उक्त मतवादका समर्थन करता है।

पूर्वोक्त सम्पत्ति विषयक श्रौत निर्वचनमें कोई क्रम विवक्षित नहीं हुआ है। क्रम विवक्षित रहनेसे एक ही श्रौत निर्वचनमें छःहो सम्पत्तियोंका उल्लेख रहता। इसलिये शमगण अनुशीलन करनेके पहले यदि कोई दम गुणका अनुशीलन करे तौ भी वह शास्त्र विरुद्ध न होगा। विशेषतः श्रद्धा शब्द जब वेदान्तके द्वारा शेषमे कहा गया है अस्तु लोगोंके सिद्धान्तसे भी वह दोषावह नहीं होता है। इस प्रकार की वस्तु गतिका स्वीकार करके भी हम लोगोंने पाँच सम्पतियों का यथा सम्भव क्रम दिखलाया है। तब यह भी कहना होगा कि उक्त श्रौत निर्वचनमें इस प्रकारका क्रम निर्वाचन करनेसे अथवा आरोपित करनेसे शमादि पाँच सम्पतियोसे श्रद्धा का आश्रय होगा, क्योंकि श्रद्धा रहे विना कोई भी सम्पत्ति न तो आचिति हो सकती और न आयत्त हो सकती। जब यह छःके नामसे प्रसिद्ध है तो—"पाठक्रमसे अर्थक्रम ही बलवान होता है"—इस न्यायके अनुसार पहले श्रद्धाका उल्लेख करके पुनः शेष तक शमादिमें क्रमा रोप करने पर भी कोई दोष नहीं होने पाता॥ १६॥

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतश्चाहुतमग्निहोत्रम्।
मा ते ब्राह्मी लघुता मादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते।

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

अन्वयः

[ससाधनो यत्] विद्यया (ब्रह्मज्ञानेन) उभौ लोकौ अनात्मलोकात्मलोकौ) व्याप्य (स्वस्मिन् प्रविलाप्य ज्ञात्वेति भावः) याति (जीवन्मुक्तः सन् विहरति), तत् ([illegible]) अहुतमग्निहोत्रम् [अस्य] हुतम् [एवं] भवति । [अतः] ते ब्राह्मी [वाक्] लघुतां मा आदधीत। [एवं] धीराः (यत) लभन्ते [तत्] नाम प्रज्ञानं (ब्रह्म) स्यात्। [यो ब्रह्मापरपर्य्याय. परमात्मा] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः पश्यन्ति ॥ १७ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

किञ्च—उभाविति। उभौ लोकौ इहपरौ विद्यया ब्रह्मात्मत्वविषयया व्याप्य याति तत् पूर्णानन्दं ब्रह्म । यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति, तस्माद्हुतं चाग्निहोत्रम् अनेनात्मज्ञानेनाभिमुख्येन हुतं भवति । सर्व्वमग्निहोत्रादिकं कर्मफलं चानेनैव सम्पादितं भवतीत्यर्थः । यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति यस्माच्चाहुतमग्निहोत्रं हुतं भवति, तस्मात्मा ते तव ब्राह्मी ब्रह्मविषया विद्या लघुतां मर्त्त्यभावं कर्म्मवदादधीत, अपि तु प्रज्ञानम् आत्मत्वेनैव सम्पादयतु। यदा ब्रह्म, विद्याव्यापृतस्य परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छतः प्रज्ञानमिति नाम स्यात्, ब्रह्मेति नाम भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः —"प्रज्ञानं ब्रह्म" इति। तत्प्रज्ञानं ब्रह्म धीरा धीमन्तो लभन्ते । तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १७ ॥

कालिका ।

ब्रह्मप्राप्तौ सर्व्वफलप्राप्तिं चाह—उभाविति । उभौ लोकौ

आत्मलोकमनात्मलोकञ्च विद्यया ब्रह्माकारया अन्तःकरणवृत्त्या। सोऽहमिति वृत्त्या सार्व्वात्म्याकारया व्याप्य ज्ञात्वा याति; विद्वान् यदैवं तदाग्निहोत्रमहुतमप्यस्य हुतमेव भवति। 'ज्ञानान्मुक्तिरवाप्यते' इति श्रुतेः। "सर्व्वं ज्ञाने परिसमाप्यते" इति न्यायाच्च। तस्मात्ते ब्राह्मी वाक् सोऽहं महानस्मीति वदतस्ते वाक् लघुतां नीवत्वं मा आदधीत मा करोतु दासोऽहमस्मीति मा ब्रूहि। "तं चेद् ब्रुयुरनिवाद्यसीत्यनिवाद्यस्मीति ब्रुयान्नापह्नुवीते ति श्रुत्यैव नामाद्याशान्तमतीत्य ब्रह्माऽहमस्मोति वदतां ब्रह्मविदामनिवादित्व-दोषाभावो दर्शितः। एवंधीरा यल्लभन्ते तत् प्रज्ञानमित्यस्य नामैव स्यात्। "प्रज्ञानं ब्रह्म" ति श्रुतेः। ब्रह्मणा विद्वद्रूपेण स्वमाहात्म्यं न गोपनीयमधिकारिष्वेव। प्राकृतेषु तु गोपनीयमेव। "तथा चरेत वै योगी सत्यं धर्म्ममदूषयन्। जना यथावमन्येरन् गच्छेयु नैंव सङ्गति" ति शास्त्रतात्पर्यात्। एतच्च प्रज्ञानमिति नाम धीरा ध्यानवन्तो लभन्ते। यस्य नाम प्रज्ञानं तं ब्रह्मा-परपर्य्यायं परमात्मानं योगिनः पश्यन्ति। १७।

मूलानुवाद।

साधन सम्पन्न व्यक्ति विद्याके द्वारा उभयलोक व्यापी होते हैं। वे अग्नि होत्रादि कर्मोंको विना किये ही उसका उत्कृष्ट फल लाभ करते है। [अतएव हे महाराज!] आपकी ब्राह्मो श्री कभी कम न हो। [इस तरह] धीर व्यक्ति जो लाभ करते हैं, उनका नाम प्रज्ञान है। प्रज्ञान नामक उस परमात्मा को योगी लोग ही अपने योगबलसे देख सकते हैं॥ १७॥

कालिकाभास

ब्रह्म लाभ होनेसे सब प्रकारके मङ्गल साधित होते हैं यही इस श्लोकमें कहा गया है।

उभय लोक अर्थात् अनात्मभूत संसार तथा आत्मभूत परमात्मा। विद्वान् ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा जगत्‌को ग्रहण कर जीवन्मुक्त होते है। वे यज्ञादि कर्मको परित्याग देने पर भी उसके सुफलसे वञ्चित नहीं होते, क्योंकि चित्तशुद्धि ही याग यज्ञादि का मुख्यफल है, और विद्वान—"सोऽहमादि"—के चिन्तनसे स्वयं ही चित्तशुद्धि लाभ कर लेते हैं। वैदान्तिक लोग भी ऐसे श्लोकके तात्पर्यको स्मरण कर कहते हैं:—

—"मकरन्दं पिबन् भृङ्गो यथा गन्धं न कांक्षति।
नादाशक्तं तथा चित्तं विषयान्नाभिकांक्षति॥ १॥"—

इसलिये ब्रह्म ज्ञानसे यदि कर्मका मुख्यफल पाया जाय तो फिर कर्म करनेकी कौन सी आवश्यकता है? लोग कहते भी हैं:—

"अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥

हे महाराज! वस्तु गति जब इस प्रकार देखी जाती हो, उस समय आप ब्रह्म ज्ञानकी उच्च भूमिका पर रहकर सोहमादिकी चिन्ता त्यागकर दासोऽहमादिकी चिन्ताके द्वारा पातित्य दोष स्वीकार न करेंगे। महाराजको कुमार ऐसा उपदेश देकर भी भक्तिमार्गकी निन्दा नहीं करते। क्योंकि वे कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानही भक्तिकी पराकाष्ठा है। भक्तवेदान्ती भी कहते हैं:—"अन्तर्बहि र्यदा देवं देव भक्तः प्रपश्यति। दासोऽहं भावपन्नेव दाकारं विस्मरत्यसौ॥"—

हे महाराज! ऐसा उपाय अवलम्बन कर धीर व्यक्ति जिनको पाते हैं वही ब्रह्म पर पर्याय परमात्मा है, उसी भगवान सनातन परमात्माको योगी लोग अपने योगमें दर्शन करते हैं॥ १७॥

एवं रूपो महानात्मा
पावकं पुरुषो गिरन्।
यो वै तं पुरुषं वेद
तस्येहात्मा न रिष्यते॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम्॥ १८॥

अन्वयः।

एवंरूपः (प्रज्ञानैकरसब्रह्मस्वरूपः) यः आत्मा पावकं (योगादिरूपं कर्म्मभेदं) गिरन् (स्वात्मन्युपसंहरन्) [आस्ते] स महान् (भवति)। यो वै तं पुरुषं (सच्चिदानन्दं) वेद तस्य आत्मा इह (अस्मिन्नेव देहे) न रिष्यते (न विनश्यति)। (यं विदित्वा तद्विद आत्मा रिष्यते) तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति। १८।

शाङ्करभाष्यम्।

किञ्च—एवमिति! य एवंरूपं प्रज्ञानैकरसो ब्रह्मस्वरूपः सन्नास्ते, स आत्मा महान् संपद्यते ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः। पावकमग्निं सर्व्वोपसंहर्त्तृरूपं स कारणं कार्य्ये गिरन् स्वात्मन्युपसंहरन् यो वै तं पुरुषं ज्ञानैकरसं पुरुषं पूर्णं पुरिशयं वेद 'अयमहमस्मी'ति साक्षाज्जानाति, तस्य प्रज्ञानरूपं परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छतः इहास्मिन्नेव देहे आत्मा न रिष्यते न विनश्यति। विदुष उत्क्रान्तेरसम्भवात्, उत्क्रान्तिनिमित्तत्वाद्विनाशस्य। तथा च श्रुतिः प्रश्नपूर्वकमुत्क्रान्त्यभावं दर्शयति—"उदस्मात्प्राणाः क्रामन्ति आहो नेति २ हीवाच याज्ञवल्क्यः, अत्रैव समवलीयन्ते", "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य

एवं वेद" इति च। यं विदित्वा न रिष्यते तं योगिन एव पश्यन्ति ।१८।

कालिका

कर्म्मफलवदेव ज्ञानफलं नानित्यमित्याह—एवंरूप इति। एवं रूपो वाङ् मनसातीतो जननमरणादिरहित. प्रज्ञानैकरसब्रह्मस्वरूपो य आत्मा पावकं लक्षणया गृह्यपरिशिष्टवर्णितं क्रियाभेदं गिरन् स्वात्मन्युपसंहरन् आस्ते, सः पुरुषो महान् भवति। तदुक्तं पौराणिकैः—

> बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः
> पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः १॥ इति।

यो वै तं पुरुषं पूर्णं पुरिशयं सच्चिदानन्दं वेद सोऽहमिति साक्षाज्जानाति, तस्य परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छत इह अस्मिन्नेव देहे आत्मा न रिष्यते न विनश्यति। निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यत इति शास्त्रनियमात् । ब्रह्मभावं गतस्य विदुष उत्क्रान्तेरसम्भवात् । तथा हि परमा श्रुतिः —"अत्रैव समवलीयन्ते न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद" इति। "योऽकामो निष्काम आप्तकामः स्यान्न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्त" इति च। यद्यपि वेदेषु क्वचिदेव मरणामरणयोरभेदः क्वचिच्च तयोर्भेदो व्यपदिश्यते तथापि तत्रोभयव्यपदेशात् सर्पकुण्डलिन्यायेन सिद्धान्तयितव्यः । यथा सर्पत्वेनाभेदः कुण्डल्याख्यस्य सर्पावस्थाविशेषस्य कुण्डलित्वेन तु भेदः, एवं जननमरणादिहीनकारणरूपेण तस्याभेदो जननमरणादिकार्यरूपेण च तस्य भेद इति तत्त्वम् । यं विदित्वा पुरुषो न रिष्यते तं भगवन्तं सनातनं योगिन एव प्रकर्षेण पश्यन्ति । १८ ।

मूलानुवाद ।

इस प्रकार जो आत्म रूप अग्निको अपने अभ्यन्तर ही उपसंहार करते हैं वे महान् कहलाते हैं। और जो उस पुरुषको जान सकते हैं, उनकी आत्मा इस देहमें भी कभी नष्ट नहीं होती। जिनको जाननेसे आत्माका विनाश नहीं होता, उस सनातन भगवान परमात्माका योगी लोग ही प्रकृष्ट भावसे अपने योग बलके द्वारा दर्शन करते हैं ॥ १८ ॥

कालिकाभास ।

कर्मफलके समान ज्ञानफल अनित्य नहीं है यही इस श्लोकमें प्रदर्शित किया गया है। पहलेके श्लोकमें आचार्यने कहा है कि ससाधन व्यक्ति अग्निहोत्रादि कर्मोंके विना किये भी उसके फलसे युक्त होता है। किन्तु ऐसा फल पानेके बाद तथा प्रज्ञान लाभ करनेके पहले साधकका देहपात होनेसे क्या होगा-यह पहले नहीं कहे जाने के कारण यहां कहा जाता है। इस प्रकार जो आत्मा रूपी अग्नि को अपने अभ्यन्तरमें उपसंहार करके रहते है वे महान कहलाते हैं। शास्त्र भी ऐसे साधकोंको अधिकार भेदसे बौद्ध अथवा अव्यक्त चिन्तक कहते हैं। इसीलिये यहां उनकी आत्माको महान कहा है। इसलिये यहां उनके आत्माको महान कहा है।

अपवित्र वस्तु अग्निके संयोगसे पवित्र हो जाता है, इसी अग्नि को पावक कहते है। काशी खण्डके नवें अध्यायमें लिखा गया है:—"अपावनानि सर्व्वाणि वह्निः संसर्गतः क्वचित्। पावनानि भवन्त्येव तस्मात स पावकः स्मृतः ॥ १ ॥ यह पावक या अग्नि २७ सत्ताइश प्रकार की होती है। स्मृति कहती हैं:—

"ब्रह्मणोऽङ्गात् प्रसूतोग्निरङ्गिरा इति विश्रुतः।
दक्षिणाग्नि गार्हपत्याहवनीया विति त्रयी ॥ १ ॥

निर्मन्थ्यो वैद्युतः शूरः सम्वर्तो लौकिकस्तथा ।
जाठरो विषगः क्रव्यात् क्षेमवान् वैष्णव स्तथा ॥ २ ॥
दस्युमान् बलदश्चैव शान्तः पुष्टो विभावसुः ।
ज्योतिष्मान् भरतो भद्रः स्विष्टकृद् वसुमान् क्रतुः ॥ ३ ॥
सोमश्च पितृमांश्चैव पावकाः सप्तविंशतिः ॥

इन सब अग्निओ को लक्ष्य करके जात्यर्थ एक वचनान्त पावकशब्द व्यवहृत हुआ है । और गृह्य परिशिष्ट में जिन २ नाम के अग्नि के द्वारा जो २ जातीय संस्कार की निष्पत्ति परामृष्ट हुये है वे उन २ जातीय संस्कारो को भी लक्ष्य करते हैं ऐसा इस पावकशब्द का प्रयोग समझना होगा । जैसे "उन्हों ने योजकाग्नि अग्नि मे आहुति दी है" कहने मे समझना होगा कि उन्हो ने दारपरिग्रह किया है । क्योंकि विवाह संस्कार में आहूत अग्नि का नाम योजक है। गोभिल सूत्र के गृह्य संग्रह मे जिस संस्कार मे अग्नि का जो नाम दिया गया हैं वही निचे लिखा जाता है ।

"लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः ।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ॥
पुंसवने चन्द्रनामा शुङ्गाकर्मणि शोभनः ।
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि ॥
नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्नि प्राशने च शुचिस्तथा ।
सत्यनामाथ चूड़ायां व्रतादेशे समुद्भवः ॥
गोदाने सूर्यनामा च केशान्ते ह्यग्नि रुच्यते ।
वैश्वानरो विसर्गे हि विवाहे योजक स्तथा ॥
चतुर्थ्यां तु शिखी नाम धृति रग्नि स्तथाऽपरे ।
प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः॥
लक्षहोमे च वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः ।

मूलानुवाद ।

इस प्रकार जो आत्म रूप अग्निको अपने अभ्यन्तर ही उपसंहार करते हैं वे महान् कहलाते हैं। और जो उस पुरुषको जान सकते हैं, उनकी आत्मा इस देहमें भी कभी नष्ट नहीं होती। जिनको जाननेसे आत्माका विनाश नहीं होता, उस सनातन भगवान परमात्माका योगी लोग ही प्रकृष्ट भावसे अपने योग बलके द्वारा दर्शन करते हैं॥ १८ ॥

कालिकाभास ।

कर्मफलके समान ज्ञानफल अनित्य नहीं है यही इस श्लोकमें प्रदर्शित किया गया है। पहलेके श्लोकमे आचार्यने कहा है कि ससाधन व्यक्ति अग्निहोत्रादि कर्मोंके विना किये भी उसके फलसे युक्त होता है। किन्तु ऐसा फल पानेके बाद तथा प्रज्ञान लाभ करनेके पहले साधकका देहपात होनेसे क्या होगा-यह पहले नहीं कहे जाने के कारण यहां कहा जाता है। इस प्रकार जो आत्मा रूपी अग्निको अपने अभ्यन्तरमें उपसंहार करके रहते हैं वे महान कहलाते हैं। शास्त्र भी ऐसे साधकोंको अधिकार भेदसे बौद्ध अथवा अव्यक्त चिन्तक कहते है। इसीलिये यहां उनकी आत्माको महान कहा है। इसलिये यहां उनके आत्माको महान कहा है।

अपवित्र वस्तु अग्निके संयोगसे पवित्र हो जाता है, इसी अग्निको पावक कहते हैं। काशी खण्डके नवें अध्यायमे लिखा गया हैः—"अपावनानि सर्व्वाणि वह्निः संसर्गतः क्वचित्। पावनानि भवन्त्येव तस्मात स पावकः स्मृतः॥ १॥ यह पावक या अग्नि २७ सत्ताइश प्रकार की होती है। स्मृति कहती हैं:—

"ब्रह्मणोऽङ्गात् प्रसूतोग्निरङ्गिरा इति विश्रुतः।
दक्षिणाग्नि गार्हपत्याहवनीया विति त्रयी॥ १॥

निर्मन्थ्यो वैद्युतः शूरः सम्वर्तो लौकिकस्तथा ।
जाठरो विषगः क्रव्यात् क्षेमवान् वैष्णव स्तथा ॥ २ ॥
दस्युमान् वलदश्चैव शान्तः पुष्टो विभावसुः ।
ज्योतिष्मान् भरतो भद्रः स्विष्टकृद् वसुमान् क्रतुः ॥ ३ ॥
सोमश्च पितृमांश्चैव पावकाः सप्तविंशतिः ॥

इन सब अग्निओं को लक्ष्य करके जात्यर्थ एक वचनान्त पावकशब्द व्यवहृत हुआ है । और गृह्य परिशिष्ट में जिन २ नाम के अग्नि के द्वारा जो २ जातीय संस्कार की निष्पत्ति परामृष्ट हुये हैं वे उन २ जातीय संस्कारो को भी लक्ष्य करते हैं ऐसा इस पावकशब्द का प्रयोग समझना होगा । जैसे "उन्हों ने योजकाग्नि अग्नि मे आहुति दी है" कहने मे समझना होगा कि उन्हों ने दारपरिग्रह किया है । क्योंकि विवाह संस्कार मे आहूत अग्नि का नाम योजक है। गोभिल सूत्र के गृह्य संग्रह में जिस संस्कार मे अग्नि का जो नाम दिया गया हैं वही निचे लिखा जाता है ।

"लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः ।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ॥
पुंसवने चन्द्रनामा शुङ्गाकर्मणि शोभनः ।
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि ॥
नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्नि प्राशने च शुचिस्तथा ।
सत्यनामाथ चूड़ायां व्रतादेशे समुद्भवः ॥
गोदाने सूर्यनामा च केशान्ते ह्यग्नि रुच्यते ।
वैश्वानरो विसर्गे हि विवाहे योजक स्तथा ॥
चतुर्थ्यां तु शिखी नाम धृति रग्नि स्तथाऽपरे ।
प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः॥
लक्षहोमे च वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः ।

पूर्णाहूत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदः सदा ॥
पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधोग्नि श्चाभिचारिके।
कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे ॥
आहूय चैव होतव्यो यत्र यो विहितोऽनलः ॥

कोई कोई कहते हैं कि अग्नि जैसे अपनेहीमें अपना तेज उपसंहार कर क्रमशः निर्वाण (बुझ जाना) प्राप्त करता है, वैसेही— "ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"— । इस श्रुति के अनुसार समाधान व्यक्ति अपनेमें अपना जीवत्व उपसंहार कर क्रमशः परमब्रह्म में लीन हो जाता है। श्लोकका ऐसा अर्थ करने से यद्यपि भाव गौरव तो होता है तौभी प्रसङ्गानुसार श्लोक की व्याख्या दूसरे प्रकार से दी गई हैं।

शास्त्र कहते हैं कि महत्तत्व को अपने मे उपसंहार करलेने पर पुरुष अर्थात् परमात्मा का दर्शन करके जीव चिरकालके लिये संसार मुक्त होता है। इसीसे श्लोक में " यो वै तं पुरुषं वेद " इत्यादि वाक्य लिखे गये हैं। और श्रुतियो ने भी कही हैं—कि ब्रह्मज्ञ व्यक्तियो की उत्क्रान्ति सम्भव नही हैं। क्योंकि देह के साथ उनका समस्त जन्म संस्कार लय हो जाता है। जिन के जानने से जीव ऐसी अवस्था पाता है उनको (परमात्माको) योगी लोग प्रकृष्ट भाव से अनुभव करते हैं ॥ १८ ॥

सदा सदा सत्कृतः स्याद्
न मृत्युरमृतं कुतः ।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धने
सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम्

अन्वयः ।

सदा सदा सत्कृतः (क्षेत्रज्ञरूपः) स्यात् । न मृत्युः। अमृतं कुतः ? सत्यानृते (विद्याविद्ये) सत्यसमानुबन्धिनी (सत्यैकाश्रये) । सतः असतश्च एक एव योनिः । [य एवंरूपः] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति ॥ १६ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

यस्मात्तद्विज्ञानादेव नात्मनो विनाशस्तस्मात्—सदेति । सदा सर्व्वदाऽहर्निशं सत्कृतः स्यात् सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनाभिमन्येत यः स सदा सत्कृतो भवति । तस्य न मृत्युः जननमरणलक्षणः संसारो न भवेत् । अमृतं कुतः मृत्युसापेक्षत्वादमृतस्य तदभावे कुतः प्रसक्तिः । तथा च श्रुतिः—“मृत्युर्नास्त्य मृतं कुतः” इति । सत्यानृते च वर्त्तेते सत्यसमानुबन्धिनी परमार्थसत्यमेकमधिष्ठानमनुबध्य वर्त्तेते रज्ज्वामिव सर्पः । कथमेतदवगम्यते—सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनी इति ? तत्राह—सतश्च लौकिकस्य योनिः कारणम् असतश्च व्यावहारिकस्य रजतादेः एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म यस्मात् प्रवदन्ति, तस्मात्सत्यानृते स्वकारणभूतसत्यसमानानुबन्धिनी इति । यदात्मतत्त्वज्ञानात्मककारणात् मृत्यो विनाशः, यमनुबध्यसत्यानृते वर्त्तेते, तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १६ ॥

कौलिका ।

इदानीं जीवन्मुक्तानामनुभवमनुवदति—सदेति । सदा सदा कालत्रयेऽपि सत्कृतः स्यात् सोऽहमस्मीत्यादि श्रौतवाक्यज्ञानेन क्षेत्रज्ञरूपः स्यात् । नाहं सदाऽसत्कृतः स्यामिति पाठे तु नाहर्निशमसता देहेन्द्रियादिना तादात्म्याध्यासेन वा सुखदुःखादिधर्म्मवान् कृतः स्याम् । नाहं सूत्रे प्रोता दारुमयीव योषा भवेयमितिभावः । अतएव देहादि-

वियोग रूपो मृत्युर्न संभवति। मृत्योरभावे पुनरमृतं कुतः ? अमृतस्य मरणसापेक्षत्वाद् मरणाभावे कुतस्तत्प्रसक्तिरिति भावः। भवति च तदनुवादिनी श्रुतिः "मृत्युर्नास्त्यमृतं कुतः" इति। तत्र हेतुमाह—सत्यानृते इति। सत्यं ज्ञानमनृतमज्ञानम्। सत्यं ब्रह्मैव समानं वन्धनं मूलं ययोस्ते सत्यसमानवन्धने। सत्यानृते इत्यस्य विशेषणम्। मायामूलत्वादनृतस्यापि सत्येन सह ब्रह्मण्येव वन्धनं सूचितम्। तदुक्तं मङ्गलाचरणे कालिकायां—ज्ञानमूर्त्ते दयामूर्त्तेऽज्ञानमूर्त्ते विशेषत इति। कथमेतदवगम्यते ? सतस्तात्त्विकस्य असतस्तद्विपरीतस्य च योनिरेक एवेति। सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ....असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमित्येवमादिश्रुतेः। य एवंरूपस्तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रकर्षेण पश्यन्ति ॥१६॥

मूलानुवाद।

सदा सुसत्कृत रहना उचित है। (अथवा मैं कभी असत्कृत नहीं रहूंगा)। (ऐसा होनेसे) मृत्युशब्द निरर्थक हो जायगा। [मृत्यु शब्दके निरर्थक होनेसे] अमृतत्व कैसे सम्भव होगा। सत्यानृतको सत्य समान वन्धन कहते हैं क्योंकि सत्य एवं असत्य दोनों ही ब्रह्ममूलक हैं। जो इस प्रकार सारे वस्तुके मूल हैं उसी सनातन भगवानको योगी लोग प्रकृष्टभावसे अनुभव करते हैं ॥१६॥

कालिकाभास।

यहाँ जीवन्मुक्त लोगोंका अनुभव वर्णन किया जाता है। सदा सर्वदा अर्थात् सब समय। सत्कृत रहना उचित है अर्थात सोहमादि ज्ञानोंके द्वारा क्षेत्रज्ञ होना परम आवश्यक है। मैं कभी असत्कृत नहीं रहूंगा "—

ऐसा पाठ रहने से समझना होगा कि असत् अर्थात देहेन्द्रियादि के द्वारा मैं अपने को सुख दुःखादिधर्मवान नहीं मानूंगा।

इस कथन का यह तात्पर्य है कि सूत्र (तागे) में वंधे हुये कठपुतली के समान मैं इन्द्रियों के द्वारा परिचालित नहीं होऊंगा।

इस प्रकार वस्तुसिद्धि होने पर देहपात रूप मृत्यु नामक कोई भी चीज सिद्ध नहीं होता। और यदि मृत्यु सिद्ध नहीं होता तो फिर अमरत्व कैसे सिद्ध होगा। क्यों कि मरण की आपेक्षिता में अमरत्व के सिद्ध होने से मरण के अभाव मे अमरत्व की बात ही अप्रासङ्गिक हो जाती हैं। इस विषय में श्रुतियों ने भी कहा है कि जब मृत्यु ही नहीं है तो अमरत्व कहा? स-लिये इन सब बातो का कारण दिखाने के लिये आचार्य ने फिर कहा:—सत्यानृतमे सत्यसमानवन्धन में अर्थात सत्यानृतको सत्य के समानवन्धन कहते हैं।

सत्य अर्थात् ज्ञान और अनृत अर्थात् अज्ञान वा अविद्या सत्य अर्थात सत्यात्मक ब्रह्म जिनके समान वन्धन अथवा मूल हों वे ही सत्यसमान वन्धन हुये। समस्त पदही सत्यानृत का विशेषण है। अनृत माया मूलक और माया को ब्रह्माधिष्ठित रहने के कारण सत्य के साथ अनृत को भी ब्रह्ममूलक ही कहा गया। इस तरह की दृष्टि को अवल-म्बन करके कालिका के मङ्गला चरण मे भगवती कालिका देवी को ज्ञान मूर्ति कहकर पुनः अज्ञान मूर्ति कहा है। आचार्य भी अपना अभिप्राय उद्घाटन करके पुन कहते हैं--कि ब्रह्महो सदसत् का एक मात्र उत्पत्तिस्थान हैं। यह बात भी श्रुति मूलक अवश्यही है। श्रुतियों ने जो कुछ कहा है वह कालिका में देख सकते हैं।

जो सब वस्तुओं के उत्पत्तिस्थान हैं उसी सनातन भगवान को योगी लोग अपने योग मे प्रकृष्ट भाव से अनुभव करते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २० ॥

अन्वयः ।

सः असौ अजः चरः, [अपि] हृदये निविष्टः (प्रतिष्ठितः) दिवारात्रमतन्द्रितः अङ्गुष्ठमात्र. अन्तरात्मा न दृश्यते । तं मत्वा कविः प्रसन्न आस्ते ॥ २० ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

अङ्गुष्ठमात्र इति । आत्मनाऽऽदिदेहान्तं जगत् सृष्ट्वा हृदये निविष्टः अजः चरः चराचरात्मा सन्न दृश्यते स्वेनाऽऽत्मना चित्सदानन्दाद्वितीयेन । तम् अहोरात्रम् अतन्द्रितो भूत्वाऽन्नादिकोशपञ्चकेभ्यो निष्कास्य सर्वान्तरात्मानं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः कृतार्थः सन्नित्यर्थः ॥ २० ॥

कालिका ।

सः असौ पुरुषः पूर्णत्वात् पुरिशयनाद्वा अजो जन्मादिरहितः चरो गमनशीलोऽपिहृदये निविष्टः प्रतिष्ठितः "सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमि"तिश्रुतेः अङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्य वर्त्यनश्वरकल्पो ब्रह्मात्मभ्योऽन्नमयादिभ्यः पञ्चभ्य आन्तर इति अन्तरात्मा न दृश्यते रूपादिहीनत्वात् । तं मत्वा ज्ञात्वा कविःक्रान्तदर्शी कर्मभ्य उपरतः साधकः प्रसन्न आस्ते उपाधिकृतकालुष्यत्यागान्निर्मलो भवति । आस्ते आसीत लिङर्थे लेट् ॥ २० ॥

मूलानुवाद ।

वह जन्मादि रहित पुरुष गमन शील होने पर भी हृदय मे प्रतिष्ठित (स्थिर—अचल) ही रहते हैं। वे अङ्गुष्ठमात्र अन्तरात्मा होने पर भी किसी के गोचरीभूत (नजर) नहीं होते कवि उनको जान कर प्रसन्नता लाभ करते हैं ॥ २० ॥

कालिकाभास ।

कठोपनिषद् मे कहा गया है;—
"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट', (६ । १७)। अस्तु आचार्य का यह श्लोक भी श्रुतिमूलक है ॥२०॥

तस्माच्च वायुरायात-
स्तस्मिंश्च प्रलयस्तथा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च
तस्माच्च प्राण आगतः ॥ २१ ॥
सर्व्वमेव ततो विद्या-
त्तत्तद्वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिन स्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥

अन्वयः

तस्मात् (परमपुरुषात्) च वायुः (लक्षणया महाभूतम्) आयातः । तथा प्रलयश्च (तस्मिन् सम्पन्नो भवति) । तस्मात् (परमपुरुषात्) अग्निश्च सोमश्च (आयातः) । तस्माच्च प्राणः आगतः । सर्व्वमेव ततो विद्यात् । (यद्‌यत् तत आगतं) तत्तद्वक्तुं न शक्नुमः । [यतः सर्व्वमायातं] तं भगवन्तं सनातनं योगिनः प्रपश्यन्ति । ॥ २१—२२ ॥

शांकरभाष्यम् ।

ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वमाह—तस्माच्चेति द्वाभ्याम् । श्लोकौ स्पष्टौ । २१ २२ ।

कालिका ।

इदानीं परमेश्वरं सर्व्वेषां चरमकारणत्वेन निरूपयति—तस्मादिति । तस्मात् परस्मात् पुरुषात् । वायुरिति भुतानामुपलक्षणम् । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी" तिश्रुतेः । अग्नि र्लोकावस्थानविशेषरूपः । सोमो द्यु लोकाग्नेर्निष्पन्नः । यद्वा अग्निरन्नादः । सोम आप्यायकमन्नं द्रव्यात्मकम् । यदार्द्रं प्रजापतिना रेतसः सृष्टं तदु सोम इति श्रुतितात्पर्य्यात् । प्राणशब्दप्रयोगदर्शनेन च अवभ्रियते यद्य ते तदेव सोमो य एवात्ता स एवाग्निरिति । एवमग्नीषोमात्मकं जगत् परस्मात् पुरुषादुत्पन्नमित्यत्र विवक्षितम् । प्राणशब्देन देहेन्द्रियादिसंघातग्रहणम् । सर्व्वं तत एव प्रसूतमिति विद्यात् । तत्तत्—पुरुषस्य नानात्वम् । इन्द्रं पुरोरूपं यं वक्तुं न शक्नुम स्तं वाचामगोचरं योगिनः पश्यन्ति । २१—२२ ।

मूलानुवाद ।

उसी परम पुरुष से वायु आदि महाभूत, निकलते है और पुनः उसी मे लौट जाते हैं । अग्नि, सोम तथा प्राण उनसे ही आते हैं । संसार में जो कुछ देखा जाता है वह परम पुरुष से ही निकला है । उनसे जो जो वस्तु उत्पन्न होती हैं, उसे हम लोग किसी तरह वर्णन नही कर सकते जो सारे पदार्थों का मूल तथा आधार है, उन परम पिता सनातन परमात्मा का योगी ही दर्शन कर सकते है ॥ २१—२२ ॥

कालिकाभासः ।

परमेश्वर ही जगत् विषयक स्थितिभङ्ग का कारण हैं—यही इन दो श्लोकों से प्रदर्शित किया गया है ॥ २१—२२ ॥

तत् प्रतिष्ठा स्तदमृतं
लोका स्तद्ब्रह्म तद्यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात्
प्रलयं यान्ति तत्र वै ॥ २३ ॥

अन्वयः ।

तत् (ब्रह्म) प्रतिष्ठाः (अधिष्ठानं) [सर्वेषामिति शेष] । तत् (ब्रह्म) अमृतं (मोक्षः) [मुमुक्षूणामिति शेषः] । तद् ब्रह्म लोकाः (स्वर्गादयः) [भोगिनामिति शेषः] । तत् (ब्रह्म) यशः (कीर्त्ति निदानम्) । तस्मात् भूतानि जज्ञिरे, तत्र वै (तानि) प्रलयं यान्ति ॥ २३ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

स्पष्टोऽर्थः

कालिका ।

पूर्वकथां स्फुटयति—तत् प्रतिष्ठा इति । निगदव्याख्यानेन व्याख्यातोऽयं श्लोकः ॥ २३ ॥

मूलानुवाद ।

वे ही सबके आश्रयस्थान हैं । वे ही मुमुक्षुओं के मोक्ष हैं । वे ही भोगियों के भोगस्थान अथवा भोगभूमि हैं । वे ही सब प्रकार के कीर्ति के कारण हैं । उनसे ही महा भूतों का उद्‌य होता है, और उनमें ही उनका प्रलय भी होता है ॥ २३ ॥

परमात्मेति शेषः। महान्ता इति पाठे तु महान् दुरधिगमोऽन्तो येषां त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

मूलानुवाद ।

जो द्योतनशील (प्रकाशमान) दो पदार्थों को, पृथ्वी को, स्वर्ग को, दिशा समूह को तथा भुवन को धारण किये हैं, जिनसे दिक समूह तथा नदियां प्रवाहित होती हैं, और जिनसे समुद्र गण अपनी २ विशालता पाये हैं, वे ही शुक्ल अर्थात् स्वयं दीप्यमान ब्रह्म अथवा परमात्मा हैं ॥ २४ ॥

कालिकाभास ।

ब्रह्मापर पर्य्याय परमात्मा हो विश्वकर्त्ता हैं—यही विवृति रूप से स्थूणानिखनन न्याय के द्वारा दृढ़ करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है। मूल श्लोक में शुक्लशब्द स्वयं दीप्यमान ब्रह्म को ही लक्ष्य कर व्यवहृत हुआ है। उभौ देवौ—अर्थात् दोनों द्योतन शील पदार्थ। इससे चन्द्रमा तथा सूर्य येही दोनों लक्ष्य किये गये हैं। चन्द्रमा तथा सूर्य के विषय में भगवती श्रुतिने क्या कहा है उसे कालिका में देखें। दिक् अर्थात् दिशा विदिशा। क्योंकि विदिक समूह भी दिशा ही के समान पदार्थ गति के साधन के नाम से गृहीत हुआ है। भुवन अर्थात् जल। जीवों का अनुग्राहक कहकर जैसे चन्द्रमा और सूर्य माने गये हैं वैसेही जीवों का आश्रय स्थान कहकर जलार्थक भुवन—शब्द भी लिखा गया है। जल के बिना जीवों की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती, इसी लिये जलार्थक भुवन—शब्द को जलवाचक समझना अप्रासंगिक नहीं है।

जिन से नदियां तथा नदियों के समान दिग् विदिक्—समूह भी प्रवाहित होते हैं और जिनसे समुद्र अपनी विशालता

पाये हैं वे ही ब्रह्मःपरपर्याय परमात्मा हैं। इसी बात को कहने के लिये श्लोक का शेषांश लिखा गया है ॥ २४ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां
पक्षानाहृत्य सपतेत्।
नान्तं गच्छेत् कारणस्य
यद्यपि स्यान्मनोजवः ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ २५ ॥

अन्वयः।

यथाऽव्याख्यानमन्वयः।

शाङ्करभाष्यम्।

इदानीं ब्रह्मणोऽनन्तत्वं कथयति यः सहस्रमिति। यः पुरुषः सहस्राणां सहस्रं पक्षानाहृत्यात्मनः पक्षान् कृत्वा संपतेत् अनेकशः कोटिकल्पमपि पुरुषो नान्तं गच्छेत् सर्वकारणस्य परमात्मनः। यद्यप्यसौ मनोजवस्तथापि तस्यान्तं न गच्छेत्। यस्मादन्तं न गच्छति तस्मादनन्तः परमात्मेत्यर्थः। यः अनन्तः परमात्मा तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ २५ ॥

कालिका।

अधुनैव सर्व्वं दूरस्थं जानीयामित्यभिनिवेशवता शीघ्रचारिणा ब्रह्मणो दुर्ल्लभत्वं दर्शयन् सर्वं दूरस्थमपि हार्द्दाकाशे भवतीत्याह य इति। सहस्राणां सहस्रं दशलक्षाणि पक्षानाहृत्य संतत्य यो गरुड़प्रकृतिः सम्पतेत् स.कारणस्य ब्रह्मणोऽन्तं न गच्छेत्। ततो वा किम्, यद्यपि स मनोजवो मनस्तुल्यगामी निष्पतनशीलःस्यात्,

तथापि कारणस्य ब्रह्मणोऽन्तमवसानं न गच्छेत् । ब्रह्मणो विभुत्वादनन्तत्वाच्च तत्वज्ञानादृते जड़साधनतया तत्प्राप्तिर्न सम्भवतीति भावः । 'यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' ॥ इत्येवंजातीयकनिर्वचनात् । य इदृशभावापन्नस्तं योगिन इत्यादि च । २५ ।

मूलानुवाद ।

यदि कोई हजारों पाखो को फैलाकर गमन करें तथापि वे ब्रह्म का अन्त नहीं पा सकते। और तो क्या यदि कोई मनके समान भी वेगवान हो जांय तौ भी वे ब्रह्म का शेष वा अन्त नही देख सकते। जो ब्रह्मा परपर्याय परमात्मा इस प्रकार स्वभाव सम्पन्न है, उनका दर्शन योगी लोग ही कर सकते है ॥२५।

कालिकाभास ।

"नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यम्" इत्यादि श्लोकोंके द्वारा जो पहलेही कहा जा चुका है, यहा वही एक दूसरे ही ढङ्गसे कहा जाता है । यदि कोई गरुड़ की प्रकृति को अवलम्बन कर अनन्त पांखो को खूब फैलाकर उड़ें, तौभी वे ब्रह्मका शेष अथवा अन्त नहीं देख सकते । केवल गरुड़ प्रकृति ही क्यों यदि कोई मनके समान भी तीव्रगामी हो जाय तौ भी वे ब्रह्म का अन्त नहीं पा सकते। क्योकि भक्ति श्रद्धादि निष्पादित तत्त्वज्ञानके सिवाय दूसरे किसी जड़ साधनके द्वारा उनको नहीं पा सकते। शास्त्रोंने भी कहा है कि मनुष्य यदि आकाश को चमड़े के समान लपेट सकता अथवा कपड़े के समान तह लगा सकता तबही शायद वह मङ्गलजनक तत्त्वज्ञान के बिना ब्रह्मप्राप्तिमूलक दुःख नाश कर सकता । इस प्रकार

अनन्तभावापन्न ब्रह्मका योगी ही अपने २ हृद्याकाशमें दर्शन करते हैं। आचार्यने पहले भी कहा है:—"बुद्धौप्रलीने मनसि-प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या।" ॥ २५ ॥

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः।
हितो मनीषी मनसाभिपश्येद्
एनं विदुरमृता स्ते भवन्ति ॥ २६ ॥

अन्वयः।

अस्य (परमात्मनः) रूपं दर्शने (चक्षुरादिविषये) न तिष्ठति सुसिद्धसत्त्वाः (वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः) एनं पश्यति। हितः (मैत्रादिप्रसाधितः) मनीषी (निरुद्धवृत्तिको योगी) च मनसा (वृत्तिहीनेन मनसोऽवस्थाविशेषेण) अभिपश्येत्। ये (प्रागुक्ता ज्ञानिनो योगिनश्च) एनं विदुः, ते अमृताः (मरणधर्म-रहिताः) भवन्ति ॥२६ ॥

शांकरभाष्यम्।

किञ्च न दर्शन इति। न दर्शने दर्शनायोग्यविषये तिष्ठति रूपमस्य परमात्मनः। तथा च श्रुतिः—"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य" इति। पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः। यद्यपि दर्शनायोग्ये तिष्ठति तथापि परमात्मानं पश्यन्ति। के ते ? सुसमिद्धसत्त्वाः सुष्ठु समिद्धं सम्यग्दीप्तं सत्त्वमन्तःकरणं यज्ञादिभि र्विमलीकरण-संस्कारेण येषां ते सुसमिद्धसत्त्वाः। यस्मादेवं तस्माद्धीनो राग-द्वेषादिमलरहितो विशुद्धसत्त्वो मनीषी मनसाऽभिपश्येत्। य एनं परमात्मानं विदुरयमहमस्मीति अमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २६ ॥

कालिका ।

ब्रह्मदर्शनार्थं ज्ञानयोगयोरनुगुणं साधनद्वयमाह—नेति । अस्य प्रत्यगात्मनो रूपं दर्शने चक्षुराद्यक्तविषये न तिष्ठति। परतन्त्रं वहि मन इति न्यायात्। दर्शनमित्युपलक्षणम्। कोऽपि-परतन्त्रेण मनसा ब्रह्मणः स्वरूपं ग्रहीतुं न शक्नुयादिति तात्पर्यम् । श्रुतिरप्याह—"न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैन मि"ति। के पुनरेनं पश्यन्ति ? ये सुसमिद्धसत्त्वाः। सु सुष्ठु समिद्धं ज्ञानविशेषेण सम्यग्दीप्तं सत्त्वमन्तःकरणं येषां ते सुसमिद्धसत्त्वा वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इतिभावः। पुनश्च क एनं पश्येत् ? हितो मैत्रादिचतुष्टयप्रसाधितो मनीषी निरुद्धवृत्तिको योगी मनसा शिवसङ्कल्पेन मनसा वृत्तिहीनेन मनसोऽवस्थाविशेषेणेति यावदभिपश्येत्। शिवसङ्कल्पस्य मनस आनन्त्येन ब्रह्मण आनन्त्यं ग्रहणीयमित्याशयः। श्रूयते चाश्वलयाज्ञवल्क्यसंवादे "मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयती' ति। स्थिर इति पाठे तु क्रियायोगपरिपाकेन निरुद्धवृत्तिक इत्यर्थः । वहुवचनैकवचने नादरणीये भवतः। अर्थमात्रपरत्वात् । य औपनिषदा योगिनश्चैवं परमात्मानं विदुस्तेऽमृता मरणधर्मरहिता अपुनर्जन्मान इत्यभिप्रायः । तथा हि परमा श्रुतिः—"तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा" इति ॥ २६ ॥

मूलानुवाद ।

परमेश्वर का स्वरूप किसी को नजर नहीं आता। शुद्ध सत्वज्ञानीलोग उनका दर्शन पाते है । जगन्मित्र योगी लोग भी निरुद्ध वृत्तिक मन के द्वारा उनका अनुभव करते हैं। जो लोग उन परमेश्वर को जान सकते है वे कभी मरण

दु.ख का अनुभव नहीं करते ॥ २६ ॥

कालिकाभासः ।

ब्रह्मानुभवके लिये ज्ञान तथा योग को अनुगुण ये दो साधन विषय कहे जा चुके हैं। परमेश्वर का रूप नजर नही आता अर्थात मनकी परतन्त्रता वश साधारण लोगो के द्वारा वे नहीं पाये जाते । मन की परतन्त्रता को लेकर—विधिविवेक मे मण्डन मिश्र ने तथा शिव संकल्पात्मक मनको लक्ष्य करके चित्सुख आचार्य ने जो कुछ लिखा है उसकी शब्द सूची—"परतन्त्रं वहिर्मनः"—के न्यायानुसार अवश्य देखना चाहिये । मूल मे दर्शनेन्द्रिय का ग्रहण उपलक्षण मात्र है। क्योकि इससे केवल इग्यारह इन्द्रियो का ही कार्य लिया गया है। इस विषय मे कठोपनिषद् कहत है—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्„ ॥ वे (परमात्मा) चक्षुरादि इन्द्रियो से परे है इस विषय मे अन्य अन्य श्रुतियो में भी जो कुछ कहा गया है उसे कालिका मे देखिये।

ऐसी बात (वस्तुगति) होने से परमेश्वर को कौन देख सकेगा? इसके उत्तर मे आचार्य कहते है—कि जो ज्ञान के द्वारा अन्त: करण के सत्व गुण को उद्भासित करते हैं, वे ही परमेश्वर का दर्शन करसकते है। इससे उपनिषद् गण लक्ष्य किये जाते हैं। अच्छा और भी कोई भगवत् दर्शन पा सकता है? इसके उत्तर मे भी आचार्य पुनः कहते हैं कि:—जिनने मैत्री, करुणा तथा मुदिता आदि परिकर्मों के द्वारा चित्त की प्रसन्नता के साथ प्रमाणादि वृत्तियों को निरोध किया है, वे भी परमेश्वर को अनुभव कर सकते हैं। इससे यह

कहा जाता है कि योगियों के ऋतंभरा प्रज्ञा में परमेश्वर निवास करते हैं। मनके अनन्तादि के विषय में श्रुतियां जो कुछ कही है उसे कालिका मे देखिये। मूल में हित शब्द के जगह पर स्थिर शब्द के रहने से समझना चाहिये कि साधक तप आदि क्रिया योगों को परिपक कर अर्थात युञ्जान योगी की अवस्था पार कर मुक्त योगी हो गया है। मूल मे ज्ञानी के सम्बन्ध मे बहुबचन कहने के बाद योगियो के सम्बन्ध में एक बचन का प्रयोग होने पर भी कोई विशेषता या खास मतलब नही है। क्योंकि दोनों स्थानों में ही अर्थग्रहण का प्राधान्य ही वक्ता का अभिप्राय है। ज्ञानी गण हों अथवा योगी हों चाहे जो भी परमेश्वर को पालेते हैं वे कभी मन दुःख को अनुभव नहीं करते, अर्थात् वे पुनर्जन्म के लिये कभी जरा मरण आदि संसार के दुःख नहीं भोगते ॥ २६ ॥

इमं यः सर्वभूतेषु
आत्मानमनुपश्यति
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु
स किं शोचेत्ततः परम् ॥ २७ ॥

अन्वयः ।

य इमं (सर्वानुस्यूतम्) आत्मानं सर्व्वभूतेषु अनुपश्यति सः ततः परं (स्वात्मदर्शनानन्तरम्) अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु (संसारविशेषेषु) किं शोचेत् ? ॥ २७ ॥

शाङ्कर भाष्यम् ।

इममिति। इमं सर्वान्तरं सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु आत्मानं योऽनुपश्यति अन्यत्रान्यत्र देहेन्द्रियादियुक्तेषु शरीराद्यभिमानिषु, स किं शोचेत्ततः परं सर्वभूतेषु स्वात्मानं पश्यन् ततः परं किमन्वेनशोचति ? सर्वभूतस्थमात्मानम् अनुपश्यन् कृतार्थत्वात् नानुशोचतीत्यर्थः. तथा च श्रुतिः— "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति ॥ २७ ॥

कालिका ।

पुनरपि जीवन्मुक्तानमनुभवमनुवदति—इममिति। य इमं सर्वानुस्यूनमात्मानं सर्वभूतेषु अनुपश्यति प्रजादिविशेषेण साक्षात्करोति स ततः परं [illegible] अन्यत्रान्यत्रयुक्तेषु दारापुत्रमित्रादिविषयेषु किं शोचेत् नैव शोचति। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत" इतिश्रुतेः। स्मरति च भगवान् वासुदेवः—नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ इति ॥ २७ ॥

मूलानुवाद ।

जो सर्वानुस्युत आत्मा को सब भूतों में देखते हैं, वे उसके अतिरिक्त और किसी विषय का भोग भागी नहीं होते ॥ २७ ॥

कालिका भासः ।

जीवन्मुक्तों का और एक उदाहरण दिया जाता है। "सव खल्विदं ब्रह्म"—इस श्रौत निर्देश के अनुसार जो सब विषयों में ब्रह्म कि सत्ता देखपाते है वे उसके अलावे और किसी विषय मे अर्थात मायिक आविद्यक अथवा आध्यासिक विपयों से कभी मोहित नही होते। श्रुति की एक विज्ञान प्रतिज्ञा ही इस श्लोकका तात्पर्य है ॥२७॥

यथोदपाने महति
सर्वतः संप्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु भूतेषु
ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २८ ॥

अन्वयः ।

यथा उदपाने (कासारकूपादौ); [तथा तदतिरिक्तं च] महति सर्वतः संप्लुतोदके [भवति] । एवं सर्वेषु भूतेषु [आत्मानं] विजानतः (पश्यतः) ब्राह्मणस्य [भवति] ॥ २८ ॥

शांकरभाष्यम् ।

तदेवाह यथेति । यथा सर्वतः संप्लुतोदके उदपाने महति कृतकृत्यस्य पुंसोऽल्पे उदपानेऽर्थः प्रयोजनं नास्ति, एवं सर्वेषु भूतेषु आत्मानं विजानतः ब्राह्मणस्य किञ्चिदपि प्रयोजनं न विद्यत-इत्यर्थः । आत्मदर्शनेनैव कृतार्थत्वादिति भावः । तथाचाह भगवान् वासुदेवः—"नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः" इति ॥ २८ ॥

कालिका ।

नच शङ्कनीयमन्यत्रान्यत्र युक्तेषु कलत्रपुत्रादिषु व्यवसायबुद्धिपरित्यागे न सर्वभूतेष्वात्मानमनुपश्यन्नहं तैस्तैः कलत्रपुत्रादिजनितैरानन्दैर्वञ्चितः स्यामित्याह- - यथोदपाने महतीति ।

उदपाने कासारादौ प्रयोजनं यथा भवति, सर्वतोमहति संप्लुतोदके तथा तदतिरिक्तं च शीतलत्वादि भवति । एवंसर्वेषु भूतेषु आत्मानं विजानतः पश्यतो ब्राह्मणस्य ब्रह्मबुभूषोः कलत्रादिजनितानन्दोः तदतिरिक्तो ब्रह्मानन्दश्च भवति । अतो ब्रह्मानन्दे क्षुद्रा-

नन्दानामन्तर्भावात् कलत्रादिजनितानन्दैर्वञ्चितो न स्यादिति तात्पर्यम्। उक्तं च—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"। इति "यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः। इति च।

वृद्धैस्तु श्लोकोऽयमन्यथा व्याख्यातः—कासारादौ तृष्णार्तस्य यावता जलेन स्नानपानादिसिद्धि स्तावतैव सर्वेषु वेदेष्वात्मज्ञस्य ध्यायिन इष्टसिद्धिरिति। अतो ग्रन्थभारवहनं वृथैव किन्तु तदन्तर्गतं स्वोपयुक्तं सारमात्रं शास्त्रतो गुरुवाक्यतो वा गृहीत्वा योगेन कृतकृत्यो भवेदितिनिष्कर्षः॥ २८॥

मूलानुवाद।

जैसा क्षुद्र जलाशय में होता है वैसा ही बड़े जलाशय में भी होता है। जो ब्राह्मण सबभूतो में परमात्मा को देखते हैं उनके लिये भी वैसा ही अर्थात बड़े जलाशय के समान समझना चाहिये ॥ २८॥

कालिकाभास।

पूर्व्व श्लोक में अचार्य ने कहा है कि:—जो सब भूत मे आत्मा को देखते हैं, अर्थात् जिनको ब्रह्म ज्ञान हो गया है, वे इधर उधर अर्थात पुत्र कलत्र आदि विषयो मे शोक नहीं करते। इससे पुत्र कलत्रादि जनित सब लोगों का परिचित सुखज्ञान का प्रत्याख्यान होता है। सायद कोई इसको दूसरा माने, इसलिये आचार्य कहते हैं—कि:—बड़े में जिस प्रकार छोटे का अन्तर्भाव (प्रवेश) हो जाता है, ऊसी तरह ब्रह्म ज्ञान जनित सुख में अन्यान्य सब तरह के सुखो का अन्तर्भाव होजाता है। उसी तरह ब्रह्मज्ञान जनितसुखमें अन्यान्य सब तरहके सुखोंका अन्तर्भाव हो जाता में। ब्रह्मानन्द से सब प्रकार के आनन्दों

की उत्पत्ति हुई है, इसी लिये आचार्य ऐसा उपदेश देते है । इसमे आश्चर्यकी कोई बात नहीं है । क्योकि पक्वान्नकी मधुरतासे परमान्न की मधुरता विभिन्न होने पर भी दोनो मधुरताका कारण गुड़ ही है। अस्तु योगियोकायोगानन्द तथा संसारियोका संसारानन्द दोनों ही ब्रह्म मूलक है। केवल उपाधि के भेदानुसार दोनो में तारतम्य मालूम होता है। इसी प्रकार को दृष्टि का अवलम्बन कर भगवान पञ्चशिखाचार्य कहते हैः— "एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्" ।

छोटे जलाशय से जो जो काम सिद्ध होता है बड़े जलाशय से भी वह सब काम सिद्ध होता है और भी उसके अपेक्षा अधिक प्रयोजन भी सिद्ध होता है। जैसे छोटे जलाशयमे स्नान पान आदि प्रयोजन सिद्ध होने पर भी बड़े जलाशय मे जल की शुद्धता तथा शीतलता आदि के कारण स्नान पानादि प्रयोजनो के स्वास्थ्यरक्षा आदि प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं । ब्रह्मज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण के विषय मे भी ऐसा ही समझना चाहिये । क्योंकि वे ब्रह्मविषयों मे जो अनुभव करते हैं, उसमें संसार के सब तरह के सुख है, बलके इसकी अपेक्षा उसमें और दूसरे २ सुखो का भी समावेश है ।

भगवान ने कहा हैः—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान् सर्व्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

इस लिये गीता के इस श्लोक को—"न जायते म्रियते वा कदाचित् इत्यादि श्लोको के समान भगवान का स्वकीय परकीय श्लोक कहेंगे । स्वकीय—परकीक श्लोक दो प्रकार के होते हैः—यथाः—शब्दगत तथा अर्थगत । शब्द गत यथाः—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा नभूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे ॥
इसको शब्दगत स्वकीय परकीय श्लोक कहते है। क्योंकि गीताके पहले कठोपनिषद्मे कहा गया है,—

'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूवकश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे'॥ तत्व कौमुदी के मङ्गलाचरणके—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजा सृजमानां नमामः"—इत्यादि श्लोकको भी इसी जातीयका ही कहना होगा। अर्थगत स्वकीय-परकीय श्लोकोका उदाहरण नीचे लिखा जाता है:—

यथाः—"यावानर्थ उदपाने"—इत्यादि। इसको अर्थगत कहते हैं। क्योंकि गीता के पहले आचार्य शिरोमणि सनत्कुमार का कहा हुआ —"यथोदपाने"—इत्यादि श्लोकमे भगवतप्रोक्त श्लोक का भाव छिपा है॥ २८॥

अहमेवास्मि वो माता
पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः
आत्माहमपि सर्वस्य
यच्च नास्ति यदस्ति च॥ २९॥

अन्वयः।

अहमेव वो माता पिता अस्मि। अहं पुनः पुत्रोऽस्मि। यच्च नास्ति (यदेव भूतं भविष्यच्च) यच्चास्ति (यदेव वर्त्तमानं च) [तस्य] सर्वस्य [सूक्ष्मस्य स्थूलस्य च जड़जातस्य] अप्यहम् आत्मा [सूत्रात्मा]॥ २९॥

शांकरभाष्यम्।

इदानीमुक्तस्यार्थस्य द्रढिम्ने वामदेवादिवत् स्वानुभवं दर्शयति—अहमेवास्मीति सार्द्धैस्त्रिभिः। हे धृतराष्ट्र! अहमेवास्मि वो युष्माकं माता जनयित्री पिता अपि अहमेव। युष्माकं पुत्रो दुर्योधनादिरहमस्मि। किं बहुना? आत्मा अहमस्मि सर्व्वस्य प्राणिजातस्य। यच्च नास्ति यदस्ति च तदस्म्यहमेवात्मा ॥ २६ ॥

कालिका।

अधुना ब्रह्मविदात्मनो ब्रह्मभावमम्भृणकन्यादिवदपरोक्षीकुर्व्वंश्चिदचिदात्मकजगद्रूपेण तदधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्व्वमस्मीति स्वस्य सर्वात्मकत्वं स्तौति—अहमिति। अहमेव वो युष्माकं सर्वेषां प्राणिनां माता पिता च लक्षणया प्रकृतिरस्मि। पुनरहं पुत्रो लक्षणया विकृतिरस्मि। यच्च नास्ति—यदेव अतीतानागतत्वेन भूतं भविष्यच्च, यच्चास्ति—यदेव वर्त्तमानं च, तस्य सर्वस्य सूक्ष्मस्य स्थूलस्य च जड़वर्गस्यापि अहमात्मा सूत्रात्मा। अपि समुच्चये ॥ २६ ॥

मूलानुवाद।

मैं ही तुम लोगोका माता पिता हूं। और मैं ही तुम लोगों का पुत्र भी। जो कुछ नहीं है और जो कुछ हैं उन सबका आत्मा भी मैं हीं हूं ॥ २६ ॥

कालिकाभास।

अभी अम्भृणकन्या भगवती वाग्देवी के समान अथवा वामदेव आदि सौभाग्यवान् ऋषियों के समान ब्रह्मिष्ठों के ब्रह्मभाव को अपरोक्ष करके चिदचिदात्मक जगत् की अधिष्ठात्री के तरह आचार्य अपनी सर्वात्मकता की स्तुति करते हैं। ऐसा सार्वात्म्यज्ञान प्रगट कर भगवान् वासुदेवने भी कहा है।

"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

मैं ही तुमलोगो का अर्थात् मेरे अतिरिक्त प्राणी वर्गों का माता पिता अर्थात् प्रकृति हूं। भोग के लिये जीवों को भोगायतन शरीर उत्पादन करती है इस लिये उस प्रकृति को माता कहा है। माता को सन्तानो को जनयित्री होने पर भी पिता ही उनका (सन्तानों) पालन कार्य निर्वाह करता है। इसी लिये शास्त्रो ने कहा है—"पालनाच्च पितास्मृतः प्रकृति भी श्वास्योपयोगी—वायु पवनोपयोगी जल तथा भोजनोपयोगी फलमूल शस्यादि पदार्थों की व्यवस्था करती हुई जगत्को पालन करती है, इसलिये उसी को (प्रकृति ही को) यहां पिता भी कहा गया है आचार्य प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी प्रकृति की स्वतन्त्रता को स्वीकार नही करते। क्योंकि वह ब्रह्मही का रूपान्तर मात्र है। सांख्योक्ति प्रकृति से आचार्योक्त प्रकृति मे इतनी विशेषता है।

फिर मैं ही तुम लोगों का पुत्र हूं'—अर्थात तत्व से जो तत्वान्तर उत्पन्न हुआ है, वह भी मैं ही हूं। इससे यह कहा जाता है कि ब्रह्म से जागतिक किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती। श्रुतियां भी कहती है:—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति"—इत्यादि—इत्यादि।

जो कुछ नहीं हैं—अर्थात् अतीत और अनागत रूप से जो सब पदार्थ सूक्ष्म भाव से अवस्थित जो है, अर्थात् वर्तमान काल में जो पदार्थ स्थूल भाव से दीख पड़ते हैं वा सुने जाते हैं अथवा अनुभव किये जा सकते है। मै ही उन सब की आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा हूं। जीवों की समष्टि

को जिस प्रकार हिरण्यगर्भ कहते हैं, जडवर्गों की समष्टि को भी वैसे ही सूत्रात्मा कहते हैं। यह हिरण्यगर्भ का शरीरस्थानीय है ॥ २९ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरः
पिता पुत्रश्च भारत !
ममैव यूयमात्मस्था
न मे यूयं न वोऽप्यहम् ॥ ३० ॥

अन्वयः ।

हे भारत ! (अहं) स्थविरः (पुरातनः) पितामहः (हिरण्यगर्भः) पिता पुत्रश्च (तत्त्वं तत्त्वान्तरपरिणामश्च) अस्मि । यूयं मम एव आत्मस्थाः [भवथ] । [परमार्थतस्तु] यूयं न मे (मम) आत्मस्थाः, न [च] अहमपि वः (युष्माकम्) [आत्मस्थः] । ३० ।

शांकरभाष्यम् ।

एवं तावदाधिभौतिकं पित्रादिकं दर्शितम् । अथेदानीमाधिदैविकं पित्रादिभावं दर्शयति—पितामह इति । पितामहोऽस्मि स्थविरः —वृद्धः इन्द्रादेः पितामहोऽस्मि । अनादिसिद्धः परमात्मा सोऽप्यहमेव । यः पिता इन्द्रादेः हिरण्यगर्भः सोऽप्यहमेव । तथा मम यूयम् आत्मस्था एव । यूयं सर्व्वे परमार्थतो न मे आत्मनि व्यवस्थिताः । न चाप्यहं युष्मासु स्थितः । तथा चाह भगवान् "मत्स्थानि सर्व्वभूतानि" इति ॥ ३० ॥

कालिका ।

न केवलं प्रकृतिर्विकृतिः सूत्रात्मा वाहमस्मि किन्तु पुरातनो हिरण्यगर्भः प्रकृति-विकृतयश्चेत्याह प्रथमतः—पितामह

मैं ही तुमलोगो का अर्थात् मेरे अतिरिक्त प्राणी वर्गों का माता पिता अर्थात् प्रकृति हूं । भोग के लिये जीवों को भोगायतन शरीर उत्पादन करती है इस लिये उस प्रकृति को माता कहा है । माता को सन्तानो को जन-यित्री होने पर भी पिता ही उनका (सन्तानों) पालन कार्य निर्वाह करता है । इसी लिये शास्त्रो ने कहा है—"पालनाच्च पितास्मृतः प्रकृति भी स्वास्थ्योपयोगी—वायु पवनोपयोगी जल तथा भोजनोपयोगी फलमूल शस्यादि पदार्थों की व्यवस्था करती हुई जगत्को पालन करती है, इसलिये उसी को (प्रकृति ही को) यहां पिता भी कहा गया है आचार्य प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी प्रकृति की स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते । क्योंकि वह ब्रह्मही का रूपान्तर मात्र है । सांख्योक्ति प्रकृति से आचार्योक्त प्रकृति मे इतनी विशेषता है ।

फिर मैं ही तुम लोगो का पुत्र हूं'—अर्थात तत्व से जो तत्वान्तर उत्पन्न हुआ है, वह भी मैं ही हूं । इससे यह कहा जाता है कि ब्रह्म से जागतिक किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती । श्रुतियां भी कहती हैः—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति"-इत्यादि—इत्यादि ।

जो कुछ नहीं हैं—अर्थात् अतीत और अनागत रूप से जो सब पदार्थ सूक्ष्म भाव से अवस्थित जो हैं, अर्थात् वर्तमान काल मे जो पदार्थ स्थूल भाव से दीख पड़ते हैं वा सुने जाते हैं अथवा अनुभव किये जा सकते है । मै ही उन सब की आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा हूं । जीवो की समष्टि

इति । भारत सम्बुद्धौ । अहमस्मि स्थविरः पुरातनः पितामहो हिरण्यगर्भः । पिता पुत्रश्च—तत्त्वं तत्त्वान्तरपरिणामश्च प्रकृतिविकृतय इत्यर्थ । अतएव यूयं ममैवात्मस्था भवथ । प्रकृत्यादिरस्मीति सर्व्वं स्वात्मनि समारोप्य ततोऽप्यधुना द्वैतभानमपवदति—नेति । अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयत इति न्यायात् । तथापि यूयं न मे मम आत्मस्था न चाप्यहं वो युष्माकमात्मस्थः । परमार्थतस्तु कुत्रापि युष्मदस्मदो र्भेदो नोपपन्न इत्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति—यद्यपि शुक्तौ रजतमिव प्रत्यगात्मनि जगत्प्रपञ्च आरोपित स्तथापि तयोर्न कश्चित् सम्बन्धो वर्त्तते सत्तायाः प्रातिभासिकत्वादिति ॥ ३० ॥

मूलानुवाद ।

हे भारत ! मैं ही बृद्ध पितामह, पिता तथा पुत्र तीनो हूं। तुम लोग सब मेरी आत्मामे अधिष्ठित हो। अथवा तुम लोग मेरी आत्मा मे अधिष्ठित नही हो और मैं तुम लोगोकी आत्मामें अधिष्ठित नहीं हूं ॥ ३० ॥

कालिकाभास ।

प्रथमार्द्ध श्लोकमें आचार्य कहते हैं— मैं केवल प्रकृति, विकृति अथवा सूत्रात्मा नही हीं हूं, किन्तु वह पुरातन हिरण्यगर्भ भी हूं। भारत शब्द सम्बोधनमे प्रयुक्त हुआ है। मै ही वह बूढा पितामह हूं, अर्थात पुरातन हिरण्यगर्भ हूं। मै ही पिता हूं तथा मैंही पुत्र भी हूं, अर्थात मै ही हूं और मैंही तत्वान्तरपरिणाम भी हूं। प्रकृति से विकृति तक २४ चौबीस पदार्थ मुझमें मिल जाने पर तुम लोग सब मेरी आत्मा मे आ जाते हो। ऐसा समझना चाहिये।

प्रकृत्यादि पदार्थोंका अपनी आत्मा मे आरोप करनेके बाद श्लोकके शेष चरणोंमें आचार्य उक्त आरोपित ज्ञान का अपवाद

ठीक तरहसे प्रयोग पर निष्प्रपञ्च वस्तु भी प्रपञ्चित हो जाती है। "अथवा तुम लोग मेरी आत्मामें अधिष्ठित नहीं हो और मैं भी तुम लोगो की आत्मामे अधिष्ठित नही हूं।"—अर्थात् व्यवहार दशामें ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के लिये प्रयुक्त "तुम और मैं" शब्दों मे जो भेदाभास दीख पड़ता है वह पारमार्थिक दशामें उपपन्न नही। इससे यह कहा जाता है कि शुक्तिमें चान्दीके समान परमात्मामे जगत् प्रपञ्चका आरोप होनेसे भी शुक्ति तथा चान्दीका अथवा परमात्मा और जगत्प्रपञ्चका कोई सम्बन्ध माननीय नहीं हो सकता। क्योंकि अधिष्ठान को छोड़ अध्यस्तमें कोई भी सत्ता सिद्ध नहीं हुई ॥ ३० ॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३१ ॥

अन्वयः ।

आत्मैव मम स्थानम् (अधिष्ठानम्) । आत्मा [मम] जन्म (जननहेतुः) च । [अतोऽहम्] अजः (कारणरूपेण जन्मादिरहितः) । अहं दिवारात्रमतन्द्रितश्चरः (क्रियावान् सन्) ओतप्रोतः (पटे तन्तव इव कार्येष्वनुस्यूतः) [अस्मि] । [अतन्द्रितश्चरोऽपि] अहम् अजरप्रतिष्ठः (अच्युतस्वभावः) । मां (सर्व्वेषामेतादृशमन्तरात्मानं) विज्ञाय (ज्ञात्वा) कविः (क्रान्तदर्शी धीरः) प्रसन्नः आस्ते (जीवन्मुक्तो भवति) ।३१।

शाङ्करभाष्यम् ।

आत्मैवेति । यद्यपि न ममात्मनि यूयं व्यवस्थिताः, न चाप्यहं युष्मासु स्थितः, तथापि आत्मैव स्थानम् आत्मैवाश्रयः

जन्म चात्मा अस्मादेवात्मनः सर्वमुत्पन्नम्। तथा च श्रुतिः "आत्मन एवेदं सर्व्वम्" इति। ओतप्रोतः अहमेव ओतप्रोत-रूपेण व्यवस्थितः जगदात्मा युष्माकं जनयिता अजरप्रतिष्ठः अजरे जरामरणवर्जिते स्वे महिम्नि तिष्ठतीत्यजरप्रतिष्ठः। तथाच श्रुतिः "स भगवः कस्मिन्नु प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति ॥ ३१ ॥

कालिका।

आत्मस्वरूपं मुमुक्षूणां ज्ञेयमित्याह—आत्मैवेति। आत्मैव मम स्थानमधिष्ठानम्। आत्मातिरिक्तपदार्थाभावादहमेव ममाश्रय इति भावः। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः? स्वे महिम्न' इति श्रुतेः। आत्मा च मम जन्म जन्मसाधनम्। आत्मन उत्पन्न आत्मेतिभावः। तथा हि श्रुतिः "पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्च भव्यमि'ति। 'आत्मन एवेदं सर्व्वमिति' च। अतोऽहमजः कारणरूपेण जन्मादिरहितः। अहं दिवारात्रमहर्निशमतन्द्रितो जागरूक श्वरः सत्वा-दिगुणरूपेणक्रियावान् सन् ओतप्रोतः पटे तन्तव इव कार्येष्वनुस्यूतोऽस्मि। अजरप्रतिष्ठोऽहं सर्व्वदा क्रियावानपि नाहं परिणामशील इति-भावः। अजरा परिणामरहिता प्रतिष्ठा स्वभावो यस्य सोऽ-जरप्रतिष्ठः। मां मत्स्वरूपं विज्ञाय ज्ञात्वा कविः क्रान्तदर्शी धीरः प्रसन्न आस्ते सर्व्वत उपाधिकृतकालुष्यत्यागात् कृतकृत्यो भवति। जीवन्मुक्तो भवतीति भावः ॥ ३१ ॥

मूलानुवाद।

आत्मा ही मेरा स्थान है। आत्माही मेरा जन्म है, अतएव मैं जन्म रहित हूं। दिन रात अनन्त होकर क्रियावान् रहने पर भी मैं सभी व्यापारोंमें ओत प्रोत भावसे विद्यमान हूं। मुझको ऐसा जानकर कविलोग प्रसन्न होते हैं॥ ३१ ॥

कालिकाभासः ।

आत्मस्वरूप जाननेसे जीवन्मुक्त हो जाता है, इसलिये वे मुमुक्षु लोगोके ज्ञेय है। यही इस श्लोकमे कहा गया है। आत्मा ही मेरा स्थान है, अर्थात् परमात्माके विना किसी पदार्थका सद्-भाव नहीं हो सकता, इसलिये मैं ही अपना आश्रय स्थान हूं। श्रुतियोने भी कहा है, वे अपनी महिमा पर प्रतिष्ठित है।

आत्मा ही मेरा जन्म है, अर्थात् जन्मका कारण है। आत्मा सेही आत्मा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये आचार्य यह कहते हैं:— इसके द्वारा माया कार्य सूचित किया गया है। क्योंकि ब्रह्मके बिना पदार्थ रह ही नहीं सकता, फिर एक पदार्थसे और एक पदार्थ को उत्पत्ति कैसी ?

यदि मेरा जन्म आत्मरूपसे सम्भव नहीं होता तो म अज हुआ। और जब जन्मही नही तो मृत्यु भी कसे ? इस-लिये इसके द्वारा मृत्युका अभाव भी प्रतिपादित होता है।

दिन रात अतन्द्रित रहकर क्रियावान रहता हूं। अर्थात विना विराम लिये ही काम करता रहता हूं। क्रियावान होने पर भी मैं सभी व्यापारोमे ओत प्रोत भावसे विद्यमान रहता हूं। इस कथन से यह कहा गया कि परिणामके विना क्रिया नहीं हो सकती। और क्रिया अथवा परिणाम मात्रही देशान्तर प्राप्ति अथवा अवस्थान्तर प्राप्ति संघटित करता हैं। किन्तु मैं क्रिया-वान होकर भी कभी कभी देशच्युत अथवा अवस्थाच्युत अर्थात परिणामशील नहीं होता। क्रिया व्यापारेश्वरी माया है—यही इसमें दर्शाया गया है। मुझको ऐसा जानकर अर्थात मेरा ऐसा स्वरूप जानकर। कवि प्रसन्नता लाभ करते हैं। अर्थात क्रान्तदर्शी धीर लोग उपाधि मूलक कलुषता त्याग कर जीवन्मुक्त होते हैं ३१॥

जन्म चात्मा अस्मादेवात्मनः सर्वमुत्पन्नम् । तथा च श्रुतिः "आत्मन एवेदं सर्व्वम्" इति। ओतप्रोतः अहमेव ओतप्रोत-रूपेण व्यवस्थितः जगदात्मा युष्माकं जनयिता अजरप्रतिष्ठः अजरे जरामरणवर्जिते स्वे महिम्नि तिष्ठतीत्यजरप्रतिष्ठः। तथाच श्रुतिः "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति ॥ ३१ ॥

कौलिका ।

आत्मस्वरूपं मुमुक्षूणां ज्ञेयमित्याह—आत्मैवेति। आत्मैव मम स्थानमधिष्ठानम् । आत्मातिरिक्तपदार्थाभावादहमेव ममाश्रय इति भावः। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्न' इति श्रुतेः। आत्मा च मम जन्म जन्मसाधनम् । आत्मन उत्पन्न आत्मेतिभावः। तथा हि श्रुतिः "पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्च भव्यमि'ति । 'आत्मन एवेदं सर्व्वमिति' च। अतोऽहमजः कारणरूपेण जन्मादिरहितः। अहं दिवारात्रमहर्निशमतन्द्रितो जागरूक श्चरः सत्वा-दिगुणरूपेणक्रियावान् सन् ओतप्रोतः पटे तन्तव इव कार्येष्वनुस्यूतोऽस्मि। अजरप्रतिष्ठोऽहं सर्व्वदा क्रियावानपि नाहं परिणामशील इति-भावः। अजरा परिणामरहिता प्रतिष्ठा स्वभावो यस्य सोऽ-जरप्रतिष्ठः। मां मत्स्वरूपं विज्ञाय ज्ञात्वा कविः क्रान्तदर्शी धीरः प्रसन्न आस्ते सर्व्वत उपाधिकृतकालुष्यत्यागात् कृतकृत्यो भवति। जीवन्मुक्तो भवतीति भावः ॥ ३१ ॥

मूलानुवाद ।

आत्मा ही मेरा स्थान है। आत्माही मेरा जन्म है, अतएव मैं जन्म रहित हूं। दिन रात अनन्त होकर क्रियावान् रहने पर भी मैं सभी व्यापारोंमें ओत प्रोत भावसे विद्यमान हूं। मुझको ऐसा जानकर कविलोग प्रसन्न होते है॥ ३१ ॥

कालिकाभासः ।

आत्मस्वरूप जाननेसे जीवन्मुक्त हो जाता है, इसलिये वे मुमुक्षु लोगोके ज्ञेय है। यही इस श्लोकमे कहा गया है। आत्मा ही मेरा स्थान है, अर्थात् परमात्माके विना किसी पदार्थका सद्-भाव नहीं हो सकता, इसलिये मैं ही अपना आश्रय स्थान हूं। श्रुतियोने भी कहा है, वे अपनी महिमा पर प्रतिष्ठित है।

आत्मा ही मेरा जन्म है, अर्थात् जन्मका कारण है। आत्मा सेही आत्मा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये आचार्य यह कहते हैं:— इसके द्वारा माया कार्य सूचित किया गया है। क्योंकि ब्रह्मके बिना पदार्थ रह ही नहीं सकता, फिर एक पदार्थसे और एक पदार्थ को उत्पत्ति कैसी ?

यदि मेरा जन्म आत्मरूपसे सम्भव नहीं होता तो म अज हुआ। और जब जन्मही नही तो मृत्यु भी कसे ? इस-लिये इसके द्वारा मृत्युका अभाव भी प्रतिपादित होता है।

दिन रात अतन्द्रित रहकर क्रियावान रहता हूं। अर्थात विना विराम लिये ही काम करता रहता हूं। क्रियावान होने पर भी मैं सभी व्यापारोमे ओत प्रोत भावसे विद्यमान रहता हूं। इस कथन से यह कहा गया कि परिणामके बिना क्रिया नहीं हो सकती। और क्रिया अथवा परिणाम मात्रही देशान्तर प्राप्ति अथवा अवस्थान्तर प्राप्ति संघटित करता हैं। किन्तु मैं क्रिया-वान होकर भी कभी कभी देशच्युत अथवा अवस्थाच्युत अर्थात परिणामशील नहीं होता। क्रिया व्यापारेश्वरी माया है—यही इसमें दर्शाया गया है। मुझको ऐसा जानकर अर्थात मेरा ऐसा स्वरूप जानकर। कवि प्रसन्नता लाभ करते हैं। अर्थात क्रान्तदर्शी धीर लोग उपाधि मूलक कलुषता त्याग कर जीवन्मुक्त होते हैं ३१॥

अणोरणीयान् सुमनाः
सर्व्वभूतेष्ववस्थितः ।
पितरं सर्व्वभूतानां
पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या-
मुद्योगपर्व्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमार—सम्वादे
श्रीसनत्सुजातीये चतुर्थोऽध्याय ।

अन्वयः

अणोरणीयान् (अणोरप्यणुतरः) सुमनाः (शोभनमना वेदान्त-विज्ञानसुनिश्चितार्थ इतियावत्) सर्व्वभूतेषु (चिदचिदात्मक-पदार्थजातेषु) अवस्थितः [सन्] (पुरुषो मरणं नाभ्युपैति] । [ब्रह्म-विदः] पितरं (परमात्मानं) सर्व्वभूतानां पुष्करे (अन्तरे) निहितम् (ओतप्रोतभावेन व्याप्तं) विदुः (जानन्ति) ॥ ३२ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

अणोः सूक्ष्मात् अणीयान् सूक्ष्मतरः । सुमनाः शोभनं रागद्वे-षादिमात्सर्यशोकमोहादिधर्म्मवर्जितं केवलं चित्सदानन्दाद्वितीय-ब्रह्मात्माकारं मनो यस्य स सुमनाः । सर्व्वभूतेषु सर्वप्राणिषु हृदयकमलमध्ये अहमेवावस्थितः सर्वभूतात्मतया ।

एवं तावत् स्वानुभवो दर्शितः । इदानीं न केवलमस्म-दनुभव एवात्र प्रमाणम्, अन्येऽप्येवमेवावगच्छन्तीत्याह—पितर-मित्यर्द्धेन । येऽन्ये सनकसनन्दनसनातनवामदेवादयो ब्रह्मविद-स्तेऽपि पितरं सवभूतानां सर्वप्राणिनां पिता जनयिता परमेश्वरो य, स्तं पुष्करे हृत्पुण्डरीकमध्ये निहितं विदुः परमात्मान-

त्वेनावगच्छतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः स्तेषामनुभवं दर्शयति "तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्य्यश्च" इति बृहदारण्यके । "एतत् सामगायन्नास्ते" इति तैत्तिरीयके सामगानेन स्वानुभवो दर्शितः । आत्मनः कृतार्थत्वद्योतनार्थम् । तथा च छान्दोग्येऽपि—"तद्धास्य विजज्ञौ" इति । तलवकारे च 'अहमन्नम्' इत्यादिना विदुषः स्वानुभवो दर्शितः ॥ ३२ ॥

कालिका ।

प्रासङ्गिकमध्यात्ममुपसंहरति—अणोरणीयानिति । अणोरणीयान् तत्कारणरूपो न तु परमाणुपरिमाणवान् । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमि'ति श्रुतेरात्मन आयतनप्रतिषेधात् । सुमनाः सु शोभनं वेदान्तविज्ञाननिश्चितमिति सम्यक् मनो यस्य सः । सर्व्वभूतेषु चिदचिदात्मकपदार्थजातेषु अनभिव्यक्तोऽन्तर्यामिरूपेणाधिष्ठितः सन् पुरुषो मरणं नाभ्युपैतीति वाक्यशेषः । कुतः सर्व्वभूतेष्विति प्रश्ने ब्रह्मविदामनुभवं प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—पितरमिति । ब्रह्मविदः सर्व्वभूतानां पुष्करे अन्तरे पितरं परमात्मानं निहितात्मभूतत्वेन व्याप्तं विदुरनुभवन्ति । ऋग्वेदश्च तदनुभवं दर्शयति—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ॥
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति, श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि, जुष्टं, देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा ऊ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥ ६ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूम्यां वर्मणोपस्पृशामि ॥ ७ ॥
अहमेव वात इव प्रवाम्या रभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना संबभूव" ॥ ८ ॥ इति ॥

ओं कुलदेवतायै नमः ।

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योग-
पर्व्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमार-संवादे श्रीसनत्सुजातीये
कालिकाख्यायां व्याख्यायां कालीवट्टस्थश्रीकालि-
कामहादेवी -सेवाभृत् -कुलोद्भवश्रीगुरुपद-
शर्म्मकृतायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

ओं तत् सत्

मूलानुवाद ।

[उपासक आत्मा का]; अणु से भी अणुतर जानकर और सुमना होकर सब भूतों में अवस्थान पूर्व्वक [मृत्युको अतिक्रम करते हैं] ब्रह्मविद् लोग भी] सब भूतों के अन्दर आत्मा रहता है इस लिये उसका अनुभव करते हैं ॥ ३२ ॥

कालिकाभास ।

प्रासंगिक अध्यात्मशास्त्र के उपसंहार वा समाप्त करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है। अणु से भी अणुतर अर्थात् अणु का कारण स्वरूप इससे परमाणु नहीं कहा गया है।

सुमना अर्थात् जिसका मन सुन्दर पवित्र हो गया हो। "वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थ" ही इसका प्रतिवाक्य है। सब भूतो मे रह कर अर्थात् समष्ट्यहंकार रूप से 'अर्थात् सर्वात्मक हूं—ऐसी भावना से। व्यष्ट्यहंकारसे समष्ट्यऽहंकार में जाने के लिये श्रुतियो ने भी कहा है—"ज्ञानं नियच्छेन्महति"। इस प्रकृष्टभाव को शान्त आत्मा को अर्पण कर उपासक प्रमादिक मरण नहीं पाते। यदि कोई कहे—सब भूतों में रह कर—कहने का तात्पर्य क्या है? उसका उत्तर आचार्य्य शिरोमणि सनत्कुमार अन्यान्य ब्रह्मज्ञों के ब्रह्मानुभव को प्रमाणरूपसे उद्धृत करके श्लोक के अन्तिम अंशका उल्लेख करते हैं। अन्तिम अंशका तात्पर्य्य यह है कि जो ब्रह्मज्ञानी मृत्यु को अतिक्रमण करते हैं वे भी आत्माको सर्वभूतों मे ओतप्रोतरूप से व्याप्त है ऐसा जानते हैं। ऋग्वेद मे अम्भृणकन्या वागदेवी को ब्रह्मानुभव जिस प्रकार दृष्ट हुआ है उसका गूढार्थ नीचे दिया जाता है।

मैं ही रुद्ररूपसे, वसुरूपसे, आदित्यरूपसे एवं समस्त देवता रूपसे विराजमान हूं। मैं ही मित्र, वरुण, इन्द्र अग्निको धारण किया हूं। अश्विनीकुमार दोनों मेरे सिवाय दूसरे कोई नहीं हैं॥ १॥

पूषण, भग त्वष्टा तथा शातयिता सोम को मैं ही धारण करती हूं। सोमयाजी लोगों को देवोद्दिष्ट यज्ञों का सुफल मुझ में ही निहित रहता है, अर्थात् यज्ञपुरुष भी मैं हूं और यजमान भी मैं ही हूं॥ २॥

सर्वेश्वरेश्वरी होनेके कारण मैं उपासना आदि की फलदात्री हूं। ब्रह्म तथा ब्रह्म वित् नामसे मैं ही यज्ञरूपा तथा प्रधान हूं। बहु भवनके लिये मैंने आत्माका जीवभाव किया है। इसलिये

द्योतनशील प्राणीगण जहा भी जो कुछ करें वह मेरे सम्बन्धमे हो जाता है ॥ ३ ॥

मैं द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शनशक्ति हूं; मैं श्रोता, श्राव्य, तथा श्रवणशक्ति हूं, मैं भोक्ता, भोज्य तथा भोजनशक्ति हूं मैं प्राणी प्राण तथा प्राणशक्ति हूं। जो मुझको इस प्रकार नहीं जानता वह आत्मघाती है। हे श्रवणशील! मैं तुमको श्रद्धाजनक वृत्तान्त कहती हूं तुम उसे मननके साथ निदिध्यासन करना ॥ ४ ॥

मै स्वतः प्रणोदित होकर जो कुछ तुमको कहती हूं वह मनुष्य के लिये तो क्या देवताओंके लिये भी आराध्य तत्व है। में इच्छा मयी हूं इसलिये मेरी इच्छा से विधाता, द्रष्टा (ऋषि) तथ अनुमन्ता (सुमेधा) उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

धार्मिक लोगो के प्रति जिसमे हिंसा आचरित न हो, इसलिये म दण्डरूपिणी रुद्र शक्ति होती हूं। प्रजावर्गोंके हितके लिये मै युद्ध विग्रह अवलम्बन करती हूं। मै स्वर्गमर्त्यके वाहर भीतर सब जगह आविष्ट होकर रहती हूं ॥ ६ ॥

जिस आकाश से समस्त वस्तुओंका उद्भव होता है, और जिस आकाशमें समस्त वस्तु स्थित रहते हैं उस आकाश को मैंने ही प्रसव किया है। किन्तु मै किसी तरह जन्य पदार्थ नहीं हूं— क्योंकि परमात्मा रूप से अपने में ही में सदा विराजती हूं। मैं विश्वब्रह्माण्डमें नानारूप धारण कर उसमें ओतप्रोत भावसे सर्वत्र अनुप्रविष्ट होकर रहती हूं। मेरी भोगायतन देह ससीम होने पर भी में उपाधिमुक्त होकर सर्वव्यापिनी रहती हूं ॥ ७ ॥

स्वतः प्रवृत्त वायुके समान सृष्टिके लिये मै स्वयं गुणक्षुब्धा होती हूं। पृथ्वी मुझमें ही स्थित है। केवल पृथ्वी ही क्यों विश्व-ब्रह्माण्ड जिस अन्तरीक्षप्रतिष्ठित है वह अन्तरिक्ष ही परिमाण न कर सकने पर मेरे मध्य भागमें ही क्षान्त तथा शान्त हो गया

द्योतनशील प्राणीगण जहां भी जो कुछ करें वह मेरे सम्बन्धमें हो जाता है ॥ ३ ॥

मैं द्रष्टा, द्रश्य तथा दर्शनशक्ति हूं; मैं श्रोता, श्राव्य, तथा श्रवणशक्ति हूं, मैं भोक्ता, भोज्य तथा भोजनशक्ति हूं मैं प्राणी प्राण तथा प्राणशक्ति हूं। जो मुझको इस प्रकार नहीं जानता वह आत्मघाती है। हे श्रवणशील! मैं तुमको श्रद्धाजनक वृत्तान्त कहती हूं तुम उसे मननके साथ निदिध्यासन करना ॥ ४ ॥

मै स्वतः प्रणोदित होकर जो कुछ तुमको कहती हूं वह मनुष्य के लिये तो क्या देवताओंके लिये भी आराध्य तत्व है। मैं इच्छा मयी हूं इसलिये मेरी इच्छा से विधाता, द्रष्टा (ऋषि) तथ अनुमन्ता (सुमेधा) उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

धार्मिक लोगो के प्रति जिसमें हिंसा आचरित न हो, इसलिये म दण्डरूपिणी रुद्र शक्ति होती हूं। प्रजावर्गोंके हितके लिये मैं युद्ध विग्रह अवलम्बन करती हूं। मै स्वर्गमर्त्यके वाहर भीतर सब जगह आविष्ट होकर रहती हूं ॥ ६ ॥

जिस आकाश से समस्त वस्तुओंका उद्भव होता है, और जिस आकाशमें समस्त वस्तु स्थित रहते हैं उस आकाश को मेने ही प्रसव किया है। किन्तु मै किसी तरह जन्य पदार्थ नहीं हूं— क्योंकि परमात्मा रूप से अपने में ही मैं सदा विराजती हूं। मै विश्वब्रह्माण्डमें नानारूप धारण कर उसमें ओतप्रोत भावसे सर्वत्र अनुप्रविष्ट होकर रहती हूं। मेरी भोगायतन देह ससीम होने पर भी मैं उपाधिमुक्त होकर सर्वव्यापिनी रहती हूं ॥ ७ ॥

स्वतः प्रवृत्त वायुके समान सृष्टिके लिये मै स्वयं गुणक्षुब्धा होती हूं। पृथ्वी मुझमें ही स्थित है। केवल पृथ्वी ही क्यों विश्व-ब्रह्माण्ड जिस अन्तरीक्षमें निहित है वह अन्तरिक्ष ही परिमाण न कर सकने पर मेरे मध्य भागमें ही क्षान्त तथा शान्त हो गया

है। इसलिये मैं ससीम अन्तरीक्षका विष्कम्प हूं क्योंकि मैं अनन्त हूं। ब्रह्म से अनन्य होनेके कारण मै सब वस्तुमे विराजती हूं। किन्तु इन वस्तुओंमें मै कभी लिप्त नहीं होती हूं। यही मेरी दुर्गम महिमा है ॥ ८ ॥

श्री सनत्सुजातीय अध्यात्म शास्त्र के
चौथे अध्याय की हिन्दी टीका
समाप्त हुई ॥ ४ ॥

अयि कुलदेवते !

यद्वाक्येन मया समीरितमिदं यच्चास्फुटं नोद्धृतं
सत्तर्कैर्मनसा मतं परमतं शङ्काकुलं खण्डितम् ।
व्याख्यानं गुणदोषवेशरचनं त्वत्पूजनोद्देशकं
त्वत्पादार्पितमस्तु तद्गुरुपदाद् भक्त्या सुयत्नाहृतम् ॥

[अनुवाद]

अयि कुल देवते !
जिन वाक्य का उपयोग माता ग्रन्थ मे मैंने किये —
विकशित नहीं जो कुछ हुए कथनीयभी न कहे गये
महनीय मान्य पवित्र उन्नत परम पर मन जो रहे—
शंकाकुलित सच्चित्त के सत्तर्कसे खण्डित हुए।
गुणदोष पूरित वेश में व्याख्यान जो कुछ हैं किये —
हैं कीट पूरित पुष्प सम तव चरण पूजन के लिये।
शुद्धान्त चित्तपवित्र गुरुपद हृदय से अर्पित किये —
करुणामयी स्वीकार करना पुत्ररञ्जन के लिये ॥ १ ॥

॥ समाप्त ॥

—शुभम्—

दिवाकर महामोह अज्ञानजीका कलाकर शरत्पूर्णिमा के निशी का ॥
सुमारग पथीका सुसिद्धियतीकी परब्रह्म कैवल्यदाता वशीका ॥
सनतजात अध्यात्म सच्छास्त्र नौका मतान्तरभरे शास्त्रदुस्तरनिधीका
समाप्ति यहां शास्त्रकीनमनिशीकी कियाकेशरीकान्तशर्मा सुटीका । ४ ।

॥ इति शम् ॥

इति विरचितटीकापद्धतिर्या मयेयं—
सकल गुणिगणानां प्रीतये सास्तु नित्यम् ।
विपुल-विमल-दिव्यं तत्त्वचिन्ता-निधानं--
तरुणतरणिरुद्धा विद्विषत्कौशिकानाम् ॥ १ ॥

दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन्न निर्दोषं न निर्गुणम् ।
आवृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधा : ॥ २ ॥

भानुप्रेस
२४।१, बांसतल्ला स्ट्रीट कलकत्ता ।